प्रकाशक—

स्वामी वेदानन्द

अधिष्ठाता—
नारायण स्वामी वैदिक साहित्य प्रकाशन विभाग,
सा० दयानन्द सं० वा० मण्डल (हरद्वार)।
ज्वालापुर (जिला सहारनपुर)

संशोधित द्वितीय संस्करण [२००० प्रति]
सम्वत् १२५ द० (२००६ वि०)

मूल्य ६)

टैम्पल प्रेस—
गुरुदेव कुटी कनखल,
(जिला सहारनपुर)

ओ३म्

प्रकाशकीय



'स्वाध्याय सन्दोह' का प्रथम सस्करण साढे छः वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था। इतनी शीघ्रता से यह ग्रन्थ समाप्त हुआ जिसकी कल्पना भी न थी। ग्रन्थ की माग निरन्तर थी। दुर्भाग्य से देश का विभाजन हो गया। पाकिस्थान निर्माण के कारण स्थानभ्रष्ट हो जाने से लेखक इसके द्वितीय सस्करण का सम्पादन न कर सका। नये स्थान में नई परिस्थिति एव नये कर्तव्य भारों ने कुछ ऐसा व्यस्त कर दिया कि लगभग समयाभाव रहने लगा। उधर ग्रन्थ की माग निरन्तर बनी रही। स्वाध्याय प्रेमियों के आग्रह के आगे झुक कर जब इसके प्रकाशन का विचार किया तो कागज की समस्या खडी हो गई। पूरा एक वर्ष कागज प्राप्त करने में लगा। कागज प्राप्त होने पर भी अन्य अनेक बाधाए इसके प्रकाशन के मार्ग आ उपस्थित हुई। प्रभुकृपा से उन सब के होते हुए भी ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है। इसमें यत्रतत्र कुछ थोड़ा सा परिवर्तन, परिवर्धन भी कर दिया गया है।

पुस्तक के सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ न कहकर श्रीस्वामी आनन्दसरस्वती जी (पूर्व—म० खुशहाल-चन्द्र जी का लिखा प्रथम सस्करण का प्राक्कथन उद्धृत कर देना पर्याप्त है।

वह शुभ घड़ी ही थी जब वेद तथा ऋषि दयानन्द के सच्चे भक्त श्री स्वामी वेदानन्द जी से मैंने निवेदन किया कि आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की स्वर्ण जयन्ती, आ रही है, आप सदा वेद से अमृत पान करते रहते हैं, इस अमृत का कुछ भाग सर्व साधारण को भी मिलना चाहिये, स्वामी जी ने तथाऽस्तु कह कर मेरी प्रार्थना स्वीकार की और अमृत मन्थन में सलग्न हो गये, एक दिन कहने लगे वेद तो अमृत ही अमृत है, मिसरी की डली हर ओर से मीठी ही है, किस मन्त्र को छोडू, किस को लू, हा अपनी शक्ति अनुसार दुग्ध दोहन किया है, और आज वही दूध आप के सामने है, कहने को तो "स्वाध्याय सन्दोह" में ३६७ मन्त्र हैं, परन्तु, जब आप इस का स्वाध्याय करेंगे तो आप देखेंगे कि मन्त्रों की व्याख्या में प्रसग से अनेक मन्त्र, मन्त्र खड, उपनिषदों के वाक्य, मनुस्मृति के श्लोक, ऋषि दयानन्द जी के वचन तथा अन्य महात्माओं के वचन उद्धृत हुए हैं, इस प्रकार इस सुन्दर पुस्तक में सहस्त्रों मंत्रों तथा श्लोकों का समावेश हो गया है- निस्सन्देह इस संग्रह में अध्यात्म सम्बन्धी सामग्री अधिक है, किन्तु, लोक व्यवहार की उपेक्षा भी स्वामी जी ने नहीं की, सद्गृहस्थों के लिये बहुत उपयोगी मन्त्र आप इस में पायेंगे, इस प्रकार यह सग्रह बहुत सुन्दर बन गया है, सारा वर्ष प्रतिदिन आप इस से अमृत पान कर सकते हैं श्री स्वामी वेदानन्द जी ने दिन रात के घोर परिश्रम से जो दुग्ध वेद धेनु से प्राप्त किया है उसे पान कीजिए और आत्मिक शारीरिक तथा सामाजिक शक्ति प्राप्त कीजिये।"

पुस्तक इतने अल्पकाल में न छप सकती, यदि मेरे विद्यार्थी चि० श्री रामचन्द्र जी इसके लिए पुरुषार्थ न करते। उन्हें धन्यवाद देना केवल लोकाचार समझा जाएगा।

——०——

स्वामी वेदानन्द

॥ ओ३म् ॥

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्य. पथिकृद्भ्यः ॥ ऋ० १०।१४।१५

प्रचण्ड आतप था। आत्मा, मन, प्राण सभी झुलसे जा रहे थे। त्राण का स्थान कहीं न दीखता था। ताप शान्त करने को, आत्मा को त्राण दिलाने को, अनेक तीर्थों में स्नान किया। किन्तु ताप न मिटता था, न मिटा, उलटा बढ़ता जा रहा था। सभी उपचार बेकार हो रहे थे। निराशा-निशा ने आ घेरा था। प्रतीत होने लगा कि कदाचित् ताप याप्य हो, जीवनसङ्गी हो। मूर्छित होने को था कि नन्दगोपाल नन्दलाल ने दयानन्द-सरस्वती का तीर दिखलाया। सरस्वती का नीर क्षीर प्रतीत हुआ। सरस्वती-धारा अतीव शीतल थी, उज्ज्वल थी, निर्मल थी। उसमें डुबकी लगाई। जान में जान आई। चकित हुआ। अमिट ताप मिटता प्रतीत हुआ। दया और आनन्द के स्रोत में घनसार-सा सार था। फिर भी निकलने को था उस सन्तापहारिणी भवभयहारिणी मनस्तारिणी तरणी में कि दर्शनानन्द ने दिव्य दर्शन दिये और विमल सरस्वती का, शीतल पावन सरस्वती का माहात्म्य बताया। पूर्वभवीय नानाविध वासनाओं के कारण उत्पन्न हुई चपल चित्त की चञ्चलता के वशीभूत हुआ यह मूढ़, धराधाम से विश्वम्भर तक ले जाने वाली सन्तापहारिणी धार से निकल कर, संसार-अङ्गारों में लोट पोट होने को था कि विष्णुदत्त विशुद्धानन्द ने इस प्रवाह की आनन्दमयता, विशुद्धता तथा विष्णुपदता दिखलाई। अन्त में ज्ञानानन्द ने आकर विजय-दुन्दुभि बजाया, दयानन्द का तीर्थ बताया। और दयानन्दतीर्थ बनाया। दयानन्द ने अपने मूल उद्गम तक—अनादि सरस्थान वह भगवान् तक पहुंचाया। वहां पहुंच कर जो आनन्द पाया, वाणी में बांधे वह स्वीकार मनाया।

ओ३म्

स्वाध्याय-सन्दोह

(दोग्धा का निवेदन)

ओ३म्। यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना॥

ओ३म्। पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्। ऋ॰ ९।६७।३१,३२

जो मनुष्य भगवान् की कल्याणी वाणी का मनन करता है, वह ऋषियों के प्राप्त किये रस का, भगवान् में विचरण करने वाले ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं से चखे, पवित्र अमृत का पूर्णतया भोग करता है। उसे ज्ञानदायिनी आद्या-शक्ति संसार की सुख-सामग्री दूध, घी, मधु, जल आदि दोह कर देती है।

सचमुच वेदज्ञान का बहुत बड़ा महात्म्य है। भगवान् की कल्याणी वाणी के बार बार मनन करने से मनुष्य का वह कल्याण होता है, जो अन्य किसी साधन से हो नहीं सकता। जब संसार में वेद का प्रचार था, इतिहास इस बात का साक्षी है कि, तब संसार में सब तरह की शान्ति, समृद्धि का प्रसार था, सब का सब से प्यार था। जब से वेद धर्म का लोप हुआ है, तभी से संसार में सब प्रकार के उपद्रव, कलह, अशान्ति और दुःख दारिद्र्य की वृद्धि हो रही है। संसार में सब उपद्रवों को दूर करने के लिये वेद-प्रचार की नितान्त आवश्यकता है। इस तत्त्व का अनुभव करके संसार के उपकारक महर्षि दयानन्द सरस्वतीस्वामी जी ने लुप्त वेद-धर्म का पुनः प्रचार करने का सफल प्रयत्न किया।

निस्सन्देह वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, लोक परलोक-उपयोगी सभी साधनों का यथार्थ ज्ञान देता है। किन्तु आत्मा परमात्मा आदि का जैसा निरूपण वेद में है, संसार के किसी भी ग्रन्थ में नहीं है।

वेद को वेद (ऋ. १।१६४।२६) में धेनु=कामधेनु कहा गया है। सचमुच वह सभी कामनाओं को दोह देती है। हां, कामधेनु को दोहने की युक्ति आनी चाहिये।

ऋषिराज के अनुग्रह से इस नगण्य जन को इस कामधेनु के दर्शन, स्पर्शन, सेवन, आराधन करने का शुभ योग प्राप्त हुआ। उस की दया-माया इसे इस गय्या मय्या का दूध भी पीने को मिला। तब से निरन्तर इसे दोहता हूँ, स्वयं पीता हूँ अन्यों को भी पिलाता हूं। वेद के शब्दों में—

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि
दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्मानुपदस्वतः ॥ ४।११।१२

'सायंकाल दोहता हूं, प्रातःकाल दोहता हूं, दोपहर में दोहता हूं। इस के जो दोह=दूध उत्तमता से प्राप्त होते हैं, उन क्षीण न होने वालों को हम जानें।

यह ऐसी कामधेनु है, जो दूध ही दूध देता है। जिसके सर्वाङ्ग में दूध ही दूध है। दूध दूध में भेद है। किन्तु यह ऐसा दूध है, जो इसे पीता है, वह इसे फिर पीना चाहता है, पीता पीता नहीं अघाता है। जैसे गौ का दूध पूर्ण भोजन है, गौ का दूध पीने वाले को दूसरे पदार्थों की, शरीर-यात्रा-निर्वाह के लिये आवश्यकता नहीं होती, वेद-गौ का दूध भी अध्यात्मतत्त्वजिज्ञासुओं के लिये वैसा गुणकारी है, इस का पान करने वाले को अन्य किसी प्रकार के भोजन की अपेक्षा नहीं पड़ती।

मधुच्छन्दा, कण्व, अत्रि, भृगु, वसिष्ठ, वसुक, व्यास, पैल, सुमन्तु, विरजानन्द, दयानन्द आदि आदि अनेक कुशल दोग्धाओं ने=दोहने वालों ने अपने अपने समय पर इस धेनु का दोहा है, किन्तु किसी ने यह कहने का साहस नहीं किया कि वह इसका सारा दूध दोह सका है। वे दोग्धा अत्यन्त प्रवीण थे, इनके पात्र विशाल थे, जब वे भी सब न दोह सके, तो उस नगण्य की क्या गणना, जिसका पात्र भी छोटा-बहुत छोटा, दोहने की अटकल भी सर्वथा कच्ची? तथापि श्री महाशय खुशहालचन्द जी आनन्द की प्रेरणा पर दोहने का साहस अवश्य कर बैठा हूं। पर इस धेनु का माहात्म्य है कि दूध ही दोह सका हूं। क्योंकि इसमें दूध ही दूध है। यतः इस धेनु में सर्वत्र दूध है, अतः इसमें सब ओर की धारायें हैं। प्रयत्न किया है कि वर्ष भर [जिसमें अधिक से अधिक ३६६ दिन होते हैं] के लिये दूध इस पात्र में आ जाये। अतः प्रथम सम्मन्त्र के साथ ३६६ शीर्षक मिला कर ३६७ शीर्षकों का सङ्कलन है, [illegible]।

❀ ओ३म् ❀

स्वाध्याय-सन्दोह



विषयानुक्रमणिका



ओ३म्

स्वाध्यायसन्दोह

१

गुरुमन्त्र

ओ३म् । भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ य० ३६।३

हे (भूः) सत्यस्वरूप ! प्राण ! सब जगत् के जीवनाधार ! प्राण से भी प्रिय ! स्वयंभू ! (भुवः) सर्वज्ञ ! अपान ! सब दुःखों से रहित ! जीवों के दुःख दूर करने वाले ! (स्वः) आनन्द ! व्यान ! नानाविध जगत् में व्यापक हो कर सब को धारण करने वाले, सब को आनन्दसाधन एवं आनन्द देने वाले परमेश्वर ! (सवितुः) सर्व जगत् के उत्पादक, सर्वैश्वर्य-प्रदाता, सकल संसार के शासक, सब शुभ प्रेरणा देने वाले (देवस्य) सर्व सुख-प्रदाता, कमनीय, दिव्यगुणयुक्त आप प्रभु के (वरेण्यम्) स्वीकार करने योग्य अति श्रेष्ठ (तत्) उस जगत्प्रसिद्ध (भर्गः) शुद्धस्वरूप, पवित्रकारक, चैतन्यमय, पापनाशक तेज को (धीमहि) हम धारण करें तथा ध्यान करें, (यः) जो (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) शुभ प्रेरणा करे, अर्थात् बुरे कर्मों से हटा कर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।

हे परमेश्वर ! हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ! हे अज ! निरञ्जन ! निर्विकार ! हे सर्वान्तर्यामिन् ! हे सर्वाधार जगत्पते ! सकल जगत् के उत्पादक ! हे अनादे ! विश्वम्भर ! सर्वव्यापिन् ! हे करुणावरुणालय ! हे निराकार ! सर्वशक्तिमान् ! न्यायकारिन् ! समस्त संसार की सत्ता के आदि मूल ! चेतनों के चेतन ! सर्वज्ञ ! आनन्दघन भगवन् क्लेशापरामृष्ट ! कमनीय ! प्रभो ! जहां आप का जाज्वल्यमान तेज पापियों को रुलाता है, वहां आप के भक्तों, आराधकों, उपासकों के लिये वह आनन्दप्रदाता है, उन के लिये वही एक प्राप्त करने की वस्तु है, उन के ज्ञान विज्ञान धारणा ध्यान की वृद्धि कर के उन के सब पाप सन्ताप नाश कर देता है। परमाराध्य परमगुरो ! तू सदा पवित्र और उन्नतिकारक प्रेरणा दिया करता है, हम तेरी शरण आये हैं, हमें भी पवित्र प्रेरणा दे। तू ही सब को सुमार्ग दिखाता है, हमें भी सुमार्ग दिखला। हमें ऐसी प्रेरणा कर कि जिस से हम कुमार्ग से हट कर सुमार्ग पर आरूढ हों, कुकाम से निवृत्त हो कर सुकाम में प्रवृत्त हों, कुव्यसनों से विरक्त हो कर सत्य कार्यों में संरक्त हों, सांसारिक कामनाओं को चित्त से हटा कर तेरे तेज को धारण करें, उस का ध्यान करें, ताकि हमारे सारे पापताप नष्ट हो जायें, आवरण जल जायें, मल धुल जायें, विक्षेप का संक्षेप होते होते सर्वथा प्रक्षेप हो जाये।

हे सकल-शुभ-विधातः ! करुणानिधान ! कृपालो ! दयालो ! हम पर ऐसी कृपा और अनुग्रह कीजिये, कि हमें सदा तेरी प्रेरणा मिलती रहे, ताकि तेरी उस प्रेरणा से प्रेरित हुए हुए हम सदा तेरी आज्ञा का पालन करते हुए तेरे सच्चे पुत्र बन सकें। प्रभो ! यही हमारी तुझ से सदा प्रार्थना है।

मन्त्रानुसार आचरण

ओ३म्। नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्य चरामसि।
पक्षेभिरपि कक्षेभिः सं रभामहे ॥ ऋ० १०।१३४।७

हे (देवाः) दिव्यगुणसपन्न महात्माओ। (नकिः) न तो हम (मिनीमसि) हिंसा करते हैं, घातपात करते हैं और (नकिः) न ही (आ+योपयामसि) फूट डालते हैं, वरन् (मन्त्रश्रुत्यम्) मन्त्र के श्रवणानुसार (चरामसि) आचरण करते हैं, चलते हैं (कक्षेभिः) तिनकों के समान तुच्छ (पक्षेभिः) साथियों के साथ भी (सम्) एक होकर, एकमत होकर, मिल कर (रभामहे) वेग पूर्वक कार्य्य करते हैं।

वेद हिंसा, घातपात का अत्यन्त विरोधी है। साधारण जीवन में हिंसा वेद को अभिमत नहीं है। वास्तव मे हिंसा प्रायः सपूर्ण दुर्गुणों का निदान है। इस वास्ते ऋषियों ने यमों में हिंसा को प्रथम स्थान दिया है। योगियों का सिद्धान्त है कि सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह अहिंसा को ही उज्वल और परिष्कृत करने के लिए हैं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इसे अपनी जीवन-यात्रा चलाने के लिये समाज बना कर रहना होता है। समाज-निर्माण का प्रयोजन मनुष्य का सर्वविध विकास है। उसके लिये कुछ नियम विधान बनाने पड़ते हैं ताकि समाज का सचालन भली भाति होता रहे। **'विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः'** [मनुष्य के मन के स्वभाव अद्भुत होते हैं] के अनुसार कई कुटिल-प्रकृति मनुष्य अपनी कुटिलता के कारण समाज मे गड़बड़ उत्पन्न कर देते हैं, उससे समाज मे फूट पड़ जाती है। इस भेद के कारण समाज की शक्ति क्षीण हो जाती है। वैदिक लोग कहते हैं—

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि=न हम घातपात करते हैं और न ही फूट डालते हैं।

ठीक है, निषिद्ध कर्म्मों से बचना निस्सन्देह उत्तम है। किन्तु मनुष्य का हित तो विहित कर्म्मों में है, अत कहा—

मन्त्रश्रुत्य चरामसि=मन्त्र के श्रवणानुसार हम चलते हैं।

अर्थात् जैसा मन्त्र मे-वेद मे-विहित है, मनुष्यमात्र को वैसा आचरण बनाना चाहिये भगवान् ने मानव के कल्याण के लिये ही वेदवाणी का विधान किया है। वेद मे मन्त्र को [वेद को] गुरु कहा गया है—

मन्त्रो गुरुः पुनरस्तु (ऋ० १।१४७।४)=मन्त्र ही फिर गुरु होवे।

अर्थात् जहा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध न हो, वहा मन्त्र की शरण लेनी चाहिये।

मन्त्र का एक अर्थ विचार भी होता है। अर्थात् बिना विचारे कुछ नहीं करना चाहिये।

वेद की शिक्षा का एक छोटा सा नमूना इसी मन्त्र मे दे दिया है—

पक्षेभिरपि कक्षेभिः सं रभामहे

तिनकों के समान तुच्छ साथियों के साथ एक होकर हम वेगपूर्वक कार्य्य करते हैं।

अर्थात् किसी को भी घृणा या तुच्छता की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। तुच्छ से तुच्छ पदार्थ भी अपना उपयोग रखता है। समझदार मनुष्य उससे भी अपनी कार्य्यसिद्धि कर लेते हैं।

सकेत से यह मन्त्र उच्चनीच भाव को समाज के लिए घातक मान उसके त्यागने की प्रेरणा कर रहा है।

३
आत्मा अविनाशी है

ओ३म् । अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीची स विषूचीर्वसान आ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्त ॥ ऋ० १।१६४।३१

(अनिपद्यमानम्) अविनाशी, (आ) सीधे, आगे (च) और (परा) उलटे, वापसी (च) भी (पथिभि॰) मार्गों से (चरन्तम्) विचरण करने वाले, व्यवहार करने वाले (गो॰पाम्) इन्द्रियों के स्वामी को (अपश्यम्) मैंने देखा है, अनुभव किया है, जान लिया है (स॰) वह इन्द्रिय-स्वामी (सध्रीचीः) सरल दशाओं को और (सः) वही (विषूची॰) विषम दशाओं को (वसान॰) धारण करता हुआ (भुवनेषु+अन्त) लोकों के बीच (आ+वरीवर्त्ति) पुनः पुनः आता रहता है ।

इस छोटे से मन्त्र में कई बातें कही गई हैं—

(१) आत्मा को यहाँ 'गोपा' कहा गया है । 'गोपा का अर्थ इन्द्रियों का स्वामी है' । अर्थात् आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है । इन्द्रियां आत्मा नहीं हैं, वरन् वह इनका स्वामी है । गोपा का एक अर्थ 'इन्द्रियों का रक्षक' भी होता है । इन्द्रियां तभी तक शरीर में कार्य्य करती हैं, जब तक आत्मा शरीर में रहता है । विचार से देखो, स्वामी के लिए वेद ने रक्षक होने का विधान कर दिया है ।

(२) इन्द्रियों के आत्मा-पन का खण्डन करके वेद आत्मा को 'अनिपद्यमान'=नष्ट न होने वाला बताता है । इन्द्रियां विनाशी हैं, शरीर भी विनाश को प्राप्त हो जाता है किन्तु आत्मा अनिपद्यमान=अविनाशी है अर्थात् शरीर नाश के साथ आत्मा का नाश नहीं होता । इन्द्रियों के विकार से आत्मा नष्ट नहीं होता । इसी शब्द को मन में रखते हुये ब्रह्मविद्या के पारंगत आचार्य याज्ञवल्क्य ने बड़े प्रबल शब्दों में कहा—

"अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्म्मा" (बृहद० ६।५।१४)

अरे मैत्रेयि । यह आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद कभी नहीं होता ।

यदि आत्मा को अनित्य माना जाये तो दो बड़े भारी दोष आते हैं, आत्मा को नित्य माने बिना जिनका समाधान नहीं हो सकता । पहला तो यह कि आत्मा को अनित्य मानने का अर्थ है कि शरीर की उत्पत्ति के साथ आत्मा की भी उत्पत्ति होती है । उस अवस्था में प्रश्न होता है क्यों कोई दरिद्र के घर उत्पन्न हुआ ? क्यों कोई ऐश्वर्य-सम्पत्ति सम्पन्न दशा में उत्पन्न हुआ ? क्यों कोई अङ्गविकल उत्पन्न होता है ? क्यों किसी को सुडौल सुन्दर शरीर मिलता है ? मानना पड़ता है कि इस शरीर में पहले कोई तत्त्व रहा था, जिसके कर्मों का फल उसे ऐसा मिलता है । बिना कारण के भले बुरे शरीर के साथ संयोग से होने वाले सुख दुःख भोगने का नाम है—अकृताभ्यागम=न किये को प्राप्त करना । दूसरा दोष है—कृतहान=किये का नाश । विनाशी आत्मा शरीर-विनाश के साथ ही नष्ट हो जाना चाहिये । अन्त के कर्मों का फल भोगे बिना आत्मा नष्ट हो गया यह अव्यवस्था है, किन्तु संसार में सर्वत्र व्यवस्था है । अतः इस युक्तिविरुद्ध बात को मानो निरास करने के लिये ही वेद ने आत्मा को 'अनिपद्यमान' कहा है । आत्मा के अविनाशित्व मानने से संसार रचना का प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है । इस आत्मा के कर्मों का फल देने के लिए यह जगत् रचा गया है ।

जो लोग आत्मा की उत्पत्ति मान कर उस का नाश नहीं मानते वे मानों तर्क से कोरे हैं। क्या कहीं कोई ऐसी वस्तु है जो उत्पन्न तो न हो किन्तु नष्ट होती हो ?

(३) 'आ च परा च पथिभिश्चरन्तम्' कह कर वेद ने आत्मा की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी है। उलटे सीधे रास्तों से विचरना तभी हो सकता है जब चलने मे विचरने में स्वतन्त्रता हो। इस मन्त्र को ले कर आत्मतत्त्वज्ञों ने आत्मा का स्थूल लक्षण माना है—'कर्त्तुम्, अकर्त्तुम्, अन्यथा वा कर्त्तुं समर्थः' जो करने, न करने अथवा उलटा करने में समर्थ हो। महात्मा लोग भी कहते हैं—'स्वतन्त्रः कर्त्ता'= कर्त्ता उसे मानना चाहिए, जो कर्म करने मे स्वतन्त्र हो।

(४) अच्छे मार्ग से चले, अच्छे कर्म करे, तो परिणाम भी अच्छा हो। बुरे आचरण का, पाप कर्म्म का फल भी विषम होता है। जो करता है, वही भरता है। स्वतन्त्रता का जैसा उपयोग किया जायगा, उसका परिणाम भी वैसा ही होगा, इस बात को 'स सध्रीचीः स विषूचीर्वसानः'— शब्दों के द्वारा प्रकट किया गया है। सक्षेप में कर्म्मफलवाद का सकेत कर दिया गया है।

(५) इस बात को बहुत स्पष्ट करने के लिये 'आवरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः' कहा गया है। वह ससारों मे बार बार आता है। दूसरे शब्दो में उसे बार बार जन्म लेना पड़ता है।

अर्थात् ससार मे जब कोई प्राणी दुर्गति की अवस्था मे दीखे, समझना चाहिये कि उसने स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया था। उसकी यह दुर्गति आकस्मिक, अहेतुक, कारण के बिना नहीं है कर्म्म करने मे स्वतन्त्र होता हुआ भी आत्मा फल भोगने में परतन्त्र है।

आत्मा के सम्बन्ध मे इस मन्त्र में जो कुछ कहा गया है, वह युक्तियों से सिद्ध है किन्तु वेद मे 'अपश्यम्, [मैंने देख लिया है] शब्द कुछ और ही इशारा कर रहा है। वेद कहना चाहता है, आत्म सबन्धी इन तत्त्वों को देखो, अनुभव करो, साक्षात् करो। वैदिक योगी कह गये हैं—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि (बृहदा० ६ ५ ६)

अरे मैत्रेयि। आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये।
दर्शन के साधन हैं—श्रवण मनन तथा निदिध्यासन।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः=वेद वचनों के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये। वेद से बढ कर आत्मज्ञान कराने वाला ग्रन्थ ब्रह्माण्ड मे दूसरा नहीं है। आत्मजिज्ञासु को तो अवश्य वेद पढना चाहिये।

मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः=युक्तियों के द्वारा मनन करे। कहीं कोई श्रुति के नाम से अनर्गल बात ही न सुनाने लग जाये, और श्रोता भ्रम मे न पड़ जाये, उस के लिये कहा—**मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः**=युक्तियों से मनन करे। इसी कारण तर्कविद्या को शास्त्रों मे अध्यात्मविद्या कहा है।

जो मत युक्ति से भय खाते हैं, तर्क से डरते हैं वे अपने मत की असारता मानो स्वय स्वीकार करते हैं। श्रवण, मनन के बाद निदिध्यासन आता है। बार-बार, निरन्तर वैसा आचरण निदिध्यासन कहाता है। अर्थात् अध्यात्मविद्या सुन छोड़ने और विचार लेने मात्र से सफल नहीं होती, वरन् यह तो आचरण की वस्तु है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप साधनों का जिसने अभ्यास किया है, उसे 'दर्शन'=आत्मदर्शन सुलभ होता है।

४

इसे कौन पूछने जाता है ?

ओ३म् । को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्त यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित्को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत् ॥ ऋ० १।१६४।४ ·

(यत्) जिसको (अनस्था) अस्थिरहित, अप्राकृत (बिभर्ति) धारण करता है, उस (प्रथमम्) मुख्य (जायमानम्) उत्पन्न होने वाले को (क.) कौन (ददर्श) देखता है ? ये (असुः) प्राण तथा (असृक्) रुधिर तो (भूम्या.) भूमि से, प्रकृति से [होते हैं] (आत्मा) आत्मा (क्वस्वित्) कहा है ? (एतत्) इस [तत्त्व] को (प्रष्टुम्) पूछने के लिये (क) कौन (विद्वासम) विद्वान् के (उप+गात्) पास जाता है ।

सृष्टिरचना इतनी विचित्र है कि मनुष्य की बुद्धि चक्कर खा जाती है । सृष्टि के आरंभ से तत्ववेत्ता लोग इसके रहस्य टटोलने मे लगे हैं, और नित्य नये नये रहस्य मनुष्यसमाज के आगे ला रहे हैं । मनुष्य में यदि अतुल बल न भी हो तो भी यह मानना पड़ता है कि उसका बल बहुत प्रबल है । समुद्र के अन्तस्तल तक पहुँच कर इसने उसकी छान बीन कर डाली । आकाश मे उड़ा तो तारों के समाचार ले आया । यह दुर्दान्त बली मङ्गलग्रहवासियों से बातचीत करना और सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है । पर्वतों को इसने राई समान बना दिया है । आज महारण्य मनुष्य-बुद्धि-वैभव के सामने एक ग्रामीण क्षुद्र क्षेत्र से अधिक नहीं हैं । ध्रुवों की ध्रुवता को इसने अस्थिर कर दिया है । पय, पवन, पावक, पृथिवी सभी इसकी सेवा करते हैं । नदियों के प्रवाह इसने मोड़ दिये हैं । आग बरसाने वाली गरमी में, अत्यन्त तप्त प्रदेश मे यात्रा करते हुए इसे अब गरमी नहीं सताती । वायु को इसने वश मे कर लिया है । विभु और अखण्ड काल की भी इसने कलना कर डाली है । अपरिमित से देश Space को इसने मानो सर्वथा नाप सा लिया है । अपने कल बल से इसने सकल लोकों को एक क्षुद्र सा लोक (ग्राम) बना लिया है । देशकाल के विजय के कारण सम्पूर्ण भूतों पर इसने विजय पा लिया है । इससे यह गर्वित हो उठा है । गर्व करने की बात भी है । गर्व इसका अनुचित भी नहीं है । सर्वथा महीयसी शक्ति ।

किन्तु . . । कभी सोचा भी, ओ बावले । तूने, तू क्या है ? ओ समुद्र को मथ डालने वाले ! बता, तू क्या है ? ओ पर्वतों को पैरों तले रोंदने वाले । तेरा रूप क्या है ? क्या कभी तू ने अपने आप को देखा है ? तेरा यह शरीर—शीर्ण होने वाला शरीर—तो भूमि का बना है, जल, वायु, आग ने इसका सहयोग दिया, यह बन गया । क्या तूने कभी इसे भी टटोलने का यत्न किया है ? यह कैसे पैदा हुआ ? पहले पहले कैसे उत्पन्न हुआ ? क्यों उत्पन्न हुआ ? क्या यह सारी सृष्टि जड़ का खेल है ? क्या यह सब अचेतन का, ज्ञानविहीन का, अनुभूतिशून्य का चमत्कार है ? आत्मा—मैं कहने वाला, मेरा मानने वाला—इसमें कहां है ? तूने चीर फाड़ करके देख लिया । सच है, तुझे आत्मा शरीर में कहीं नहीं मिला ।।। अहह ! तो तू 'मैं' कैसे कहता है ? क्या तूने कभी किसी से पूछने का यत्न भी किया ? जैसे

शरीर की चीरफाड़ सीखने के लिये, नस नाड़ी के ज्ञान के लिये तू गुरु के पास गया था, वैसे यह जानने के लिये कि मृतशरीर और अ-मृतशरीर में भेद क्या है कभी किसी के पास गया ? अरे ! शरीर हड्डियों के सहारे है किन्तु इन हड्डियों का सहारा क्या है—अरे ! उसे जान—

अस्थन्वन्त यदनस्था बिभर्ति=हड्डिया वाले को जो हड्डीरहित धारण करता है।

चीर फाड़ से तू हड्डिया देखेगा, मास रुधिर देखेगा । वह तो हड्डियों से रहित है वह तेरी चीर फाड़ से नहीं चिरता, वह तेरी इन आंखों से नहीं दिखता । मृत और अ-मृत शरीरों को देख कर भी तू उसे नहीं देखता । यह आश्चर्य है यम ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा था—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य श्रृण्वन्तोपि बहवो यन्न विद्यु ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट ॥ कठो० १।२।७

बहुतों को इस आत्मतत्त्व के सुनने का ही अवसर नहीं मिलता, अथवा सुनने का, जानने का विचार ही नहीं आता । कई मनुष्य सुन तो पाते हैं किन्तु समझ नहीं पाते, क्योंकि वे प्रत्यक्षवादी हैं । प्रत्यक्ष से परे किसी पदार्थ को समझने में वे समर्थ ही नहीं होते । इस आत्मा का स्वरूप बतलाने वाला ही विरला होता है । सुन कर कोई विरला ही इसका सार समझ पाता है । ससार मे ऐसा जन तो सचमुच दुर्लभ है, जिसने ज्ञानी गुरु से इसे जान कर स्वायत्त कर लिया हो ।

समुद्र की तरङ्गों से न डरने वाले ! बता, बता, अपने अन्दर की तरङ्गों से क्यों डरता है ? इन्हें भी वश में कर । समुद्र की तरङ्गों के रहस्य को तूने जान लिया, किन्तु अपनी तरङ्गों को तू न जान पाया । कितनी बड़ी विडम्बना है ? सारे ससार का सार जानने वाला अपने को नहीं जानता ।

ऋषि लोग कह गए हैं—आत्मा के जान लेने से सभी कुछ जाना जाता है । तू कभी किसी पदार्थ को टटोलता है, कभी किसी का निरीक्षण-परीक्षण करता है, किन्तु सन्तुष्ट नहीं हो पाता । आ, एक बार ऋषियों की बात भी मान, आत्मा को जानने का यत्न कर । अवश्य सफल होगा । यह सफलता तुझे नया आलोक देगी । इस आलोक के साथ मिलेगा तुझे एक अलौकिक रस जिसमे विरसता नाम को भी नहीं है । जिसका आस्वादन कर तू भटकना छोड़ देगा । हा, एक नियम उसके लिए अनिवार्य्य है, वह है श्रद्धासहित निरन्तर दीर्घकाल तक प्रयत्न करना ।

यह वेदमन्त्र कई बातों की चेतावनी दे रहा है, (१) आत्मतत्त्व को पहचानने के लिए ज्ञानी गुरु के पास जाना चाहिये । (२) आत्मा अनस्था है और अस्थि वाले शरीर से भिन्न है (३) यह अनस्था आत्मा अस्थिर्रुधिरप्राणमय शरीर को धारण करता है । (४) यह शरीर भौतिक है, भूमि से=भूतों से बना है किन्तु (५) आत्मा क्स्वित्=आत्मा का उपादान कारण कोई नहीं, इसका निमित्त कारण भी कोई नहीं है । यह अकारणक है, नित्य है ।

नित्य और अनित्य मे से नित्य ही प्रीति करने योग्य है ।

आत्मा मे प्रीतिरीति—

'यदि आत्मा से, और विराट् आत्मा से प्यार करना है तो अपने अङ्गो की भाति सब का अपनाना होगा अपनी क्षुधा निवृत्ति की तरह उनकी भी चिन्ता करनी होगी । सच्चा आत्मप्रेमी किसी से घृणा नहीं करता । वह ऊंच नीच की भद्दी भेद भावना को त्याग देता है । उतने ही पुरुषार्थ से दूसरे के दुःख निवारण करता है, कष्ट क्लेश काटता है, जितने से अपने दुःखों को दूर करता है। ऐसे ज्ञानी जन ही वास्तव मे आत्मा-प्रेमी कहलाने के अधिकारी है ।

५

ईश्वरानुग्रह से आत्मदर्शन

ओ३म् । न विजानामि यदिवेदमस्मि निण्य. सन्नद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥ ऋ० १।१६४।३७

(यत् इव) जो कुछ, जैसा (इदम्) यह (अस्मि) मैं हूँ, यह मै (न+विजानामि) विशेष रूप से नहीं जानता हूँ । (निण्यः) मूढसा, भोला [पंजाबी में न्याणा] मै (मनसा+सनद्धः) मन से बंधा हुआ, जकड़ा हुआ (चरामि) विचर रहा हू । (यदा) जब (मा) मुझको (ऋतस्य) ऋत का, सत्य ज्ञान का (प्रथमजाः) प्रथमोत्पादक प्रभु (अगान्) प्राप्त होता है (आत्+इत्) तब ही (अस्याः) इस (वाचः) वाणी के (भागम्) भजनीय, वाच्य को (अश्नुवे) प्राप्त करता हूँ ।

कठोपनिषत् में कहा है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यथे ॥ कठो० २।३।१२

आत्मा न वाणी के द्वारा प्राप्त होता है, न मन से और न आख से । [अर्थात् ज्ञानेन्द्रिया और कर्मेन्द्रिया आत्मा का ज्ञान कराने में असमर्थ हैं, मन तो इन इन्द्रियों के बताये ज्ञान का धनी है, वह कैसे आत्मा का ज्ञान कराये] जिस को यह भान हो गया कि आत्मा है, उसे और कैसे बताया जाये ?

उपनिषत् कह रही है—आत्मा 'न मनसा प्राप्तु शक्यः' मन के द्वारा नहीं मिल सकता, और मैं निण्य=न्याणा हूँ । मनसा सन्नद्धः=मन के चक्कर में फंस गया हूँ, मन के बन्धन में बन्ध कर जहा मन ले जाता है, वहा जाता हूं, मैं न्याणा कैसे कहूं कि मैं क्या हूँ, कौन हू, कैसा=किंस्वरूप हूं ? इस सब को 'न विजनामि' मैं नहीं जानता हू ।

अनुमान के द्वारा यदि कुछ जानू गा, तो वह सामान्यज्ञान होगा। धुआ देख कर अग्नि का ज्ञान होता है किन्तु किसका अग्नि—तिनकों का, गोमय का या लकड़ी का, यह ज्ञान तो नहीं होता, यह तो प्रत्यक्ष से होता है । इसी प्रकार मृत शरीर और अ-मृत शरीर को देखकर किसी चेष्टा वाले का, चेष्टा की इच्छा वाले का ज्ञान करू तब भी 'यदिवेदमस्मि' जो कुछ मै हूँ, इसको नहीं जानता । यदि मैं अहकार करू'—'सुवेदेति' मैं भली भाति जानता हूँ । तो साक्षात्कारी ऋषि कहते हैं—

दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ (केनो० २।१

सचमुच तू बहुत ही थोड़ा जानता है ।

अतः मै कहता हू—न विजानामि=मैं विशेष नहीं जानता हूं । हा यदि मुझपर ईश्वरकृपा हो जाये, ईश्वर के दर्शन हो जायें, तो मैं इस 'मै 'मै' करने वाले को भी जान जाऊ । वेद कह ही तो रहा है—यदा ··· भागमस्या । ऋषि इन्हीं का अनुवाद कर रहे हैं—

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः (कठो० १।२।२०)

विधाता की कृपा से ही निष्काम-कर्म्मा, अतएव शोक से रहित, रागद्वेष से शून्य महात्मा ही आत्मा की महिमा को देख पाता है।

ईश्वर कृपा कैसे मिले ? ईश्वर की अनन्य भक्ति से, सब ओर से चित हटा कर उस परम गुरु के अर्पण करने से। योगिराज पतंजलि जी ने कहा भी है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा (यो० १।२३)

ईश्वर की अनन्य भक्ति से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है।

बाह्य विषयों से सर्वथा हट जाने का नाम निरोध है। तब आत्मा के अन्दर बसने वाले अन्तरात्मा परमात्मा के दर्शन और अनुग्रह होते हैं। उन का फल है—

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च (यो० १।२९)

ईश्वरप्रणिधान से अपने चेतन स्वरूप का ज्ञान तथा विघ्नों का विनाश होता है।

अपना आपा जानना है तो ईश्वरप्रणिधान करो। उपनिषत् ने और योगदर्शन ने जो बात इशारों इशारों में बतलाई, वेद ने उनसे करोड़ो वर्ष पहले बहुत स्पष्ट खोल कर रख दी है। पिता अपने पुत्रों को कैसे खोल कर न समझाये, वह क्योंकर छिपाए ? छिपाने से उस के पुत्रों का कल्याण नहीं हो सकता। किन्तु हम मन के फन्दे में फसे उसे जानने की चेष्टा ही नहीं करते। मन प्रकृति का पुत्र है, उस ने जीव को बांध रखा है। समझे।

ईश्वरानुग्रह-प्राप्ति का उपाय—

भगवान् स्वभाव से कृपालु है। यह सृष्टि उन की कृपा का सब से बड़ा प्रमाण है। अपना कोई प्रयोजन न होते हुए परमेश्वर ने संसार रचा केवल जीवों के उद्धार के लिये। स्वाभाविक कृपालु की कृपा प्राप्त करना कुछ बहुत कठिन नहीं है। उस की कृपा प्राप्त करने के लिये अपने आत्मा और अन्तःकरण को उस की ओर प्रवृत्त करो। परमात्मा माता पिता के समान कृपालु है। जब वह अपने वत्स जीव को अपनी ओर प्रवृत्त देखता है तो वह कृपालु अपने अनन्तशक्तिरूप हाथों से मानो उस प्रेमी को उठा कर अपनी गोद में बिठा लेता है।

अनन्य मन से परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करना, तथा उस के आदेश में रह कर तदनुसार अपना आचरण बनाना प्राणपण से तन मन धन लगा कर लोकोपकार में अपने आप को समर्पित कर देना, स्वार्थ त्याग कर परार्थ-साधन में तत्पर रहना, सदा सत्कर्मों को करना, अकर्मण्य न रहना परमेश्वर के न्याय, दया, उपकार, आदि गुणों को अपने में धारण करना, विषयवासना से ऊपर उठ कर चञ्चल चपल चित्त को अचल अविचल करने का पुरुषार्थ करना आदि परमेश्वर की ओर प्रवृत्त होने के साधन हैं। जो इन साधनों को अपनाता है, परमेश्वर भी उसे अपनाता है अर्थात उसे अपने अनुग्रह का पात्र बनाता है। जैसे बालक जब माता की ओर चलता है तब माता आगे आकर बालक को गोद में ले लेती है कि कहीं बालक को चोट न लग जाए। इसी भांति जब कोई साधक सर्वात्मना जगदम्बा की ओर चलता है तो जगन्माता भी उस का स्वागत करती है, अत्यन्त प्रीति से अपनाती है, सब प्रकार के पाप सन्ताप पातकों से बचाती है।

६

परिच्छिन्न आत्मा

ओ३म् । अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया ।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथो कर्म्माणि कृण्महे ॥ अ० १९।६८।१

(अव्यस.)- अव्यापक, परिच्छिन्न [जीवात्मा] (च+च) और (व्यचसः) व्यापक [परमात्मा] के (बिलम्) भेद को, रहस्य को, ठिकाने को (मायया) बुद्धि से (वि+स्यामि) खोलता हूँ । (ताभ्याम्) उन दोनों से अथवा उन दोनों के लिये (वेदम्) वेद को (उद्धृत्य) ग्रहण करके (अथो) इसके अनन्तर (कर्म्माणि) कर्मों को (कृण्महे) हम करते हैं ।

जीवात्मा अथवा अपना आपा तथा परमात्मा के संबंध में संसार में बड़ा विवाद है । कई लोग तो इन दोनों की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते । जो स्वीकार करते हैं उनमें भी इनके सम्बन्ध में एक मत नहीं है । परमात्मा को कोई सातवें आस्मान पर, कोई चौथे आस्मान पर, कोई क्षीरसागर में और कोई कहीं बतला कर उसको परिच्छिन्न, अव्यापक, एकदेशी बतला रहा है । एकदेशी अवश्यमेव अल्पज्ञ और अल्प सामर्थ्य वाला होगा, उससे इस विशाल ब्रह्माण्ड की रचना, पालना, संहारणा नहीं हो सकती । इस दोष का निराकरण करने के विचार ही से मानो वेद में कहा गया है कि वह व्यापक है । जीव को अव्यापक बतलाया गया है । इन दोनों का भेद, इन दोनों का रहस्य ज्ञान से जाना जा सकता है, इसी वास्ते कहा—

बिलं विष्यामि मायया

बुद्धि से, ज्ञान से इनका भेद, रहस्य खोलता हूँ ।

प्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में भी बहुधा विवाद हुआ करते हैं, परोक्ष पदार्थों का तो कहना ही क्या है । किन्तु भगवान् ने कृपा करके जो ज्ञान दिया है, उससे काम लो, दोनों के भेद को, ठिकाने को ज्ञान से खोलो । ऋषि ने कहा भी है—

हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्त, य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । (श्वेता. ४।१७

हृदय से, बुद्धि से तथा मन से ही इसका बोध होता है । जो इस तत्व को जान लेते हैं वे अमृत हो जाते हैं, मौत से निर्भय हो जाते हैं ।

जिन्होंने उस अविनाशी, अमर को जान लिया उन्हें मृत्युभय कहां रहा ? किन्तु उसे जानने के लिये मन बुद्धि तथा हृदय सभी का सहयोग होना चाहिये । मन बुद्धि, मनन और अध्यवसाय उसका निश्चय करायेंगे । मस्तिष्क को तर्क चुप करा सकता है किन्तु सूक्ष्म भावनाओं के धनी हृदय ने यदि उसे धारण न किया तो फिर नास्तिकता के गहरे गर्त में गिरना होगा । इस वास्ते हृदय को भी साथ मिलाओ । ऋषि श्वेताश्वतर ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा—

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्टः ॥ (५।८

जो ज्ञानगम्य है, सूर्यसमान तेजस्वी है, संकल्प करता है, अहंकारवान् है, वह अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा अपर है, वह बुद्धि तथा अपने गुणों से दीखता है ।

सचमुच वह 'अपर' है, पर तो परमात्मा है । बुद्धि के गुण आत्मा का ज्ञान कराते हैं ।

इच्छा द्वेष, सुख दुःख, ज्ञान और प्रयत्न, ये आत्मा के गुण आत्मा का अनुमान करा रहे हैं। इस अनुमान से आत्मा को जान कर जो साधनों का अनुष्ठान करता है, उसे आत्मा का साक्षात्कार, प्रत्यक्ष भी होता है, तभी कहा—

अपरोपि दृष्ट.

अपर आत्मा के भी दर्शन होते हैं।

इन्हीं ऋषिप्रवर ने आत्मा का परिमाण बताया है—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीव स विज्ञेय' स चानन्त्याय कल्पते ॥ (५. ६)

बाल के अगले हिस्से के सौ टुकडे कर दिये जायें, उस सूक्ष्म सौवे हिस्से के भी सौ हिस्से कर दिये जायें, उस अत्यन्त सूक्ष्म भाग के समान जीव है किन्तु उसमें सामर्थ्य बहुत है।

महर्षि दयानन्द ने भी कहा है—

'जीव एक सूक्ष्म पदार्थ है जो एक परमाणु में भी रह सकता है, उसकी शक्तियां शरीर में प्राण बिजुली और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त हो रहती हैं, उनसे सब शरीर का वर्त्तमान जानता है।' (द प्र. भा. १. पृ ५८८)

श्वेताश्वतर और दयानन्द दोनों ने यह रहस्य वेद तथा योग द्वारा जाना। अथर्ववेद में कहा है—

वालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।

तत परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ अथर्व १०।८।२५

एक [जीवात्मा] वाल से भी अधिक सूक्ष्म है, और एक [प्रकृति] मानो नहीं दीखती है, उस से अधिक सूक्ष्म और व्यापक जो परमात्मा देवता है, वह मेरी प्यारी है।

अर्थात् परमात्मा जीव से सूक्ष्म और जीव में व्यापक है। अर्थात् वह सदा अगसग रहने वाला है, अत जीव को उससे प्यार करना चाहिये। कल्याणाभिलाषी को प्रकृति के प्यार से ऊपर उठ कर परमात्मा से प्रीति लगानी चाहिये। कितना कठिन और कितना सरल है यह कार्य्य। यथार्थ ज्ञान के बिना यह नहीं सिद्ध होता।

ध्यान दीजिये, पहले वेद, पीछे कर्म्म। अर्थात् ज्ञान के बिना कर्म्म का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता। तभी शास्त्रों में कर्म्म से पूर्व ज्ञान का नाम आता है।

उत्तरार्ध एक और गभीर तत्त्व का सकेत कर रहा है। ज्ञान का पर्य्यवसान अनुष्ठान है। वह ज्ञान जिसे कर्म्म में परिणत न किया जा सके, वह ज्ञान जिससे कर्म्म करने में सहायता न मिले, ज्ञान नहीं है, ज्ञानाभास है। इस से स्पष्ट होता है वेद कर्म्मण्यवाद का पोषक है, कर्मत्याग का नहीं। उचित भी यही है। परिच्छिन्न जीवात्मा कर्म के बिना रह ही नहीं सकता। वह अपने चहुँ ओर के पदार्थ जानना चाहता है, उसके लिये उसे गति करना होती है। गति का नाम ही कर्म्म है। अर्थात् कर्म्म आत्मा का स्वभाव है।

उपदेशकों का गुरु

ओ३म् । शतधारमुत्समक्षीयमाणं विपश्चित पितरं वक्त्वानाम् ।
मेळि मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम् ॥ ऋ० ३।२६।६

(शतधारम्) सैकड़ों धाराओं वाले (अक्षीयमाणम्) कभी क्षीण न होने वाले (उत्सम) स्रोत के समान (विपश्चितम) महाज्ञानी (वक्त्वानाम) वक्ताओं के, उपदेशकों के भी (पितरम्) पिता, पालक, गुरु, (मेळिम) सबको मिलाने वाले (पित्रोः) मा बाप अथवा द्यौ पृथिवी की (उपस्थे) गोद में (मदन्तम्) आनद देने वाले (तम्) उस (सत्यवाचम) सत्य निर्भ्रान्त वेद-वाणी वाले को (रोदसी) द्यौ और पृथिवी (पिपृतम्) भर रहे हैं, धारण कर रहे हैं ।

भगवान् सैंकड़ों प्रकार से जीव को बोध कराते हैं । यह सारी सृष्टि उसी का बोध कराती है । उसका ज्ञान कभी भी क्षीण नहीं होता । सभी ज्ञानी उसी से ज्ञान लेते हैं किन्तु उसका स्रोत अक्षीयमाण है । ऋषि कह गये हैं—**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते**=

उस पूर्ण का पूर्ण ज्ञान लेकर भी उसके बाद पूर्ण ही शेष रह जाता है ।

हुआ जो वह अक्षीयमाण उत्स और साथ ही शतधार=सैंकड़ों धाराओं वाला ।

किन्तु उसे जड़ जल न समझना, वह है विपश्चित्=महाज्ञानी । छोटा मोटा ज्ञानी भी नहीं, वरन्

पितरं वक्त्वानाम्=उपदेशकों का भी गुरु है । पतञ्जलि जी ने भी इस गुरुओं के गुरु के स्वर में स्वर मिला कर कहा है—**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (यो० १।२६)**=

वह यह परमात्मा पूर्वों का, सृष्टि के आरम्भ के गुरुओं का भी गुरु है, सभी गुरु कराल काल की गाल में विला जाते हैं, किन्तु यह कालातीत है, काल का भी काल है । और यह है सत्योपदेशक । मनुष्य अल्पज्ञ है, उसे भ्रम हो सकता है, विप्रलिप्सा=ठगी की कामना भी हो सकती है, अतः स्वयं बहका होने के कारण दूसरों को बहका सकता है । किन्तु भगवान हैं सत्यवाक । उनकी वाणी में असत्य का लवलेश भी नहीं है, क्योंकि वे सर्वज्ञ, अतः सत्य सत्य ज्ञान का उपदेश करते हैं ।

संसार में जितना आनन्द है वह उन्हीं का है । इस संसार में रह कर जीवों को वही आनन्द देते हैं । उन्हें खोजने के लिये कहीं जाने की आवश्यकता नहीं, पत्ता पत्ता उनकी सत्ता तथा महत्ता का पता दे रहा है । देखो, आंखें खोलो । नहीं दीखता तो उस कृपालु के वेदवचन को सुनो—

तं रोदसी पिपृतम्=उसे द्यावापृथिवी=सारा संसार धार रहा है ।

अर्थात् पाने के लिये कहीं दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं है । वह सर्वत्र विद्यमान है । सारे संसार में व्यापक है, भर रहा है । जो सब स्थानों में है, उसे सभी स्थानों में पा सकते हैं । कैसा वैचित्र्य है, सभी स्थानों में है और दीखता नहीं है । क्योंकि

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । (श्वेता० ४।२०)

इसे दिखाने के लिये कोई रूप नहीं है, और न ही कोई उसे आंख से देख सकता है ।

उसे तो हृदय और मन से देखना चाहिये क्योंकि सब जगह रहने वाला हृदय में रह रहा है—

हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति (श्वेता० ४।२०)

उस हृदय में रहने वाले को हृदय और मन से जानो और मुक्ति प्राप्त करो ।

सृष्टि के तत्त्व भगवान् के आदेश से चलते हैं

ओ३म् । अह् भूमिमददामार्य्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय ।

अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥ ऋ० ४।२६।२

(अहम्) मैं (भूमिम्) भूमि (आर्य्याय) आर्य्य को (अददाम्) देता हूं (अहम्) मैं (दाशुषे) दाता (मर्त्याय) मनुष्य को (वृष्टि) वृष्टि देता हूँ । (अहम्) मैं ही (वावशाना.) चाहने योग्य (अपः) जलों को, सूक्ष्म तत्त्वों को (अनयम्) चलाता हूँ । (देवास) देव, सृष्टि के तत्त्व (मम) मेरे (केतम+अनु) सकेत के अनुकूल (आ+अयन) चलते हैं ।

भगवान् आदेश करते हैं—मैंने भूमि आर्य्यों को दी है । भूमि का बहुत भाग तो अनार्य्यों के पास है । ब्राह्मण ग्रन्थों मे बहुत सुन्दर रीति से इस समस्या को सुलझाया गया है । वहा लिखा है—कि देवों और असुरों मे भूमि के सम्बन्ध मे झगडा हुआ । सारी भूमि पर असुरों ने अधिकार कर लिया । देवों ने यज्ञ को आगे किया । और असुरों से कहा कि हमे यज्ञ के लिए भूमि दो । यज्ञ तो बहुत छोटा था । असुरों ने भूमि दे दी । बस फिर क्या था, यज्ञ बहुत बढ गया, सारी भूमि पर देवों का अधिकार हो गया । वहा लिखा है कि असुरों की हार का कारण था स्वार्थ और देवों के विजय का मूल था स्वार्थत्याग—

देवा अन्योऽन्यस्मिञ्जुह्वतश्चेरुः=

देव अपने में हवन न करते थे, वरन् एक दूसरमें होम करते हुए विचरते थे, खाते थे ।

अर्थात् देव यज्ञशील है । यज्ञ मे प्रत्येक आहुति के साथ **'इदं न मम'** [यह मेरा नहीं है,] लगा है । यज्ञ करने वाले को वेद आर्य्य कहता है—**यजमानमार्य्यम् (ऋग्वेद)**

सार निकला, भगवान् ने भूमि स्वार्थत्यागियों को दी है, जिसमे जितनी स्वार्थत्याग की मात्रा होगी। उतना ही वह भूमि का अधिकारी होगा । इसी भाव को इसी मन्त्र के दूसरे चरण मे स्पष्ट करके कहा है—

अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय=मैं दानी मनुष्य को वृष्टि देता हूँ ।

वेद दान पर बहुत बल देता है । अराति=कंजूस की वेद मे बहुत निन्दा है । स्वार्थत्याग वैदिक धर्म्म का मर्म है ।

सस्कृत मे जल को जीवन कहते हैं । भगवान् कहते हैं—

अहमपो अनयं वावशाना=मै चाहने योग्य जलों को चलाता हूँ ।

अर्थात् जीवन की बागडोर भगवान् के हाथ मे है । नचिकेता ने ठीक ही कहा था (कठो० १।१।२७)—

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वम्=भगवान् ने जितना भोग निश्चय किया है, उतना ही जीयेंगे । जीवन या जल की क्या कहते हो सभी

मम देवासो अनु केतमायन्=देव मेरे सकेत पर चलते हैं ।

सूर्य्य चाद, आग हवा पानी, ग्रह उपग्रह, सृष्टि के सभी पदार्थ उसके नियम से बधे चलते हैं । आख रूप ही देखेगी, गध नहीं सूघ सकेगी । कान शब्द ही सुनेगा, रूप नहीं देखेगा, गध नहीं सूघेगा । उसका केत=सकेत ही ऐसा है ।

जब सभी उसके सकेत पर चलते हैं, तब आओ, हम भी उसके सकेत पर चलें । वेद से उसका सकेत जानें ।

सब सत्यविद्याओं का आदिमूल

ओ३म्। देवाश्चित्ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः।
उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि ॥ ऋ० २।२३।२

हे (असुर्य) प्राणाधार। (बृहस्पते) महान् रक्षक! परमज्ञानिन् भगवन्, (देवाः—चित्) देव ही, ज्ञानी ही (ते) तुझ (प्रचेतसः) सर्वोत्कृष्ट चेतावनी देनेहारे के (यज्ञियम्) यज्ञयोग्य (भागम्) भाग को (आनशुः) प्राप्त करते हैं (इव) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (ज्योतिषा) ज्योति से युक्त, प्रकाशमय (महः) महान् (उस्राः) किरणों को उत्पन्न करता है, वैसे ही तू (विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (इत्) ही (ब्रह्मणाम्) ज्ञानों का, वेदों का (जनिता) उत्पन्न करने वाला (असि) है।

ज्ञान का मूल स्रोत भगवान् है। वेद में कहा भी है—स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वान् (य० ७।१५) वह बृहस्पति=बड़े बड़े लोकलोकान्तरों का पालक सब से पहला और मुख्य चिकित्वान् ज्ञानी है। आदि ऋषि ने कहा—'प्रथम चिकित्वान्'। आज के ऋषि ने कहा—सब सत्यविद्याओं.. का आदिमूल। इसी बात को प्रकृत मन्त्र के चौथे चरण में कहा—
विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि =सभी वेदों का उत्पादक है।
जब वह 'प्रथम चिकित्वान्' है, तो सचमुच वही ज्ञानों का, ज्ञान के मूल वेदों का उत्पादक है।

किरणें समस्त संसार को प्रकाश देती हैं, किन्तु किरणें कहां से आती हैं? सूर्य से। अतः सूर्य किरणों का उत्पादक हुआ। जहां भी प्रकाश है, वह सूर्य का है। इसी प्रकार जहां भी ज्ञान है, वह भगवान् का है। सचमुच ज्ञान भगवान् की देन है।

सूर्य एक स्थान पर रह कर प्रकाश करता है, अतः सूर्यसम्बन्धी ग्रहों उपग्रहों के उसी भाग पर प्रकाश होता है जो सूर्य के सम्मुख होते हैं। उनके दूसरे-असम्मुख-भागों पर प्रकाश नहीं होता, किन्तु भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं, अतः इनका ज्ञानप्रकाश सर्वत्र है। आज भी भगवान् ज्ञान दे रहे हैं, जब कभी पाप की इच्छा होती है, अन्दर से उसके विरुद्ध ध्वनि उठती है, वह ध्वनि परमात्मा की है। ऋषि ने कहा है—'जो पापाचरणेच्छा समय में भय शंका लज्जा उत्पन्न होती है, वह अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से है।' (द० ग्र० १ प्र० ५७३)

वैसे तो सारा संसार क्या पापी और क्या धर्मात्मा, क्या ज्ञानी और क्या मूढ सभी परमात्मा के दान का उपभोग करते हैं, हुई जो सारी प्रकृति उसी की सम्पत्ति, किन्तु ज्ञानी ही वास्तविक आनन्द लेते हैं। किसी वस्तु का ज्ञानपूर्वक स्वाद लेने में, उपभोग लेने में जो आनन्द है, वह अज्ञान दशा में कहां? इसी भाव से वेद ने कहा—देवाश्चित्ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञिय भागमानशु।

परमेश्वर केवल ज्ञान का आदि स्रोत ही नहीं, वह असुर=जीवनाधार भी है। यज्ञिय भाग=जीवनोपयोगी भाग जीवनधार से मिलेगा।

मनुष्य की विशेषता ज्ञान से है। ज्ञान भी भगवान के पास, ज्ञान से उपयुक्त होने वाले पदार्थ भी उसी के पास। अतः ऋषि ने कहा—

"सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।"

सृष्टि के तत्त्व भगवान् के आदेश से चलते हैं

ओ३म् । अह भूमिमददामार्य्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय ।

अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥ ऋ० ४।२६।२

(अहम्) मैं (भूमिम्) भूमि (आर्य्याय) आर्य्य को (अददाम्) देता हू (अहम्) मैं (दाशुषे) दाता (मर्त्याय) मनुष्य को (वृष्टि) वृष्टि देता हूँ। (अहम्) मैं ही (वावशानाः) चाहने योग्य (अपः) जलों को, सूक्ष्म तत्त्वों को (अनयम्) चलाता हूँ। (देवास) देव, सृष्टि के तत्त्व (मम) मेरे (केतम+अनु) सकेत के अनुकूल (आ+अयन) चलते हैं ।

भगवान् आदेश करते हैं—मैंने भूमि आर्य्यों को दी है। भूमि का बहुत भाग तो अनार्य्यों के पास है। ब्राह्मण ग्रन्थों मे बहुत सुन्दर रीति से इस समस्या को सुलझाया गया है। वहा लिखा है—कि देवों और असुरों में भूमि के सम्बन्ध मे झगडा हुआ। सारी भूमि पर असुरों ने अधिकार कर लिया। देवों ने यज्ञ को आगे किया। और असुरों से कहा कि हमे यज्ञ के लिए भूमि दो। यज्ञ तो बहुत छोटा था। असुरों ने भूमि दे दी। बस फिर क्या था, यज्ञ बहुत बढ गया, सारी भूमि पर देवों का अधिकार हो गया। वहा लिखा है कि असुरों को हार का कारण था स्वार्थ और देवों के विजय का मूल था स्वार्थत्याग—
देवा अन्योऽन्यस्मिञ्जुह्वतश्चेरु=

देव अपने में हवन न करते थे, वरन् एक दूसरमें होम करते हुए विचरते थे, खाते थे।

अर्थात् देव यज्ञशील है। यज्ञ मे प्रत्येक आहुति के साथ **'इदं न मम'** [यह मेरा नहीं है,] लगा है। यज्ञ करने वाले को वेद आर्य्य कहता है—**यजमानमार्य्यम् (ऋग्वेद)**

सार निकला, भगवान ने भूमि स्वार्थत्यागियों को दी है, जिसमे जितनी स्वार्थत्याग की मात्रा होगी। उतना ही वह भूमि का अधिकारी होगा। इसी भाव को इसी मन्त्र के दूसरे चरण मे स्पष्ट करके कहा है—

अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय=मैं दानी मनुष्य को वृष्टि देता हूँ।

वेद दान पर बहुत बल देता है। अराति=कजूस की वेद मे बहुत निन्दा है। स्वार्थत्याग वैदिक धर्म्म का मर्म है।

सस्कृत मे जल को जीवन कहते हैं। भगवान् कहते हैं—

अहमपो अनयं वावशाना=मै चाहने योग्य जलों को चलाता हूँ।

अर्थात् जीवन की बागडोर भगवान् के हाथ मे है। नचिकेता ने ठीक ही कहा था (कठो० १।१।२७)—

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वम्=भगवान् ने जितना भोग निश्चय किया है, उतना ही जीयेंगे। जीवन या जल की क्या कहते हो सभी

मम देवासो अनु केतमायन्=देव मेरे सकेत पर चलते हैं।

सूर्य्य चाद, आग हवा पानी, ग्रह उपग्रह, सृष्टि के सभी पदार्थ उसके नियम से बधे चलते हैं। आख रूप ही देखेगी, गध नहीं सुघ सकेगी। कान शब्द ही सुनेगा, रूप नही देखेगा, गध नही सूघेगा। उसका केत=सकेत ही ऐसा है।

जब सभी उसके सकेत पर चलते है, तब आओ, हम भी उसके सकेत पर चलें। वेद से उसका सकेत जानें।

सब सत्यविद्याओं का आदिमूल

ओ३म्। देवाश्चित्ते असुर्यं प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः।

उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि॥ ऋ० २।२३।२

हे (असुर्य) प्राणाधार। (बृहस्पते) महान् रक्षक। परमज्ञानिन् भगवन्, (देवा:—चित्) देव ही, ज्ञानी ही (ते) तुझ (प्रचेतसः) सर्वोत्कृष्ट चेतावनी देनेहारे के (यज्ञियम्) यज्ञयोग्य (भागम्) भाग को (आनशु:) प्राप्त करते हैं (इव) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (ज्योतिषा) ज्योति से युक्त, प्रकाशमय (महः) महान् (उस्रा) किरणों को उत्पन्न करता है, वैसे ही तू (विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (इत्) ही (ब्रह्मणाम्) ज्ञानों का, वेदों का (जनिता) उत्पन्न करने वाला (असि) है।

ज्ञान का मूल स्रोत भगवान् है। वेद में कहा भी है—स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वान् (य० ७।१५)
वह बृहस्पति=बड़े बड़े लोकलोकान्तरों का पालक सब से पहला और मुख्य चिकित्वान् ज्ञानी है।
आदि ऋषि ने कहा—'प्रथम . चिकित्वान्'। आज के ऋषि ने कहा—सब सत्यविद्याओं. . . .
का आदिमूल। इसी बात को प्रकृत मन्त्र के चौथे चरण में कहा—
विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि=सभी वेदों का उत्पादक है।
जब वह 'प्रथम चिकित्वान्' है, तो सचमुच वही ज्ञानों का, ज्ञान के मूल वेदों का उत्पादक है।

किरणें समस्त संसार को प्रकाश देती हैं, किन्तु किरणें कहां से आती हैं? सूर्य से। अत सूर्य किरणों का उत्पादक हुआ। जहां भी प्रकाश है, वह सूर्य का है। इसी प्रकार जहां भी ज्ञान है, वह भगवान् का है। सचमुच ज्ञान भगवान् की देन है।

सूर्य एक स्थान पर रह कर प्रकाश करता है, अत सूर्यसम्बन्धी ग्रहों उपग्रहों के उसी भाग पर प्रकाश होता है जो सूर्य के सम्मुख होते हैं। उनके दूसरे-असम्मुख-भागों पर प्रकाश नहीं होता, किन्तु भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं, अत. इनका ज्ञानप्रकाश सर्वत्र है। आज भी भगवान् ज्ञान दे रहे हैं, जब कभी पाप की इच्छा होती है, अन्दर से उसके विरुद्ध ध्वनि उठती है, वह ध्वनि परमात्मा की है। ऋषि ने कहा है—'जो पापाचरणेच्छा समय में भय शंका लज्जा उत्पन्न होती है, वह अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से है।' (द० ग्र० १ पृ० ५७३)

वैसे तो सारा संसार क्या पापी और क्या धर्मात्मा, क्या ज्ञानी और क्या मूढ सभी परमात्मा के दान का उपभोग करते हैं. हुई जो सारी प्रकृति उसी की सम्पत्ति, किन्तु ज्ञानी ही वास्तविक आनन्द लेते हैं। किसी वस्तु का ज्ञानपूर्वक स्वाद लेने में, उपभोग लेने में जो आनन्द है, वह अज्ञान दशा में कहां? इसी भाव से वेद ने कहा—देवाश्चित्ते असुर्य्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः।

परमेश्वर केवल ज्ञान का आदि स्रोत ही नहीं, वह असुर्य=जीवनाधार भी है। यज्ञिय भाग=जीवनोपयोगी भाग जीवनधार से मिलेगा।

मनुष्य की विशेषता ज्ञान से है। ज्ञान भी भगवान के पास, ज्ञान से उपयुक्त होने वाले पदार्थ भी उसी के पास। अत. ऋषि ने कहा—

"सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।"

१०

अभीष्ट फलप्रदाता

ओ३म् अधा हिन्वान इन्द्रियं ज्यायो महित्वमानशे।
अभिष्टिकृद्विचर्षणिः॥ सा० उ० ४।१।३।५।४

(अधा) और (इन्द्रियम्) इन्द्रिय को, जीव की शक्ति को (हिन्वानः) प्रेरित करता हुआ (ज्यायः) बहुत बड़ा (महित्वम्) महत्त्व (आनशे) प्राप्त करता है, वह (अभिष्टिकृत्) अभीष्ट पदार्थों का कर्त्ता है क्योंकि वह (विचर्षणि) सर्वज्ञ तथा विशेष द्रष्टा है।

भगवान् की यह बहुत बड़ी महिमा है कि वह जीव को इन्द्रिया देता है। इन्द्रियों के सामर्थ्य पर ध्यान दो। जीव तो वेद के शब्दों में 'अणुस'=अव्यापक, बालादणीयस्कम् —बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। किन्तु उसकी शक्तिया देखो, करोड़ों मील दूर के पदार्थों को उसका नेत्र देखता है। यहा बैठा अमरीका के गाने सुनता है। कितनी अद्भुत शक्ति है? क्या सब कुछ जीव का है? वेद कहता है—न, यह भगवान् का है। वही इन्द्रियों को बल दे रहा है, इन्द्र और इन्द्रिय का मेल वह न कराये, तो इन्द्र कुछ भी न कर पाये। इन्द्र के इन्द्रपन का ज्ञान तो इन्द्रियों के द्वारा होता है। इन्द्रिया न हों, तो इन्द्र की सत्ता का ही विश्वास किसी को न हो। इन्द्र की सत्ता का विश्वास कराने वाले, इन्द्रियों के निर्माता का कितना बड़ा महत्त्व हुआ? बहुत बड़ा। तभी वेद ने कहा—

अधा हिन्वान इन्द्रियं ज्यायो महित्वमानशे।

इन्द्रियें क्यों देता है? वह अभिष्टिकृत् है। अभीष्ट पदार्थों का कर्त्ता है, निर्माता है।

भगवान से जीव प्रार्थना करता है या उसे मित्र मान कर मनौती करता हुआ कहता है—

तथा तदस्तु सोमपाः सखे वज्रिन् तथा कृणु।
यथा त उश्मसीष्टये॥ ऋ० १।३०।१२

हे सोमपाः=सोम पालने वाले, शान्ति देनेहारे, जगद्रक्षक भगवान्। जैसा हम इष्टि के लिये, अपनी अभीष्टसिद्धि के लिये तुझ से चाहते हैं, वह वैसा ही हो, हे विघ्नवारक मित्र! उसे वैसा कीजिये।

स्पष्ट है कि अभीष्टों का निर्माता वही जगद्विधाता है। उसमें यह सामर्थ्य कैसे है? वेद इसका उत्तर देता है कि वह विचर्षणि विशेष द्रष्टा है।

"सामान्य ज्ञान तो जीव को भी है किन्तु वास्तविक ज्ञान तो विशेष ज्ञान है। पदार्थों के तत्त्व, पदार्थों के गुण, धर्म, पदार्थों के भेदादि विषयक ज्ञान ही विशेष ज्ञान है। भगवान् सर्वव्यापक हैं और साथ ही चेतन हैं, अतः वह सर्वज्ञ भी हैं। विशेषज्ञ सर्वज्ञ ही जानता है कि किसको क्या चाहिये। हमारी चाहना हमारी क्रिया से द्योतित होती है। कर्मों से फल सिद्ध होता है। जिस प्रकार के कर्म कर रहे हैं, उसी प्रकार की चाह है।

भक्त। दिल खोल कर माग। भगवान् तेरे सखा हैं। और

न सखा सख्युः प्रमिणाति संगिरम् (ऋग्वेद ६।८६।१६)

सखा सखा के वचन को नहीं तोड़ता।

वह साधारण सखा नहीं है, वह वज्री है। सभी विघ्नों को मार भगाता है। ऐसे विघ्नविघातक मित्र के होते हम अभीष्ट को प्राप्त न करें तो इससे बढ़ कर अभाग्य क्या होगा?

११

प्राणायाम के द्वारा ज्ञान

ओ३म् । वीडु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः ।

अविन्द उस्रिया अनु ॥ सा० उ० ३।२।३।२

हे (इन्द्र) जीवात्मन् ! तू (आरुजत्नुभि) पीड़ा देने वाले, भ्रान्त करने वाले (वह्निभिः) जी के कारणभूत प्राणों के द्वारा (गुहा+चित्) छिपी हुई भी (उस्रियाः) ज्ञानकिरणों को (वीडु+चित्) ही (अनु+अविन्दः) अनुकूलता से प्राप्त करता है।

थोड़े से शब्दों में प्राणायाम का महत्त्व बतलाया है। यहां प्राण को प्राण न कह व कहा गया है। वह्नि शब्द का लौकिक संस्कृत में अर्थ है आग। जब तक प्राण शरीर में रहते हैं शरीर में जीवनाग्नि रहता है। प्राणों ने प्रयाण किया और शरीर ठंडा पड़ गया, अतः प्राण आग हैं।

आग जहां सुख का साधन है, पीड़ा भी देती है। आग की पीड़ा का अनुभव गर्मी के पूरी तरह होता है। प्रत्येक पदार्थ सूखने लगता है। इसी प्रकार प्राण-अग्नि को जब ईन्धन नहीं तब यह शरीरस्थ मांस रक्त को जलाने लगता है। किन्तु प्राणों का पीड़ादायकत्व पूरा पूरा मरणसमय होता है। भोग समाप्त हो चुका है। कालाग्नि प्राणपखेरू को देहपिंजरे से निकालने को आया है। मार्ग रुके हैं, उसे राह नहीं मिल रही, वह जोर लगा रहा है, तब उसके कारण गात्र टूटते हैं, अंग लगते हैं, एक एक अंग टूट रहा है। मरने वाला छटपटा रहा है, तड़प रहा है। जिन प्राणों के मोह अनेक अकरणीय कार्य किये थे, आज उनसे छुटकारा पाने की युक्ति चाह रहा है। मुमूर्षु की यह दुर्दशा मुमुक्षु इन पीड़ादायक प्राणों को वश में करता है, मृत्युगमन निकट आता जान आराम से इन प्राणों को वह बाहर कर देता है।

वह प्राणों को आग=जलाने वाला न रहने देकर इन्हें वेद का वह्नि=धारक, ले चलने व देता है। अब प्राण को वह्नि बना लिया गया है, वे धारित किये गये हैं उनकी गति रोक दी गई से भी धारक बन गये हैं। इस विषय में प्राण और धर्म्म की एक ही गति है। मारने से धर्म्म मार पालने से पालता है। प्राण आग बना देने से जलाता है, वह्नि=धारण करने वाला बना देने से जि चाहो जीना है या जलना है ?

बहि बन कर भी प्राण आरुजत्नु=तोड़ने फोड़ने वाले बने हुए हैं। अब ये अंगों को नहीं तोड़ते, अब यह शरीर को पीड़ा नहीं देते, क्योंकि प्राणों की क्रिया से शरीर का मल सब शुद्ध कर लिया गया है। अब यह आत्मा पर पडे अज्ञान-आवरण के परदे को फाड़ते हैं। इसी लिये वेद कहता है—

अविन्द उस्रिया अनु=

आत्मन्! तू ही ज्ञान किरणों को अनुकूलता से प्राप्त कर लेता है।

योगिराज पतञ्जलि ने अपने अनुभव से वेद की इस सच्चाई की पुष्टि की है—

तत क्षीयते प्रकाशावरणम् (यो० द० २।५२)

प्राणायाम की सिद्धि से बुद्धिप्रकाश पर पड़ा हुआ आवरण=परदा नष्ट होता है।

वेद ने इससे भी अधिक बताया है—

यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवाना वशनीर्भवाति (ऋ० १०।१६।२)

जब साधक इस असुनीति=प्राणचालन विद्या को प्राप्त कर लेता है, तब वह इन्द्रियों का वशकर्त्ता हो जाता है।

इन्द्रियों को वश करना है तो प्राण को वश करो। बहुत गहरा अभिप्राय है। इन्द्रिया मन के अधीन हैं। मन बहुत चचल है। जविष्ठ है—सबसे अधिक वेगवान् है, जिधर वह जाता है, इन्द्रिया भी उधर ही जाती हैं। प्राणचालन विद्या से इन्द्रियों को वश करने के अर्थ हैं, इन्द्रियाधिष्ठाता मन को भी वश करना। यह अवस्था योग है, जैसा कि कठोपनिषत् मे कहा है—

यदा पचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहु' परमा गतिम् ॥६।१०

ता योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ॥६।११

जब मन के साथ पाचों ज्ञानेन्द्रिया रुक जाती हैं और बुद्धि भी निश्चल हो जाती है, उस अवस्था को परम गति कहते हैं। इन्द्रियों की उस स्थिर धारणा को योग मानते हैं।

इन्द्रिया वश मे करनी हों अर्थात् इन्द्रियों से यथायोग्य उपयोग लेना हो, तो प्राणायाम का अभ्यास करो। बुद्धि पर से अज्ञान का परदा नाश करना हो, उज्ज्वल विमल धवल ज्ञान-प्रकाश प्राप्त करना हो, तो प्राणायाम मे सिद्धि प्राप्त करो।

प्राणायाम के महाज्ञानी ऋषि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास मे लिखते हैं—'जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल मे अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक् उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढता जाता है। जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रिया के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं। प्राण अपने वश मे होने से मन और इन्द्रिया भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्म रूप हो जाती है कि जो कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इस से मनुष्य शरीर मे वीर्यवृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता [प्राप्त होती है] सब शास्त्रों को थोडे ही काल मे समझ कर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।'

प्राणायाम की महिमा मे वेद, मनु पतञ्जलि, दयानन्द सभी एकमत हैं।

१२

न तत्र सूर्यो भाति

ओ३म् । यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु जातमष्ट रोदसी ॥ सा.उ.४।४।२।१

हे (इन्द्र) परमैश्वर्यसम्पन्न । अनन्त-शक्ति सम्पन्न भगवन् । (यत्) चाहे (ते) तेरे (शतम्) सैंकड़ों (द्यावः) द्यौ लोक, प्रकाशपुंज हों (उत) अथवा (शतम्) सैंकड़ों (भूमीः) भूमियां भी (स्यु) हों, किन्तु हे (वज्रिन्) वारक शक्ति वाले प्रभो! ये सब (रोदसी) लोक लोकान्तर तथा (सहस्रम्) हजारों (सूर्या) सूर्य (जातम) सर्वत्र विद्यमान (त्वा) तुझ को (न) नहीं (अनु + अष्ट) पहुँच पाते ।

संसार में दो प्रकार के लोक हैं—१ स्वतःप्रकाश और २. परतःप्रकाश । सूर्य स्वतःप्रकाश है । और भूमि चन्द्रादि परतःप्रकाश हैं, ये सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं । वेद की परिभाषा में इन्हें द्यौ और पृथिवी, द्यावापृथिवी, द्यौ और भूमि, द्यावाभूमि, सूर्य और चन्द्र आदि विविध नामों से पुकारा जाता है । इनकी महिमा तो देखिये । भूमि पर से करोड़ों वर्षों से मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग, सरीसृप, व्याल, भुजंग आदि नाना प्राणी अपनी भोग्य सामग्री ले रहे हैं । किन्तु माता वसुन्धरा आज तक भी विश्वम्भरा बनी हुई है, आगे भी बनी रहेगी । भूमि का एक नाम रसा है, सचमुच मधुर, तिक्त, अम्ल, कटु, कषाय आदि सारे रस भूमि में हैं । सोना चांदी लोहादि धातु उपधातुओं की खान भी यही है । कहीं मरमर पत्थर है, कहीं चिकनी मिट्टी है, कहीं रेत है । कहीं छः मील ऊंचा पर्वत मानो आकाश से बातें करने को सिर उठाये खड़ा है, कहीं उतना गहरा सागर है । कहीं नदी नालों की कलकल ध्वनि है, तो कहीं समुद्र में उत्तुङ्ग तरङ्गें उठ रही हैं । कहीं सस्यश्यामला मनोहारिणी रम्या मही है तो कहीं तृण-विहीन बालुकामय जलशून्य प्रदेश है । संसार के आरम्भ से लेकर आज तक के सारे वैज्ञानिक अपनी शक्ति लगा रहे हैं, किन्तु इस ससीम, परिच्छिन्न, सान्त एक भूमि की सीमा=परिच्छेद=अन्त नहीं पा सके । और यदि ये सैकड़ों हों तो फिर इनकी कितनी महिमा, कितनी गरिमा होगी ? मनुष्य इस की कल्पना नहीं कर सकता ।

आओ, द्यौ का तनिक विचार करें, भूमि जहां एक क्षुद्र सा द्वीप है, वहां द्यौ एक विशाल सागर है । हमारा प्रतिदिन का परिचित सूर्य भार में पृथिवी से साढ़े चार लाख गुना भारी बताया जाता है । कहा जाता है, इस सूर्य में हमारी पृथिवी की सी तेरह लाख पृथिवियां समा सकती हैं । यह महान् सूर्य जिस से हमारी पृथिवी उत्पन्न हुई है, द्यौरूपी विशाल सागर में एक तुच्छ कमल सा है । ऐसे क्या इस से भी बड़े असंख्य सूर्य इस द्यौ सागर में टिमटिमा रहे हैं कहो या चमचमा रहे हैं कहो ।

क्या इन की शक्ति की कल्पना कर सकते हो ? आ. ।।। वेद कहता है, अनन्त द्यौ और अनन्त भूमि तथा असख्य सूर्य और लोक मिल कर भी उस महान् भगवान् को नहीं पहुँच पाते, अर्थात् उस के सामने यह सारा विशाल संसार तुच्छ है। वेद ने स्पष्ट कहा है—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाश्च पूरुषः (य० ३१।३)

यह सारा ससार उस की महिमा का पसारा है, वह पूर्ण तो इस से बडा और न्यारा है।

भगवान् ने इस जहान् को पैदा किया है, जैसा कि वेद ने कहा है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिव च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।। ऋ० १०।१६०।३

जगन्निर्माता ने पूर्व की भाति सूर्य चाद, द्यौ अन्तरिक्ष, पृथिवी और स्वः=आनन्द की रचना की।

बनी वस्तु बनाने वाले को कैसे पावे ? इसी वास्ते कठ ऋषि ने कहा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।। (कठो० ५।१५)

न वहा सूर्य चमकता है, न चाद तारे, न ही बिजुलिया चमकती हैं, यह अग्नि तो कहा से ! उस की चमक के पीछे ही सभी चमकते हैं। उस के प्रकाश से यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है।

सभी उस के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, तो स्पष्ट है कि ये सब मिल कर उस की बराबरी नहीं कर सकते। उस की तुलना का कोई पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में नहीं है। ये सब मिल कर भी सीमावाले हैं, और वह है असीम। अत एव वह—

विश्वस्य मिषतो वशी (ऋ० १०।१६०।२)

सभी गति करने वालों का वशी है, नियन्त्रणकर्ता है। जड़ चेतन, स्थावर जङ्गम, चर अचर सभी उस के शासन मे चलते हैं।

इस प्रकार उसे अप्रतर्क्य समझ कर महात्मा चुप हो जाते हैं। ससीम असीम का वर्णन कैसे करे ? केवल अनुभव कर सकता है, उस का वर्णन नहीं कर सकता।



१३

हिंसक को मोक्ष-धन नहीं मिलता

ओ३म्। न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते न स्रेधन्तं रयिर्नशत्।

सुशक्तिरिन्मघवन्तुभ्यं मावते देष्णं यत्पार्ये दिवि ॥ सा० उ० ४।४।३।२

(दुष्टुतिः) बुरी कीर्त्ति वाला, दुष्ट साधनों वाला, (द्रविणोदेषु) धनदाताओं में (न) नहीं (शस्यते) गिना जाता, अच्छा माना जाता। (स्रेधन्तम्) हिंसक को (रयिः) धन, मोक्षधन, (न) नहीं (नशत्) प्राप्त होता। हे (मघवन्) पूजनीयधनघन भगवन्। (मावते) मेरे जैसे के लिये (पार्ये) पार पाने योग्य (दिवि) प्रकाशावस्था में (देष्णम्) देने योग्य (यत) जो धन है, (सुशक्तिः) उत्तम शक्ति वाला मनुष्य (इत्) ही (तुभ्यम्) तेरे निमित्त [उसको प्राप्त करता है]।

इस मन्त्र में जिस धन की चर्चा है, वह साधारण धन-धन धान्य मकान पशु आदि नहीं। वरन् शान्ति-रूप धन है। वेद में कहा भी है—शं पदं मघं रयीषिणे (सामवेद संहिता) धनाभिलाषी के लिये शान्ति-रूपी धन ही पद=प्राप्त करने योग्य है। लौकिक धन धान्य तो चोर डाकुओं के पास भी होता है। वैसे भी धन की अधिक मात्रा प्रायः अन्याय अत्याचार अनाचार में ही कमाई जाती है। किन्तु इस धन से बुद्धिमानों की तृप्ति नहीं होती। याज्ञवल्क्य जब घर छोड़ कर सन्यासी बनने लगे, तो उन्होंने धर्मपत्नी मैत्रेयी से कहा—आ मैत्रेयी, तेरा बटवारा करदूं। इस पर मैत्रेयी ने पूछा—

यन्नु म इय भगो सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्, स्यान्न्वहं तेनामृता (बृहदा. ४।५।३)

क्या भगवन्! यदि यह धन धान्य से पूर्ण संपूर्ण पृथिवी मेरी हो जाये तो क्या मैं अमृत हो जाऊंगी?

सत्यदर्शी यथार्थवक्ता याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—

नेति नेति यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात्, अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेन (बृहदा. ४।५।३)

नहीं, नहीं, जैसे धनधान्य सामान वालों का जीवन होता है, वैसे ही तेरा जीवन भी होगा। अमृतत्व की=मुक्ति की आशा=सम्भावना धन से नहीं हो सकती।

मैत्रेयी ने इस पर कहा—

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि (बृहदा. ४।५।४)

जिससे मैं मुक्त न हो सकूं, उससे मेरा क्या प्रयोजन? महाराज! मोक्ष का जो भी साधन आप जानते हैं वही मुझे बताइये।

धन के प्रति कितनी ग्लानि है। कितना गहरा निर्वेद है। सचमुच मोक्षाभिलाषी, शान्ति की कामना वाला इस चचल धन को कैसे चाहेगा? जिसके सम्बन्ध में वेद स्वयं कहता है—

ओ हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमुन्यमुप तिष्ठन्त राय ॥ (ऋ० १०।११७।५)

अरे धन तो सचमुच एक से दूसरे के पास जाते हुए रथ के चक्रों की भांति अदलते बदलते रहते है।

ऐसे विनश्वर भौतिक धन मे अविनाशी के अभिलाषी की अभिलाषा कैसी !!!

इसी वास्ते प्रकृत मन्त्र मे कहा है—

न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते

दुष्ट साधनो वाला मनुष्य धनदाताओं मे नहीं गिना जाता।

जब उसके पास है नहीं, तब देगा कहा से। वेद पाने की बात न कह कर देने की कहता है। क्योंकि वेद दान की महत्ता का प्रचारक है। ऋग्वेद ने तो स्पष्ट कह दिया—

न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु (ऋ. ७।३२।२१)

मनुष्य दुष्ट उपायों से धन नहीं प्राप्त कर सकता।

दूसरे चरण में बहुत स्पष्ट कहा है—

न स्रेधन्तं रयिर्नशत्

हिंसक भी धन नहीं प्राप्त कर सकता।

कितना ही शास्त्रवेत्ता क्यो न हो, जब तक हिंसादि दुष्ट उपायों को नहीं छोड़ता, तब तक शान्तिधन, आत्म-सपत्ति को नहीं प्राप्त कर सकता। यम ने मार्मिक शब्दों में नचिकेता को समझाया था

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् (कठो २।२२)

जो दुराचार से नहीं हटा, जो चचल है, जो प्रमादी है, सावधान नहीं है, जिसके मन मे क्षोभ है, वह बुद्धि से, ज्ञान से इस आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।

आत्मज्ञान के बिना शान्ति नहीं। जब प्रमाद तथा अनाचार से आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। तब उसकी प्राप्ति के बाद प्राप्त होने वाली शान्ति—सपत्ति की प्राप्ति की आशा कैसे की जा सकती है।

वेद कहता है, देने योग्य धन को कोई शक्तिशाली ही प्रभुसमर्पण की भावना से प्राप्त कर सकता है।

बलहीन का ससार मे ही टिकाना नहीं, परलोक की तो बात ही क्या? वहा के लिये उपयुक्त धन कमाने को बल चाहिये।

अध्यात्मानुभव

ओ३म्। शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः।

चरन्ति विद्युतो दिवि॥ सा० उ० ५।१।३।२

(शुष्मिणः) पाप-ताप को सुखा देने वाले महाबली (पवमानस्य) सब के शोधक, शान्तिदायक भगवान का (स्वन) शब्द, आदेश (वृष्टे+इव) वृष्टि के शब्द की भांति (शृण्वे) सुनाई दे रहा है और (दिवि) प्रकाशाधार मस्तिष्क में (विद्युत) बिजलियां, प्रकाश की झलकें (चरन्ति) विचर रही हैं।

साधक की साधना जब परिपक्व हो जाती है, तब उसे जो अनुभव होता है, उसकी संकेतमात्र चर्चा यहां है। सामवेद सारा का सारा आध्यात्मिकता की विविध अनुभूतियों के वर्णनों से ओतप्रोत है। उपासना की समस्त भूमियां इसमें दर्शायी गई हैं। इस मन्त्र में भी साधक को जो प्रत्यक्ष भान होता है, उसका वर्णन है।

भगवान् साधारण जन और असाधारण गण्य जन सभी को सदा उपदेश देते हैं किन्तु उनसे अधिक जन अनसुना कर देते हैं। कोई विरला ही उसे सुनने का यत्न करता है। साधना का मार्ग खुल गया, इसकी सूचना इसी में होती है कि साधक भगवान् के विमल उपदेश को सुने। जिसे सुनाई देता है, वही कह सकता है—

शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः।

पाप ताप ने झुलस दिया है, आत्मा अशान्त हो उठा है। गर्मी के प्रचण्ड ताप को वृष्टि ही शम कर सकती है। साधक कहता है—मुझे वृष्टि का सा शब्द सुनाई देता है। धर्ममेघ समाधि के समय वृष्टि का ही शब्द सुनाई देना चाहिये। इस धर्ममेघ की वृष्टि से अधर्म से पैदा हुई जलन सब शान्त हो जाती है। झुलस से उत्पन्न सब कालिमा धुल जाती है।

मेघ के साथ बिजुली भी आती है, इसीलिये कहा है—

चरन्ति विद्युतो दिवि

आकाश में बिजलियां चमक रही हैं।

सचमुच इस शरीराकाश में साधक को विद्युत् के दर्शन होते हैं। योगी श्वेताश्वतर भी कहते हैं—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।

एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ (श्वेता० २।११)

कोहरा, धुआं, सूर्य, आग, हवा, खद्योत, विद्युत्=बिजली, बिल्लौर और चन्द्र के ये रूप आगे आते हैं, जब ब्रह्मयोग का अनुष्ठान किया जाता है।

वेद के विद्युत् को इतना उपलक्षण समझा जा सकता है।

बाहर की बिजली आंख बन्द करती है, यह बिजली आंख खोल देती है। मस्त कर देती है।

अनुभव की बात को शब्दों से कौन समझावे? भगवान ने थोड़े से शब्दों द्वारा कहना उचित समझा, तो मर्त्य कैसे वाणी की ग्लानि का साहस करे।

भगवान् अपने धन से क्या करता है ? उस ने सारा का सारा धन अपनी जीव प्रजा को दे रखा है। त्याग के कारण ही भगवान् धनी है। जो धनी होते हुए भी धन का त्याग नहीं करते, वे दुःखी रहते हैं। भूख लगी है, बाजार से फल मिल सकते हैं। किन्तु कंजूस खर्चना नहीं चाहता। धन के होते भी भूख से तड़प रहा है। धन दे दे, फल आदि लेले, भूख मिट जाये, अशान्ति हट जाये। धन के त्याग से ही शान्ति मिली। इस वास्ते धनपति भगवान् का उपासक धन प्राप्त करके

स इज्जनेन भरते धना—वह जन सेवा द्वारा धन- धारण करता है अर्थात् वह संसारी जनों को धन दे डालता है।

उसे प्रजा मिली है, उस के घर पुत्रपौत्र के जन्म होते हैं। ऐसे दाता के पास नेता तक आते हैं। वह धन के साथ अपने पुत्रपौत्ररूप जन भी दे डालता है वह कमाता है त्याग के लिये—इसे **त्यागाय सम्भृतार्थनाम्** (त्याग के लिये धन संग्रह) की बात स्मरण है।

ब्रह्मणस्पति से उसे केवल धन ही नहीं उसे **वाज** भी मिला है, ज्ञान भी मिला है। उसे भी वह दे डालता है, अर्थात् भगवद्भक्त का जन धन ज्ञान सब परार्थ है।

इस से अगले मन्त्र में इस बात को बहुत खोल कर कहा गया है—

यो अस्मै हव्यैर्घृतवद्भिरविधत् प्र त प्राचा नयति ब्रह्मणस्पति.।
उरुष्यन्तीमहसो रक्षती रिषोंहोश्चिदस्म उरुचक्रिरद्भुत ॥ ४

जो ज्ञान-प्रकाशयुक्त श्रद्धामय त्याग से इस की पूजा करता है, उस को ब्रह्मणस्पति आगे से, उन्नति की ओर ले जाता है। पाप की प्रबल भावना से, रिस से, हिंसा से उस की रक्षा करता है। वह महान् इस का कार्यसाधक हो कर अभूतपूर्व हुआ हुआ पाप से बचाता है।

भगवान् ही सब को आगे ले जाते हैं। और जो भगवान् की पूजा करता है, वह सचमुच उन्नति प्राप्त करता है, ऊंचा उठ जाता है।

मनुष्य के अन्दर पाप की प्रबल भावनायें उठती हैं। हिंसा की इच्छा पैदा होती है, कुटिलता की कामना आती है। भगवान् ही उस से बचाते हैं। वें अपापविद्ध हैं। जो उस की शरण में जायेगा, पाप से बच जाएगा।

पाप से बचने का अर्थ है दुःख से बचना। जितने दुःख हैं, सब का कारण पाप है।

कौन है जो दुःख से छुटकारा नहीं पाना चाहता। दुःख से छूटने के लिये पाप छोड़ना होगा। पाप का मूल अज्ञान है, क्योंकि जान बूझ कर कोई दुःख के साधनों का अनुष्ठान नहीं करता। अज्ञान ज्ञानवान् की सङ्गति से मिटेगा। इसी वास्ते ब्रह्मणस्पति=ज्ञानपति भगवान् की उपासना का विधान किया है।

उपासना और संगति एक हैं। उपासना पास बैठना, सङ्गति एक साथ चलना। दोनों में साथ अनिवार्य है। भगवान् से बढ़ कर कौन ज्ञानी है है, अतः 'उसी की उपासना करनी योग्य है'।

घर की गौ की महिमा

ओ३म् । स्व आ दमे सुदुघा यस्य धेनु. स्वधां पीपाय सुभ्वन्नमत्ति ।
सो अपान्नपादूर्जयन्नप्स्वन्तर्वसुदेयाय विधते विभाति ॥ ऋ० २।३५।७

(यस्य) जिसके (स्वे) अपने (आ) ही (दमे) घर मे (सुदुघा) उत्तम दूध देने वाली, आसानी मे दोही जाने वाली (धेनु) दुधार गौ है वह (स्वधाम्) अपनी शक्ति को (पीपाय) बढ़ाता है और (सुभु) उत्तम रीति मे सिद्ध होने वाले (अन्नम्) अन्न को खाता है। (स') वह (अपाम्+नपात) जीवनी शक्ति को पतित न होने देने वाला (अप्सु+अन्त.+अपा+नपात) जलों के भीतर रहने वाली बिजली के समान (ऊर्जयन्) बलसपन्न होता हुआ (वसुदेयाय) धन देने योग्य (विधते) मेधावी के लिये (वि भाति) विशेषतः चमकता है ।

वेद के उपदेश करने की शैली निराली है। कहीं आदेश करता है, कहीं निषेध करता है। कहीं प्रार्थना द्वारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध कराता है। कहीं वास्तविक स्थिति आगे रख कर समझाता है।

इस मन्त्र मे जो बात कही है, वह पहले भी ठीक थी, आज भी सत्य है और कल को भी यथार्थ होगी वेद के उपदेश सामयिक नहीं, वरन् सनातन=सदा रहने वाले, त्रिकालाबाधित हैं।

अथर्व ५।२८।३ मे कहा है—त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन ।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥

इस त्रिगुणात्मक जगत् में तीन पुष्टिया बनी रहें—१. अन्न की बहुतायत, २. पुरुषों की बहुलता तथा ३. पशुओं की बहुतायत। ये उस ससार मे बनी रहें, पशुपति दूध घी से भरपूर रहे ।

दूध घी कहा से आये? पशुओं से। पशुओं में गौ का घी-दूध सब की अपेक्षा उत्कृष्ट माना गया है। अतएव वेद मे गौ की महिमा बहुत है। यथा

गावो भगो गाव इन्द्र मे (अ० ४।२१।५) गौएं ही भाग्य और गौए ही मेरा ऐश्वर्य हैं ।

यूय गावो मेदयथा कृश चिदश्रीर चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्र गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वयउच्यते सभासु ॥ अ० ४।२१।६

गौए दुबले को भी मोटा कर देती हैं और शोभाहीन को भी सुन्दर बना देती हैं। मधुर बोली वाली गौए घर को कल्याणमय बना देती हैं, सभाओं मे गौओं की बहुत कीर्ति कही जाती है।

गौओं के पालने की रीति का भी थोड़ा सा सकेत है—

प्रजावती. सुयवसे रुशन्ती. शुद्धा अप सुप्रपाणे पिबन्ती' । अ० ४।२१।७

सन्तान सहित उत्तम चारे के कारण पुष्ट हों, उत्तम जलपान के स्थान मे शुद्ध जल का पान करे।

आज गोभक्त आर्य इस उपदेश को भूल सा गया है। अब न अच्छा चारा मिलता है और न गौओं को शुद्ध जल पिलाने की व्यवस्था की जाती है।

यह तभी हो सके जब स्व आ दमे सुदुघा यस्य धेनु'—अपने घर मे ही उत्तम दूध देने वाली गौ हो।

वेद के कथनानुसार जिसके दूध के पीने से दुर्बल भी हृष्टपुष्ट हो जाते हैं और श्रीहीन सुश्रीक= सुन्दर शोभमान हो जाते हैं, उससे पूरा लाभ उठाने के लिये उसे घर में पालना अच्छा होता है। इसके दूध पीने से गोपति जल मे विद्युत के समान चमकता है)

संसार का उत्पादक ही सुकर्म्मा

ओ३म् । स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान ।
उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवशे धीरः शच्या समैरत् ॥ऋ०४।५६।३

(भुवनेषु) लोको में (स+इत्) वही (स्वपा=सु+अपाः) -सुकर्म्मा है (य.) जो (इमें) इम (द्यावापृथिवी) द्यो और पृथिवि को, प्रकाशयुक्त तथा प्रकाशशून्य लोका को (जजान) उत्पन्न करता है । (उर्वी) विशाल (गभीरे) गहरे (सुमेके) सुन्दर (अवशे) वशरहित, आधारस्तम्भ से रहित (रजसी) दोनों लोकों को (धीरः) वह धीर महाज्ञानी, शक्तिशाली (शच्या) अपनी सामर्थ्य से (सम+ऐरत्) समता से चलाता है ।

भगवान को इस मन्त्र मे सुकर्म्मा कहा है. क्योंकि वह ससार का उत्पन्न करता है और इस ससार को अधर मे किसी आश्रय के बिना चला रहा है ।

भगवान् ने सृष्टि क्यों उत्पन्न की ? वेद मे एक स्थान पर कहा है कि भगवान् ने यह जहान जीव को भोग तथा मोक्ष देने के लिये बनाया । अर्थात् इस सृष्टि के बनाने में प्रभु का अपना कोई प्रयोजन नहीं, केवल जीवों के उद्धार के लिये ही भगवान् ने यह ससार बनाया है । भाव यह हुआ कि निष्काम कर्म्म करने के कारण भगवान् सुकर्म्मा है ।

भगवान् मे स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च=ज्ञान, शक्ति तथा क्रिया स्वाभाविक है ।

प्रभु उस स्वाभाविक शक्ति से लोकोपकार करता है । भक्त को भी भगवान् का अनुकरण करना चाहिये, उसे भी निष्काम कर्म्म करने चाहियें, तभी भगवान् का सच्चा बन सकेगा ।

सृष्टि-निर्माण के कारण भगवान् स्वपा'=उत्तमकर्म्मकारी है अर्थात् निर्माण, जनन उत्तम कर्म्म है । इस तत्त्व को हृदयङ्गम करने की आवश्यकता है । मनुष्य को भी योग्य है कि यदि वह भी स्वपाः=उत्तमकर्म्मकारी कहलाना चाहता है [सभी चाहते हैं कि ससार उनको भला कहे] तो उसे भी कुछ निर्माण कर जाना चाहिए। केवल मौन सन्तान उत्पादन से निर्माणविधान पूर्ण नहीं होता । उससे भूभार मात्र बढता है । यह कार्य्य तो कीट पतग भी कर जाते हैं। जैसे भगवान् कामनारहित होकर ऐसा सुन्दर जीवनसाधन जगत् बनाते हैं, वैसे ही मनुष्य को भी किसी लोकसुखदायी अद्भुत साधन का निर्माण कर जाना चाहिए।

उत्तरार्ध मे एक बहुत सूक्ष्म बात कही है। इतने विशाल ब्रह्माण्ड को उसने किसी आश्रय के बिना धारण कर रखा है । एक छोटा सा तिनका भी आश्रय के बिना अधर मे नहीं रह सकता किन्तु इतना विशाल ब्रह्माण्ड किसी सहारे के बिना चल रहा है। सूर्य्य जो पृथिवी से कई लाख गुना भारी है, अधर मे सहारे के बिना ठहरा है। चन्द्र तारे सारे सभी बिना सहारे हैं। कैसे ? क्यो कर ? इस मन्त्र में उत्तर है—समैरत—भगवान् ने समता मे गति दे रखी है। अर्थात् गति के कारण ये ठहरे हैं। उदाहरण से इसको समझिये—हमने हवा मे एक गेंद फेंकी, हमने अपनी शक्ति के अनुसार उसमें गति डाली । हमारी शक्ति परिमित है, फिर हम सारी शक्ति भी उसमें नहीं डाल सकते । अत कुछ दूर जाकर उसकी गति रुक जायेगी। गति रुकते ही वह भूमि पर आ गिरेगी । इसी प्रकार भगवान् ने इसमें गति का आधान किया हुआ है। जब तक उसकी दी गति इसमें है तब तक यह समस्त ससार और इसमे के सारे पिड आकाश मे ठहरे रहेंगे। जैसे फेंकी हुई गेंद बिना सहारे के चल रही है, नीचे नहीं गिरती । ऐसे ही आकाश मे फेंके गये पिंड भी गति के कारण अधर मे लटके रहते हैं। भगवान् की शक्ति=शची जो सब पदार्थों मे समवेत है, इसको चला रही है।

वेदकर्त्ता

ओ३म् । इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते ।

ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥ सा० उ० ६।७।२।१

(विप्राय) मेधावी (बृहते) महान् (ब्रह्मकृते) वेदकर्त्ता (विपश्चिते) सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी (पनस्यवे) सब से स्तोतव्य, व्यवहारोपदेष्टा (इन्द्राय) अज्ञानवारक, उपद्रवशामक भगवान् के लिये (साम) साम, स्तुति (गायत) गाओ ।

सचमुच सभी स्तुतियों का पात्र भगवान् है। गुणकथनं स्तुतिः । कौन सा ऐसा गुण है जो भगवान् में नहीं है । वह सर्वगुणनिधान है । उसी के गुणों का कथन ही वास्तविक स्तुति है ।

भगवान् को यहां 'ब्रह्मकृत'=वेदकर्त्ता कहा गया है। तनिक वेद के शब्दों पर ध्यान दीजिये। भगवान् को पहले इन्द्र=अन्धकारवारक कहा गया है। अन्धकार तो सूर्य्य आदि भौतिक पदार्थ भी दूर करते हैं। इस वास्ते भगवान् के सम्बन्ध में कहा कि वह 'विप्र' है। बुद्धिमान भी है, ऐसा बुद्धिमान् जिस में धारणावती बुद्धि भी है । अर्थात् जड नहीं चेतन है । संसार में सैंकड़ों विप्र हैं, किन्तु भगवान् बृहन्= महान् है । और साथ ही 'ब्रह्मकृत्' वेदकर्त्ता है । सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को कार्य चलाने के लिये विश्व तथा विश्वपति का ज्ञान कराने के लिए भगवान् ने जो ज्ञान दिया, वह सब विद्याओं का मूल है। सभी ऋषि मुनि कहते हैं—

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्ति मूलोद्देश्यतः—बीजरूप से वेद में सभी विद्यायें हैं ।

ऋग्वेद में एक स्थान पर वेद को परमात्मा की रचना बताया है—

देवत्तं ब्रह्म गायत (ऋ० १।३७,४) परमात्मा के दिये वेद का गान करो ।

स्पष्ट ब्रह्म=वेद के साथ 'देवत्त' [देव का दिया हुआ] विशेषण विद्यमान है ।

वेद-ज्ञान देने का प्रयोजन बताने के लिये मन्त्र में एक और विशेषण लगाया कि वह पनस्यु है—व्यवहार का उपदेश देने का इच्छुक है। मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार में त्रुटि न आवे, सभी पदार्थों के गुणधर्म उन्हें ज्ञात हो सकें, इस दृष्टि से करुणानिधान सर्वगुणवान भगवान ने सर्गारम्भ में मनुष्यों को वेदज्ञान दिया । वही सच्चा ज्ञान है ।

ऋग्वेद के दशममण्डल का ७१ वां सूक्त 'ज्ञानसूक्त' है। इसमें वेदोत्पत्ति का वर्णन बहुत सुन्दर शब्दों में है। वहां पहले मन्त्र में बृहस्पति=ज्ञानपति भगवान् से वेदोत्पत्ति बतला कर मानो एक शङ्का का समाधान करने के लिये दूसरे मन्त्र की रचना है। शङ्का यह है कि जब भगवान ने मनुष्य के हृदय में ज्ञान दिया क्या उच्चारण करते समय उसने उसमें अपना कुछ नहीं मिलाया, इसका समाधान—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ ऋ० १०।७१।२

जैसे चालनी (छाननी) से सत्तू साफ किये जाते हैं वैसे ही उन धीरों ने मन से वाणी को किया, अर्थात् शुद्ध वाणी ही बाहर आने दी। क्योंकि भगवान के सखा सखित्व के नियमों को जानते हैं, उनकी वाणी पर कल्याणकारी श्री विराजती है ।

अर्थात् सर्गारम्भ में, वेद प्रापक ऋषियों ने शुद्ध परमात्मप्रदत्त ज्ञान ही उच्चारण किया था ।

संसार का उत्पादक ही सुकर्म्मा

ओ३म् । स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान ।
उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवशे धीरः शच्या समैरत् ॥ऋ०४।५६।३

(भुवनेषु) लोको में (स + इत्) वही (स्वपा=सु+अपा) सुकर्म्मा है (यः) जो (इमे) इन (द्यावा-पृथिवी) द्यौ और पृथिवि को, प्रकाशयुक्त तथा प्रकाशशून्य लोको को (जजान) उत्पन्न करता है । (उर्वी) विशाल (गभीरे) गहरे (सुमेके) सुन्दर (अवशे) वशरहित, आधारस्तभ से रहित (रजसी) दोनों लोकों को (धीर) वह धीर महाज्ञानी, शक्तिशाली (शच्या) अपनी सामर्थ्य से (सम+ऐरत्) समता से चलाता है ।

भगवान् को इस मन्त्र मे सुकर्म्मा कहा है, क्योंकि वह ससार का उत्पन्न करता है और इस ससार को अधर में किसी आश्रय के बिना चला रहा है ।

भगवान् ने सृष्टि क्यो उत्पन्न की ? वेद मे एक स्थान पर कहा है कि भगवान् ने यह जहान जीव को भोग तथा मोक्ष देने के लिये बनाया । अर्थात् इस सृष्टि के बनाने में प्रभु का अपना कोई प्रयोजन नहीं, केवल जीवों के उद्धार के लिये ही भगवान् ने यह संसार बनाया है । भाव यह हुआ कि निष्काम कर्म्म करने के कारण भगवान् सुकर्म्मा है ।

भगवान् मे स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च=ज्ञान, शक्ति तथा क्रिया स्वाभाविक है ।

प्रभु उस स्वाभाविक शक्ति से लोकोपकार करता है । भक्त को भी भगवान् का अनुकरण करना चाहिये, उसे भी निष्काम कर्म्म करने चाहियें, तभी भगवान् का सखा बन सकेगा ।

सृष्टि-निर्माण के कारण भगवान् स्वपाः=उत्तमकर्म्मकारी है अर्थात् निर्माण, जनन उत्तम कर्म्म है। इस तत्त्व को हृदयङ्गम करने की आवश्यकता है । मनुष्य को भी योग्य है कि यदि वह भी स्वपा=उत्तमकर्म्मकारी कहलाना चाहता है [सभी चाहते हैं कि ससार उनको भला कहे] तो उसे भी कुछ निर्माण कर जाना चाहिए । केवल मौन सन्तान उत्पादन से निर्माणविधान पूर्ण नहीं होता । उससे भूभार मात्र बढता है । यह कार्य्य तो कीट पतग भी कर जाते हैं। जैसे भगवान् कामनारहित होकर ऐसा सुन्दर जीवनसाधन जगत् बनाते हैं, वैसे ही मनुष्य को भी किसी लोकसुखदायी अद्भुत साधन का निर्माण कर जाना चाहिए ।

उत्तरार्ध में एक बहुत सूक्ष्म बात कही है । इतने विशाल ब्रह्माण्ड को उसने किसी आश्रय के बिना धारण कर रखा है । एक छोटा सा तिनका भी आश्रय के बिना अधर मे नहीं रह सकता किन्तु इतना विशाल ब्रह्माण्ड किसी सहारे के बिना चल रहा है । सूर्य्य जो पृथिवी से कई लाख गुना भारी है, अधर म सहारे के बिना ठहरा है । चन्द्र तारे सारे सभी बिना सहारे हैं । कैसे ? क्यों कर ? इस मन्त्र में उत्तर है—समैरत्—भगवान् ने समता से गति दे रखी है । अर्थात् गति के कारण ये ठहरे हैं । उदाहरण से इसको समझिये—हमने हवा मे एक गेंद फेंकी, हमने अपनी शक्ति के अनुसार उसमें गति डाली । हमारी शक्ति परिमित है, फिर हम सारी शक्ति भी उसमें नहीं डाल सकते । अतः कुछ दूर जाकर उसकी गति रुक जायेगी । गति रुकते ही वह भूमि पर आ गिरेगी । इसी प्रकार भगवान् ने इसमे गति का आधान किया हुआ है । जब तक उसकी दी गति इसमे है तब तक यह समस्त संसार और इसमें के सारे पिंड आकाश मे ठहरे रहेंगे । जैसे फेंकी हुई गेंद बिना सहारे के चल रही है, नीचे नहीं गिरती । ऐसे ही आकाश मे फेंके गये पिंड भी गति के कारण अधर मे लटके रहते हैं । भगवान् की शक्ति=शची जो सब पदार्थों मे समवेत है, इनको चला रही है ।

प्राणरक्षित सर्वथा रक्षित रहता है

ओ३म् । न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति ।
नास्य राय उपदस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ ॥ ऋ. ५।५४।७

हे (मरुत) प्राणो ! (यम्) जिस (ऋषिम्) ज्ञानी को (वा) अथवा (राजानम्) रक्षाकर्म-परायण, कर्मशील को (वा) अथवा किसी अन्य को (सुषूदथ) सुख देते हो, (स) वह (न) नहीं (जीयते) हानि उठाता, आयु में कम होता है । (न+हन्यते) न मारा जाता है (न+स्रेधति) दुःख देता है (न+व्यथते) न डरता कांपता है (न+रिष्यति) न हिंसा करता है, (न) क्रोध करता है न ही (अस्य) इसके (रायः) धन (उपदस्यन्ति) क्षीण होते हैं और (न) न ही इसकी (ऊतयः) प्रीतियें, रक्षायें तथा व्यवहार नष्ट होते हैं ।

मनुष्य को अनेक भय लगे रहते हैं, कभी आयु घटने का, कभी मरने का, कभी किसी से प्रताड़ित होने का, कभी किसी रोगादि से शरीर में कंपकंपी हो जाती है, कभी धन नाश का भय उसे सताता है तो कभी प्रतिनाश की भीति उसे व्याकुल करती है । वेद कहता है, इन सब उपद्रवों से बचना चाहते हो, तो प्राण की शरण में आओ । यदि प्राणों को अपने आप में लगा सको, तो तुम्हें किसी प्रकार का भय विह्वल नहीं करेगा ।

सभी मानते हैं कि प्राण के अभ्यास से आयु बढ़ती है । अतः जो प्राण का साधन करेगा, उसकी आयु बढ़ेगी, घटेगी नहीं । प्राण का साधन करने से मृत्यु का क्लेश भी नहीं हो सकता । मरना तो अवश्यभावी है जो जन्मा वह अवश्य मरेगा । जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः=उत्पन्न की मौत निश्चित है ।

किन्तु मरणसमय में प्राण निकलने से मुमूर्षु को जो पीड़ा होती है, प्राणाभ्यासी उससे बच जाता है । मृत्यु सन्निहित देखकर तत्काल आयास के बिना वह प्राण को बाहर निकाल देता है ।

प्राणानुष्ठान से उसे आत्मज्ञान होता है और अनुभव करता है कि सब में मेरे आत्मा के समान आत्मा का वास है, तब वह हिंसा और क्रोध से हट जाता है । किसी की त्रुटि के कारण क्रोध आया करता है । प्राणों ने अपनी त्रुटियों का ज्ञान करा दिया है, अब वह अपनी त्रुटियों के निवारण में संलग्न है । उसे अवकाश ही नहीं कि दूसरों के दोष देखे । है तो अब दोषदर्शी, किन्तु स्वदोषदर्शी, न कि परदोषदर्शी । डर या कंपकंपी पदार्थनाश की सम्भावना से होते हैं, जब वह सम्भावना ही न रही, तब डर काहे का ?

ऐसे संयमी का धन कभी नष्ट नहीं हो सकता क्योंकि प्राणसाधक को अत्यन्त संयम से जीवन बिताना होता है, सभी व्यसनों से बचा रहना होता है ।

सबको आत्मसमान जानने से वह सभी से प्रीति की रीति से नीतियुक्त व्यवहार करता है, अतः वह सब का प्रीतिभाजन बन जाता है । ऋ० १।६४।१३ में ठीक ही कहा है—

प्र नूनं स मर्त्तः शवसा जनाँ अति तस्थौ व ऊती मरुतो यमावथ ॥

हे मरुतो=प्राणो ! निश्चय से वह मनुष्य बल के कारण जनसाधारण से ऊपर रहता है जिसकी तुम अपनी प्रीति से रक्षा करते हो ।

प्राण में अपार बल है । भूमि से कोई भार उठाते समय यदि बीच में प्राण बाहर निकल जावे तो वह भार हाथ से गिर पड़ता है, क्योंकि बल का आधार प्राण बाहर चला गया । अतः बल के इच्छुकों को प्राण साधन का अनुष्ठान आरम्भ करना चाहिये ।

२०

वृद्ध

ओ३म् ये अग्ने नेरयन्ति ते वृद्धा उग्रस्य शवस ।
अप द्वेषो अप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिरे ॥ ऋ० ५।२०।२

(ते) वे (वृद्धा.) वृद्ध हैं, हे (अग्ने) प्रकाशमय नेत । (ये) जो (न) नहीं (ईरयन्ति) कापते हैं, और जो (उग्रस्य) तीव्र (शवस·) बलधारी (अन्यव्रतस्य) परमात्मा से भिन्न के उपासक के, दस्यु के (द्वेष·) द्वेषभाव को (अप दूर करते और (ह्वर) कुटिलता को (अप+सश्चिरे) दूर करते हैं।

साधारण दशा मे बूढा उसे कहते हैं जो आयु में किसी से बडा हो, अर्थात्‌जो ससार में पहले आया हो। वैसे ससार मे कई प्रकार के वृद्ध होते हैं—ज्ञानवृद्ध, बलवृद्ध, धनवृद्ध, वयोवृद्ध आदि। वयोवृद्ध को सबसे निकृष्ट वृद्ध मानते हैं।

वेद इस मन्त्र मे एक ऐसे वृद्ध की चर्चा करता है, जो इन सबसे निराला है। वेदके शब्दों मे वस्तुत· वृद्ध है भी वही। ससार मे ईश्वर विश्वासी तथा अनीश्वरवादी दो प्रकार के लोग हैं। वेद कहता है-

ते वृद्धा, उग्रस्य शवस । आपद्वेष अन्यव्रतस्य बूढे वे हैं जो तीव्र बलधारी नास्तिक के द्वेप को दूर कर दें। निरन्त धर्म्म प्रचार, सदुपदेश, सद्व्यवहार, सयुक्ति के द्वारा जो नास्तिक के भीतर मे ईश्वर तथा ईश्वरविश्वासियों के प्रति द्वेप भावना को नष्ट कर दें।

स्वय ईश्वर का मानना कठिन नहीं, किन्तु दूसरों को ईश्वरविश्वासी बनाना बहुत बडा काम है, अत जो इसे कर दे वह वृद्ध।

बहुधा लोग अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए कुटिलता का आचरण करते हैं। कुटिल लोगों मे यह नीच भावना ऐसा घर कर लेती है कि उनका स्वभाव सा बन जाती है।और

स्वभावो दुरतिक्रम· स्वभाव कठिनता से टलता है।

जो किसी के स्वभाव से हटा दे, उसमे परिवर्तन कर दे, उसके महान् होने में, वृद्ध। होने में कोई सन्देह नहीं है। वृद्ध की एक पहचान और भी कही है—

ये—नेरयन्ति—जो नहीं कापते।

अर्थात जो अपने लक्ष्य से, उद्देश्य से नहीं टलते, चाहे कितने ही विघ्न क्यो न हों। नितिकारों ने कहा भी है—**न्याय्यात्पथ· प्रविचलन्ति पद न धीरा** धृतिशील न्माययुक्त मार्ग से पग नहीं हटाते। अधम लोग विघ्न के भय से कार्य्य आरभ ही नहीं करते। मध्यम लोग विघ्न आने पर हिम्मत हार बैठते हैं और कार्य्य को बीच मे छोड देते हैं किन्तु उत्तमपुरुष बार बार विघ्नों की मार खाकर भी कार्य्य को नहीं छोडते, वरन् पूरा करके दम लेते हैं। इसी भाव का द्योतक है—

ये—नेरयन्ति जो नहीं कापते

सार यह कि नास्तिकों को आस्तिक बनाना, उनसे तथा दूसरों से द्वेषभाव छुड़ाना, कुटिलता हटा कर ऋजुता सरलता स्थापित करना वृद्ध का कार्य्य है और इसमें चाहे उसे कितनी पीडा और क्लेश क्यो न आये, इसे न छोडे।

प्राणरक्षित सर्वथा रक्षित रहता है

ओ३म् । न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति ।
नास्य राय उपदस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ ॥ ऋ. ५।५४।७

हे (मरुत) प्राणो ! (यम्) जिस (ऋषिम्) ज्ञानी को (वा) अथवा (राजानम्) रक्षाकर्म-परायण, कर्मशील को (वा) अथवा किसी अन्य को (सुषूदथ) सुख देते हो, (स) वह (न) नहीं (जीयते) हानि उठाता, आयु में कम होता है। (न+हन्यते) न मारा जाता है (न+स्रेधति) दुःख देता है (न+व्यथते) न डरता कांपता है (न+रिष्यति) न रिस करता है, (न) क्रोध करता है न ही (अस्य) इसके (राय.) धन (उपदस्यन्ति) क्षीण होते हैं और (न) न ही इसकी (ऊतय.) प्रीतियें, रक्षायें तथा व्यवहार नष्ट होते हैं।

मनुष्य को अनेक भय लगे रहते हैं, कभी आयु घटने का, कभी मरने का, कभी किसी से प्रताड़ित होने का, कभी किसी रोगादि से शरीर में कपकपी हो जाती है, कभी धन नाश का भय उसे सताता है तो कभी प्रीतिनाश की भीति उसे व्याकुल करती है। वेद कहता है, इन सब उपद्रवों से बचना चाहते हो, तो प्राण की शरण में आओ। यदि प्राणों को अपने काम में लगाओगे, तो तुम्हें किसी प्रकार का भय विह्वल नहीं करेगा।

सभी मानते हैं कि प्राण के अभ्यास से आयु बढ़ती है। अतः जो प्राण का साधन करेगा, उसकी आयु बढ़ेगी, घटेगी नहीं। प्राण का साधन करने से मृत्यु का क्लेश भी नहीं हो सकता। मरना तो अवश्यंभावी है जो जन्मा वह अवश्य मरेगा। जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः=उत्पन्न की मौत निश्चित है।

किन्तु मरणसमय में प्राण निकलने से मुमूर्षु को जो पीड़ा होती है, प्राणाभ्यासी उससे बच जाता है। मृत्यु सन्निहित देखकर तत्काल आयास के बिना वह प्राण को बाहर निकाल देता है।

प्राणानुष्ठान से उसे आत्मज्ञान होता है और अनुभव करता है कि सब में मेरे आत्मा के समान आत्मा का वास है, तब वह हिंसा और क्रोध से हट जाता है। किसी की त्रुटि के कारण क्रोध आया करता है। प्राणों ने अपनी त्रुटियों का ज्ञान करा दिया है, अब वह अपनी त्रुटियों के निवारण में संलग्न है। उसे अवकाश ही नहीं कि दूसरों के दोष देखे। है तो अब दोषदर्शी, किन्तु स्वदोषदर्शी, न कि परदोषदर्शी। डर था कपकपी पदार्थनाश की सम्भावना से होता है, जब वह सम्भावना ही न रही, तब डर काहे का?

ऐसे संयमी का धन कभी नष्ट नहीं हो सकता क्योंकि प्राणसाधक को अत्यन्त संयम से जीवन बिताना होता है, सभी दुर्व्यसनों से बचा रहना होता है।

सबको आत्मसमान जानने से वह सभी से प्रीति की रीति से नितियुक्त व्यवहार करता है, अतः वह सब का प्रीतिभाजन बन जाता है। ऋ० १।६४।१३ में ठीक ही कहा है—

प्र नून स मर्त्त शवसा जनाँ अति तस्थौ व ऊती मरुतो यमावत ॥

हे मरुतो=प्राणो! मनुष्य वह महान् बल से सामान्य जनसमुदाय से बढ़कर रहता है जिसकी तुम अपनी प्रीति से रक्षा करते हो।

प्राण में बड़ा बल है। भूमि से कोई भार उठाते समय यदि बीच में प्राण बाहर निकल जाये तो वह भार हाथ से गिर पड़ता है, क्योंकि बल का आधार प्राण बाहर चला गया। अतः बल के इच्छुकों को प्राण साधन का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये।

विद्वान् भगवान् के सख्य के लिये संयम करता है।

ओ३म्। विभ्राजज्जोतिषा स्वरगच्छो रोचन्दिव ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे॥ सा उ ६।७।२।३

(ज्योतिषा) प्रकाश से (विभ्राजत् विशेष चमकता हुआ (दिवः) प्रकाशमय लोकों को (रोचन्) चमकाता हुआ तू (स्वः) आनन्द को (अगच्छः) नित्य प्राप्त है। हे (इन्द्र) सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामिन्। अज्ञान-निवारक परमेश्वर। (देवाः) निष्काम ज्ञानी (ते) तेरे (सख्याय) सख्य के लिये, मैत्री के लिए (येमिरे) सयम करते हैं।

सूर्य्य चन्द्रादि मे प्रकाश के साथ अन्धकार भी है किन्तु भगवान् मे अन्धकार का लवलेश नहीं। जीव को चाहिये निर्धूम प्रकाश, जीव को चाहिये दुःख से असपृक्त आनन्द। वह मिल सकता है भगवान् से। भगवान् की आराधना मे जब उसे अनुभूति की उत्तरोत्तर भूमियों से परिचय होता है, तब वह स्वय अपने इष्टदेव से कहता है कि मुझे ज्ञात हो गया हैं, क्यों साधक तेरी अर्चा, पूजा करते हैं। हमे चाहिये अनन्द, और तू है आनन्दमय। तेरे आनन्द का कारण भी हमें ज्ञात हो गया है, तू सदा ज्योतिः से ज्योतिष्मान् हो रहा हैं। तू केवल स्वयप्रकाश ही नहीं है, तू दूसरों को भी प्रकाशित करता है। इसी से तू आनन्दघन है। तेरे इसी आनन्द के कारण विद्वान् सयम करते हैं। मन्त्र का सक्षिप्त भाव यह है कि—१ भगवान् आनन्दमय है।

२ उसके आनन्द का कारण ज्योतिर्मयता, सर्वज्ञता के साथ सर्वप्रकाशकता तथा सबको ज्ञानदान है।

३ दूसरों को देने के लिये अपने ऊपर सयम करना होता है। भगवान् सबसे बड़ा दाता हैं, अत सबसे बड़ा सयमी है। और अतः एव

४ उसका सख्य प्राप्त करने के लिये सयम करना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य्य भी है।

ऋग्वेद ३।५१।११ मे आदेश है—

सुते नियच्छ तन्वम्=ऐश्वर्य प्राप्ति के निमित्त शरीर को सयत कर।

वेद और आर्य्य शास्त्र सयम के उपदेशक हैं। उन्हें पूर्ण निश्चय है कि—

भोगे रोगभयम् भोग में रोग लगा है। रोग पारलौकिक क्रिया तो क्या, लौकिक क्रिया भी नहीं करने देता। सयमी मनुष्य को जो रस मिलता है, उसका शताश भी विलासी, भोगपरायण को नहीं मिलता। आश्रम-व्यवस्था सयम की व्यवस्था है। ब्रह्मचर्य्य दशा में अस्खलित वीर्य्य होने के लिये मनसा, वाचा, कर्म्मणा भोग मे पराङ्मुख रहना होता है, वानप्रस्थ और सन्यास तो हैं ही कठोर सयम के लिये। रह गया जीवन का एक चौथाई भाग गृहस्थ उसमे भी भोग का विधान होते हुए भी सयम का प्रतिबन्ध है।

बल के जितने भी कार्य्य हैं, उन्हे सपादन करने के लिये भी सयम की अवश्कता होती है। उदाहरण—मल्लविद्या=पहलवानी को ले लिजिये। क्या कोई असयमी, दुराचारी, विलासी मनुष्य कभी अच्छा मल्ल=पहलवान् बन पाया है?

अत जिसे लोक मे सफलता और ब्रह्मानन्द लेना हो उसे सयमी बनना चाहिये।

२३
कौन मनुष्य धनी ?

ओ३म् । स मर्त्तो अग्ने स्वनीक रेवानमर्त्ये य आ जुहोति हव्यम् ।

स देवता वसुवनि दधाति यं सूरिरर्थी पृच्छमान एति ॥ऋ० ७।१।२३

हे (अग्ने) ज्ञानिन् ! (स्वनीक) उत्तम प्रकाशवान् महात्मन् । (सः) वह (मर्त्तः) मनुष्य (रेवान्) धनवान् है (यः) जो (अमर्त्ये) अविनाशी में (हव्यम्) हव्य, भोग्य पदार्थों को (आ+जुहोति) पूर्ण रूप से दे डालता है । (सः) वह (वसुवनि) धन के कमनीय (देवता) दिव्य गुणों को (दधाति) धारण करता है (यम्) जिसके पास (पृच्छमान) पूछता हुआ (सूरिः) विद्वान् (अर्थी) अर्थी, याचक होकर (एति) जाता है ।

इस मन्त्र में ऊंचे दर्जे के दो उत्तम व्यावहारिक तत्त्व बताये गए हैं । पूर्वार्द्ध में धनी का स्वरूप बताया गया है । धन शब्द का भावार्थ है जिससे प्रीति उत्पन्न हो । प्रीति के दर्जे हैं । संसार की सारी प्रीतियें, सारे सुख, समस्त आनन्द दुःख से युक्त हैं । इसी वास्ते तैत्तिरीयोपनिषत् (ब्रह्मानन्दवल्ली ८) में ऋषि ने कहा—

युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः, आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्, स एक मानुष आनन्दः ॥

जवान हो, सच्चरित और युवा विचारों का हो, खूब खाता पीता हो, दृढ शरीर वाला हो, अत्यन्त बलवान् हो, धन धान्य से पूर्ण यह सम्पूर्ण पृथिवी उस की हो । यह एक मानुष आनन्द है ।

मानुष आनन्द की प्रथम कोटि भी किसी को प्राप्त नहीं । जो प्राप्त है, वह निकृष्ट है । और यदि यह कोटि किसी भांति प्राप्त भी हो जाये, तो इसके स्थिर रहने का कोई प्रमाण नहीं । अतः बुद्धिमान् इस विनाशवान धन का सदुपयोग भगवान् के मार्ग में करते हैं । इसी भाव को लेकर वेद कहता है—

स मर्त्तो रेवान्, अमर्त्ये य आ जुहोति हव्यम् ।

वह मरणधर्मा [मनुष्य] धनी है, जो अमर्त्य=अविनाशी भगवान् के निमित्त सम्पूर्ण भोग सामग्री दे डालता है ।

ब्रह्मानन्द लेने के लिये तो यह सब देना होगा । जैसा कि अथर्ववेद में कहा है—

मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् (अ० १९।७१।१)

जीवनप्राण, धनधान्य, यशकीर्ति, प्रतिष्ठा सभी मुझे दे डालो और तुम ब्रह्मलोक=ब्रह्मानन्द प्राप्त करो ।

सौदा तो सस्ता है । ये सांसारिक पदार्थ न भी दोगे तब भी ये आप के पास न रहेंगे, आप के पास से चले जायेंगे । कितनी अच्छी बात है कि स्वयं जाने वालों को दे डालने से अखुट ब्रह्मानन्द

मिलता है। कोई मूर्ख व्यापारी ही इस व्यापार से चूकेगा। यम बड़ा अच्छा व्यापारी था। उसने नचिकेता को समझाया था कि भाई इन पदार्थों को पास रखने में हानि का अनुभव करके

ततो मया नाचिकेतश्चितोग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् (कठो० २।१०)

मैंने नाचिकेत अग्नि जलाई है, [और उसमें इन सब विनश्वर पदार्थों का हवन कर डाला है] इससे मैंने अनित्य पदार्थों के द्वारा नित्य तत्त्व को पाया है।

वैसे भी दान देने से धन नहीं घटता, वेद बहुत सुन्दर शब्दों में कहता है—

उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति (ऋ० १०।११७।१)

और देने वाले का तो धन नष्ट होता ही नहीं।

वह तो पारमात्मिक बैंक मे जमा कर सूद के कारण बढता ही है। धन की वृद्धि कौन धनिक नहीं चाहता ? भोले ! फिर इस रीति को तू क्यों नहीं अपनाता ?

उत्तरार्ध मे कहा—

स देवता वसुवनि दधाति य सूरिरर्थी पृच्छमान एति।

धन के कमनीय गुणों को वही धारण करता है जिसके पास पूछताछ करता हुआ विद्वान् याचक आता है।

विद्वान्—सच्चा विद्वान्—भूखों मर जायेगा किन्तु मदमाते धनपतियों के पास न जायेगा। वह सरस्वती के केतु को, झडे को लक्ष्मी के द्वार पर नहीं गिराएगा। किन्तु सचमुच उस धनी को बड़ा सौभाग्यवान् समझना चाहिये, विद्वान् याचक होकर जिसके द्वार पर आये। सचमुच उसमें कोई कमनीय गुण है। ससार का बहुत सा व्यवहार धन के आश्रय चलता है। धनैषणा से ऊपर उठे हुए विरक्त सन्यासी को भी अन्न वस्त्र की आवश्यकता होती है। अन्न वस्त्र स्वय धन है और धन से साध्य हैं, अत धन की प्रत्येक मनुष्य को आवश्यकता पड़ती है। वेद धन की निन्दा नहीं करता। धन प्राप्ति की निन्दा भी नहीं करता। वेद तो कहता है—

शतहस्त समाहर (अ० ३।२४।५)

सैकड़ों हाथों से कमा।

किन्तु साथ ही कहता है—

सहस्रहस्त संकिर (अ० ३।२४।५)

हजारों हाथों से बिखेर, दे, दान कर।

ऐसे भाग्यवान धनी दो प्रकार के होते हैं एक जानश्रुति पौत्रायण ऐसे, जो निस्स्वार्थ भाव से यज्ञादि के द्वारा साधु सन्तों, ब्रह्मवादियों की सेवा करते हैं। दूसरे अजातशत्रु और जनक ऐसे, जिन्हें दूर दूर से जिज्ञासु—ब्रह्मतत्व के अभीप्सु पूछते हुए आते हैं। धन का यदि कोई स्पृहणीय कमनीय गुण है, तो ऐसे धनियों मे। शेष तो कोषाध्यक्ष हैं, धनस्वामी=धनी नहीं हैं।

यज्ञकर्त्ता का नाश नहीं

ओ३म् । नू चित् स भ्रेषते जनो न रेषन्मनो यो अस्य घोरमाविवासात् ।
यज्ञैर्य इन्द्रे दधते दुवांसि क्षयत्स राय ऋतपाः ऋतेजाः ॥ ऋ० ७।२०।६

(नू+चित्) क्या कभी (सः) वह (जनः) मनुष्य (भ्रेषते) भ्रष्ट होता है, हानि उठाता है ? (न) नहीं (रेषत्) हिंसित होता । (यः) जो (अस्य) इसके (मनः) मन्तव्य को (घोरम्) कष्टक्लेश सह कर भी (आ+विवासात्) पालन करता है । (यः) जो मनुष्य (यज्ञै) यज्ञों के द्वारा (इन्द्रे) परमात्मा में (दुवासि) पूजाओं को (दधाति) अर्पण करता है । (सः) वह (ऋतपाः) ऋतरक्षक (ऋतेजाः) ऋतपुत्र=धर्म्म-पुत्र (रायः) धनों को (क्षयत्) बसाता है ।

जब कोई भगवान् के मार्ग पर चलने लगता है, तो संसारी जन उसे डराते हैं, कहते हैं, खाओ पियो आनन्द करो । प्रत्यक्ष को छोड़ कर क्यों अप्रत्यक्ष=परोक्ष के पीछे भागते हो, क्यों अपनी जवानी का नाश करते हो। अहो । भोगविलास, विषयवासना में यौवन नष्ट नहीं होता !

पूर्वार्द्ध का एक अर्थ और भी है—

सचमुच वह मनुष्य नष्ट हो जाता है, जो मन को न डुलाता हुआ इसके घोर [भयकर दुःखदायी] विषय समूह को सेवन करता है ।

विषय तो विष हैं; विषैला सर्प हैं । काले से डसा कोई नहीं बचता । विषय में तो धन जाये, मान जाये और छोड़ जायें स्वजन । वेद बहुत मार्मिक शब्दों में कहता है—

पिता माता भ्रातरमेनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् (ऋ० १०।३४।४)

बाप, मा, भाई कहते हैं, हम इसे नहीं जानते, बेशक इसे बाँध कर ले जाओ ।

सब सबन्धी पराये बन जाते हैं । व्यसनी का कोई अपना नहीं बनता ।

वेद कहता है—

ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुपनक्तमेति । (ऋ० १०।३४।१०)

ऋण की कामना वाला डरता है, ऋण की चाह है, डर के मारे रात को दूसरे के घर जाता है ।

व्यसनी घोर व्यसनों में पड कर सपत्ति नष्ट कर बैठता है । अब ऋण लेने लगा है । कुछ दिन तक सुविधा से ऋण मिलता रहता है । ऋण वह वापिस नहीं करता । ऋणदाता तंग करता है । ऋणी डर कर अपने घर नहीं आता । कितनी दुर्दशा है ?

इस विपत्ति से बचने के लिये वेद कहता है—

मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु (ऋ० १०।३४।१४)

धृष्टता करके, ढिठाई को सामने रख कर घोर आचरण मत करो।

बुराई के मार्ग में ढीठ लोग ही जाते हैं।

व्यसनों से धननाश बता कर धनरक्षा का सच्चा वास्तविक उपाय भी वेद बताता है—

यज्ञैर्य इन्द्रे दधते दुवांसि क्षयत्स राय ऋतपा ऋतेजाः

जो यज्ञों द्वारा भगवान् की सेवा पूजा करता है, वह ऋतरक्षक=धनरक्षक ऋतेजा=ऋतपुत्र=धर्मपुत्र धनों को बसाता है।

धन चञ्चल है। आज एक के पास हैं, कल दूसरे के पास। भागते रहना, स्थान बदलते रहना धन का स्वभाव सा है। किन्तु जो दान में लगाता है, उसके पास यह बस जाता है। जो इसे रखना चाहे, उसके पास रहता नहीं। जो इसे दूर करे, उसके पास भागे आता है। कैसी विचित्रता है!

सागर सूर्य को जल देता है। सूर्य उसे सभी जगह बरसाता है किन्तु सभी स्थानों का जल दौड़ कर अन्त में सागर में जाता है। जो सागर में नहीं जाता, वह या सड़ाद पैदा करता है या सूख जाता है। यही दशा धनसम्पत्ति की है। दे डालो तो निश्चिन्तता। सभाल कर रखो, चोर चकार, राजा का भय।

दान को वेद की परिभाषा में यज्ञ कहते हैं। सब धन भगवान् का है। उसी ने सब को दिया है, जो इस तत्त्व को समझ कर 'त्वदीयं वस्तु सर्वात्मन् तुभ्यमेव समर्पये' [तेरी वस्तु प्रभो तुझे ही अर्पण करता हूं] की भावना से भगवान् के निमित्त दे डालते हैं, वे सचमुच यज्ञ करते हैं।

यज्ञ में द्रव्य डालते हैं। उससे वृष्टि होती है, वृष्टि से धनधान्य होता है, वह फिर याज्ञिक के पास आता है और हुत द्रव्य से अधिक मात्रा में आता है। अत धन का सच्चा उपयोग, धन का सच्चा बचाव यज्ञ में है। किन्तु यज्ञ के स्वरूप को समझ रखो। ऋ ७।२१।२ में यज्ञानुष्ठान का फल बताया है; उससे यज्ञ का स्वरूप थोड़ा सा समझा जा सकता है अत उस मन्त्र को यहा उद्धृत करते हैं—

प्रयन्ति यज्ञं विपयन्ति बर्हिः सोममादो विदथे दुध्रवाचः।

न्यु भ्रियन्ते यशसो गृभादा दूरउपब्दो वृषणो नृषाचः॥

जो लोग उत्तमता से यज्ञानुष्ठान करते हैं, वे हृदयाकाश में विशेष रूप से पहुँचते हैं, सोमरस से सदा मदमाते रह कर विदथ=शास्त्रसंग्राम में वे धर्षक वाणी वाले होते हैं, [अर्थात् उनके आगे सब की बोलती बन्द हो जाती है] वे सचमुच कीर्ति के घर से लाए जाते हैं। उनकी वाणी दूर तक जाती है। वे सुखवर्षक तथा लोक सग्राहक होते हैं

यज्ञानुष्ठान करने वालों की प्रत्यभिज्ञान=पहचान इस मन्त्र में बताई गई है। १. वे हृदयाकाश में विशेष रूप से पहुंचते हैं अर्थात् वे विवेकी, विचारी तथा धारणाध्यान के धनी होते हैं, २. इस कारण वे शान्ति रस से सदा मस्त रहते हैं, योगी से अधिक शान्ति किस को मिल सकती है? ३. और इसी कारण उनकी वाणी में बड़ी शक्ति रहती है, उनकी वाणी से सभी को दबना पड़ता है, मौन होना पड़ता है, ४ और इसी से उनकी महती कीर्ति होती है, मानो वे साक्षात् कीर्तिगृह से लाए जाते हैं, ५. उनकी वाणी दूर तक जाती है अर्थात् उनके उपदेश आदेशों का प्रभाव दूर तक पहुँचता है, ६. वे महाबली होते हैं और सब पर सुख की वृष्टि करते हैं और ७ इन गुणों के नृषाच=जनसाधारण से मिलते जुलते हैं और सबको अपना सहायक, सहयोगी, सहकारी बना लेते हैं; अर्थात् यज्ञ का अर्थ हुआ लोकसग्रह। लोकविग्रह यज्ञ नहीं हो सकता।

लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः

(कर्म्म प्रधान जहान)

ओ३म् । मन्त्रमखर्वं सुधित सुपेशस दधात यज्ञियेष्वा ।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति त य इन्द्रे कर्म्मणा भुवत् ।। ऋ० ७।३२।१२

(अखर्वम्) क्षुद्रतारहित (सुधितम्) सुचिन्तित (सुपेशसम्) सुन्दर रूप रेखा वाला (मन्त्रम्) मन्त्र, गुप्त परिभाषित विचार (यज्ञियेषु) यज्ञयोग्य, यज्ञ के अधिकारियों में (आ) पूर्ण रूप से (दधात) डालो । (पूर्वी: + चन) पूर्व से प्राप्त (प्रसितयः) बन्धन (तम्) उसको (तरन्ति) लांघ जाते हैं, छोड़ जाते हैं (यः) जो (इन्द्रे) परमेश्वर के निमित्त (कर्म्मणा) कर्म्म से (भुवत्) समर्थ होता है ।

पता है, पाप क्या होता है ? कुकर्म्म क्या होता है ? मनु महाराज कहते हैं—**नानृतात्पातकं परम्** झूठ से बढ़ कर गिराने वाला [पाप] कोई नहीं है । पातक कहो, पाप कहो, एक बात है । पातक जितने हैं, प्रायः उनमें दूसरों के साथ सम्बन्ध अवश्य होता है । हिंसा, जब तक हिंस्य न हो, नहीं हो सकती । बोलना दूसरे के साथ होता है, मिथ्या बोलने में भी दूसरे की, श्रोता की आवश्यकता पड़ती है । चोरी पराये माल की होती है । ब्रह्मचर्य नाश=मैथुन में भी दूसरा चाहिये । दूसरा न हो, तो अभिमान क्या और किसके आगे करें ।

पाप के आचार से पहले पाप का विचार होता है । विचार अपने मन में होता है, उसको वाणी से उच्चार कर दूसरों तक पहुँचाते हैं । वेद कहता है—विचार हर एक को न दो किन्तु

दधात यज्ञियेष्वा=जिनमें परोपकार भावना है, यज्ञ भावना से जो भावित हैं, ऐसे सदाचारी धर्म्मात्मा सज्जनों को विचार दो

किन्तु वह मन्त्र =विचार अखर्व हो=क्षुद्र न हो । क्षुद्र विचारों से सकीर्णता उत्पन्न होती है उस से स्वार्थ उत्पन्न होकर समाज-भावना का विनाश होता है । उदाराशय के भावों से भरपूर विचार ही ससार के लिये कल्याणकारक होते हैं । साथ ही वह सुधित=सुचिन्तित होना चाहिए । ऐसा नहीं, कि जो विचार आया, झट उसे उच्चारण कर दिया । नहीं, उसे सोचिये, उसके अनुकूल प्रतिकूल सारे पहलुओं पर गंभीरता से विचार कीजिए । जिसको विचार देने लगो, देखलो कि उसने इसे भली भांति धारण कर लिया है, समझ लिया है, अन्यथा यह अपनी अधम बुद्धि से हानि करेगा ।

जब कोई विचार देने लगो, उसकी भाषा ललित हो, उसके समझने का ढंग मनोहारी हो । उसे इस रूप में जनता के आगे रखो जिससे वह स्वय आकृष्ट हो । सुन्दरता सभी को प्रिय है । भगवान् भी सत्य और शिव होते हुए सुन्दर हैं । वेद के शब्दों में भगवान् स्व:=सु+अस् सुन्दर सत्तावान है ।

भगवान् ने इस सृष्टि मे कितना सौन्दर्य्य भर दिया है, यह जहान कितना रूपवान् बनाया है। तुम क्यों कुरूप सृष्टि रचो। तुम्हारी सृष्टि भी सुन्दर होनी चाहिये।

जब विचार किसी को देने लगते हैं, वह कर्म्म हो जाते हैं। कर्म्मों को अनेक ज्ञानी बन्धन का हेतु मानते हैं। कुछ सीमा तक यह बात है भी सत्य। पशु पक्षी कीट पतग आदि जो अधम योनियों में पड़े, ज्ञान-प्रकाश से रहित हुए विवशता का जीवन बिता रहे हैं और नाना दुःख पा रहे हैं, यह क्यों ? जब इन्हें कर्म की स्वतन्त्रता थी, तब इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके कुकर्म्म किये, उसका फल यह वर्त्तमान दुर्दशा है। कर्म्म से बन्धन मिला, कर्म्म ही से वह कटेगा। अत. वेद कहता है—

पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति त य इन्द्रे कर्म्मणा भुवत।

पहले के बन्धन उसे छोड़ते हैं, जो प्रभु के निमित्त कर्म्म से समर्थ होता है।

वासना बन्धन का कारण है जो सामारिक वासनाओं से वासित होकर कर्म्म करेगा, वह बन्धन में पड़ेगा। अत' सासारिक-वासनाओं को त्यागो। अब जो कर्म्म करो, प्रभु के निमित्त करो, अर्थात् अपने आप को भगवान् का हथियार बना लो। अब सब इच्छायें, आकाक्षायें, अभिलाषायें छोड़ दो, जो प्रभु कराये, वह करो। प्रभु के कराने से कर्म्म होने की एक पहचान है—ऐसा कर्म्मकर्त्ता हानिलाभ से विचलित नहीं होता, क्योंकि उसे विश्वास होता है कि प्रभु जो करते हैं, भला करते हैं। जाने, प्रतीयमान हानि मे कोई गहरा लाभ छिपा हो। वेद जीवन भर कर्म्म करने का ही नहीं. कर्म्म करते हुए जीने की इच्छा का आदेश करता है यथा—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छत समा।

एवं त्वयि नान्यथेतो अस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ य० ४०।२

इस ससार मे मनुष्य आयु भर कर्म्म ही करता हुआ जीने की इच्छा करे। इस भाति तुझमें कर्म्म लिप्त नहीं होंगे। अथात् बन्धन का कारण नहीं बनेंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है।

अर्थात् कुकर्म्म और अकर्म्म का निषेध किया जा रहा है। कर्म्म किए बिना रहना प्राणी के लिये सर्वथा असभव है। ऐसी दशा में प्राणी को अपना कर्त्तव्य विचारना चाहिए। उसका विचार करके उस पर आरूढ हो जाए। कर्त्तव्यज्ञान वेद से होगा। वेद भगवान् की वाणी है। वेदानुसार कर्म्म करने वाला मनुष्य यह सोचे कि मैं प्रभु के आदेश का पालन कर रहा हू। ऐसी निष्ठा भावना से कर्म्म करने वाला सचमुच भगवान का करण—उपकरण बन जाता है।

प्रभु-निमित्त कर्म्म को निष्काम कर्म्म भी कहते हैं। अपना आपा भुलाए बिना यह लगभग क्या सर्वथा असम्भव है। अपना आपा भुलाना=आत्मविस्मरण आत्मसमर्पण के बिना अशक्य है। कर्म्म की महिमा बतलाते हुए भी वेद का सकेत उसी ओर है। कोई है जो इस सकेत को ग्रहण करे। धन्य स, धन्या च तदीया जननी।



२६

आत्मा और इन्द्रियों का संबन्ध

ओ३म्। समीचीनास आसते होतारः सप्त जामयः।
पदमेकस्य पिप्रतः ॥ ऋ० ६।१०।७

(सप्त जामयः) सात भोग साधन=सात इन्द्रिया (होतारः) दान आदान करती हुई, लेती देती हुई (एकस्य) एक=आत्मा के (पदम्) ठिकाने की (पिप्रतः) रक्षा करती हुई (समीचीनासः) ठीक ठीक (आसते) रह रही है।

आख, नाक, कान, स्पर्श, जिह्वा, मन तथा बुद्धि अथवा आख, नाक, कान, स्पर्श, जिह्वा, हाथ और पाव ये सात जामि भोगसाधन हैं [चमु, छमु, जमु, झमु, अदने=चम्, छम्, जम्, झम् धातुओं का अर्थ खाना=भोगना है] इन्द्रियाँ लेती भी हैं और देती भी हैं। आंख रूप का ज्ञान आत्मा को देती है, कान शब्द आत्मा के पास पहुँचाता है। नाक गन्ध का ज्ञान कराती है। जिह्वा रस देती है। स्पर्श सरदी गरमी, सख्ती नरमी का पता कराती है इत्यादि। अन्न पानादि से ये अपना अपना भाग लेती है। भोजन न मिले, तो आख, नाक आदि की तो बात क्या, स्मृति भी नष्ट हो जाती है। दीर्घ उपवास करने से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है। इसी से इनको 'होतारः' कहा है। इनका लक्ष्य है—आत्म के ठिकाने की, या प्रासव्य की रक्षा करना।

आत्मा शरीर में रहता है। शरीर भोजन तथा वायु के सहारे रहता है। नाक वायु को अन्दर ले जाकर शरीर की रक्षा करता है। जिह्वा से भोजन अन्दर ले जाते हैं, नाक उसकी सुगन्ध दुर्गन्ध का परिचय कराके उसकी हेयता या उपादेयता का बोध कराती है। इस प्रकार यह इन्द्रिय मिल कर उस आत्मा के शरीर की रक्षा सी करती है। अर्थात् ये आत्मा के कारण हैं, और कि शरीर के अन्दर उसका अभिमानी आत्मा एक है इसको

पदमेकस्य पिप्रत=[एक के पद की रक्षा कर रही हैं] के द्वारा व्यक्त किया है।

यदि ये आत्मा के पद का=शरीर का पालन करें, तो यह समीचनासः=उत्तम गति वाली हैं, क्योंकि तब ये अपने लक्ष्य की सिद्धि में रत हैं। किसी ने हमारे आगे अत्यन्त उत्तम सुमधुर पक्कान्न आदि रख दिये। हमने स्वाद के लोभ में आकर अधिक खा लिये। परिणाम किसी रोग के रूप में हमारे सामने आता है। अब यह जो स्वाद की लालसा में आवश्यकता से अधिक खाया गया, यह शरीर की रक्षा के लिये नहीं था, इससे शरीर की हानि हुई। अत इन्द्रिया समीचीन न रहीं। इन्द्रिया समीचीन=समता की गति से चलेंगी, तब तो शरीर की रक्षा होगी। यदि ये प्रतीचीन=उलटी चाल चलेंगी, तो शरीर को हानि पहुँचायेंगे। इसी प्रकार इन्द्रियों की चाल यदि शरीररक्षा निमित्त है तो इन्द्रिया समीचीन हैं, अन्यथा प्रतीचीन हैं।

यज्ञ में कई ऋत्विक होते हैं। उनमें ऋग्वेद से जो कार्य कराता है उसे होता कहते हैं। ऋग्वेद का काम यथार्थ ज्ञान कराना है। इन्द्रिया यदि यथार्थ ज्ञान कराती हैं तो ये होता हैं।

मन्त्र ने संक्षेप से आत्मा, इन्द्रियों और शरीर का सम्बन्ध बतला दिया है। इन्द्रिया आत्मा की करण हैं, शरीर पद=भोगप्राप्ति का अधिष्ठान है। ये दोनों आत्मा के लिये हैं, आत्मा इनके लिये नहीं।

जीव के लिये सारा संसार

ओ३म् । तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे ।

तुभ्यमर्षन्ति सिन्धव ॥ऋ ९।६२।२८

हे (कवे) क्रान्तदर्शनसमर्थ, छिपी वस्तुओं के देखने की शक्ति वाले (सोम) शान्ति के अभिलाषी जीव। (इमा) यह (भुवना) भुवन, लोक (महिम्ने) महिमा के कारण (तुभ्यम्) तेरे लिये (तस्थिरे) ठहरे और गति करते हैं। (सिन्धवः) नदी, समुद्र, बहने वाले पदार्थ (तुभ्यम्) तेरे लिये (अर्षन्ति) गति करते हैं।

प्रश्न होता है, यह ससार किसके लिये है ? अत्यन्त गहन प्रश्न है। यदि कहो कि जीव के लिये, तो यह बात समझ में नहीं आती। दार्शनिक लोग बताते हैं साथ में वेद की गवाही भी है कि जीव अत्यन्त छोटा, परमाणु से भी सूक्ष्म है। यह सारा पसारा तुच्छ जीवों के लिये। हो नहीं सकता।

तो क्या ससार निष्प्रयोजन है ? क्या कोई कारीगर ऐसा भी है जो कोई ऐसी वस्तु बनाये जिसका उपयोक्ता=बरतने वाला कोई न हो। बनी वस्तु बनाने वाले का जहा पता देती है, वहा यह भी बताती है कि इसका उपयोग करने वाला भी कोई होना चाहिये।

वेद कहता है—हे जीव। यह सारा ससार तेरे लिये है। तभी तो आत्मनिरूपण प्रसग में वेद ने कहा है—

आ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्त (ऋग्वेद १०।१७७।३) जीव पुन पुन• इन लोकों में आता जाता है।

यदि ये जीव के लिये न हों, तो इनमें इसे कौन आने दे।

ये बडे बडे पदार्थ हैं। इनका जीव के लिये होना जीव की बड़ाई का द्योतक है। परिमाण में बड़ाई बड़ाई नहीं। हाथी का डील डौल बड़ा है किन्तु महावत उसे छोटे से अकुश से, जिधर चाहता है, चलाता है।

वेद में दूसरे स्थान पर बहुत सुन्दर शब्दों में इस भाव को व्यक्त किया है—

।य द्यावा ओषधिरुतापो रयिं रक्षन्ति जीरयो वनानि ॥ऋ० ३।५१।५

जीव के लिये द्यौ लोक है। ओषधिया और जल, वन आदि सब मिल कर जीव के लिये धन की रक्षा करती हैं।

पृथिवी से लेकर द्यौ पर्यन्त जो भी अन्य पदार्थ हैं, सारे जीव के लिये हैं। यदि यह इनका सदुपयोग करेगा तो ये इसके लिये धन=प्रीतिसाधन हैं, दुरुपयोग से यही निधन=मृत्युसाधन बन जायेंगे। हे जीव। सृष्टि सारी तेरे लिये है, तो जैसे चाहे प्रयोग कर. किन्तु परिणाम का अवश्य विचार करना।

मूढामूढभेद

ओ३म् । आ यद्योनिं हिरण्ययमाशुर्ऋतस्य सीदति ।
जहात्यप्रचेतस: ॥ ऋ० ६।६४।२०

ओ३म् । अभि वेना अनूषते यक्षन्ति प्रचेतसः ।
मज्जन्त्यविचेतसः ॥ ऋ० ६।६४।२१

(आशुः) भोक्ता जीव (यत्) जब (ऋतस्य) ऋत की (हिरण्ययम्) हितरमणीय, चमचमाती (योनिम्) योनि में, ठिकाने में (आ+सीदति) आ बैठता है, तब वह (अप्रचेतसः) अज्ञानियों को (जहाति) छोड़ देता है ॥ (वेनाः) बुद्धिमान, मेधावी, कमनीय महात्मा (अभि+अनूषते) अभिमुख होकर स्तुति करते हैं (प्रचेतसः) ज्ञानी, उत्तम समझदार (यक्षन्ति) यज्ञ करते हैं, दान करते हैं, सत्संग करते हैं, प्रभुपूजा करते हैं और (अविचेतसः) अज्ञानी, अचेत (मज्जन्ति) डूब मरते हैं ।

इन दो मन्त्रों में ज्ञानी अज्ञानी की निशानी बताई गई है । वेद के सीधे सादे, हृदय तक पहुंचने वाले शब्द कितनी गम्भीर बात का कैसा सरल विवेचन करते हैं ?

ज्ञानी की पहली निशानी यह है कि वह ऋत का, सत्य का, सृष्टिनियम का अनुगामी होता है । सृष्टिनियम के अनुगमन का फल उसे उत्तम अवस्था मिलती है । मूढ लोग सृष्टिनियम को जानते ही नहीं, न उसे जानने का यत्न करते हैं, जतलाने पर उसे ग्रहण करने की चेष्टा भी नहीं करते, अतः वह इनका संग छोड़ देता है ।

बुद्धिमान् की दूसरी पहिचान यह है कि वह भगवान् की स्तुति करता है । ज्ञानी जन सदा यज्ञ करते हैं । लोगों को ज्ञानदान, अन्नदानादि से तृप्त करते हैं, श्रेष्ठ पुरुषों की सङ्गति करते हैं, प्रभुपूजा करते हैं । ज्ञान का फल भी यही है कि वह भले बुरे की पहचान करके भले का ग्रहण और बुरे का त्याग करे ।

जैसा कि वेद में कहा है—

चित्तिमचित्तिं चिनवद् वि विद्वान (ऋ० ४।२।११)

विद्वान् ज्ञान और अज्ञान की विशेष पहचान करे ।

अर्थात् पण्डित का कर्त्तव्य है कि उचित अनुचित का यथायोग्य विवेचन करे । इसके द्वारा अपना तथा दूसरों का कल्याण कर सकेगा । मूर्खों में यह गुण नहीं होता, अतः वे

मज्जन्त्यविचेतस

मूढ, अचेत डूब मरते हैं ।

ज्ञानी ही भवसागर से तरते हैं क्योंकि उन्होंने तारने वालों से सख्य किया है, तरने के साधनों को सम्हाल रखा है । मूर्ख जहाज की पेंदी में छेद कर रहा है । डूबेगा नहीं तो क्या होगा ?

२६

भोग सामग्री के साथ जीव का शरीर में प्रवेश

ओ३म् । हरिं मृजन्त्यरुषो न युज्यते सं धेनुभिः कलशे सोमो अज्यते ।

उद्वाचमीरयति हिन्वते मती पुरुष्टुतस्य कतिचित्प्रियः ॥ ऋ. ६।७२।१

(अरुषः+न) इन्द्रियों की भांति (हरिम्) हरणशील जीव को (मृजन्ति) शुद्ध करते हैं, वह (कलशे) शरीररूप कलश में (धेनुभिः) धेनु=इन्द्रियों के साथ (युज्यते) युक्त होता है, जोड़ा जाता है, और (सोमः) ऐश्वर्य्य, भोगसमग्री (अज्यते) प्राप्त कराई जाती है। तब वह (वाचम्) वाणी को (उद्+ईरयति) उच्चारण करता है (कति+चित) कुछ कुछ (पुरुष्टुतस्य) अनेकों से स्तूयमान भगवान् का (प्रियः) प्यारा होकर (मती) मति से, बुद्धि से, (हिन्वते) चेष्टा करता है

आत्मा को शुद्ध करो, जीव को पवित्र करो, सब ओर से यह ध्वनि आती है, किन्तु कोई नहीं बताता, कैसे पवित्र करें। वेद संकेत करता है—

हरिं मृजन्त्यरुषो न

जैसे इन्द्रियों को शुद्ध किया जाता है, वैसे ही आत्मा को भी शुद्ध करते हैं।

इन्द्रियों की शुद्धि संयम से हो सकती है जैसा कि मनु जी ने कहा है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।

संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ २।८८

जैसे विद्वान्=समझदार स्वकार्य्यकुशल सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे मन और आत्मा को कुमार्ग पर ले जाने वाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के संयम में=निग्रह में सब प्रकार से प्रयत्न करे। क्योंकि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।

संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ मनु २।९३

जीवात्मा इन्द्रियों के वश में पड़ कर निस्सन्देह बड़े बड़े दोषों को प्राप्त होता है, और उन इन्द्रियों को संयत करने से तब सिद्धि को प्राप्त करता है।

संयम का जब तक ज्ञान न हो, अनुष्ठान नहीं हो सकता, तात्पर्य यह कि आत्मा की शुद्धि के लिये ज्ञान तथा संयम, क्रिया तथा तप दोनों की आवश्यकता है, जैसा कि मनु जी ने कहा है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥ ५।१०६

जल से शरीर के अवयव शुद्ध होते हैं, मन सत्य से शुद्ध होता है, बुद्धि ज्ञान से, तृण से ब्रह्म पर्य्यन्त के विवेक से शुद्ध होती है।

इन्द्रियों के प्रसङ्ग से चूंकि आत्मा विषयों में खींचा जा रहा है, अतः वेद ने उसे 'हरि' नाम दिया।

भोग की अभिलाषा से, अथवा भोग की प्राप्ति की भावना से मनुष्य इन्द्रियों के वश हो कर मलिन होता है। वेद कहता है—अरे जीव! इस कार्य के लिये तू अपने को मलिन न कर, क्योंकि जहां तू इन्द्रियों=भोग के साधनों से युक्त कर के शरीर में भेजा गया है, वहां सोम=भोगसामग्री भी साथ ही भेजी गई है। तात्पर्य्य यह है कि जितना तेरे पूर्व कर्मों से अर्जित भोग है, वह तुझे अवश्य मिलेगा। उस में न्यूनता या अधिकता नहीं हो सकती, फिर क्यों तू विषयवासना के फेर में पड़ कर अपना सत्यानाश करने लगा है।

विषय वासना अत्यन्त प्रबल होती है, वह आत्मा पर मानो पर्दा डाल देती है, आत्मा को कुछ सुझाई नहीं देता है। विषयवासना के कारण प्रकृति से संग बढ़ता है, भगवान् से दूर होता जाता है। जितना प्रकृति से संग बढ़ता है, उतना इस में ज्ञानप्रकाश क्षीण होने लगता है। किसी विरले के भाग्य जागते हैं और वह कुछ कुछ उस सर्वथा सर्वदा सर्व से स्तोतव्य भगवान् का ध्यान, संग करता है, उस का प्यार पाने लगता है, तब उस की मति सुधरती है। बुद्धि विषयवासना से पराङ्मुख होने लगती है, तब उस की चेष्टाएं विवेकपूर्वक होने लगती हैं।

मनुष्य जीवन-यात्रा-निर्वाह के लिये, अपेक्षित भोगसामग्री की प्राप्ति के लिये ही पाप में प्रवृत्त होता है, यदि यह दृढ निश्चय हो जाए, कि भोग अवश्य प्राप्त होगा, तो मनुष्य पाप से हट जायेगा।

इस निश्चय का साधन सर्वव्यापक सर्वज्ञ भगवान् को कर्म्मफल प्रदाता जानने मानने से हो सकता है। भगवान् को इस रूप में मानने से मनुष्य छिप कर कर्म्म करने की चेष्टा नहीं कर सकता, उसे भगवान् के सर्वत्र विद्यमान होने का ज्ञान है। ज्ञानवान् यदि सर्वत्र विद्यमान है तो उस का ज्ञान भी सर्वत्र अर्थात् सर्व पदार्थों के विषय में अवश्य होता है, अर्थात् किस कर्म्म का परिणाम=फल क्या हो, इस का उसे पूर्ण ज्ञान है। इस के कर्म्मफल ज्ञान की सफलता कर्म्मफल प्रदान में है अर्थात भगवान सर्वव्यापक सर्वज्ञ होता हुआ याथातथ्य रूप से कर्म्मफल विधान करता है। इस निश्चय के दृढ अविचल होते ही मनुष्य की पापवासना जल जाती है। किन्तु मनुष्य का नैसर्गिक अज्ञान उसे पुनः पापगर्त में गिराने की सामग्री प्रस्तुत कर देता है। इस से बचने का उपाय सर्वज्ञाननिधान भगवान् का ध्यान है। जैसा कि मनु जी ने कहा है—ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्।



ध्यानियों को महान् प्रकाश मिलता है

ओ३म् । उच्छन्नुषस सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्याना ।

गव्य चिदूर्वमुशिजो विवव्रुस्तेषामनु प्रदिव सस्रुराप ऋ ७।६०।४

(उच्छन्नुषस.) प्रकाश का विस्तार करने वाले (सुदिनाः) उत्तम दिनों वाले (अरिप्राः) निर्दोष (दीध्याना) निरन्तर ध्यान करने वाले मनुष्य (उरु) विशाल (ज्योति) प्रकाश को (विविदु) प्राप्त करते हैं। (उशिज.) कमनीय कामनाओं वाले (गव्यम) इन्द्रिय सबन्धी (ऊर्वम्) विशाल बल को (चित्) भी (वि+विव्रु) विशेष रूप से वरण करते हैं (तेषाम) उनके (प्रदिव+अनु) ज्ञान प्रकाश के अनुकूल (आपः) जल (सस्रु) बहने लगते हैं।

सब विषयों का आकर होते हुए भी वेद मुख्यतया ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करता है। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मे लिखा है—

सर्वेषां वेदाना मुख्यं तात्पर्य ब्रह्मण्येवास्ति । क्वचित्साक्षात्क्वचिच्च परम्परया, न कस्मिंश्चिदपि मन्त्रे ईश्वरार्थस्य त्यागो अस्ति।'

अर्थात्—सभी वेदों का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म मे ही है, कहीं साक्षात्, कहीं परम्परा से, किसी भी मन्त्र मे ईश्वर-अर्थ का त्याग नहीं है।

भाव यह है कि कोई मन्त्र यदि ऐसा प्रतीत हो जिस में परमात्मा से अतिरिक्त का वर्णन हो, वहा भी परमात्मा का अधिष्ठाता-रूप से या स्रष्टादि के रूप मे वर्णन समझना चाहिये। वैसे वेद ब्रह्मविद्या का ही मुख्य रूप मे वर्णन करता है। जीव, प्रकृति, ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान कराके प्रकृति पाश से छुड़ा कर ब्रह्म साक्षात कराना ब्रह्मविद्या का काम है। ज्ञान का प्रधान साधन ध्यान है, उस ध्यान का बयान इस मन्त्र मे है।

उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्याना =निरन्तर ध्यान करने वाले विशाल प्रकाश को प्राप्त करते हैं।

ध्यान का एक सामान्य अर्थ है विचार करना। प्रत्येक पदार्थ के गुण-दोषों का विवेचन विचार है। अमुक पदार्थ उपादेय=ग्रहण करने योग्य और अमुक हेय=त्यागने योग्य है, इस प्रकार के विवेक को विचार कहते हैं। इस प्रकार से हेय उपादेय का विवेक करके हेय को त्याग कर उपादेय को ग्रहण करके आत्मसात् करने का नाम ध्यान है। अर्थात ऐसी अवस्था जिसमें ध्येय वस्तु पर चिरकाल तक अटूट विचारधारा निर्बाध रूप से बहती रहे, उसको ध्यान कहते हैं। इस ध्यान का फल विशाल प्रकाश बतलाया है। अनुभवी जन इसका समर्थन करते हैं। ध्यानियों की थोड़ी सी पहचान बताई है। वे **सुदिन** होते हैं। उनकी दिनचर्या बड़ी सधी हुई नियमित होती है। वे **अरिप्र** होते हैं। साधारणतया इस प्रकार के पाप होते हैं। जैसा कि वात्स्यायन मुनि जी ने न्यायभाष्य मे लिखा है—

"शरीरेण प्रवर्त्तमान हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचाऽनृतपरुषसूचनासम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सा नास्तिक्यं चेति, सेयं प्रवृत्तिरधर्म्माय। (न्यायभाष्य १।१।२)

शरीर से प्रवृत्त होता हुआ मनुष्य हिंसा, चोरी, और निषिद्ध मैथुन करता है, वाणी से मिथ्या, कठोर वचन, चुगली और असम्बद्ध प्रलाप करता है, मन से दूसरों से द्रोह, दूसरों के धन हरण करने की इच्छा और नास्तिकता। यह प्रवृत्ति अधर्म का, पाप का हेतु होती है।,

ध्यानी जन इन पापों से रहित होते हैं। इस बात को अगले मन्त्र के पूर्वार्द्ध मे बहुत स्पष्ट करके कहा है—

तेन सत्येन मनसा दीध्यानाः स्वेन युक्तास क्रतुना वहन्ति ॥ ऋ. ७।६०।५

वे सच्चे मन से ध्यान करते हुए, अपने सच्चे ज्ञान कर्म्म से युक्त हुऐ निर्वाह करते हैं।

अर्थात् उनके ज्ञान कर्म तथा मन में कोई खोट नहीं होता।

ध्यान का साधन भी बतला दिया कि वह मन से किया जाता है। उन के शारीरिक, मानसिक बौद्धिक व्यवहार मे किसी प्रकार का असत्य नहीं होता, अतः उनके निष्पाप होने में सदेह किसे हो सकता है?

'स्वेन युक्तासो क्रतुना वहन्ति' मे एक और सकेत भी है कि उनका कर्म्म अर्थात् आहार व्यवहार युक्तियुक्त होता है।

ध्यानी कर्म्महिन नहीं होते, वरन् वे 'स्वेन युक्तास. क्रतुना वहन्ति=अपने कर्म्म से युक्त हुए निर्वाह करते हैं। उन्हे ज्ञात है कि नहि जातु कश्चित्तिष्ठत्यकर्मकृत्, कोई भी एक क्षण कर्म्म किये विना नहीं रह सकता। अत. वे अपने कर्त्तव्य कर्म्म से सदा युक्त रहते हैं।

ध्यानियों के अरिप्र होने का हेतु भी इस मन्त्र में बता दिया गया है, यतः वे 'उरु ज्योतिर्विदुर्दीध्याना=ध्यान करते हुए वे विशाल प्रकाश के प्राप्त करते हैं। रिप्र=दोष=पाप अन्धकार मे होता है। प्रकाश मे अन्धे या असावधान को ठोकर लग सकती है। नेत्र वाले तथा सावधान को ठोकर का लगना समव नहीं। ध्यानियों का ध्यानानुष्ठान उनकी सावधानता की सूचना देता। अत' प्रकाश प्राप्त कर वे पाप मे निरवकाश हो जाते हैं। परिच्छिन्न जीव का स्वभाव है गति करना, इस नैसर्गिक नियम को जान कर वे ध्यानी भी गति करने मे विवश हैं अतः वे ध्यान से प्राप्त ज्योति के प्रसार के लिए यत्न करते हैं। ज्ञान ज्योतिप्रसार करने से उनका ज्ञानालोक उत्तरोत्तर बढ़ता है और इस प्रकार उनके रिप्रो का सहार होता है।

योग के द्वारा वे अपनी इन्द्रियशक्ति बढ़ा लेते हैं। उनके तप के प्रभाव से अध्यात्म जल की शान्त धारायें बहने लगती हैं, और वे उनके रहे सहे दोशों को भी बहा ले जाती हैं। ऋग्वेद १०।६।८ मे इस अध्यात्मजल की महिमा ऐसी ही कही है—

इदमाप. प्रवहत यत्किञ्च दुरितं मयि। यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम ॥

हे जलो! यह बहा ले जाओ, जो कुछ मुझ में दुरित=दुरवस्था=दुर्गति=बुराई है, अथवा जो मैंने किस ने द्रोह किया है, या गाली दी है, अथवा झूठ बोला है।

नदी नाले वाले जल में यह बल कहा? वह तो अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति शरीर की शुद्धि कर कर सकता है। आओ, इस जल में जी भर कर नहाओ।



तू ही मां तू ही पिता

ओ३म । अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातर सदामित्सखायम् ।
अग्ने रनीक बृहत मपर्यं दिवि शुक्र यजत सूर्य्यस्य ॥ ऋ० १०।७।३

मैं (अग्निम्) सर्वाग्रणी, सबकी उन्नति करने वाले, सब से पूर्व विद्यमान भगवान् को (पितरम्) पिता (मन्ये) मानता हूँ । (आपिम्) आप्त, सम्बन्धी, मा भी (अग्निम्) अग्नि को मानता हूं। (भ्रातरम्) भाई भी (अग्निम्) अग्नि को और (सदम्+उत्) सदा ही (सखायम्) सखा, मित्र रहने वाला भी अग्नि=सब को आगे ले जाने वाले भगवान् को मानता हूँ। उस (बृहत) महान् (अग्ने) अग्नि=परमात्माग्नि का (अनीकम्) जीवनदायी तेज (सपर्यम्) पूजा के योग्य है तथा (दिवि) मस्तिष्क मे वह (सूर्य्यस्य) आत्मारूप सूर्य का (शुक्रम्) शोधक बल एव (यजतम) सगत करने योग्य है ।

ससार मे बन्धु बाधव प्रिय लगते हैं। दिन मे सैकड़ो हजारो मनुष्य हमारी आखो के सामने से गुजरते हैं किन्तु हम किसी को बुलाने का प्रयास नहीं करते। यदि कोई बन्धु सामने से निकलने लगे, हम उसे बुलाने का प्रयत्न करते हैं। उससे हमे विशेष आत्मीयता प्रतीत होती है। इसी प्रकार बन्धुओं मे भी माता पिता भ्रता आदि निकटवर्त्ती अधिक प्रीतिपात्र होते हैं।

यह सब ठीक। किन्तु एक दिन आता है, माता का सग छूट जाता है। समय आता है, पिता काल की कराल गाल मे विलिन हो जाता है। भाई का सग भी सदा साथ नहीं रहता। अभिन्न कहा जाने वाला मित्र भी एक दिन साथ छोड़ जाता है। किन्तु परमात्मा तो किसी अवस्था में भी नहीं छोड़ता। परमात्मा उन की भी पालना करता है जिनके लौकिक माता पिता नहीं हैं। अत जिसने ससार की असारता और सम्बन्धों को बन्धन समझा है, वह कहता है—

अग्निं मन्ये पितरम सखायम

भगवान् मे एक ऐसा गुण है, जो और किसी मे नहीं। भगवान् सभी प्राणियों को आगे बढाते हैं, आगे बढने की सामग्री देते हैं, अत वही सच्चे बन्धु और सखा हैं। औपनिषद ऋषि ने इसी वेदमन्त्र को सामने रख कर कहा—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविण त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

तू ही माता है, पिता भी तू ही है, तू ही भाई तू ही सखा (सहायक) है। तू ही ज्ञान तथा तू ही धन है। हे देवों के देव। मेरे लिये सभी कुछ तू ही है

मनुष्य यदि सारे सम्बन्ध भगवान मे स्थापित कर सके, तो उसे फिर कुछ प्राप्त करने को न रहे।

भगवान महान् है, उनका तेज=अनीक भी महान है। वह भर्ग है, पाप नाशक है, अत पूजनीय है। उसके तेज को अन्यत्र मत देखो, अपने शरीर के द्युलोक में—मस्तिष्क मे देखो। वह तुम्हारे सभी मलो को, विकारों को दूर कर रहा है। वह तुम मे मिला हुआ है, तुममें सगत है।

अरे जिसे तू जगत के कोने कोने मे ढूढता फिरता था वह तेरे अपने अन्दर निकल आया। अब इसे अपना। सारे सम्बन्ध इसी से लगा। वास्तव मे सच्चा सम्बन्धी है भी यही।

शरीर याग

ओ३म् । स्वय यजस्व दिवि देव देवान् किं ते पाकः कृणवदप्रचेताः ।
यथायज ऋतुभिर्देवानेवा यजस्व तन्वं सुजात ॥ ऋ० १० । ७ । ६

हे (देव) कमनीय ! अथवा कामनाक्रान्त जीव ! तू (स्वयम्) अपने आप (दिवि) मस्तिष्क में विद्यमान (देवान्) देवों को, इन्द्रियों को, दिव्य भावों को (यजस्व) मिल, प्रेर, सगत कर। (अप्रचेता) मूढ, अचेत (पाक·) परिपक्व, पवित्र (ते) तेरा (किं) क्या (कृणवत्) कर सकता है। (यथा) जैसे तू (ऋतुभि·) ऋतुओं के अनुसार (देवान्) देवों को (अयजः) सगत करता है (एवा) ऐसे ही, हे (सुजात) सुकुल ! कुलीन ! उत्तम ! (तन्व) शरीर को (यजस्व) सगत कर।

इस मन्त्र में कई धारणीय तत्त्व हैं—

(१) देव=इन्द्रिया द्युलोक=मस्तिष्क में रहती हैं। यह शरीर ब्रह्माण्ड का एक सक्षिप्त सार **Epitome** है। ब्रह्माण्ड में त्रिलोकी है—द्यौ, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी। द्यौ में सूर्य्यचन्द्र तारे आदि प्रकाशपिंड रहते हैं। अन्तरिक्ष में वायु आदि हैं। पृथिवी सबका आयतन है। शरीर में मस्तिष्क=शिरोभाग द्यौ है। आत्मा को बाहर के पदार्थों का ज्ञान पहुंचाने वाले आख, नाक, रसना, स्पर्श इन्द्रिय-देव-यहीं रहते हैं। शरीर का मध्य भाग अन्तरिक्ष है। अधो भाग पृथिवी है।

(२) इन से तुझे स्वय सगत होना होगा किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करनी होगी। मेरी आख से मैं ही देखूगा, दूसरा कोई भी मेरी आख द्वारा नहीं देख सकता। मेरे कान से मैं ही सुन सकता हूं, महाश्रवणशक्तिसपन्न होता हुआ भी दूसरा नहीं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों की दशा समझ लेनी चाहिये।

जैसे इन से मैं ही कार्य्य ले सकता हूं, ऐसे ही इन के द्वारा प्राप्त होने वाले सुख दुःख का भागी तथा भोगी भी मैं ही बनूगा।

(३) अप्रचेता=मूढ अज्ञानी किसी का कुछ सवार नहीं सकता। पवित्रता के साथ ज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है।

(४) ऋतु ऋतु मे उस उस ऋतु के अनुसार यज्ञ करने चाहियें। गोपथब्राह्मण मे ऐसे यज्ञों को भैषज्य यज्ञ कहा गया है। इन से अपना पराया स्वास्थ्य बिगड़ने नहीं पाता।

(५) जैसे देवयज्ञ करना आवश्यक है, वैसे शरीर-याग [यजस्व तन्वम्] भी आवश्यक है।

वेद सभी मनुष्यों के लिये है। किन्तु आज तो 'यजस्व तन्वम्' उपदेश भारतीयों के लिये अत्यन्त उपादेय है। वेद शरीर की उपेक्षा का उपदेश नहीं करता। यज्ञ वैदिक धर्म्म का प्राण है। यहां शरीर-याग करने का विधान है, अर्थात् शरीर निन्दनीय नहीं है। यजुर्वेद मे कहा है—



इयं ते यज्ञिया तनूः (४।१३)

यह तेरा तन यज्ञ करने योग्य है, पूजनीय परमात्मा से मिलाने का साधन है। [कौन मूढ ऐसे अमूल्य रत्न को सभाल कर न रखेगा ?

भवसागर पार करने को यह शरीर नौका है। नौका को बिगाड़ दोगे, उसमें छिद्र करोगे तो आप ही डूबोगे, लक्ष्य पर न पहूंचोगे, इसी ससार-सागर में गोते खाते रहोगे। अतः तरणि को सुरक्षित रखो, इसी से वेद कहता है—

यजस्व तन्वम् ।

जैसा कि उपर यजुर्वेद के प्रमाण से बताया जा चुका है कि यह मानव तन पूजनीय परमात्मा से मिलने का साधनहै ।इस से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि शरीर का वेद की दृष्टि में कितना महत्व है। परमात्मा से मिलने मिलाने की बात छोड़ भी भी जाए, तो भी मानव शरीर का महत्व न्यून नहीं होता। बाचाशक्ति और किस शरीर में है ? सासारिक जीवन की सुखसविधा इसी देह पर अवलम्बित है। रुग्ण देह वाला मनुष्य अपने परिवार को भी भार प्रतीत होता है, अपनी क्रिया भली भाति नहीं कर सकता, इस हेतु अथर्ववेद में कहा गया है—'स्वेक्षेत्रे अनमीवा विराज' अपने देह में अनमीवा=रोग रहित विराजमान हो। अर्थात् आहार विहार ऐसा रखो जिस से किसी प्रकार का रोग शरीर पर आक्रमण न करे। शरीर पर रोग अपथ्य, मिथ्याहार विहार, अशुद्ध उपचार से आते हैं। यदि खान पान, शयन आसन आदि में नियमितता एवं सयम रखा जाए तो रोग होने का कोई हेतु नहीं। इसपर यदि शरीर रुग्ण हो जाए, तो समझ लीजिए, पूर्व जन्म की असावधानता का परिणाम है। इस समझने का फल यह होना चाहिए कि मनुष्य अधिक सावधान हो जाए। पूर्व जन्म की बात से अगले जन्म का विचार करे। पूर्वजन्म के विचार, आचार, व्यवहार के आधार पर हमारा वर्तमान देह बना है। इसी भाति इस जन्म के आहार, व्यवहार, विहार के अनुसार उत्पन्न सस्कार भावी जन्म के हेतु बनेंगे।

यहा एक बात और विस्मरण नहीं करनी चाहिए कि विचारों का शरीर पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, अत शरीरयाग के लिए विचारों की पवित्रता नितान्त प्रयोजनीय है। शरीर हृष्ट पुष्ट है किन्तु विचार अपवित्र हैं तो शरीरयाग नहीं हुआ इस का सकेत—'किं ते पाक कृणवदप्रचेताः।' मे है। मनन कीजिए।

आत्मा को सबोधन करते हुए 'देव' तथा 'सुजात शब्द कहे गये हैं। ये दोनों विशेषण महत्त्व के हैं। 'देव' दिव्य भावों वालेको कहते हैं। अर्थात् हे जीव! तेरीनैसर्गिक प्रकृति तो देवत्व है, अज्ञान से तू असुर भावों मे फंस जाता है, अत अपना स्वरूप पहचान। निस्सन्देह नेत्र आदि महादेव तेरे साथी हैं किन्तु अप्रचेता =जड़। अत तेरा कुछ नहीं सवार सकते। अत तू उन से ऊपर उठ और अपने ऊपर भरोसा करके देवयज्ञ कर, शरीर याग कर यज्ञ हो, और देवयश हो, तभी कल्याण होगा।



ध्यानी बुद्धि से कर्म को पवित्र करते हैं

ओ३म् । जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः ।

पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम् ॥ ऋ० ३।८।५

(जातः) शरीरधारी (अह्नाम्) दिनों को (सुदिनत्वे) सुदिन करने के निमित्त (जायते) उत्पन्न होता है, वह (समर्ये) जीवन-संग्राम के निमित्त तथा (विदथे) लक्ष्य-प्राप्ति के निमित्त (आ) सब प्रकार से (वर्धमानः) बढ़ता है । (धीराः) ध्यानी जन (मनीषा) बुद्धि से (अपसः) कर्मों को (पुनन्ति) पवित्र करते हैं और (विप्र) मेधावी ब्राह्मण (देवया) दिव्य कामना से (वाचम) वाणी को (उत+इयर्त्ति) उच्चारण करता है ।

पूर्वार्द्ध में मनुष्य जीवन का प्रयोजन सुन्दर काव्य-भाषा में वर्णित किया गया है । मनुष्य का जन्म दिनों को सुदिन बनाने सवारने के लिये होता है । पशु-आदि योनि में भगवान् के आराधन-साधन न थे, अतः जन्म सफल न कर सका । दिनो को सुदिन न बना सका, वे वैसे ही चले गये । उत्तम मानव न मिला, जहा जीव को उन्नति के सभी साधन प्राप्त हैं । अब भी यह यत्न न करे, तब कब करेगा ?

यह जीवन ऐसा नहीं है । यह समर्य=संग्राम है । बहुतों को इकट्ठा होकर लड़ना पड़ता है । बिना युद्ध के जीवन सुजीवन, दिन सुदिन नहीं होंगे । दुर्योधन ने झूठ नहीं कहा था—

सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव

युद्ध के बिना सूई के अग्रभाग समान भूमि भी न दूगा ।

जो आलसी बन कर जीवन सुख लेना चाहते हैं, वे धोखे में हैं ।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा—(ऋग्वेद)

परिश्रम के बिना दैवी शक्तिया भी मित्र नहीं बनतीं ।

नैव श्रमो न विश्रम

थकान नहीं, अत विश्राम नहीं । परिश्रम नहीं, आराम भी नहीं ।

इसी भाव को लेकर कहा—

समर्य आ विदथे वर्धमानः ।

उत्पत्ति मात्र से कुछ नहीं होता जब तक पुरुषार्थ अध्यवसाय यत्न न किया जाए, जीवन ही नहीं चल सकता, सुजीवन-सुदिन तो दूर की बात है । चेष्टा में यत्न में जीवन है वृद्धि है । देखिए जो बच्चा निश्चेष्ट पड़ा रहता है, उसकी बाढ रुक जाती है, वह अपाहज हो जाता है स्वस्थ बच्चा पड़ा पड़ा भी हाथ पैर हिलाता रहता है । यही हाथ पैर आदि का हिलाना चलाना उसकी वृद्धि का कारण होता है । इसी वास्ते यहा विदथ=प्राप्ति से समर=संग्राम का ग्रहण किया ।

बढ़ने का प्रयोजन है लड़ना, पुरुषार्थ करना, Struggle तथा प्राप्ति । यदि प्राप्ति कुछ नहीं, और केवल लड़ते ही रहे, सारा जीवन संग्राम में बीत गया तो व्यर्थ गया । अत अन्धे होकर नहीं लड़ना चाहिये । लड़ना लड़ने के लिये नहीं है । लड़ना साधन है, साध्य नहीं अत वेद कहता है—

पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा

बुद्धिमान मननशक्ति से, विचार शक्ति से कर्मों को पवित्र करते हैं।

ज्ञान बड़ा शोधक है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन

ज्ञान रूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देता है।

अर्थात कर्मों के दोषों को ज्ञान दूर करता है। अतः वेद में कहा है—

साधन्नृतेन धियं दधामि ॥ (ऋ० ७।३४।८)

मैं ऋतयुक्त साधना करता हुआ ऋतयुक्त बुद्धि को धारण करता हूं।

अर्थात कर्म के साथ बुद्धि को, ज्ञान को भी धारण करता हूं। ज्ञान युक्त कर्म करने वाले विद्वान् को विप्र कहते हैं, ऐसा विप्र व्यर्थ नहीं बोलता। जब वह बोलता है सारयुक्त वचन बोलता है, अतः वेद कहता है—

देवत्रा विप्र उदियर्त्ति वाचम्

विप्र देवविषयक वाणी बोलता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में आता है कि यज्ञ में मानुषी वाणी न बोले, वैष्णवी या दैवी वाणी बोले। उसके दो तात्पर्य हैं एक तो यह कि यज्ञ में दैवी परमात्मा की वेदवाणी का प्रयोग करे। दूसरा यह, कि वह दैवी वाणी=दिव्य भाव युक्त वाणी बोले, न कि आसुरी वाणी।

मनुष्य जीवन की सफलता देव बनने में है। देव बने बिना दैवी वाणी कैसे बोल सकेगा? देव बनने का साधन है ऋतानुसार अनुष्ठान। यह अनुष्ठान अनृत त्याग के बिना सर्वथा असम्भव है। यज्ञ करने के लिए तत्पर यजमान दीक्षा लेते हुए कहता है—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि (य. १।५)

मैं अनृत का त्याग करके सत्य ग्रहण करता हूं। ऋत का एक अर्थ यज्ञ है। यजमान प्रतिज्ञा करता है कि मैं यज्ञविरोधी भावों का त्याग करता हूँ। ब्राह्मणग्रन्थों तथा वेदों में यह बात अनेक बार कही गई है कि देव यज्ञ करते हैं। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि पर शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि इसका अनुष्ठान करने वाला मनुष्येभ्योदेवानुपैति=मनुष्यों से ऊपर उठ कर देवत्व को प्राप्त करता है। वहां ही यह भी लिखा है—

सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः

देव सत्य-स्वरूप होते हैं, मनुष्य अनृत। अर्थात् मनुष्य अनेक बार ऋतविरोधी कर्म करता है किन्तु देवों के आचरण में अनृत असत्य का लवलेश भी नहीं होता। उनका जीवन-व्यवहार सत्य से ओतप्रोत रहता है। मानवजीवन का लक्ष्य देवजीवन है। उसके लिए अनृतत्यागपूर्वक सत्यग्रहण, सत्यधारण अनिवार्य है। इसके बिना देवत्व सम्भव नहीं है।

तुझे जागरूक जगाते हैं

ओ३म् । तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
हव्यवाहममर्त्यं सहोवृधम् ॥ ऋ. ३।१०।९

(तम्) उस (त्वा) तुझ (हव्यवाहम्) हव्यों=भोग्य पदार्थों के प्राप्त कराने वाले (सहोवृधम्) बल बढ़ाने वाले (अमर्त्यम्) अविनाशी को (विपन्यवः) स्तुति व्यवहार में कुशल (जागृवांसः) जागरणशील, जागरूक (विप्राः) मेधावी विद्वान् (सम्+इन्धते) भली प्रकार प्रकाशित कर सकते हैं, जगा सकते हैं ।

भगवान् को पा तो शायद सभी सकते हैं, किन्तु दूसरे के हृदय में भगवद्भक्ति की भावना सभी नहीं जगा सकते । आचार्य-परीक्षा या शास्त्री-परीक्षा तो अनेक उत्तीर्ण कर जाते हैं, किन्तु वे सभी अध्यापन का कार्य, पढ़ाने का काम कर सकते हैं, इसे कोई भी नहीं मानता ।

भगवान् की भक्ति क्यों करें, जब तक इसका समाधान न किया जाये, क्यों कोई भक्ति की भावना की उद्भावना करे ? संसार में मनुष्य को सबसे अधिक चिन्ता उदरदरी की पूर्ति की रहती है । शरीर पोषण की भावना प्राणिमात्र में एक समान प्रबल है । यत्न करने पर भी बहुधा अभिलषित पदार्थ नहीं मिला करते । क्यों ? अरे ! इन पदार्थों का स्वामी कोई और है, वही सब की व्यवस्था करता है । जिसे जिस योग्य समझता है, उसे वह देता है, न अधिक न न्यून । वेद उसे हव्यवाह् कह रहा है । भोग्य पदार्थों का नाम हव्य है । उनका प्राप्त कराने वाला भगवान ही है ।

कई लोग कहा करते हैं । हमने कर्म्म किया, उस ने फल दिया । इसमें उसका क्या उपकार ? यह तो कोरा व्यापार है । ऐसे अज्ञानी जन मर्म तक नहीं पहुंचे । ऐसों से कहो, वह न दे कर्म्मफल, तुम क्या कर लोगे ? उसका कर्म्मफल देना बड़ी कृपा है, महान उपकार है । अरे भाई ! देता ही है न; कुछ तुम से लेता तो नहीं । व्यापार तो तब होता, जब तुम कुछ देते । तुम्हारे पास है ही क्या ? जो कुछ है सभी उसी का दिया । पराये धन के धनी ! धन्य हो !!

भोगप्राप्ति के लिये मनुष्य को उद्योग करना पड़ता । इसके लिये बल चाहिये, इसी वास्ते कहा—बल के मूल को बढ़ाने वाला 'सहोवृध्' भी वही है ।

य आत्मदा बलदा (य. २५।१३) जो आत्मानुभूति का दाता है, वो बल का दाता है ।

अथर्ववेद में प्रार्थना है—

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा । (२।१७।१)
सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा । (२।१७।२)
बलमसि बलं मे दाः स्वाहा । (२।१७।३)

प्रभो ! मैं मन कहता हूं । तू ओज है । मुझे ओज दे. तू सहः=सहन शक्ति=बल का मूल है, मुझे बल दे यह मैं हृदय से कहता हूं । मेरी दृढ धारणा है. बलाधार तू ही है, मुझे बल दे ।

भोग और भोगसाधन=बल के भण्डार को यदि न चितारेंगे तो क्या कर पायेंगे ?

किन्तु संसार तो सोता है। सोते ने किसी को कभी जगाया है? उस जोत को जागरित ही जगा सकते हैं—

जागृवांस: समिन्धते

जागरूक ही जगाते हैं।

वेद और उपनिषत् ने कहा—

दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भि (ऋ+कठो)

जागने वाले ही प्रतिदिन उसकी पूजा करते हैं।

विप्र की पहिचान ही यही है कि वह जागता रहता है जैसा किसी ने कहा भी है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने: ॥

जिसमें सभी प्राणी सोते हैं, संयमी उसमें जागता है। जिसमें सब प्राणी जाग रहे हैं, ज्ञानी मुनि के लिये वह रात है।

साधारण जन भोग भावना से ऊपर नहीं उठ पाते। उनका सारा जीवन खान पान पहरान का सामान जुटाने में जाता है। ज्ञानी जानता है जिसने यह शरीर दिया है, वह इसकी रक्षा का सामान भी देगा, मैं तो उसे पाऊं, जो दूसरी योनियों में दुर्लभ है।

नचिकेता के आगे जब भोग-सामग्री प्रस्तुत की गई, और उसे प्रलोभन दिया गया कि इसे तू ले ले, किन्तु आत्मतत्त्व की बात न पूछ, तब उसने मार्मिक शब्दों में अतीव सुन्दर उत्तर दिया था। उसने कहा था—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेज:।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि वरस्तु मे वरणीय: स एव ॥ २७ ॥ कठो. १।

जो कुछ तुम मुझे देना चाहते हो यह आज है कल नहीं। फिर यह संपूर्ण इन्द्रिय-शक्ति को क्षीण कर देता है। आचन्द्र-दिवाकर भी जीवन मिल जाये, तो थोड़ा है। नाच गान का सामान अपने पास रखिये। धन से किसी की तृप्ति नहीं होती यदि आत्मतत्त्व का ज्ञान हो गया, तो धन भी प्राप्त कर लेंगे। जब तक भोग है जियेंगे। मुझे वर तो वही लेना है।

जागरणशील होने के साथ 'विपन्यु'=स्तुतिव्यवहार में कुशल=समझा सकने में कुशल भी हो, तभी दूसरे को समझा सकेगा।



भगवान् का ज्ञान तारक

ओ३म्। अग्निर्धिया स चेतति केतुर्यज्ञस्य पूर्व्यः।
अर्थं ह्यस्य तरणि ॥ ऋ. ३। ११। ३

(अग्नि सब की उन्नति करने वाला (सः) वह भगवान् (धिया) ध्यान से (चेतति) चिताया जाता है, वह (यज्ञस्य) संसार-यज्ञ का (पूर्व्यः) पूर्व से विद्यमान (केतु) है, (अस्य) इसकी (अर्थम्) प्राप्ति, ज्ञान (हि) सचमुच (तरणि) तारक है।

लोग पूछते हैं, भगवान् कैसा है? हम पूछते हैं, मिठास क्या है? समझा समझा कर संसार हार गया, मिठास का सार न बता सका। अन्त में थक कर कहा, ये लो, यह मिठास वाला पदार्थ है, इसे खाओ, जो स्वाद लगे, वह मिठास है। भौतिक मिठास को भौतिक वाणी न कह सकी और न कभी कह सकेगी। तुम अभौतिक ब्रह्म की बात पूछते हो, उसे भौतिक वाणी, जो भौतिक पदार्थों के वर्णन में असमर्थ सिद्ध हो चुकी है, कैसे बखान करे? वाणी का व्यापार बन्द करो, वह वाणी से ज्ञेय नहीं है—

अग्निर्धिया स चेतति

वह अगुआ भगवान ध्यान से चिताया जाता है। ध्यान क्या है?

ध्यान निर्विषय मनः (सांख्यद)

मन की वह दशा, जब उसमें आंख, नाक आदि इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले विषय हों ही न, वह ध्यान है।

आंख, नाक, कान आदि इन्द्रिया मूंद दो, इनका व्यवहार रोक दो। मन को भी खाली कर दो, तब उस हृदयगुहा में रहने वाले अधूम अग्नि के दर्शन होंगे।

मन का खाली करना कठिन है। इसे खाली किये बिना उसका चिताना कठिन है। संसार और भगवान् का एक साथ ध्यान नहीं किया जा सकता। मन निर्बल है, दुर्बल है। उसमें एक साथ दोनों को धारण करने का सामर्थ्य नहीं है! आपकी इच्छा है। उससे भगवान् का ध्यान करो। आपकी इच्छा है उससे संसार का व्यवहार-व्यापार कराओ। यह एक समय में एक ही कार्य करेगा।

ज्ञानी जन उसी का ध्यान करते हैं क्योंकि उन्हें निश्चय है कि अर्थं ह्यस्य तरणि इसकी प्राप्ति तारक है।

यम ने इसी भाव को लेकर कहा था—यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि (कठो. ३।२)

जो ब्रह्म यज्ञ करने वालों के लिये पुल है, जो अविनाशी ब्रह्म सब से उत्कृष्ट है, संसारसागर को पार करने के अभिलाषियों के लिये जो भयरहित पार करने का साधन है, उस नाचिकेत=सर्व संशयनाशक ब्रह्मज्ञान को हम संपादन कर सकें।

इसी कारण औपनिषद ऋषि उस ब्रह्म के जानने पर अधिक बल देते थे। मुण्डक ऋषि ने कह ही तो दिया—

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ। अमृतस्यैष सेतुः॥ (मुण्डक २।२।५)

इसी एक परमात्मा को जानो, अन्य सब बातें छोड़ दो, क्योंकि यही अमृत का सेतु है।

आओ, उसका ध्यान लगाओ और पार हो जाओ।

पूर्ववर्त्ती श्रेष्ठ का अनुसरण

ओ३म् । यस्त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् द्विता च सत्ता स्वधया शम्भुः ।

तस्यानु धर्म्म प्र यजा चिकित्वोऽथा नो धा अध्वरं देववीतौ ॥ ऋ० ३।१७।५

हे (अग्ने) ज्ञानिन् । (यः) जो (होता) होता (त्वात्) तुझसे (पूर्वः) पूर्व और (यजीयान्) अधिक याज्ञिक है (च) और (द्विता) दो प्रकार से (सत्ता) स्थिति वाला और (स्वधया) अपनी शक्ति से, स्वभाव से (शम्भु) कल्याण स्वरूप है। हे (चिकित्व) समझदार। (तस्य) उसके (अनु) अनुसार (धर्म्म) धर्म्म का, कर्त्तव्य का (प्र+यज) उत्तम रीति से पालन कर (अथ) और (नः) हमारे (अध्वरम्) यज्ञ को हिंसारहित व्यवहार को, मार्ग प्रदर्शन कार्य्य को (देववीतौ) देवकामना के निमित्त (धा) धारण कर।

आज संसार में बुद्धिवाद का शोर है। सभी कहते हैं हम अपनी बुद्धि के पीछे चलते हैं। कहते तो सभी ठीक हैं, किन्तु उसमें थोड़ा सा विचारने की आवश्कता है। बुद्धि बालक में भी होती है। उसे अनुकरण करना पड़ता है माता पिता भ्राता स्वसा आदि का। जैसे वे चलते हैं, वैसे वह चलने का यत्न करता है। जैसा वे बोलते हैं, वैसा वह भी बोलता है। बुद्धि का प्रयोग वह भी करता है। क्योंकि बुद्धि के बिना अनुकरण संभव ही नहीं। कहावत है, नकल के लिये भी अक्ल चाहिये।

एक महाविद्वान को ले लो। बड़ा ज्ञानी है, तत्त्वदर्शन, भौतिक विज्ञान, रसायन, गणित आदि का महा पण्डित है। क्या उसे यह सब कुछ अनुकरण किये बिना आ गया है? अरे! उसके पास बहुत कुछ दूसरों का है, अपना थोड़ा है।

सार यह कि संसार में अनुकरण करना पड़ता है। वेद अनुकरण की एक शर्त बताता है—

यस्त्वद्धोता पूर्वो यजीयान

जो होता तुझसे पूर्व और अधिक याज्ञिक हो।

जिसका अनुकरण करेंगे, उसके समानकालीन होने पर उसका अनुकर्त्तव्य कर्म तो हमसे पूर्व विद्यमान है, और साथ ही वह हमसे अधिक गुणवान है। कोई मनुष्य अपने समान गुण कर्म वाले का अनुकरण नहीं करता। जिसका अनुकरण करने लगे हो, वह अधिक याज्ञिक हो। यज्ञ परोपकार कर्म्म को कहते हैं। ऐसा मनुष्य स्वभाव से शम्भु=कल्याण स्वरूप होना चाहिये। अन्यथा उसका परोपकार प्रहार का रूप धारण कर लेगा।

गुरुकुल में शिष्य को विसर्ग (विदा) करते समय गुरु कहा करते थे—

अथ यदि ते कर्म्मविचित्सा वा वृत्तविचित्सा वा स्यात ॥ ३ ॥

ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिनः, युक्ता अयुक्ताः, अलूक्षा धर्म्मकामा स्युः

यथा ते तत्र वर्त्तेरन, तथा तत्र वर्त्तेथा ॥ (तैत्तिरीयो. १।११)

यदि तुझे कभी अपने किसी कार्य्य की युक्तता में सन्देह हो जाये अथवा आचार के औचित्य में संशय जाये तो देख, वहां जो कोई सबको एक समान देखने वाले, धर्म्मयुक्त, पापरहित, मधुरस्वभाव वाले धर्म्माभिलाषी ब्रह्मनिष्ठ मनुष्य हों, जैसे वे करें, वैसा तू करना।

अनुकरणीय पुरुषों के गुण संक्षेप में बड़े सुन्दर रूप में सुझा दिये हैं। प्रकृत मन्त्र के पूर्वार्ध की व्याख्या ही है।

लोभी, लालची, कठोर स्वभाव, अधार्मिक, मेदबुद्धिवाला अनुकरण के योग्य नहीं हैं।

इस मन्त्र के अन्त में यज्ञ का उद्देश्य भी थोड़े से शब्दों में कहा है—

अथा नो धा अध्वरं देववीतौ

और हमारा अध्वर दिव्य कामनाओं के निमित्त धारण कर।

सर्वथा कामनारहित होना असंभव है, जैसा कि मनु महाराज कहते हैं।

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमो कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २।२

कामनाओं से आक्रान्त रहना अच्छा नहीं है और न ही इस संसार में कामनारहित होना संभव है, क्योंकि वेदाध्ययन तथा वैदिक कर्म्मयोग कामना करने की वस्तु हैं।

यज्ञ कर्म्मयोग है, वैदिक है, अतः यह कामना का विषय है। किन्तु यह किस कामना को लक्ष्य करके किया जाये? वेद स्वयं इसका उत्तर देता है—

अथा नो धा अध्वरं देववीतौ

हमारे अध्वर को दिव्यकामना के निमित्त अथवा देव=भगवान् की कामना के निमित्त धारण करो।

भगवान की कामना तब होती है, जब संसार की सब कामनाएं मिट जावें। जैसा मुण्डक ऋषि ने कहा है—

उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदति वर्तन्ति धीराः ॥१॥
कामान् य कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयंति कामाः ॥ २ (३।२)

जो लौकिक कामनाओं का त्याग करके पूर्ण पुरुष की उपासना करते हैं, वे ध्यानी इस संसार से तर जाते हैं। जो लौकिक कामनाओं को ही सब कुछ मानता हुआ कामनाएं करता रहता है, उन कामनाओं के कारण उसका बार बार जन्म होता है। जिसकी सब कामनाएं पूरी हो चुकी हैं, वह कृतार्थ है, सफल है, उसकी सभी कामनायें इसी जन्म में मिट जाती हैं।

बार बार जन्मना, मातृगर्भ की अन्धेरी कुटिया में कैद होना, नाना क्लेश सहना!!! कामना छोड़, संसार से मुख मोड़। जगत से नेह नाता तोड़। भगवान से ममत्व जोड़। फिर ये सब बन्धन टूट जायेंगे।

३७

वैश्वानर अग्नि का चयन मन से

ओ३म् वैश्वानरं मनसाग्निं निचाय्या हविष्मन्तो अनुषत्य स्वर्विदम् ।

सुदानुं देव रथिर वसूयवो गीर्भी रण्व कुशिकासो हवामहे ॥ऋ. ३।२६।१

हम (कुशिकास) ब्रह्मनिष्ठ लोग (हविष्मन्तः) श्रद्धाभक्तिरूप हवि से सपन्न होकर (अनु+सत्यम्) सत्यानुकूल (स्वर्विदम्) आनन्द प्रकाश प्राप्त कराने वाले (वैश्वानरम्) वैश्वानर [सब मनुष्यों के हितकारी] (अग्निम्) अग्नि का (मनसा) मन से (निचाय्य) चयन करके, सग्रह करके, स्थापन करके, धारण करके, (सुदानुम्) उत्तम दानी (रथिरम्) आत्मा को आनन्द देने वाले (रण्वम्) रमणीय (देवम्) भगवान् को (वसूयव) धनाभिलाषी होकर (गीर्भिः) वाणियों से (हवामहे) चाहते हैं, बुलाते हैं।

परमात्मा का एक नाम वसु है। वसु का यद्यपि एक अर्थ धन भी है। परन्तु मूल अर्थ है, बसने की सामग्री। भगवान ही तो जीव को बसने की सामग्री देता है, अत सबसे बड़ा और वास्तविक वसु वही है। जिन्हें वसु भगवान् की कामना है, वे हैं वसूयु। केवल किसी वस्तु की कामनामात्र से वह वस्तु नहीं मिल जाती, किन्तु उसके लिये श्रद्धा उत्साह तथा साधन भी चाहिये। वेद की परिभाषा में इन सब को हवि कहते हैं। अर्थात वसूयु होने के साथ हविष्मान् भी होना चाहिये।

भगवान सुदानु है, सबसे उत्तम दानी हैं, अतः धन वहीं से मिलेगा। उसे पुकारना चाहिए। वाणी से पुकार सकते हो, किन्तु वाणी के साथ मन का मेल भी चाहिये। इसी वास्ते वेद कहता है—

वैश्वानरं मनसाग्निं निचाय्य—

वैश्वानर अग्नि का मन से धारण करके।

वैश्वानर ध्यान से ही प्राप्त होता है, इसको बहुत सुन्दर शब्दों में मुण्डक ऋषि ने समझाया है—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूप सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम ॥७॥ न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान ॥८॥ एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य (३।१)

वह महान, दिव्य, अचिन्त्यरूप, सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्म, चमक रहा है। वह दूर से भी सुदूर है, वैसे यहीं पास में है। देखने वालों की तो इसी हृदय गुफा में छिप रहा है। आख, वाणी से उसका बोध नहीं होता, न ही दूसरी इन्द्रियों से, न ही तप अथवा कर्म्म से ज्ञान की विशुद्धि से विमल-बुद्धि होकर ध्यान करने वाला उस कलारहित=अखण्ड को देख पाता है। यह सूक्ष्म आत्मा चित्त=चिन्तन से जानने योग्य है।

भगवान् को कर्म्म और ज्ञान भी प्राप्त नहीं करा सकते दूसरे साधना का तो कहना ही क्या है। कर्म्म ज्ञान के साथ जब ध्यान आ मिलता है, प्रभु के दर्शन सुलभ हो जाते हैं।

आखोंदि इन्द्रियां दूरस्थ पदार्थ के देखने आदि में सहायक हो सकती हैं किन्तु परमात्मा तो इहैव निहित गुहायाम्। हृदय गुफा में छिपा है। हृदय में पड़ी वस्तु को हृदय से, मन से देखना होगा। अतः वेद ने कहा—मनसाग्निं निचाय्य।

और उपनिषत् ने भी एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः=यह आत्मा चित्त से, मन से जाना जा सकता है।

उपनिषत् ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्व इतना स्पष्ट नहीं है, जितना वेद का अनुषत्यम=अनुसत्यम है। सत्यस्वरूप को सत्यानुसार ही विचारना धारना चाहिये। अर्थात् जीवन में सत्य का प्रधान स्थान हो।

इस मन्त्र में एक विशेष बात कही है, साधकों को उसका विशेष मनन करना चाहिये। वह यह है कि भगवान् का ध्यान आवश्यक है। ध्यान में वाग्-व्यापार नहीं होता ध्यान हृदय में, मन से किया जाता है जैसा कि वेद (ऋ. ३।२६।८) में कहा है—

हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्=हृदय से मनन ध्यान करके तदनुकूल ज्योति=आत्मपरमात्मप्रकाश को उत्तमता से जान पाता है। वेद कहता है, ध्यानातिरिक्त समय में वाणी से भी भगवान् का स्मरण, कीर्तन करो, तभी तो कहा—

गीर्भी रएव कुशिकासो हवामहे=हम ब्रह्मनिष्ठ लोग उस रमणीय को वाणियों से भी चाहते हैं।

भाव यह कि मनसा वाचा कर्मणा भगवान् की आराधना करनी चाहिये, क्योंकि वह है—रथिर रथी=रथ वाले=आत्मा को रमण कराने वाला। संसार के अन्य पदार्थ इन्द्रियों को, शरीर को सुख दे सकते हैं, आत्मा को आनन्द इस सुदानु=महादानी वैश्वानर से मिल सकता है। इसीलिए ३।२६।२ में कहा—

तं शुभ्रमग्निमवसे हवामहे वैश्वानरं मातरिश्वानमुक्थ्यम्।

बृहस्पतिं मनुषो देवतातये विप्रं श्रोतारमतिथिं रघुष्यदम्॥

उस पवित्र, सर्वनेता, सर्वत्र विराजमान, अत्यन्त प्रशंसनीय, महाज्ञानी, सबकी सुनने वाले, निरन्तर सर्वज्ञ, शीघ्र करुणा से, आर्द्र होने वाले महाभगवान् का, अपने रक्षण तथा देव प्राप्ति के निमित्त, आह्वान करते हैं।

संसार के पदार्थों की परीक्षा करली, एक एक को चख कर आत्मा कह उठता है—नात्र भोग्यमस्ति=इसमें आत्मा के भोगयोग्य कुछ नहीं है। विश्व के सब पदार्थ निरख परख लिए, आत्मा की भूख नहीं मिटी, उसे जो चाहिए वह उसे नहीं मिला। उसके कारण वह व्याकुल हो उठा है। अपनी इस दशा में वह अपने आप को अरक्षित अनुभव करता है। भौतिक पदार्थ उसे अपहरणकर्त्ता के रूप में प्रतीत होने लगे हैं, तब उसे सुनाई दिया—तं शुभ्रमग्निमवसे हवामहे

हम उस वैश्वानर पवित्र अग्नि देव को अपनी रक्षा के लिए बुलाते हैं चाहते हैं।

इतना ही नहीं उसे सुनाई देता है—बृहस्पतिं मनुषो देवतातये

महान भगवान को मनुष्य के देवप्राप्ति या देवत्व प्राप्ति के लिए पुकारते हैं।

मार्ग मिला। वह श्रोता है, साथ ही रघुष्यद=शीघ्र पिघलने वाला=आशुतोष है। आओ उसे रिझाएं, पिघलाएं।

हृदय से ज्योति को जानना

ओ३म्। त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्ध्यर्कं हृदा मतिं ज्योतिरनुप्रजानन्।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्य्यपश्यत् ॥ ऋ. ३।२६।८

(हृदा) हृदय से (मतिम्) ज्ञान तथा (ज्योतिः) प्रकाश को (अनु+प्रजानन्) अनुकूलता से उत्तमतापूर्वक जानता हुआ (त्रिभिः) तीन (पवित्रैः) पवित्रकारको से (हि) ही (अर्कम्) अर्चनीय आत्मा को (अपुपोत) निरन्तर पवित्र करता है। (स्वधाभिः) अपनी शक्तियों से (वर्षिष्ठम्) सबसे उत्तम, श्रेष्ठ, बहुमूल्य (रत्नम्) रत्न बनाता है (आत) इसके पश्चात् (इत) ही (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवी को संसार को (पर्य्यपश्यत्) तिरस्कार से देखता है।

आत्मा को पवित्र करने का यत्न कर्म्म है। कर्म्म से पूर्व ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान हृदय में मिलता है—

हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन् हृदय से ज्ञान और ज्योति को जानता है।

ज्ञान के बाद कर्म्म करता है, साधनों के द्वारा आत्मज्योति का ज्ञान उसे होता है। तब वह आत्म-शोधन में लगता है—**त्रिभि पवित्रैरपुपोद्ध्यर्कम्** तीन पवित्रकारकों के द्वारा ही आत्मा को निरन्तर पवित्र करता है। वे तीन पवित्रकारक कठोपनिषत् में संकेतित हुए हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्म्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यम् विदित्वा निचाय्येमा शान्तिमत्यन्तमेति ॥१।१७॥

जिसने तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन किया है, जो तीन के साथ सन्धि कर चुका है, जो तीन कर्म्म करता है, वह जन्म मृत्यु=आवागमन को पार कर जाता है। संसारोत्पादक पूजनीय देव को जानकर, और धारण करके इस परम शान्ति को पाता है।

योगाभ्यास का नाम नाचिकेताग्नि है, उसी से सारे संशय नाश होते हैं। ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमों में—जीवन के तीन स्थलों में जिसने योगाभ्यास किया है। माता पिता तथा आचार्य्य इन तीन से जिसने सन्धि की है, अर्थात इनसे ज्ञान प्राप्त किया है, अथवा परमात्मा, स्वात्मा तथा मन से जिसने सन्धि की है, जिसने इन तीन को स्वायत्त कर लिया है, और जो यज्ञ, दान और तप—तीन कर्म्मों का करता है. उपनिषत् में कहा है—

त्रयो धर्मास्कन्धा यज्ञस्तपो दानम्=धर्म के तीन तने हैं, यज्ञ, तप और दान

वह मनुष्य संसार के चक्कर से बाहर हो जाता है। इस त्रयी के द्वारा वह जगदुत्पादक परमात्मा को जान लेता है और उसे धारण कर लेता है, वह शान्त हो जाता है। शान्ति के धाम को प्राप्त करके भी शान्ति न मिलेगी क्या?

तीन कर्मों से अभिप्राय श्रवण मनन निदिध्यासन भी हो सकता है।

आत्मशोधन के कारण वह एक रत्न=ब्रह्म प्राप्ति रूप रत्न को बना लेता है। जिस प्रकार हीरों का स्वामी मिट्टी पत्थर को तुच्छता की दृष्टि से देखता है, ऐसे ही जिसने ब्रह्मानन्द रूप रत्न को प्राप्त कर लिया वह संसार को हेय समझता है, उत्तरार्ध में यही बात कही गई है।

वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्य्यपश्यत्।

किन्तु रत्न ऐसे नहीं बन जाता। रत्न अपने पुरुषार्थ=स्वधा से बनता है। एक स्वधा नहीं, अनेक स्वधाएं लगानी पड़ती हैं। अर्थात् जी जान से, प्राणापण से इस रत्न को बनाने में लगना पड़ता है। रत्न हाथ आते ही उसे संसार तुच्छ दीखने लगता है। प्रभो! रत्ननिर्माण का सामर्थ्य दे।

परमेश्वर सब का अधिष्ठाता है

ओ३म्। अतिष्ठन्त परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ ऋ ३।३८।४॥

(आ + तिष्ठन्तम) सब ओर रहने वाले भगवान् को (विश्वे) सभी (परि) सब प्रकार से (अभूषन) शोभित करते हैं। वह (स्वरोचिः) स्वप्रकाश (श्रियः) शोभाओं को (वसानः) धारण करता हुआ (चरति) संसार को चलाता है। उस (वृष्णः) सुखवर्षक (असुरस्य) प्राणाधार भगवान् का (तत्) वह (महान्) महान् (नाम) यश है कि वह (विश्वरूप) सर्वस्रष्टा (अमृतानि) अमृतों का, जीवों का, प्रकृति का (तस्थौ) अधिष्ठाता है।

भगवान् स्थित है, गति रहित है, किसी एक स्थान पर स्थित नहीं, वरन सर्वत्र उपस्थित है। सूर्य चन्द्र आदि देवों की कान्ति और आभा देखने योग्य है। ये सारे आभावान् पदार्थ भगवान् की शोभा बढ़ा रहे हैं, अर्थात् महिमा मानो गा रहे हैं।

कहीं किसी को भ्रम न हो जाये कि यह सूर्य चन्द्र आदि से प्रकाशित होता है, इस भ्रम के वारण करने के लिये कहा कि वह स्वरोचिः स्वप्रकाश है। किसी दूसरे से प्रकाशित नहीं होता। स्वप्रकाश होने के कारण तथा इन सबका मूल प्रकाश होनेके कारण सारी शोभाओं को वह धारे हुए हैं अर्थात् संसार में जहां कहीं शोभा, कान्ति, तेज, उत्कर्ष है—वह वास्तव में परमेश्वर का है।

जब सभी प्रकार का उत्कर्ष परमेश्वर का है, तो आनन्द सुख भी उसी का है, इस लिये यहां और वेद में अन्यत्र अनेक स्थलों पर उसे 'वृषा'=सुखवर्षक कहा है। जीवनोपयोगी सारी सामग्री का स्वामी वह है, अतः असुर=असु+र=प्राणदाता=जीवनदाता भी वही है।

संसार में जितने रूप हैं, इनका निरूपण करने, चित्रित करने वाला वही है, अतः वह विश्वरूप है। जीव के लिये तथा जीव प्रकृतिके संयोग से वह संसार बनाता है अतः वह इनका अधिष्ठाता भी है।

महात्मा श्वेताश्वर ने मानों इस मन्त्र के एक अंश को हृदय में रखकर कहा है—

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ ४ ॥
यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः।
सर्वमेतदधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥ ५ ॥ (श्वेता ५)

जिस प्रकार सूर्य ऊपर नीचे, तिरछी सभी दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ चमकता है, इसी भांति वह सर्वश्रेष्ठ भगवान् परमेश्वर अकेला ही कारण तथा स्वभावों का अधिष्ठाता है। जो विश्व-

योनि=विश्वरूप स्वभाव का परिपाक करता है, और पकने योग्य सभी पदार्थ धर्मों का यथा योग्य विनियोग करता है, वह अकेला ही इन सब का अधिष्ठाता है।

ऋषि ने वेद मन्त्र का आशय समझाने के लिये सूर्य्य का दृष्टान्त दिया है। सूर्य्य पृथिवी आदि ग्रहों, चन्द्र आदि उपग्रहों को प्रकाशित करता हुआ स्वयं चमकता रहता है। इसी प्रकार परम देव परमेश्वर—**श्रियो वसानश्चरति स्वरोचि** । सब शोभाओं को धारण करता हुआ स्वप्रकाश है।

सूर्य एक स्थान पर रहता हुआ सभी सूर्यादि स्वमण्डलान्तर्गत ग्रहों, उपग्रहों, नक्षत्रादि प्रकाशाप्रकाश-पुंजों को अपने आकर्षण विकर्षण सामर्थ्य से नियन्त्रण में रखता है, अतः उसका प्रभाव अतीव विस्तृत होता हुआ भी सङ्कुचित है, ससीम है। इस ब्रह्माण्ड में वेद के शब्दों में—

सप्त दिशो नाना सूर्य्याः (ऋ ९ । ११४. ३) इन सात दिशाओं में अनेक सूर्य्य हैं।

प्रत्येक सूर्य्य का प्रभाव परिमित ही रहेगा, किन्तु अनन्त सूर्यों को प्रकाशित करने वाले भगवान् की महिमा का क्या कहना ?

सूर्य्य का प्रभाव अनित्य पदार्थों पर है, किन्तु भगवान्—**विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ**

विश्वरूप सभी अमृतों=अविनाशी जीवों तथा प्रकृति का अधिष्ठाता है, अर्थात् उनका यथायोग्य विनियोग करने में समर्थ है।

कई मीमांसकों का मत है कि प्रत्येक वेदवाक्य में विधि या निषेध अवश्य होना चाहिये। इस सिद्धान्त को लेकर वे प्रत्येक वेदमन्त्र के साथ योग्यतानुसार 'ऐसा करो' या 'ऐसा मत करो', लगा देते हैं। कदाचित् इसी भाव से श्वेताश्वर महर्षि ने इसका भाव बताते हुए दूसरे स्थान पर कहा है—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च विचैति सर्वम्।

तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ ४ । ११ ॥

जो प्रत्येक कारण तथा स्थान पर अकेला ही अधिकार रखता है, जिसमें यह सब संयुक्त वियुक्त होता रहता है, उस उत्तम दाता पूज्य ईश्वर देव को धारण करके इस शान्ति को पूरी तरह पाता है।

अर्थात भगवान् को धारण करना चाहिये।



अन्धकार छोड़ कर प्रकाश की कामना करो

ओ३म्। ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरितादभिके।
इमा गिरः सोमपाः सोमवृद्ध जुषस्वेन्द्र पुरुतमस्य कारोः ॥ ऋ० ।३।३९।७

(विजानन्) विज्ञानी मनुष्य (तमसः) अन्धकार से हट कर (ज्योतिः) प्रकाश को (वृणीत) वरण करे पसन्द करे । हम (दुरितात्) दुर्गति से (अभीके+आरे) अत्यन्त दूर (स्याम) होवें । हे (सोमपाः) सोमरक्षक (सोमवृद्ध) सोम के कारण वृद्ध (इन्द्र) इन्द्र । योगात्मन ! (पुरुतमस्य) सर्वश्रेष्ठ (कारोः) स्तोता=पदार्थ-ज्ञानकारक की (इमाः) इन (गिरः) वचनों को, वेद-वचनों को (जुषस्व) प्रीति पूर्वक सेवन कर ।

अन्धकार मृत्यु है प्रकाश जीवन है। अतः वेद ने आदेश किया—

ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्=विज्ञानी मनुष्य अन्धकार से (अन्धकार छोड़ कर) प्रकाश को चुने ।

अन्धकार और प्रकाश का भेद जिसे ज्ञात होगा, वही अन्धकार त्याग कर प्रकाश को पकड़ेगा। इसी लिये **'विजानन्'** शब्द का प्रयोग किया है ।

वेद में प्रकाश की कामना अनेक स्थानों पर की गई है। सन्ध्या के उपस्थान मन्त्र में आता है—

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्=हम अन्धकार को छोड़ कर श्रेष्ठ प्रकाश को देखें ।

प्रकृत मन्त्र से अगले मन्त्र में ही कहा गया है—

ज्योतिर्यज्ञाय रोदसी अनुष्यात्=दोनों लोकों में यज्ञ के लिये प्रकाश व्याप्त हो ।

प्रकाश का प्रयोजन है यज्ञ । एक दूसरे का हितसाधन यज्ञ है, उससे परमकल्याण मिलता है प्रकाश या ज्ञान का फल दूसरे चरण में बतलाया है—

आरे स्याम दुरितादभीके=दुरित से दुर्गति से हम बहुत दूर हों ।

अर्थात् ज्ञान प्रकाश का फल यह होना चाहिए कि हमें भले बुरे का विवेक हो । बुरे कर्म का फल दुरित=दुर्+इत=दुर्गति-होती है यह ज्ञान होना चाहिए ।

वेद सारा का सारा मनुष्य को दुरित से हटने की प्रेरणा है, अतः भगवान ने आदेश किया—

इमा गिरः ... **कारोः**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानदाता के इन वचनों का प्रीतिपूर्वक सेवन कर ।

अर्थात् वेदानुसार आचरण कर।

इन्द्र को=जीव को इस मन्त्र में **सोमपाः** कहा है। सोमपाः का अर्थ है, सोमपान करने वाला, तथा सोम की रक्षा करने वाला। अर्थात् भोग्य पदार्थों की रक्षा भी जीव का कर्त्तव्य है।

जीव सोमवृद्ध है, सोम से बढ़ता है। सोम का अर्थ सोमलता ही नहीं। सोम ब्रह्मानन्द रस को भी कहते हैं, जैसाकि वेद मे कहा है—

सोम मन्यते पपिवान् यत्सपिंषन्त्योषधिम। सोम यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥ ऋ० १०।८५।३

जब ओषधि (सोमलता) को पीसते हैं, तब सोमपान किया जाना समझा जाता है किन्तु जिस सोम को ब्रह्मवेत्ता लोग जानते और प्राप्त करते है, उसको कोई नहीं खाता पीता।

मन्त्रमुच ब्राह्मणों के सोम का अब्राह्मण उपभोग कर ही नहीं सकते। ब्रह्मवेत्ता का सोम ब्रह्मानन्द ही है।

इस का पान करना ही इस की रक्षा करना है, क्योंकि यह पान करने से, दान करने से बढ़ता है, घटता नहीं। जैसा कि वेद ने स्वयं कहा है—

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायते पुन. (ऋ० १०।८५।५)

हे दिव्य गुणयुक्त। जब तेरा पान किया जाता है, तब तू फिर बढ़ जाता है।

ब्रह्मानन्द रस का जब जब पान किया जाए, बढ़ेगा ही। दूसरों को इसका दान करो, बढ़ेगा ही।

सोमपान=ब्रह्मानन्द-रसपान से ज्ञान-प्रकाश बढ़ता है—

सना ज्योतिः सना स्वविश्वा च सोम सौभगा। अथा नो वस्यसस्कृधि॥ (ऋ० ६।४।२)

हे सोम। हम तुझ से सदा ज्योति., सदा आनन्द और समस्त सौभाग्य मागते हैं। इन को देकर तू हमें पूजनीय कर दे।



मधुमती वाणी

ओ३म् । या ते जिह्वा मधुमती सुमेधा अग्ने देवेषूच्यदे उरुची ।

तयेह विश्वां अवसे यजत्राना सादय पायया च मधूनी ॥ ऋ० ३।५७।५

हे (अग्ने) पुरोहित ! नेतः (या) जो (ते) तेरी (मधुमती) मीठा (सुमेधाः) उत्तम मेधायुक्त अर्थात सुबुद्धि पूर्वक (उरुची) विशाल अर्थों का ज्ञान कराने वाली (देवेषु) देवों में, विद्वानों में (उच्यते) कही जाती है, प्रसिद्ध है (तया) उसके द्वारा (अवसे) प्रीति के लिये, प्रयोजन सिद्धि के लिये (विश्वान्) सब (यजत्रान) याज्ञिकों को (इह) यहां (आ+सादय) ला बिठा और (मधूनि) मधुर पदार्थ (पायय) पिला।

बहुत से लोग एक विशेष समुदाय के साथ मधुरता का व्यवहार करते हैं। वेद संकेत कर रहा है कि भाई ! तू सब के साथ मीठी वाणी बोल। ऋषि ने इसी का अनुसरण करते हुए कहा है—

'सब से प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये' वेद में एक स्थान पर आता है—

मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम (ऋ० ४३।१।२)

हे प्रजाओ ! तुम मिठासयुक्त होओ, मैं मिठासयुक्त वाणी बोलूं।

अर्थात् जो चाहता है कि लोग उसके साथ मीठा व्यवहार करें, उसे दूसरों के साथ स्वयं मधुर व्यवहार करना चाहिये।

भगवान् ने उपदेश किया है कि सृष्टि के सारे पदार्थ मधुरता का व्यवहार कर रहे हैं, तू भी मधुरता का व्यवहार कर।

देखिये कितने मधुरमान=मधुर ये मन्त्र हैं—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।

माध्वीनः सन्त्वोषधीः ॥ ऋ० १।९०।६

सृष्टि नियम की अनुकूलता में चलने वाले के लिये वायु मिठास लाती है, नदियां मिठास बहाती हैं, औषधियें हमारे लिये मीठी हों।

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः।

मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ ऋ० १।९०।७

रात मीठी है, प्रभातें मीठी हैं, पृथिवी की धूलि या पृथिवीलोक भी मीठा है, पिता द्यौ भी हमारे लिये मधुर हो।

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ ऋ० १।९०।८

वनस्पति हमारे लिये मीठी है, सूर्य्य भी हमारे लिये मधुमान् हो । हमारे गौवें माध्वी=मिठास वाली होवें ।

यह सब मिठास ऋतानुसारी के लिये है । ऋत कहते हैं सरल, सीधे, सृष्टि नियमानुकूल व्यवहार को ।

प्रकृत मन्त्र मे वाणी का मधुमती के साथ 'सुमेधा' भी कहा गया है । मीठा बोलो, किन्तु बुद्धि के साथ बोलो । बुद्धि रहित मीठा भाषण किस काम । मीठे वचन को बुद्धि युक्त कहने का प्रयोजन है । यदि वक्ता में बुद्धि हो, तो वह अप्रिय सत्य को भी प्रिय बना लेगा । स्मृतिकार कहते हैं—

सत्य ब्रूयात्प्रिय ब्रूयात् मा ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।

सच बोले, मीठा बोले, किन्तु अप्रिय सत्य न बोले ।

बड़ी उलझन है । क्या चुप रहा जाये ? नहीं यही मनु महाराज कहते हैं—

मौनात्सत्य विशिष्यते

चुप रहने से सत्य बोलना अच्छा है ।

वेद भी यही कहता है—

वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान् । ऋ०

बोलने वाला ज्ञानी न बोलने से अधिक पूज्य है ।

अर्थात् सत्य तो अवश्य बोलना है, चुप नहीं रहना । हा उसे अप्रिय भी नहीं रहने दे । प्रिय बनाने के लिये बुद्धि चाहिये । इसी कारण वेद ने कहा—

या ते जिह्वा मधुमती सुमेधा ।

जो तेरी मीठी और सुबुद्धियुक्त वाणी है ।

उस मीठी सुबुद्धियुक्त वाणी से सब जनों को इकट्ठा कर और मिठास पिला । सब से मीठा वेद है, उन्हें वह पिला ।

बता, तू वेद का मधुर पान दूसरों को पिलाता है ? नहीं पिलाता, तो अब पिला । वेद बहुत मीठा है । एक बार स्वय पी, फिर तू बार बार पीयेगा । और विवश होकर दूसरों को भी पिलायेगा ।



वेद सर्वजनहितकारी

ओ३म्। या ते अग्ने पर्वतस्येव धारासश्चन्ती पीपयद्देव चित्रा।
तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदोवसो रास्व सुमतिं विश्वजन्याम् ॥ ऋ० ३।५७।६

(अग्ने) सब को ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित करने वाले। सब को आगे ले जाने वाले (देव) प्रभो प्रकाशस्वरूप। (या) जो तेरी (पर्वतस्य+इव) पर्वत की धारा के सामान (असश्चन्ती) ससक्त न होती हुई (चित्रा) विचित्र, अद्भुत (धारा) वेदमयी ज्ञानधारा (पीपयद्) निरन्तर ज्ञान दान कर रही है। हे (वसो) सब को बसाने वाले। (जातवेद) सब में रहने वाले, प्रत्येक पदार्थ के ज्ञातः। सर्वज्ञ भगवान्। (अस्मभ्यम) हमें (ताम) वह (प्रमतिम्) उत्तम बोध देने वाली (विश्वजन्याम्) सर्वजन हितकारिणी (सुमतिम) वेदरूप कल्याण मति (रास्व) दो, दान करो।

वेद वह ज्ञानधारा है, जो सृष्टि के आरम्भ में मानव समाज के हित के लिये भगवान् ने बहाई। पहाड़ पर पड़ी जलधारा पहाड़ पर न अटक कर चारों ओर बह निकलती है। ऐसी ही दिव्य ज्ञानधारा भी सभी देशों, सभी मनुष्यों की ओर बहती है, कहीं अटकती नहीं। सभी इसके अधिकारी हैं। इसी लिये इसको विश्वजन्य=सब जनों की हितकारिणी कहा। जो लोग इस धारा को कहीं रोकना चाहते हैं, वे इससे सड़ाद पैदा करना चाहते हैं। रुका जल हानि ही करता है। ज्ञान भी रुकने पर रोकने वाले का भी नाश कर देता है। आज का भारत इसका निदर्शन है। वेद सब के लिये है, इसका वेद में बार-बार उल्लेख हुआ है। प्रमादी मनुष्य को चिताने के लिये बार बार कहा गया है। भगवान् कहते हैं

पंचजनाःमम होत्रं जुषध्वम

सभी जन मेरी पुकार को सुनें। यजुर्वेद २६।२ में कहा है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥

जैसे मैं यह कल्याणी वेदवाणी मनुष्यमात्र के लिये कहता हूं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, अपने पराये सभी के लिये करता हूं।

प्रभु का बनाया सूर्य सब के लिये, चन्द्र सब के लिये, जल सब के लिये, पृथिवी सब के लिये। किन्तु इन पदार्थों का उपयोग बताने वाले प्रभु का दिया ज्ञान सब के लिये नहीं? अब्रह्मण्य। शान्त पापम्? जिनके लिये नहीं भगवान ने उन्हें कान और ज्ञानआधान के साधन क्यों दिये।

वेद विश्वजन्य हैं, कल्याणी वाक्, सभी का हित करेगी, सभी का कल्याण करेगी।

वेदवाणी प्रमति है, उत्तम ज्ञान की खान है। 'सुमति' है, दुर्मति नहीं। अर्थात वेद में मानव-समाज के उत्कर्ष के साधन वर्णित हैं, ऐसी कोई भी शिक्षा वेद में नहीं, जिससे मनुष्य का पतन सम्भव हो। ऐसे उत्तम सुमतिदाता ज्ञान का त्याग क्यों मनुष्य ने किया?

वेद है चित्र अद्भुत। इसमें ब्रह्मज्ञान है, इसमें जीव की चर्चा है, प्रकृति का बखान है। आग का विधान है, जल का भी वर्णन है। पृथिवी का गान है, तो द्यौ का भी बखान है। मनुष्योपयोगी कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसका वेद में व्याख्यान न हो। ऐसे सर्वविद्यानिधान के त्याग से आज मानव-समाज पीड़ित है। नहीं नहीं, मानव मानव नहीं रहा। इसे पुन मानव बनाने के लिये वेद को अपनाना होगा।

मणिधा उपलक्षण है, कोई ऐसी वस्तु जिज्ञासु के हाथ में अवश्य होनी चाहिए, जिससे उसकी श्रद्धा प्रकट हो। जिस में श्रद्धा भक्ति न हो, उसे तो उपदेश नहीं करना चाहिये, ऐसा हमारे शास्त्रों का विधान है। इसी भाव को मन्त्र के पहले पाद में कहा है—

आर्त वोचे नमसा पृच्छ्यमान:

आदर से पूछा जाकर सत्य सत्य कहूं।

निरादर से, उपेक्षा से प्रश्न करने वाला जिज्ञासु नहीं हो सकता है, वह वितण्डा करने वाला, जल्प करने वाला विजिगीषु हो सकता है। जिज्ञासु तो आदर से ही पूछे जैसा कि वेद में कहा है—

'नमसेदु सीदत' ऋ० ११।६

नमस्कार से जिज्ञासु बनो।

जिससे पूछना है, उसकी भी परख कर लेनी चाहिये। प्रत्येक से पूछने का कोई लाभ नहीं। वेद में कहा ही है—

तवाशासा यदीदम

यदि मैं तेरे उपदेश से इस सब को जान पाऊं।

अज्ञानी गुरु क्या समझायेगा और क्या बतायेगा? उपनिषत् ने इसी का आशय लेकर गुरु के लिये श्रोत्रिय=वेदज्ञ [जिसे **theory** का ज्ञान हो] और ब्रह्मनिष्ठ [जिसने ब्रह्मविद्या की **practice** भी की हो] होना आवश्यक बतलाया। एक मनुष्य को क्रियात्मक ज्ञान है किन्तु वह दूसरे को बता नहीं सकता, अतः आचार्य बनने के वह अयोग्य है। एक को ग्रन्थज्ञान बहुत है, किन्तु क्रिया द्वारा उसने उसका अनुशीलन कभी नहीं किया, अतः गुरु बनने के योग्य वह भी नहीं है। जिसमें ज्ञान और अनुष्ठान समान रूप से विराजमान हों, वह गुरु ग्रहण करने योग्य है।

ब्रह्मविद्या का आचार्य सबसे पूर्व शिष्य को ब्रह्म के सर्व स्वामित्व का ज्ञान कराता है, अतः मन्त्र के उत्तरार्ध में ब्रह्म का सर्वस्वामित्व निरूपित किया गया है।



४५

मीठी नज़र

ओ३म् । तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिरिदा चिदह्न इदा चिदक्तोः ।

श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके ॥ ऋ० ४।१०।५

हे (अग्ने) अग्ने । (तव) तेरी (स्वादिष्ठा) स्वादिष्ट=अत्यन्त स्वादु=अतिशय मीठी (सदृष्टि) उत्तम दृष्टि, नेक नजर (इत्) ही (अह्न+चित्+आ) दिन से लेकर (अक्तो·+चित्+आ) रात तक (इत्) भी (रुक्म+न) सुवर्ण की भांति (उपाके) समीप में (श्रिये) कल्याण के लिये (रोचते) चमक रही है।

कविजन बताते हैं, दृष्टि बहुत क्रूर है इस से हृदयों को घायल होते सुना गया है। कामी जनों की ऐसी बहुत सी कथायें हैं, जिनमें कमनीय के एक दृष्टिनिक्षेप से कामी उन्मत्त हो गया।

क्रोधी मनुष्य की दृष्टि लाल हो जाती है, उसकी आंख से आंख मिलाना कठिन हो जाता है।

बालक, जो अभी मनोगत भावों को पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर सकता, विह्वल होकर जब माता को देखता है, तो माता की ममता कैसे प्रदीप्त होती है? मां की इस दशा का मूल क्या है? बालक की दृष्टि।

क्रोध या उदासी की दशा में बालक मां के सामने जाता है। माता उसे स्नेहमयी दृष्टि से देखती है, उसका क्रोध या उदासी के भाव वहीं विलीन हो जाते हैं। किस के प्रभाव से? माता की ममताभरी स्नेहसिक्त सदृष्टि से।

दृष्टि की बड़ी महिमा है, वह हंसता को रुला देती है। रोता को हंसा देती है। मित्र को शत्रु बना देती है और शत्रु को प्राणपण से प्रीति करने वाला सुहृद बना देती है।

सन्त जन सुनाते हैं किसी महापुरुष का कृपाकटाक्ष अधम से अधम पुरुष का बेड़ा पार कर देता है। उस की चित्त नदी जिसका प्रवाह पापसागर की ओर था, प्रवाह बदल कल्याणसमुद्र की ओर बहने लगती है।

मनोविज्ञान के आचार्य बतलाते हैं कि दृष्टि भीतर के मनोभावों का निदर्शक होती है। तभी संसार में 'ललचाई आंख' 'क्रोध से लाल आंख' 'प्रेम भरे नेत्र' 'मदमाते अलसाने नयन' आदि प्रयोग होते हैं। भिन्न भिन्न भावों की अभिव्यक्ति के समय आंख में कोई एक अवर्णनीय सा परिवर्तन होता है। ज्ञानी और मूढ़ सभी सिवाये इसे जानते।

इस मनोवैज्ञानिक आकृतिविज्ञानमय दृष्टिभेद को लक्ष्य कर कामना की गई है—

तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टि

अग्ने! तेरी अत्यन्त मीठी नजर—

मार्ग दिखाने वाला आंख मैली कर ले, तो समझ लो कि वह कुमार्ग में पटकेगा। गुरु की दुर्दृष्टि हुई तो मान लो विद्या में बाधा आई। गन्यों के गुरु की यदि सद्दृष्टि न रही, तो फिर क्या गति

होगी ? जिस के एक कुदृष्टि निपात से यह समस्त जगत् समाप्त हो सकता है, उसकी कुदृष्टि से कितना अनिष्ट हो सकता है ? अत' याञ्चा है—

तव स्वादिष्ठाग्ने सदृष्टि

इस वेदमन्त्र से यह प्रतीत होता है कि भगवान की तो सदा सदृष्टि ही सदृष्टि चमक रही है। फिर संसार क्यों व्याकुल है ? उस की सदृष्टि की ओर पृष्ठ कर देने से। दृष्टि सामने पर ही प्रभाव करती है। जब हमने पीठ फेर ली, या आंख मून्द ली, तब फिर सदृष्टि हमारी दृष्टि से ओझल हो गई। और हम सदृष्टि के पुनीत फल से वञ्चित हो गये।

किन्तु जिन्होंने तेरी सदृष्टि पा ली, वे—

नामानि चिद् दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्त सन्दृष्टौ ॥ ऋ० ६।१।४

तेरी भली सन्दृष्टि में आनन्द करते हुए पूज्य नामों को धारण करते हैं।

भगवान् की सन्दृष्टि—भद्र सन्दृष्टि—स्वादिष्ठ सदृष्टि जिन पर पड़ गई। उनके नामों की पूजा न होगी, तो किन की होगी ?

जो भद्र है वह स्वादिष्ठ है। अभद्र, अमंगल किसे स्वादु लग सकता है ? वह तो सब को कटु लगता है।

प्रभो ! हमें क्या तेरी सन्दृष्टि न दीखेगी, हमारे नेत्रों पर का परदा तू ही हटायेगा। प्रभो !

यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥ ईशो १६

तेरा तेजोमय अतिशय कल्याणकारी जो रूप है, उसे मैं देखता हूँ।

प्रभो '**पश्यामि**' कहने का अधिकार कब मिलेगा ?



पाप का मूल अज्ञान

ओ३म् । यच्चिद्धि ते पुरुषत्रा यविष्ठाचित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः ।
कृधी ष्वस्माँ अदितेरनागान् व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने ॥ ऋ० ४।१२।४

हे (यविष्ठ) अतिशय बलवन् ! (अचित्तिभिः) अज्ञानों के कारण (यत्+चित्) जो कुछ (हि) भी (पुरुषत्रा) पुरुषों में (कच्चित) कदाचित् (आगः) अपराध पाप (चकृमा) हम करते हैं। (अस्मान्) हमें (अदितेः) अदिति का (सु) अच्छी प्रकार (अनागान्) अनपराधी (कृधि) बना। हे (अग्ने) अग्ने ! हमारे (एनांसि) पापभावों को (विष्वक्) सब प्रकार से (वि+शिश्रथ) विशेष रूप में शिथिल कर।

अज्ञान=उलटे ज्ञान अथवा ज्ञान के अभाव के कारण मनुष्य पाप-गर्त्त में गिरता है। ज्ञान के अभाव की अपेक्षा उलटा ज्ञान भयङ्कर होता है। वह विपर्य्य, विपरीत ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, अविद्या आदि कई नामों से पुकारा जाता है। अविद्या का लक्षण योगदर्शन में इस प्रकार किया गया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (यो द. २।५)

अनित्य को नित्य समझना, अपवित्र को पवित्र मानना, दुःख में सुख का भान करना, और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान करना अविद्या है।

धनधान्य, महल अटारी पर्वत नदी नाले सूर्य चन्द्र पृथिवी नाशवान अतएव अनित्य पदार्थों को नित्य मानना मूर्खता नहीं तो क्या है। ऐसे ही नित्य जीव आदि को अनित्य मानना अविद्या है।

अपवित्र पदार्थों—मलमूत्रादि को पवित्र मानना अज्ञान है। शरीर अपवित्र है किन्तु पामर जन इसे पवित्र मानते हैं। स्त्री पुरुष का मुख चाटती है और पुरुष स्त्री पर मोहित हो कर अकरणीय कार्य करता है। शरीर की अन्दर की बाहर की स्थिति पर तनिक विचार कीजिये। इसके गन्देपन का निश्चय हो जायेगा। मलमूत्र विष्ठा का थैला कैसे पवित्र ? किन्तु संसार का अधिक भाग इसे पवित्र मान विपर्य्य ज्ञान में फंस रहा है। इसी प्रकार पवित्र को अपवित्र मानना भी उलटा ज्ञान है।

संसार में कितना दुःख है जन्ममरण के चक्कर में कितनी पीड़ा है, किन्तु कितनों को इसका भान होता है ? कितने इससे छुटकारा पाने की चेष्टा करते हैं ? इस दुःख बहुल को सुख मानना अविद्या है। इसी प्रकार मोक्ष सुख को दुःख मानना भी अविद्या है।

किसी का धन चोरी जाये तो वह कहता है, मैं लुट गया। लुटा तो धन किन्तु मान बैठा वह अपने आप को लुटा हुआ। मैं काणा हूँ, काणापन तो आंख में है किन्तु कह रहा है, मैं काणा हूं। मैं रोगी हूं। रोग शरीर में है किन्तु अपने आप को रोगी मान रहा है। धन, इन्द्रिय, शरीर सभी अनात्मा हैं, किन्तु अविद्या की महिमा देखो इन सबको आत्मा मान रहा है। यह महती अविद्या है।

इसी प्रकार आत्मा को न मानना, उसे जन्य किन्तु अमर मानना आदि अनेक प्रकार की अविद्या है।

अज्ञान के कारण हिंसा आदि पापों को लोग पाप नहीं मानते वरन कई मूढ़ इन से परमेश्वर की प्रसन्नता का साधन मान कर पुण्य समझते हैं। कितनी दयनीय है उनकी दशा।

संसार में जितने पाप होते हैं, उन सब का मूल है यह अविद्या। भगवान् ही यथार्थ ज्ञान देते हैं अतः उन्हीं से प्रार्थना है, कि हम अदिति के=तुझ उपासना के पापी न बनें। यथार्थ ज्ञान दे, पापभावों का नाश कर।

ज्ञान होने पर भी कई मनुष्य पाप करते हैं। उनके अन्दर पापों की वासनायें प्रबल होती हैं। भगवत्कृपा से ही वासनाओं का नाश हो सकता है, अतः इसी से प्रार्थना की है—व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने

हे ज्ञानाग्नि से पापवासना को दग्ध करने वाले ! मेरी पाप वासनाओं को सर्वथा शिथिल कर दे।

भगवान् की महिमा का निदान

ओ३म् । ववक्ष इन्द्रो अमितमृजीष्युभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।

अतश्चिदस्य महिमा विरेच्यभि यो विश्वा भुवना बभूव ॥ ऋ ४।१६।५

(इन्द्र) सकलैश्वर्य- सम्पन्न भगवान् (अमितम्) अपरिमित को (ववक्ष) धारण करता है वह (ऋजीषी) सरलता को पसन्द करने वाला परमात्मा (महित्वा) अपने महत्त्व के कारण (उभे) दोनों (रोदसी) लोको को (आ+पप्रौ) पूरी तरह पूर्ण कर रहा है (अस्य) इसकी (महिमा) महिमा (अत'+चित) इससे भी (विरेचि) बढ कर है, (य) जो महिमा (विश्वा) सब (भुवना+अभि) भुवनो पर (बभूव) व्यापक है ।

कई तर्कशून्य सज्जन कहा करते हैं कि परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति जब एक समान अनादि हैं, तो परमात्मा की क्या विशेषता रही ? क्यों वह दूसरों से उत्कृष्ट है ? वेद इसका अतीव सुन्दर उत्तर देता है—

१ ववक्ष इन्द्रो अमितम्

भगवान् अमित=अपरिमित को धारण करता है ।

जीव शरीर को धारण करता है, शरीर के सहारे रेल गाडी आदि का वहन भी कर लेता है, किन्तु भगवान् के धारे जहान् के सामने वह अत्यन्त तुच्छ तथा अलीक है । निस्सन्देह जहान के भगवान् के सामने तुच्छ है किन्तु मानव बुद्धि तो इस ससार का भी पार नहीं पा सकी । अत मानव की दृष्टि मे तो ससार भी अनन्त पार=अपार है, अत. वेद का यह कहना कि 'ववक्ष इन्द्रो अमितम' भगवान् अपरिमित को धारण कर रहा है, सर्वथा युक्त है ।

दूसरी युक्ति परमात्मा के उत्कर्ष की है—

ऋजीषी उभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।

सरलता को पसन्द करने वाला भगवान् दोनो लोकों को पूर्ण रूप से भर रहा है । अर्थात् सारे ससार मे व्यापक है ।

जीव तो शरीर के एक देश मात्र में रहता है । वेद में जीव को परिछिन्न=अणु परिमाण वाला कहा गया है । जैसा कि अथर्व वेद का वचन है—

वालादेकमणीयस्कम (अ १०।८।२५

एक—जीव वाल से भी सूक्ष्मतर है ।

किन्तु परमात्मा तो—

उभ आ पप्रौ रोदसी ।

दोनों लोकों में व्यापक है। क्या ? महित्वा=अपने महत्व के कारण।

एक अत्यन्त अल्प है, एक देशी है, एक इतना महान है कि सारे जहान् में भर रहा है।

वेद कहता है, कहीं यह न समझ लेना कि वह केवल विश्व ब्रह्माण्ड में ही व्यापक है, अपितु उसकी महिमा इससे कहीं बड़ी है। इसी भाव को मन्त्र के उत्तरार्ध में कहा है। अर्थात् वह ब्रह्माण्ड के अन्दर भी है और बाहर भी है। यजुर्वेद ४०।५ में इस भाव को बहुत स्पष्ट करके वर्णन किया है—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।

वह इस सब के भीतर है, और वह इस समस्त संसार के बाहर भी है।

प्रकृति तथा जीवों का निवास संसार ही है, और वह एक देशी रूप में, भगवान् सब संसार के अन्दर भी है और बाहर भी, अत उसकी महत्ता, उसकी सबसे उत्कृष्टता में सन्देह का अवसर ही नहीं है।

एक समय तीन मनुष्य उत्पन्न होते हैं, उनकी शक्तियां तथा सम्पत्तियां समान नहीं होतीं, तो एक समान अनादि होने के कारण तीनों— ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति—का सामर्थ्य समान क्यों ?



स्तोता को धनाधिकारी बनाता है

ओ३म् । क्षियन्तं त्वमक्षियन्तं कृणोतीयर्त्ति रेणुं मघवा समोहम् ।
विभञ्जनुरशनिमाँ इव द्यौरुत स्तोतारं मघवा वसौ धात् ॥ ऋ० ४।१७।१३

(मघवा) महान् सामर्थ्यवान् भगवान् (त्वम) एक (क्षियन्तम) नष्ट होते हुए को (अक्षियन्तम्) नाश से रहित (कृणोति) करता है अथवा (क्षियन्तम्) बसते हुए को (अक्षियन्तम) बेठिकाना कर देता है, अथवा (अक्षियन्तम्) बेठिकाने को, (क्षियन्तम्) बसने वाला, ठिकाने वाला कर देता है, और (रेणुम्) धूलि को (समोहम्) समुदाय, संघात रूप में (इयर्ति) गति देता है, अथवा (समोहम्) संघात को (रेणुम्) धूलि के रूप में गति देता है । वह (अशनिमान्+इव) विद्युत् वाले की भांति, वज्रधारी के समान (विभञ्जनुः) विभाग करने वाला, तोड़ने फोड़ने वाला और (द्यौ) प्रकाशमान् तथा प्रकाशाधार है । (उत) और वह (मघवा) ऐश्वर्यों का स्वामी अन्तर्यामी (स्तोतारम्) स्तुति करने वाले को (वसौ) धन में (धात्) धारण करता है ।

इस मन्त्र में भगवान् के प्रलयकारी स्वरूप का वर्णन किया गया है किन्तु साथ ही आश्वासन भी दिया है कि धनदाता भी वही है—

स्तोतारं मघवा वसौ धात् ।

ईश्वर स्तोता को धन में धारण करता है ।

धन देने की एक शर्त है—स्तोता होना । स्तोता=स्तुति कर्त्ता । स्तुति का अर्थ लोग बहुत समझते हैं । लोग समझते हैं कि कुछ विशेष शब्दों या वाक्यों का उच्चारण करना स्तुति है, जैसे यह कहना कि 'परमेश्वर तू दयालु है, कृपालु है, सब सुखदाता है, जगद्विधाता है, चराचर का अधिष्ठाता है, इत्यादि । स्तुति का अर्थ है किसी वस्तु के गुण दोष जान कर, और अपने गुणों से उसकी तुलना करके अपने में जिन गुणों का अभाव है या जो कमी है, उसकी पूर्त्ति की भावना का नाम स्तुति है । अर्थात् इस ज्ञान से अपना चरित्र सुधारना ही यथार्थ स्तुति है । महर्षि दयानन्द ने, सगुण निर्गुण स्तुति का भेद बतला कर लिखा है—

"इसका फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं, वैसे गुण कर्म्म स्वभाव अपने भी करना । जैसे वह न्यायकारी होवे । और जो केवल भांड के समान परमेश्वर का गुण कीर्त्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसका स्तुति करना व्यर्थ है" (स प्र)

अर्थात् अपेक्षित गुण के कीर्तन के साथ तदनुगुण पुरुषार्थ भी करना स्तुति है। ऐसी स्तुति करने वाला जन 'मघवा-की=सकलैश्वर्य सपन्न की स्तुति करता है, वह अवश्य धन पाता है। क्योंकि वह बड़ा दाता है। जैसा कि ऋ० ४।१७।८ में कहा है—

दाता मघनि मघवा सुराधाः।

उत्तम धन वाला अर्थात उत्तम रीति से आराधित हुआ मघवा=पूज्य धनी प्रभु पूज्य धन देता है।

इसी कारण आस्तिक उसी से मागते हैं—

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वय स्याम पतयो रयीणाम। (ऋ. १०।१२१।१०)

जिस अभिलाषा से तुझे पुकारें, वह हमारी पूरी हो, हम धनों के स्वामी हों।

आराधना शर्त है, पुकारना शर्त है। देने में वह त्रुटि नहीं करता। क्यों वह—

क्षियन्त त्वमक्षियन्त कृणोति।

अमीर को गरीब और गरीब को अमीर कर देता है। वेद में ही कहा है—

अय वृतश्चायते समीचीर्य आजिपु मघवा शृण्व एक।

अय वाज भरति य सनोत्यस्य प्रियास सख्ये स्याम॥

चुना जाकर यह भगवान् उत्तम अवस्था का विस्तार करता है, जो भगवान् जीवन सग्राम में अकेला सहायक है, जिसको वह सभजन करता=चुनता है, वह अन्न बल ज्ञान धारण करता है, अतः इसकी मैत्री में हम इसके प्यारे=प्रेमी बनें।

अर्थात व्यर्थ ही धनी को दरिद्र, या दरिद्र को धनी नहीं कर देता। गुण कर्म देख कर ही सब कुछ करता है।

भगवान् की स्तुति का कैसा सुन्दर फल है। इसको अधिक स्पष्ट शब्दों में ऋ. ४।१७।१६ में यों कहा है—

स्तुत इन्द्रो मघवा यद्ध वृत्रा भूरीण्येको अप्रतानि हन्ति।

अस्य प्रियो जरिता यस्य शर्मन्नकिर्देवा वारयन्ते न मर्त्ताः॥

स्तुत हुआ पूज्य परमेश्वर अकेला ही अनेक अप्रतिम बाधाओं को नाश कर देता है, क्योंकि स्तोता इसका प्यारा है। इसके होने वाले कल्याण को न देव=दैवी शक्तियां और न मनुष्य रोक सकते हैं।

क्यों न इस महाधनी, महाधनी की स्तुति करें?

लोककर्त्ता भगवान् ही सच्चा पिता

ओ३म् । त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम् ।
सखा पिता पितृतम पितृणां कर्त्तेमुलोकमुशते वयोधा ॥ ऋ० ४।१७।१७

(ददृशान.) पुनः पुन दर्शन देता हुआ वह (त्राता) रक्षक होकर (न) हमें (बोधि) सुझाता है । वही (आपि.) बन्धु (अभिख्याता) सामने से बताने-वाला है । और वही (सोम्यानाम्) सोम्य=शान्त स्वभावों को (मडिता) तृप्त करने वाला है, वह (सखा) सखा=मित्र (पिता) पिता (पितृणाम्) पालकों में से (पितृतमः) सब से अधिक पालक है, वह (वयोधा) जीवनदाता, कान्ति-धारक, प्रकाशदाता (उशते) अभिलाषी को (लोकम्) प्रकाश (कर्त्ता+इम्+उ) देता ही है । अथवा (वयोधा.) जीवनदाता प्रभु (उ) ही (उशते) भोग मोक्ष के अभिलाषी के लिये (लोकम्) संसार को (कर्त्ता+इम्) बनाता ही है ।

अन्तिम चरण में गहरा तत्त्व वर्णित है । उसको समझ लेने से मन्त्र के शेष चरणों का भाव धारण करने में कठिनता नहीं होगी । मन्त्र का अन्तिम चरण—

'कर्त्तमु लोकमुशते वयोधा' है

हम ने इस के दो अर्थ लिखे हैं । भाव दोनों का एक ही है । जीव जीवन चाहता है, प्रकाश चाहता है । भोग चाहता है, मोक्ष चाहता है । उन सब का धाता तथा दाता वही है । यह संसार उसने उशन्=कामना वाले के लिए बनाया है । योगदर्शन में इसी भाव का एक सूत्र है—

'—भोगापवर्गार्थं दृश्यम् (सा पा २।१८

भोग और मोक्ष के लिये ही यह दृश्य=संसार है । अपना कोई प्रयोजन न होते हुए भी केवल जीवों के कल्याण के लिये भगवान् लोक रचना करता है । जैसा कि यो द १।२५ की व्याख्या करते हुए व्यासदेव जी ने लिखा है—

'तस्यात्मानुग्रहाभावेपि भूतानामनुग्रह' प्रयोजनम् ।'

उसका अपना कोई प्रयोजन न होते हुए भी जीवों पर कृपा ही प्रयोजन है ।

माता पिता भी भोग सामग्री देते हैं, परमात्मा की दी सामग्री से ही वह हमारे लिये देते हैं, अत' सच्चा पिता, सखा, पिताओं का पिता वही है, इस वास्ते कहा—

सखा पिता पितृतम पितृणां ।

केवल वह पालक ही नहीं, वह रक्षक भी है । मनुष्य को आग, हवा, पानी सभी से डर लगा रहता है । नदी नाले पर्वत समुद्र सभी से यह घबराता है । वह इसे रक्षक के रूप में मिलता और इसकी रक्षा करता है । तभी कहा—

त्राता नो बोधि ददृशान ।

सचमुच बार बार वह रक्षक के रूप मे दर्शन देता है।

सामारिक बन्धु विचार भेद होने पर, अथवा उनकी किसी बात के पूरा न होने पर, सग त्याग देते हैं किन्तु भगवान् कभी सग नहीं छोड़ते, सदा प्राप्त रहते हैं। अत. वे आपि=बन्धु हैं।

वेद मे दूसरे स्थान पर इसी भाव को इन शब्दा मे प्रकट किया है—

स नो-बन्धुर्जनिता स विधाता

वह हमारा बन्धु, उत्पादक तथा सुखदाता है।

शेष बन्धु प्रयोजन के बन्धु हैं। परमात्मा सदा के बन्धु हैं, किसी स्वार्थ के बिना बन्धु हैं। अतः सच्चा बन्धुत्व परमेश्वर मे ही है।

कहीं भूल चूक हुई क्या उसका विचार भी उत्पन्न हुआ कि अन्दर से ताड़ना की ध्वनि गर्जती है, वह प्रभु की ध्वनि है, अत. वेद परमात्मा को 'अभिख्याता' सामने बिठा कर उपदेश देने वाला कहता है। सच्चे बन्धु का लक्षण भी यही है कि वह मित्र को कुमार्ग से बचाये। वेद में बहुत सुन्दर शब्दों मे कहा है—

सखा सखायमतरद् विषूचो (ऋ० ७। १८। ६)

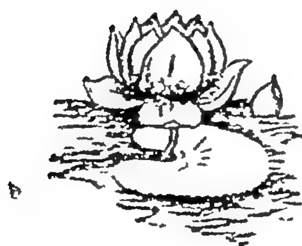
मित्र मित्र को विषम दशा से बचाता है।

परमात्मा सर्वज्ञ हैं। सम विषम का पूर्ण ज्ञान उन्हे ही है। वह सर्वांगी मन मे विषमभाव के आते ही चेतावनी देता है, सावधान करता है। अपनी मित्रता निबाहता है।

शान्तचित्त महात्माओं को शान्ति धन देकर तृप्त और शान्त करने वाला भी वही है—

मर्डिता सोम्यानाम्।

क्या हम उस सच्चे पिता, बन्धु, त्राता, मडिता, अभिख्याता सखा का प्रेम प्राप्त न करेंगे ?



सारा जहान तेरा निशान

ओ३म् । विश्वा धामानि विचक्ष ऋभ्वसः प्रभोस्ते सतः परियन्ति केतवः ।

व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि ॥ ऋ० ६ । ८६ । ५

हे (विश्वचक्ष.) सर्वद्रष्टः । सर्वज्ञ प्रभो ! (विश्वा) सब (धामानि) लोकों को (ऋभ्वसः) प्रकाशका के प्रकाशक (सत') होते हुए (ते) तुझ (प्रभोः) प्रभु के (केतवः) केतु (परिन्यन्ति) सब ओर से प्राप्त हो रहे हैं । हे (सोम) शान्ति प्रदान करने वाले भगवान् ! तू (व्यानशिः) विशेष रूप से निरन्तर व्यापक होता हुआ (धर्म्मभिः) नियमों से (पवसे) पवित्र करता है और (विश्वस्य) सपूर्ण (भुवनस्य) ससार का (पतिः) पालक, स्वामी होकर (विराजसि) विराज रहा है ।

लोग भगवान् का स्थान तथा निशान पूछते हैं, वेद कहता है कि भगवान् प्रभु हैं, सब स्थानों में उत्तम रीति से रहते हैं, प्रकाशकों के प्रकाशक हैं, अतएव विश्वचक्षाः हैं । अतः उनका निशान सारा जहान् है । जहा कोई रहता है, वहीं उसका निशान होता है । भगवान् सर्वत्र विद्यमान है, अतः उसका सर्वत्र निशान है, अर्थात् जहा चाहो, भगवान् के दर्शन कर लो, थोड़ा सा प्रयत्न करने की आवश्यकता है। सर्वत्र है तो दीखता क्यों नहीं ?

निस्सन्देह मार्मिक प्रश्न है । किन्तु क्या सभी वस्तु सदा दिखाई देती हैं । आपकी पीठ पर क्या है । आप लाहौर बैठे हैं, अमृतसर आप को दिखाई नहीं देता, अत अमृतसर नहीं है ।

नहीं, ऐसी बात नहीं है । पीठ पर आख जाती नहीं । अमृतसर दूर है, अतः दिखाई नहीं देता ।

तो ज्ञात हुआ कि पदार्थ होते हुए भी किसी कारण विशेष से दृष्टिगोचर नहीं होते । दूर होने से, रुकावट होने से, अत्यन्त समीप होने से, एक समान पदार्थों में रलमिल जाने से, अत्यन्त सूक्ष्म होने से, अत्यन्त महान् होने से विद्यमान पदार्थ दिखाई नहीं दिया करते । जैसे आख सब को देखती है, किन्तु आख में पडे सुरमे को नहीं देख पाती, क्योंकि वह अत्यन्त समीप है । परमाणु की सत्ता युक्ति प्रमाण से सिद्ध है किन्तु परमाणु दिखाई नहीं देता, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है । काल से व्यवहार सभी करते हैं, किन्तु अति महान् होने के कारण वह आज तक किसी को दिखाई नहीं दिया । अमृतसर दूर होने से दिखाई नहीं देता । दीवाल के पीछे पड़ी वस्तु रुकावट के कारण दिखाई नहीं देती । सरसों का एक दाना सरसों के ढेर में मिला दो, फिर वह हाथ नहीं आता, एक जैसों में मिलकर दिखाई नहीं देता । सभी जन्य पदार्थों मे अग्नि है किन्तु दिखाई नही देती । तिलों में तेल है, दिखाई नहीं देता । दूध, दही में घृत है, दिखाई नहीं देता ।

इसी भांति परमात्मा अति महान् है, जैसा कि वेद में कहा है—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पुरुषः ॥ य० ३१।३

यह सारा जहान् भगवान् की महिमा है. वह व्यापक प्रभु तो इससे बहुत बड़ा है।

अतः यह आंखें उसे नहीं देख सकतीं। सब में—सभी सत्पदार्थों में—ओत-प्रोत है। अतः दिखाई नहीं देता। अत्यन्त सूक्ष्म है, जैसा कि उपनिषत् ने कहा—

अणोरणीयान्=सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। अतः आंखों की पहुंच से बाहर है। अति समीप है—

आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम ॥ कठो०

इस प्राणी का=जीवात्मा का आत्मा अर्थात् अन्तरात्मा परमात्मा हृदयगुहा में छिपा है।

आत्मा परमात्मा एक स्थान में रहते हैं, अतः अत्यन्त समीप होने से इसे दिखाई नहीं दे रहा। आंख में भी व्यापक है. अति समीप होने से आंख इसे नहीं देख पाती।

अज्ञानियों से वह दूर है, कठिनता से प्राप्त होता है। वेद कहता है—

तद्दूरे तद्वन्तिके ॥ य ४०।५

वह दूर है, वह सचमुच समीप है।

जैसे अति दूर आदि पदार्थों को देखने के लिये प्रयत्न विशेष करना पड़ता है। ऐसे ही उस अति सूक्ष्म, अति महान, अतिदूर, अतिसमीप, अज्ञानावरण के कारण न दीखने वाला, सभी पदार्थों में ओतप्रोत विभु प्रभु प्रयत्न विशेष से प्रत्यक्ष होता है। यत्न करने की आवश्यकता है।



५१

ऋतमहिमा

ओ३म् । ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥ ऋ. ।४।२३।८

(ऋतस्य) ऋत की (हि) सचमुच (शुरुधः) शक्तियां (पूर्वी) पूर्ण, तथा पूर्व से अर्थात् सनातन से हैं (ऋतस्य) ऋत का (धीतिः) चिन्तन, विचार (वृजनानि) वर्जन करने योग्यों को, पापों को (हन्ति) नाश कर देता है । (बुधानः) समझाया जाता हुआ (शुचमानः) समुज्ज्वल (ऋतस्य+श्लोकः) ऋतकीर्त्तन, ऋत प्रचार (आयोः) मनुष्य के (बधिरा) बहिरे (कर्णा) कानों को (ततर्द) खोल देता है ।

सृष्टि नियम बहुत बलवान् है । सृष्टि नियम के अनुकूल चल कर मनुष्य सृष्टि के तत्वों पर अधिकार जमा लेता है, किन्तु विपरीत चल कर जीवन खो बैठता है । वाष्प और अग्नि के बल को जान कर उनके अनुकूल व्यवहार करके मनुष्य ने रेलगाड़ी, हवाई जहाज बना डाले । विद्युत की शब्द वाहकता सामर्थ्य समझ कर रेडियो बनाया गया है । गले में स्वरयन्त्र के रहस्य को समझ कर शब्द ग्राहक यन्त्र (ग्रामोफोन) बनाया गया ।

आग की शक्ति है ताप और प्रकाश । आज तक कोई ऐसा विज्ञानधुरीण न निकला, जिसने आग के ये दो गुण नष्ट कर दिये और आग में अन्धकार तथा शैत्य उत्पन्न कर दिया है । कान का धर्म्म शब्द सुनना । कोई ऐसा बलवान् विज्ञानवान् न हुआ, जिसने कान से बोलने या चखने का कार्य्य लेने की युक्ति निकाली हो । आख में चखने का सामर्थ्य कोई भी न ला सका । ऐसा क्यों ? ये सब विधाता के ऋत विधान का चमत्कार है । सचमुच ऋत की बड़ी शक्ति है, और वह है भी नित्य ।

सृष्टि नियम के विरुद्ध आचरण करने से कष्ट होता है । दुःख कष्ट पाप का फल होते हैं, अतः सृष्टि नियम का उल्लंघन पाप है । पाप से बचने का उपाय सृष्टि नियम का उल्लंघन न करना है, उस के सृष्टि नियम का ज्ञान होना चाहिये । सृष्टि नियम के ज्ञान का पुनः पुनः अभ्यास मनुष्य को उस के विरोध से हटाता है अर्थात् पाप से बचाता है । अतः वेद ने कहा—

ऋतस्य धीतिर्वृजनानि हन्ति=ऋत का चिन्तन पापों को मारता है ।

इस भाव को लेकर सन्ध्या में आने वाले 'ऋतं च सत्यं च—' आदि तीन मन्त्रों को ऋषि लोग अघमर्षण=पाप के मसलने वाला कहते हैं, क्यों कि उन तीन मन्त्रों में ऋत का वर्णन है । ऋषियों ने कहा भी है—

'जब जब मन में पाप की भावना उठे, इन मन्त्रों का जप करना चाहिये।'

जप केवल किसी शब्द या वाक्य के बार बार दोहराने को नहीं कहते, वरन

तज्जपस्तदर्थभावनम (यो द. १।२८) जप का अर्थ अर्थ विचार है।

इसी वास्ते जब यह ऋततत्व=सृष्टि-नियम का रहस्य भले प्रकार समझाया जाये, तब बहिरे के कान भी खोल देता है, अर्थात यह अपने अन्तरात्मा की ध्वनि सुनने लग जाता है। तभी ऋग्वेद के नवम मण्डल में कहा है—

ऋत वदन्नृतद्युम्न (ऋ० ९।११३।४) ऋतवादी ऋत से चमक उठता है।

उस का जीवन ऋतमय हो जाता है, क्योंकि

ऋतस्य दृढा धरुणानि सन्ति (ऋ० ४।२३।९) ऋत की धारक शक्तियां दृढ हैं।

अत एव

ऋतेन येमान ऋतमिद् वनोति=ऋत के द्वारा संयम करने वाला ऋत को ही चाहता है।

अत ऋत-व्रत होना चाहिये। वेद में ऋत के विपरीत अनृत के त्यागने की कामना की गई है।

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि (य. १।५) अनृत=ऋतभिन्न, ऋतविरुद्ध को त्याग कर मैं सत्य को प्राप्त करता हूं।

ऋत की महिमा जान कर कौन अनृत को पकड़ रखेगा।



श्रम बिना विश्राम कहां

ओ३म् । इदाह्नः पीतिमुत वो मद धुर्न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा' ।
ते नूनमस्मे ऋभवो वसूनि तृतीये अस्मिन्त्सवने दधात ॥ ऋ. ४।३३।११

(देवा.) दिव्य शक्तियां (अह्नः) दिन-जीवन दिन (आ) तक का (इत्) ही (पीतिम) पान (धु') देते हैं (उत) और (व') तुम को (मदम्) मस्ती देते हैं किन्तु वे (श्रान्तस्य) परिश्रम के (ऋते) बिना (सख्याय) मैत्री के लिये (न) नहीं होते । हे (ऋभवः) प्रकाशशील महाशक्ति सपन्नो ! (ते) वे तुम (नूनम्) अवश्य (अस्मिन्) इस (तृतीये) तीसरे सवन में (अस्मे) हमारे लिये (वसूनि) धनों को धारण करो ।

प्रभु शक्तियां जीवित को ही खानपान देती हैं, मृतक को नहीं । अर्थात् मनुष्य को भोग प्राप्ति के लिये जीवन का यत्न करना चाहिये । कहा भी है—

जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति ।

जीवित मनुष्य सैंकड़ों कल्याणों के दर्शन करता है । जहां ये भोग देते हैं, वह मद=मस्ती= जीवनमुक्ति भी देते हैं । किन्तु एक शर्त है कि—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा' ।

परिश्रम के बिना देव दोस्त नहीं बनते ।

मानों ऐतरेय ब्राह्मण ३३ वें अध्याय में इसकी विपद व्याख्या सी है—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरत सखा ॥ चरैव,

पुष्पिण्यौ चरतो जघे भूष्णुरात्मा फलेग्रहि ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मान श्रमेण प्रपथे हता' चरैव,

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चरति चरतो भग' ॥ चरैव,

कलि. शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापर' ।
उत्तिष्ठँस्तु त्रेता भवति कृत सपद्यते चरन् ॥ चरैव,

चरन् वै मधु विन्दति चरन्त्स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥ चरैव,

हे रोहित ! हमने सुना है, परिश्रम करने वाले के लिये श्री=शोभा, लक्ष्मी है । बैठा

रहने वाल (आलसी) मनुष्य पापी होता है। इन्द्र पुरुषार्थ का मित्र है अत. श्रम कर। टांगें चलती हैं, आत्मा फलाभिलाषी होना चाहता है। परिश्रमी के सारे पाप परिश्रम से मार्ग में मारे जाकर सो जाते हैं अतः परिश्रम कर। बैठे हुए का भग=भाग्य बैठा रहता है, खडे हुए का खड़ा हो जाता है, पतनशील का सो जाता है, गतिशील का भाग्य गति करता है, अतः परिश्रम कर। सोया हुआ मनुष्य कलि है, नींद त्याग रहा द्वापर है, उठाता हुआ त्रेता है, और परिश्रम करने वाला कृत=सत्य हो जाता है। अत. परिश्रम कर। परिश्रमी को मधु मिलता है, परिश्रमी को ही स्वादु उदुम्बर मिलता है, सूर्य का परिश्रम देख, चलता हुआ आलस्य नहीं करता है, अत परिश्रम कर।

सचमुच आलसी पापी होता है। श्रम के बिना तो भोजन भी नहीं पचता। अतः मनुष्य को सदा पुरुषार्थ मे तत्पर रहना चाहिये। कहावत है—अलसः पापमन्दिरम्=आलसी पाप का घर है। जो पुरुषार्थ करता है, चलता फिरता है, मानों अपने सारे पाप मार देता है। ठहरा हुआ तो जल भी सड़ांद पैदा कर देता है। अतः क्रियाशील होना चाहिये।

वेद शास्त्र आलसी का तिरस्कार करते हैं।

यौवन मे कमाई करने से बुढ़ौती मे आराम मिलता है। जैसे भौतिक शरीर के सबन्ध मे यह तत्त्व सत्य है, वैसे ही आत्मा के विषय में। जवानी मे जो त्याग वैराग्य का अभ्यास कर लेता है जीवन की संध्या=शाम मे उसे सुख सपत्ति मिलती है।



यज्ञ हृदय और मन के लिये

ओ३म् । तेवो हृदे मनसे सन्तु यज्ञा जुष्टासो अद्य घृतनिर्णिजो गुः ।
प्र व: सुतासो हरयन्त पूर्णा क्रत्वे दक्षाय हर्षयन्त पीताः ॥ ऋ० ४।३७।२

(ते) वे (यज्ञाः) यज्ञ (व.) तुम सब के (हृदे) हृदय के लिये (मनसे) मनके लिये (सन्तु) होवें। (जुष्टास) प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाकर वे (घृतनिर्णिज) प्रकाश से विमल होकर (अद्य) आज (गुः) प्राप्त हुए हैं। (सुतास) निष्पादित किये जाकर (पूर्णाः) पूर्ण हुए हुए वे (वः) तुम्हें (प्र) बहुत अच्छी तरह (हरयन्त) चाहते हैं। (पीता.) पिये जाकर (क्रत्वे) क्रतु-कर्म तथा (दक्षाय) उत्साह के लिये (हर्षयन्त) हृष्ट करते हैं, उत्साहित करते हैं।

'यज्ञ' शब्द बहुत व्यापक अर्थों वाला है। संक्षेप में कहना हो तो कह सकते हैं, लोकोपकारक सभी शुभकर्म्म यज्ञ हैं। सकाम, निष्काम, नित्य, नैमित्तिक सभी कर्म्म यदि मन और हृदय को पवित्र करते हैं, तो ये सार्थक हैं और यज्ञ हैं। यज्ञ=शुभ कर्म्मों का फल अन्तःकरण की शुद्धि है। इस लिये कहा है—**ते वो हृदे मनसे सन्तु यज्ञा**=वे सब हृदय और मन के लिये यज्ञ हों। शुभ कर्म्म बेपरवाही और अनास्था से नहीं करने चाहियें, अति प्रीति, श्रद्धा एव आस्था से वे करने चाहिये। इस प्रकार सत्कारपूर्वक किये गये यज्ञ प्रकाश से विमल होकर प्राप्त होते हैं और इसी जीवन में ही।

यज्ञ कई प्रकार के होते हैं—द्रव्ययज्ञ, जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ आदि। इस मन्त्र में जिन यज्ञों का सकेत है,वे द्रव्य-यज्ञ नहीं हो सकते। द्रव्ययज्ञ कदाचित् अन्तःकारण की शुद्धि में थोडे बहुत सहायक हों तो हों, किन्तु वे घृतनिर्णिग्=प्रकाश से विमल, अथवा प्रकाश द्वारा विमल करने वाले नहीं हो सकते। फिर 'अद्य'=[आज=इसी जीवन में'] शब्द भी कुछ और कहता है। यह तो योगदर्शन के **तीव्रसंवेगानामासन्नः** [जिनका वैराग्य अधिमात्र तीव्र होता है, उन्हें सब से शीघ्र समाधि प्राप्त होती है] की ओर सकेत करता हुआ प्रतीत होता है। विशेषकर मन्त्र का चौथा चरण इस बात की पुष्टि करता है—

क्रत्वे दक्षाय हर्षयन्त पीता

पान किये जाकर ये क्रतु तथा दक्ष के लिये उत्साहित करते है।

अभ्यास वैराग्य ईश्वरप्रणिधानादि योगक्रियाएं जब भली प्रकार परिपक्व हो जाती हैं। तब उस विरक्त योगी के हृदय में सासारिक जनों को देखकर करुणा का स्रोत बह निकलता है। वह देखता है कि ससारी लोग विषय वसाना की आग में लोटपोट हो रहे हैं, इन्हें इस अग्नि से बचाना चाहिये। जैसे मैं इस आग से बच सका हूं ऐसे ही इन को भी बचाऊ। इस पुनीत भावना से प्रेरित होकर वह ससारोपकार के पवित्र कार्य्य में प्रवृत्त होता है। यह उपकार कार्य्य उसका क्रतु है। 'श्रेयासि बहुविघ्नानि' भले कार्य्यों में विघ्न भी बहुत आते हैं, किन्तु उसके अन्दर क्रतु के साथ दक्ष भी आ चुका है। अतः प्रबल से प्रबल विघ्नबाधा भी उसे विचलित नहीं कर सकती, क्योंकि—

प्र व: सुतास हरयन्त पूर्णा

वे यज्ञ पूर्ण रूप से निष्पादित हो कर ऐसे महात्माओं की कामना करने लगते हैं।

कैसी अद्भुत घटना है, पहले साधक यज्ञों को चाह रहा था। साधक ने उनको पूरा किया, तो अब वे उसके चाहने वाले बन गये। समझो इस गभीर वैदिक आध्यात्मिक मर्म को।

विद्वान् भगवान् का ध्यान करते हैं

ओ३म् । यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण ।

त प्रत्नास ऋषयो दीध्याना पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम ॥ऋ० ४।५०।१

(य) जिस (त्रिषधस्थ.) त्रिलोकी मे रहने वाले (बृहस्पति.) महान् लोक लोकान्तरो के पालक भगवान ने (सहसा) शक्ति तथा (रवेण) आदेश से (ज्म') ससार के (अन्तान) सिरो को (वि) विशेष रूप से (तस्तम्भ) थाम रखा है (प्रत्नास.) पुराने सनातन व्यवहार कुशल (ऋषय') यथार्थ दर्शी (विप्रा') मेधावी ज्ञानी (दीध्यानः) ध्यान करते हुए (तम्) उस (मन्द्रजिह्वम) मस्ती के उपदेशक को (पुर') आगे (दधिरे) धरते हैं अर्थात ध्यान करते हैं।

मनुष्य का आदर्श बहुत ऊंचा होना चाहिये । छोटे आदर्श वाले मनुष्य छोटे ही होते हैं। वेद मे उपदेश आता है—

उत्क्रामात पुरुष

हे मनुष्य । इस अवस्था से ऊपर उठ ।

अर्थात वर्त्तमान अवस्था पर ही सन्तोष नहीं करके रहना चाहिये बरन और अधिक उन्नति के लिये चेष्टा करनी चाहिये । अल्प मे सुख नहीं है । अत बड़ा बनने का, बड़ाई प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये । सनत्कुमार महात्मा ने नारद को ठीक ही बताया था—

यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति

जो सब से बड़ा है वही सुख है, थोड़े मे तो सुख है ही नहीं।

आओ । महान् का अनुसन्धान करे। कोई छोटा सा मट्टी का ढेला हाथ मे ले लो, फिर हाथ से छोड़ दो । क्या वह वहा रह जायेगा ? नहीं, नीचे जायेगा। क्यो ? आकर्षण शक्ति इस की व्याख्या नहीं। जड़ पृथिवी आदि मे यह सामर्थ्य कहा, यह ज्ञान कहा ?

ससार मे व्यवस्था तथा नियम सूचित कर रहे हैं कि कोई ऐसा नियामक है जो इस सारे ब्रह्माण्ड का सञ्चालन कर रहा है और जिसमे सब को वश में रखने का सामर्थ्य है जिसे इस सब का यथार्थ ज्ञान भी है । अर्थात वह सर्ववशी सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ है । मन्त्र के पूर्वार्द्ध मे इस [illegible] का बखान है—

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण

जिस त्रिषधस्थ बृहस्पति ने शक्ति तथा आदेश से ससार के सिरों को विशेष रूप से [illegible] रखा है ।

बृहस्पति—सब से बड़े रक्षक ने लोकों के सिरों को थाम रखा है. अर्थात लोकों [illegible] [illegible] पहुँच है। कैसे पहुँच है ? वह त्रिषधस्थ तीनों लोकों मे एक साथ रहता है । अर्थात [illegible]

सर्वव्यापक है, कारण और कार्य्य दोनों में वह एक समान विराजमान है। इससे भगवान एकदेशी नहीं, वरन् सर्वदेशी है, यह सिद्ध हुआ। वह यह कार्य्य अपने सहज=सामर्थ्य से कर रहा है। वह मन्द्रजिह्व हैं। मधुर उपदेशक हैं, उसके उपदेश मस्ती देते हैं। उपदेश ज्ञान के विना नहीं हो सकता। सर्वत्र रहने वाले का ज्ञान भी सर्वव्यापक होना चाहिये।

सर्वव्यापक, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् से अधिक महान कौन है? अत सुखाभिलाषी ऋषि उसी का ध्यान करते हैं—

त प्रत्नास' ऋषयो दीध्याना पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम।

इसका एक भाव और भी है। पुरोधान=आगे धरने का एक अर्थ है—नेता बनाना, आदर्श बनाना। आदर्श जिसे बनाओ, वह मन्द्रजिह्व=मधुरवाणी=मीठी जबान वाला हो। सचमुच भगवान् के उपदेश मे कहीं भी कटुपन नहीं है। चारों वेद पढ जाइये मिठास ही मिठास वहां मिलेगा। आलोचकों का कहना है, वेद के युद्ध सूक्तों मे भी एक मिठास है, रस है।

क्या प्रत्येक मनुष्य भगवान् का ध्यान कर सकता है? ध्यान करने वाले मे दो गुण होने चाहियें। एक ऋषित्व, दूसरा विप्रत्व। ऋषि का अर्थ है—ऋषिदर्शनात्। जिसको पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो गया है, जिसने प्रकृति के सत्त्व रजस् और तमस् के बन्धन करने के गुण को देख लिया है, वह कैसे इस पाश मे फसेगा? किन्तु होता यह है कि मनुष्य बार बार भूल जाता है। प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य ससार मे इतनी मोहकता, इतना आकर्षण है कि प्राकृतिक विषयों के सामने आने पर मनुष्य को सारा ज्ञान भूल जाता है। अतः केवल एक बार जान लेना ही पर्य्याप्त नहीं है वरन् उस ज्ञान को धारण करने का गुण भी होना चाहिये। उस गुण का नाम है विप्रत्व। विप्र कहते हैं मेधावी को, मेधा-बुद्धि वाले को। मेधा का अर्थ है धारणावती बुद्धि। इसी कारण वेद मे अनेक स्थानो पर मेधा-बुद्धि प्राप्ति के लिये प्रार्थना है—

या मेधा देवगणा पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा (य॰ ३२।१४)

जिस मेधा बुद्धि का सेवन निष्काम विद्वान् तथा सकाम ज्ञानी करते हैं, हे उन्नतिदायक प्रभो! उस मेधा बुद्धि से युक्त करके मुझे भी मेधावी कीजिये।

मेधा के विना ससार का कार्य्य भी नहीं चल सकता। सच्चे मेधावी की पहिचान ही यह है कि वह भगवान का ध्यान करता हो।

भगवान् सर्वोत्पादक तथा सर्ववशी

ओ३म् । बृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी ।
स नो देवः सविता शर्म्म यच्छत्वस्मे क्षयाय त्रिवरूथमंहसः ॥ ऋ. ४।५३।६

(यः) जो भगवान् (बृहत्सुम्नः) महाकल्याणकारी (प्रसवीता) संसार का उत्तम उत्पादक श्रेष्ठशासक तथा अच्छा अनुशासक=प्रेरक है और जो (जगतः) जंगम, चर का तथा (स्थातुः) स्थावर अचर का (उभयस्य) दोनों का (निवेशनः) स्थापयिता, योग्य स्थान पर स्थापन करने वाला तथा (वशी) वश में करने वाला है, (सः) वह (सविता) सर्वोत्पादक (नः) हमारा (देवः) देव (अंहसः) पाप से बचा कर हमें (क्षयाय) रहने के लिये (त्रिवरूथम्) त्रिलोकी में श्रेष्ठ (शर्म्म) कल्याण, आश्रय (यच्छतु) देवे।

भगवान् से कल्याण मांगा गया है। जिसके पास हो न, वह दे भी नहीं सकता। देने के लिये देय वस्तु का दाता के पास होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः भगवान् को मन्त्र के आरम्भ में बृहत्सुम्नः=महान् कल्याणनिलय कहा है। अर्थात् कल्याण की कामना वालों को भगवान् से ही कल्याण मांगना चाहिये। परमेश्वर केवल जगत् के पदार्थों की रचना ही नहीं करता, वरन् वह निवेशन=सब को उचित स्थान पर स्थापित भी करता है। जैसे जैसे जिसके कर्म्म हैं, उसको उसके अनुसार स्थिति प्रदान करता है। पशुयोनि के योग्य को पशुस्थान में स्थापित करना और मनुष्यजीवन के अधिकारी को मनुष्य-शरीर देता है। स्थावर जंगम, चर अचर का वह वशी=वश में रखने वाला भी है। ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त में कहा भी है—

विश्वस्य मिषतो वशी (ऋ० १०।१९०।२) सम्पूर्ण सचेष्टों का वशी है।

निश्चेष्ट को, गतिरहित को वश में करना कोई बड़ी बात नहीं है। इस सब को बनाना सम्भालना, धारना, गतियुक्त करना और अपने वश में रखना बड़ी बात है। वेद में कहा है—

अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशद् व्रतानि देवः सविताभिरक्षते ॥ ऋ. ४।५३।४

किसी से न दबने वाला सविता देव भुवनों=लोकों का प्रकाश करता और नियमों की रक्षा करता है।

अर्थात् परमेश्वर के नियमों को कोई नहीं तोड़ सकता है। वशी को अदाभ्य कह कर बात अधिक विशद कर दी गई है। 'निवेशन'—पन को इसी सूक्त में खोल कर कह दिया है—

निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत् ॥ ऋ. ४।५३।३

जगत् को ठिकाने पर रखता, प्रेरित करता, अक्तु=रात्रि=प्रलय के साथ।

जगदुत्पादक तथा जगद्धारक ही वह नहीं, वरन् प्रलयकर्त्ता भी वही है।

जो कर्त्ता, भर्त्ता, हर्त्ता हो, उसके वशी होने में क्या भ्रम?

भगवान् वह कल्याणकारी है। उसकी कल्याणकारिता इसी सूक्त में अतीव सुन्दर शब्दों में वर्णित हुई है—

विचक्षणः प्रथयन्नापृणन्नुर्वजीजनत्सविता सुम्नमुक्थ्यम् ॥ ऋ. ४।५३।८

वह सर्वद्रष्टा सविता विस्तार करता हुआ, सब में प्रीति करता हुआ विशाल तथा स्तुति योग्य कल्याण को उत्पन्न करता है।

वेदद्वारा यह बतलाया कि इस संसार विस्तार का प्रयोजन जीवों का कल्याण है, उन्हें सुख देना है। समझो इस कल्याण की प्रीति को। इस विस्तार की प्रीति में मग्न हो जाओ।

मोक्ष सब से उत्तम भाग है

ओ३म् । देवेभ्यो हि प्रथम यज्ञियेभ्योऽमृतत्व सुवसि भागमुत्तमम् ।
आदिद्दामान सवितर्व्यूर्णुपेऽनूचीना जीविता मानुपेभ्य. ।।ऋ. ४।५४।२

हे (सवितः) सर्वोत्पादक । मकल कल्याणसाधक । (हि) सचमुच तू (यज्ञियेभ्य') यज्ञ के द्वारा पूजनीय (देवेभ्यः) निष्काम महात्माओं के लिये (प्रथमम्) पहले, सर्वप्रधान (अमृतत्वम्) मोक्ष-रूपी (उत्तमम्) सर्वोत्तम (भागम्) भाग, सेवनीय पदार्थ को (सुवसि) देता है । तू (आत्+इत्) सभी ओर से (दामानम्) बन्धन को (व्यूर्णुषे) खोल देता है और (मानुपेभ्य.) मनुष्यहितकारी मनुष्यों के लिये (अनूचीना) अनुकूल प्रवृत्ति—वाले (जीविता) जीवन साधन देता है ।

भगवान् हमें अनेक दान देते हैं । वे सभी बढ़िया हैं, एक से एक बढ़कर हैं । कहा भी है —

वि यो रत्ना भजति मानवेभ्य श्रेष्ठ नो अत्र द्रविण यथा दधत् (ऋ. ४।५४।१)

जो मनुष्यों को रत्न देता है, वह हमे इसी जीवन मे श्रेष्ठ धन दे ।

इमी जीवन में, आज ही श्रेष्ठ धन मिलना चाहिये । जाने कल को क्या हो जाये ? श्रेष्ठ धनों म भी सबम श्रेष्ठ मोक्ष है—

देवेभ्यो हि प्रथम यज्ञियेभ्योऽमृतत्व सुवसि भागमुत्तमम

यज्ञिय देवो के लिये सबम पहला और उत्तम मोक्षरूप भाग देता है ।

मोक्ष भी यहा **प्रथम**=पहला भाग कहा है । इस ससार चक्कर मे पडने से पहले तू मुक्त था । तेरी अवधि समाप्त हुई तू उसे प्राप्त करने को इस ससार म फिर आया है । अर्थात् तेरे लिये सबसे मुख्य और पहले मुक्ति प्राप्तव्य है, शेष तो आनुपाङ्गक हैं । इस बात को समझाने के लिये अमृतत्व का विशेपण प्रथम दिया है ।

जो मुक्ति स पुनरावृत्ति नहीं मानत, ऐस नवीन वेदान्ती भी यह मानते हैं कि अविद्या के चक्कर मे पड़ने से पूर्व ब्रह्म मुक्त था । अत सबसे प्रथम धन मुक्ति है । वह मुक्ति केवल प्रथम उपार्जनीय ही नहीं, वरन **उत्तम भाग** भी है ।

उस मोक्ष की प्राप्ति पर सब भय नष्ट हो जाते हैं । गौ आदि पशु सोना चांदी आदि धन के कारण भय लगा रहता है किन्तु मोक्ष प्राप्त करके जीव निर्भय हो जाता है जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषत् , ब्रह्मानन्द वल्ली के नवम अनुवाक मे कहा है—

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ।।

जिसे प्राप्त किये विना मन समेत वाणी जहा से हट जाती है, उस ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर कहीं से भी नहीं डरता है ।

वाणी और मन अर्थात इन्द्रिया मुक्ति मे संग नही रहती। न ही ये मुक्ति का वर्णन कर सकती हैं।

मुक्ति के अधिकारी यज्ञिय देव हैं। सचमुच यज्ञ के विना मुक्ति नहीं मिल सकती। यज्ञ को समझने की आवश्यकता है। हमारे पास घृत है, हम घृत को अग्नि में डाल देते हैं। जो घृत पहले थोडे से स्थान मे सुगन्ध दे रहा था, अब दूर तक फैल गया है। त्याग का यह फल है। यज्ञ में त्याग आवश्यक है, तभी तो प्रत्येक आहुति के साथ 'इदन्न मम' [यह मेरा नहीं है] पढा जाता है। यज्ञिय का अर्थ हुआ त्यागशील।

त्यागेनैके अमृतत्वमानशु. (उप.)=त्याग के द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं।

त्याग कहो, संयम कहो, एक बात है। वेद कहता है—

यथा यथा पतयन्तो वियेमिरं एवैव तस्थुः सवाय ते (ऋ. ४।५४।५)

गिरते पडते जैसे जैसे सयम करते हैं, वैसे वैसे वे, हे सवितः। तेरे आदेश के लिये स्थिर होते हैं।

इस प्रकार जो त्यागयज्ञ=त्याग+संयम से भगवान् के आदेश का पालन करते हैं, भगवान् उनके बन्धन खोल देता है—

आदिद्दामान सवितर्व्यूर्णुषे।

सवितः। तू उनके बन्धन खोल देता है।

जिन्होंने सयम द्वारा अपने आपको भगवान् के अर्पण कर दिया, उनके बन्धन वह स्वय काट देता है। बन्धनों का काटना ही मुक्ति है।

ऐसे जीवन्मुक्त भोग-समाप्ति के लिये रहते हैं।



सारा संसार तेरा धाम है

ओ३म्। धामन्ते विश्व भुवनमधिश्रितमन्त· समुद्रे हृद्यन्तरायुषि।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम्॥ ऋ ४।५८।११

हे प्रभो! (विश्वं+भुवन्तु+अधि) सारे समार मे (ते) तेरा (धामन्) धाम्, तेरा ठिकाना है (समुद्रे+हृदि+अन्तः) समुद्र समान विशाल हृदय मे तथा (आयुषि+अन्त·) जीवन सार में तेरा धाम (श्रितम्) आश्रित है। (अपाम+अनीके) जल समुदाय मे तथा (समिथे) सत्सङ्ग मे (यः) जो (आभृतः) भरा गया है, लाया गया है। (ते) तेरे (तम्) उस (मधुमन्तम्) मधुमय, मधुर (ऊर्मिम्) लहर को (अश्याम) हम प्राप्त करें।

सारे ससार में भगवान् का धाम बतला कर कह दिया कि वह भगवान् तेरे हृदय रूपी समुद्र में भी है [हृदय और समुद्र की समता के लिये लेखक की ब्रह्मोद्योपनिषत् देखिये] हृदय की क्या बात, वह जीवन में है। आखें हों, तो उसे देखो। अरे क्यों इधर उधर भटकता है? उस महान् का हृदय में ध्यान कर। छान्दोग्योपनिषत् के अष्टम प्रपाठक के प्रथम खण्ड में अत्यन्त मनोरम रीति से इस तत्व को समझाया गया है—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥१॥ तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश· किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥२॥ स ब्रूयाद्यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाश., उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्या चन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥३॥

यह जो इस ब्रह्मपुर=शरीर में [शरीर को ब्रह्मपुर क्यों कहते हैं। इसके लिये ब्रह्मोद्योपनिषत् देखनी चाहिये] चमकीला कमल-समान घर है, उसमें चमकीला आकाश है, उस के भीतर जो है, उसकी खोज करनी चाहिये, उसे जानना चाहिये। यदि ऐसे मनुष्य को लोग कहें, कि इस ब्रह्मपुर मे चमकीला कमलाकार गृह भी है, और उसमें दहर आकाश भी है किन्तु उसके भीतर और क्या रहता है, जिसे खोजना चाहिये और जानना चाहिये। तब वह उत्तर देवे, जितना यह बाह्य आकाश है, उतना ही हृदय के भीतर का आकाश है। ये दोनों द्यौ और पृथिवी इसीमें समाये हैं, दोनों आग और हवा, दोनों सूर्य और चन्द्रमा विद्युत् तथा नक्षत्र, और जो कुछ इस बाह्य आकाश मे है और जो इसमे नहीं है, वह सब इस में समाया है।

महान् भगवान् सारा जहान लेकर इस हृदय में समा रहे हैं। कितना विशाल है यह हृदय।

दार्शनिक लोग बतलाते हैं—संसार में छः रस हैं। मधुर रस स्वभाव से जल में है। मन्त्र का उत्तरार्ध कहता है—जल में जो मिठास तू ने भर रखा है। तेरी उस मधुभरी लहरी का हम भी स्वाद लें। यह लहरी मुक्ति देती है—

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्। (ऋ ४।५८।१)

हृदय समुद्र से मधुभरी लहरी उठी और उसने चुपचाप अमृतत्व=मोक्ष, जीवन भली प्रकार प्राप्त करा दिया।

चुप चाप, शोर शार किये बिना मोक्षरस का पान कराने वाली इस मधुभरी लहरी में नहा लो।

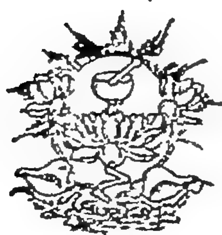
बन्धन में जकड़ा हुआ मनुष्य तड़प रहा है। संसार के बन्धन अनेक रूपों में आकर इसे जकड़ रहे हैं। इस लहरी को उठा यह बन्धन तोड़ देगी। भगवान् स्वयं कह रहे हैं—

काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः (ऋ ४।५८।७)

ऊर्मियों=लहरियों से पुष्ट होता हुआ सीमाओं को तोड़ देता है।

लहरियां उठती ही तभी हैं, जब हृदय को सचमुच समुद्र बना दिया जाये। समुद्र में पूर्णचन्द्र के समय लहरियां उठती हैं और बांध तोड़ जाती हैं। इसी भांति जब हृदय समुद्र के सामने प्रियतम-पूर्णचन्द्र आता है तब लहरियां उठती हैं, और सब सीमाएं बन्धन टूट जाते हैं।

बन्धनों में बन्धे! हृदय को समुद्र बना प्रियतम को सामने ला। फिर देख, उठती हैं न लहरियां और टूटते हैं न बन्धन।



यज्ञों में पूज्य

ओ३म्। प्रणु त्यं विप्रमध्वरेषु साधुमग्निं होतारमीळते नमोभिः।

आ यस्ततान रोदसी ऋतेन नित्यं मृजन्ति वाजिनं घृतेन॥ ऋ० ५।१।७

(नु) सचमुच, विद्वान् लोग (अध्वरेषु) यज्ञों में (त्यम्) उस जगत्प्रसिद्ध (विप्रम्) महामति, सब को तृप्त करने वाले (साधुम्) सर्वहितसाधक (होतारम्) परम दाता (अग्निम्) सब की उन्नति करने वाले भगवान् को (नमोभिः) नमस्कारों से (प्र+ईळते) भली भांति पूजते हैं (यः) जिसने (रोदसी) दो लोकों का (ऋतेन) ऋत के द्वारा (आ+ततान) विस्तार किया है, और इसी लिये वे (नित्यम्) नित्य (घृतेन) ज्ञानप्रकाश से (वाजिनम्) आत्मा को (मृजन्ति) शुद्ध करते हैं।

कई लोगों का विचार है, वेद का देवयज्ञ=अग्निहोत्र भौतिक आग और उसके द्वारा विभिन्न देवों की पूजा का एक प्रकार है। उन्हें इस मन्त्र का मनन करना चाहिये। इस मन्त्र में अग्नि का एक विशेषण है—'विप्रम्'। विप्र का अर्थ होता है मेधावी, धारणावती बुद्धि वाला। भौतिक अग्नि में बुद्धि कहां? पुन: इस अग्नि के सम्बन्ध में मन्त्र के तीसरे चरण में कहा है—

आ यस्ततान रोदसी ऋतेन

जिस ने ऋत के द्वारा, अपने अबाध्य अकाट्य सर्वत्र प्राप्त नियम द्वारा सारे संसार की रचना की है।

भौतिक अग्नि में इस विशाल संसार की रचना की योग्यता कहां?

अग्नि आदि शब्द जहां भौतिक पदार्थों के वाचक हैं, वहां ये परमात्मा के नाम भी हैं। कहां भौतिक अर्थ ग्रहण करना और कहां परमात्मा—अर्थ लेना— इस के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने बहुत सुन्दर व्यवस्था की है। वे लिखते हैं—

'अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं। इस से क्या सिद्ध हुआ कि जहां जहां स्तुति, प्रार्थना उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध सनातन और सृष्टिकर्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है।" (स० प्र० ८६ श० स०)

इस मन्त्र में अग्नि को विप्र तथा सृष्टिकर्त्ता कहा है, साथ ही बताया है कि उसे सभी ज्ञानी नमस्कार करते हैं, अतः सिद्ध हुआ कि यहां अग्नि का अर्थ परमेश्वर है।

तात्पर्य यह है कि देवयज्ञ आदि यज्ञों में आर्य्य अग्नि की पूजा नहीं करते, वरन् उस जगदुत्पादक जगन्नायक प्रभु की उपासना करते हैं। इसी भाव को सामने रख कर महर्षि ने लिखा है—

"मनुष्यों को योग्य है कि सब मङ्गल कार्य्यों में अपने और पराये कल्याण के लिये यज्ञ द्वारा ईश्वरोपासना करें।" (स. वि. पृ १६, १७)

मन्त्र के चौथे चरण में इस यज्ञ के द्वारा ईश्वरोपासना का बहुत सुन्दर फल बताया है—

नित्य मृजन्ति वाजिन घृतेन

वे नित्य घृत द्वारा=ज्ञानप्रकाश द्वारा आत्मा को शुद्ध करते हैं।

आत्मा की शुद्धि भौतिक पदार्थों से नहीं हो सकती, वरन् ज्ञान से हो सकती है। मनु महाराज ने भी इस विषय में कहा है—

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा

विद्या और तप के द्वारा आत्मा की शुद्धि होती है।

विद्या कहो, ज्ञान कहो, एक बात है। परमात्मा की उपासना का यह फल स्वाभाविक है। सिद्ध उपासकवर दयानन्द उपासनासम्बन्धी अपने अनुभव का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"इसका फल—जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूट कर परमेश्वर के गुण कर्म्म स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण कर्म्म स्वभाव पवित्र हो जाते हैं।" (स. प्र.)

किन्तु स्मरण रखना चाहिये यह आत्मा की शुद्धि अपने पुरुषार्थ के बिना नहीं हो सकती, वरन् अपने पुरुषार्थ से होती है। जैसा कि वेद ने कहा है—

मार्जाल्यो मृज्यते स्वे दमूनाः ॥ ऋ. ५।१।८

शुद्ध करने योग्य आत्मा दान्त=संयमी होकर स्व=अपने पुरुषार्थ से शुद्ध किया जाता है।

आत्मशुद्धि के लिये देवयज्ञ सतत करना चाहिये।



प्रकृति माता पुत्र को पिता के हवाले नहीं करती

ओ३म्। कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्त्ति न ददाति पित्रे।
अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ ॥ ऋ. ५।२।१

(युवतिः) सदा जवान, संयोग वियोग के स्वभाव वाली प्रकृति (माता) माता (समुब्धम्) मूढ, विवेक-विहीन (कुमारम्) कुमार को, कुत्सित कामनाक्रान्त जीव को (गुहा) अपनी गोद में (बिभर्त्ति) पालती है, रखती है, और (पित्रे) पिता को (न) नहीं (ददाति) देती है। (अस्य) इस की (अनीकम्) शक्ति (न) नहीं (मिनत्) नष्ट होती। (जनासः) लोग (अरतौ) अरति में (निहितम्) पडे हुए को (पुरः) सामने, समक्ष (पश्यन्ति) देखते हैं।

वेद ने यहां एक ऐसा मर्म बताया है, जो सर्वथा प्रत्यक्ष है, किन्तु संसारी जीव उसे देख नहीं पाते। शायद इसी दशा को देख कर किसी ज्ञानी ने कहा है—

पश्यन्नपि न पश्यति, शृण्वन्नपि न शृणोति, जानन्नपि न जानाति।

देखता हुआ भी नहीं देखता है, सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, जानता हुआ भी नहीं जानता है।

प्रति दिन लोगों को मरता देखते हैं, मृतकों को श्मशान ले जाते हैं, अपने हाथ से जलाते हैं, किन्तु कितने हैं जिन्हें यह विचार आता हो कि एक दिन हमारी भी यही अवस्था होगी। हमें भी इस संसार से कूच करना होगा, यह पुत्र, कलत्र, मित्र सब यहीं रह जायेंगे, कोई साथ नहीं जायेगा। जीव की इस मूढ अवस्था का ही वर्णन मन्त्र के पूर्वार्द्ध में है। प्रकृति माता के रूप में=पालिका, लालिका के रूप में आती है, और उसे अपनी गोद में छिपा लेती है। जो वास्तविक पालक है, उस परम पिता के पास नहीं जाने देती। प्राकृतिक विषयों में फंसा जीव परमात्मा को भूल जाता है। इसी भाव को एक महात्मा ने यों कहा है—**अनृतेन प्रत्यूढा** असत्य से प्रवाहित हो रहे हैं। सचमुच परमात्मा से दूर होना असत्य-प्रवाह में गिरना है। प्रकृति-माया बड़ी ठगनी है। किसी सन्त ने माया से—प्रकृति से—दुःखी होकर कहा है—'सन्तो माया हम बड़ी ठगनी जानी।' किन्तु कितने प्रकृति के इस स्वरूप को जानते हैं? हां, एक आश्वासन है। प्रकृति की गोद में छिपकर भी—

अनीकमस्य न मिनत् इसके सामर्थ्य का नाश नहीं होता।

जीव का जो स्वाभाविक ज्ञान है, वह बना रहता है। मूढ होकर भी ज्ञानहीन नहीं होता। इस से आशा बनी रहती है, कभी कोई ज्ञानी सन्त मिलेगा, तो कदाचित उसके सत्सङ्ग से इसे होश आजाये और प्रत्यक्चेतना जाग पडे।

ज्ञानी जन देख रहे हैं कि यह अरति में फंसा है। रति की खोज में—सुख की तलाश में—गया था। अज्ञान के कारण अरति में फंस गया। आखिर कुमार ही है न। साथ ही है समुब्ध=भोला। कुमार=कुत्सित काम वाला=बुरी वासनाओं वाला।

प्रकृति प्रत्येक जीव को नहीं पकड़ती। वह उसे पकड़ती है, जो कुमार हो, युवा या वृद्ध न हो। कुमार का अर्थ लौकिक संस्कृत में 'बालक' होता है। बालक अज्ञानी को कहते हैं। ब्रह्मज्ञान से शून्य अज्ञानी नहीं तो और क्या है? कुमार का चित्त खेल कूद में रहता है।

वैसे लोक में भी देखिये, मूढ अवस्था में बालक माता की गोद का आश्रय अधिक लेता है। बड़ा होकर ही मां की गोद से पृथक् होता है। यही अवस्था जीव की है, जब तक अज्ञानी है, तभी तक प्रकृति को माता मान रहा है। ज्ञानोन्मेष होने पर वह प्रकृति की गोद छोड देता है।

६०

प्राण आत्मा को चमकाते हैं

ओ३म् । तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम् ।

पद यद्विष्णोरुपम निधायि गुह्य नाम गोनाम् ॥ ऋ. ५।३।३

हे (रुद्र) आत्मन् । (मरुत) प्राण (तव) तेरी (श्रिये) शोभा के लिये (मर्जयन्त) चमकाते हैं, शोधते हैं (यत्) जो (ते) तेरा (चारु) मनोहर, सुन्दर (चित्रम्) विचित्र, अद्भुत (जनिम) उत्पन्न होना है, आविर्भाव है और (यत) जो (विष्णो) विष्णु के (उपमम) समान (पदम्) पद, स्थान (निधायि) तूने धारण किया है (तेन) उसके द्वारा तू (गोनाम) गौओं के, इन्द्रियों के (गुह्यम) गुप्त (नाम) नाम को सामर्थ्य को (पासि) रक्षित करता है ।

आत्मा अमर है, शरीर मर्त्य है । आत्मा अविनाशी है शरीर विनाशी है किन्तु वासना के कारण —

अमृतो मर्त्येन सयोनि

अमृत आत्मा मर्त्य के साथ एक ठिकाने वाला हो रहा है । शुद्ध पवित्र विमल उज्ज्वल जीव अशुद्ध अपवित्र समल अंधेरे शरीर में आन फंसा है । यही आत्मा का चारु चित्र जनिम्=सुन्दर अद्भुत जन्म है ।

आत्मा विष्णुसमान बना हुआ है । संसार में रहता हुआ वह संसार का संचालन कर रहा है । शरीर में बैठा आत्मा शरीर का संचालन कर रहा है । यही बात उत्तरार्ध में कही गई है—

पद यद्विष्णोरुपम निधायि तेन पासि गुह्य नाम गोनाम ।

विष्णु के समान पद को धारण कर रहा है इसी से तू इन्द्रियों के गुप्त सामर्थ्य की रक्षा करता है ।

संसार के पदार्थों में जो अद्भुत सामर्थ्य है । वह सारा भगवान की देन है । इसी प्रकार आंख में देखने की शक्ति, कान में सुनने की शक्ति तथा अन्य इन्द्रियों के बल सभी आत्मा के बल हैं । कठोपनिषद् में ठीक ही कहा है—

येन रूप रस गन्ध शब्दान स्पर्शांश्च मैथुनान् ।

एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥ (४।३)

जिसके द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द और संयोगजन्य स्पर्शों को जानता है, इसी के द्वारा सब विशेष जानता है । यह क्या शेष रहता है ? यह वह है ।

आँख नाक के द्वारा जो काम करता, जो दिखाई नहीं देता और इन सब का संचालन करता है । ये इन्द्रियां तथा देह तो नष्ट हो जाते हैं किन्तु वह नहीं मरता, शेष रहता है । वह आत्मा है ।

जगत्संचालक जगत का संचालन करता हुआ भगवान इन्हीं आंखों से नहीं दीखता, ऐसे ही यह आत्मा भी देहरूप ब्रह्माण्ड को धारण करता हुआ इन आंखों से नहीं दीख पाता है । जैसे दोनों

मे सादृश्य है । इस सादृश्य के दिखाने का प्रयोजन है, जीव तू भी छोटा सा ईश्वर है । तुझे अपनी महिमा को भुलाना नहीं चाहिये।

ससार के सभी पदार्थ भगवान् की महिमा का बखान कर रहे हैं । शरीरगत प्राण आत्मा की महत्ता का व्याख्यान कर रहे हैं । जब तक आत्मा शरीर में रहता है, प्राणों की क्रिया भी रहती है, ज्यों ही आत्मा ने प्रयाण किया, कूच किया, तभी प्राण भी प्रयाण कर जाते हैं । प्रश्नोपनिषत् २।४ में इसका बहुत सुन्दर वर्णन है—वहा आता है कि आख, नाक को यह अभिमान हो गया कि हम ही इस शरीर के धारक हैं । आत्मा ने उन्हें कहा, ऐसे अज्ञान मे मत फसो, मैं ही प्राण का पाच प्रकार से विभाग करके इस शरीर को धारण करता हूँ। उन्हें विश्वास न हुआ। तब—

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव, तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्त। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजान मुत्क्रामन्तं सर्व एवोत्क्रामन्ते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्त एव वाङ् मन चक्षु. श्रोत्र च ॥

वह थोडा सा ऊपर को निकला । उसके बाहर निकलने पर सभी निकलने लगे, उसके ठहर जाने पर सभी ठहर गये । जैसे रानी मक्खी के उड़ने पर सभी मक्खिया उड पड़ती हैं, ठहरने पर ठहर जाती हैं। ऐसा ही वाणी, मन, आख, कान का हाल हुआ ।

किन्तु इतना शक्तिशाली, भगवान् की समानता वाला, भगवान् के समान निष्काम न होने से मैला हो गया है । इसी की शोभा पर, इसकी चमक पर परदा पड़ गया है। उसे हटाने के लिये प्राणायाम किया जाता है—

तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त।

तेरी शोभा के लिये प्राण शोधन करते हैं।

आत्मा को जब अपने दोषों का ज्ञान होता है । तब वह सभी साधनों का अनुष्ठान करता है प्राणायाम एक सरल साधन है। ऋषि लोग भी वेद के इस मन्त्र को सम्मुख रख कर प्राणायाम का उपदेश करते हैं, जैसा कि मनु जी ने कहा है—

प्राणायामैर्दहेद् दोषान्

प्राणायामों के द्वारा दोषों को जलाये।

ऋषि ने भी लिखा है—

"जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। (स प्र. १२ श. स)।

प्राणायाम से शरीर और आत्मा दोनों की शुद्धि होती है । मल दूर होने से आत्मा चमकता है ।

६१

तत्त्वदर्शी तेरी शोभा से अमृत धारते हैं

ओ३म्। तव श्रिया सुदृशो देव देवा पुरु दधाना अमृतं सपन्त।
होतारमग्निं मनुषो निषेदुर्दशस्यन्त उशिजः शंसमायो.॥ ऋ. ४।३।४

(देव) हे देव। दिव्यगुणयुक्त आत्मन्। (सुदृशः) भली प्रकार देखने वाले, भलाई को देखने वाले, तत्त्वदर्शी (देवाः) विद्वान् (तव) तेरी (श्रिया) शोभा से (पुरु) बहुतसा (दधाना.) धारण करते हुए (अमृतम्) मोक्ष को (सपन्त) प्राप्त करते हैं। (मनुष') मननशील (उशिजः) मोक्षाभिलाषी (आयो') मनुष्य के (शंसम्) गुणों का (दशस्यन्त.) उपदेश करते हुए (होतारम) महादानी (अग्निम्) जगन्नायक भगवान् के पास (निषेदुः) निरन्तर बैठते हैं।

इस मन्त्र में मुक्ति-प्राप्ति तथा उसके साधनों का थोड़ा सा इशारा है।

वेद कहता है। मुक्ति से पूर्व बहुत कुछ धारण करना होता है—

पुरु दधाना अमृत सपन्त=

बहुत कुछ धारण करते हुए मुक्ति प्राप्त करते हैं।

शास्त्र में मुमुक्षा=मोक्ष की इच्छा से पूर्व विवेक, वैराग्य और षट्कसम्पत्ति की प्राप्ति आवश्यक बतलाई गई है।

विवेक—सत्यासत्य के भेद—ज्ञान, आत्मा-अनात्मा के भेद—ज्ञान को कहते हैं, तीनों शरीरों, पाँचों कोशों से आत्मा को भिन्न जानना विवेक है। विवेक के कारण शरीर के विषयों से विरक्ति का नाम वैराग्य है। षट्कसम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान का नाम है। अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटा कर धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना 'शम' है। श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटा कर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना 'दम' है। दुष्ट कर्म करने वाले मनुष्यों से सदा दूर रहना 'उपरति' है। चाहे निन्दा स्तुति हानि लाभ कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष शोक छोड़ मुक्ति साधनों में सदा लगे रहना 'तितिक्षा' है। वेदादि सत्य शास्त्रों और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना 'श्रद्धा' है। चित्त की एकाग्रता 'समाधान' है।

इनके बाद मुमुक्षा का स्थान है। इसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा दर्शन भी मुक्ति प्राप्ति के आवश्यक साधन हैं।

विद्वानों तथा वेदादि शास्त्रों के उपदेश सुनना तथा पढ़ना श्रवण है। इसमें भी विशेष ब्रह्मविद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिये क्योंकि यह सब विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है। सुनकर एकान्त स्थान में बैठकर विचार करना, और यदि कोई शंका हो तो उसका निवारण करना 'मनन' है। जब सुनने और मनन करने से निस्सन्देह हो जाये तब समाधिस्थ हो कर उस बात को देखना समझना कि जैसा सुना था विचारा था, वैसा ही है वा नहीं, ध्यान-योग से देखना 'निदिध्यासन' है। जैसा पदार्थ का स्वरूप गुण और स्वभाव हो वैसा याथातथ्य जान लेना 'दर्शन' या 'साक्षात्कार' है।

इसी प्रकार प्रतिदिन कम से कम दो घण्टा ईश्वरोपासना भी आवश्यक है।

इसी प्रकार के अनेक शुक्ल कर्मों को धारण करने के बाद कहीं मुक्ति मिलती है। इस बात को वेद ने—

पुरु दधानाः अमृतं सपन्त।

बहुत कुछ धारण करते हुए मुक्ति प्राप्त करते हैं।

यह सब कुछ होकर भी मुक्ति-सुख तो परमात्मा के बिना नहीं मिलता, जैसा कि वेद में कहा है—

न ऋते त्वदमृता मादयन्ते (ऋग्वेद)

तेरे बिना मुक्तों को आनन्द नहीं मिलता।

इसीलिये उत्तरार्ध में कहा है—

मननशील लोग महादानी जगन्नायक भगवान् की उपासना करते हैं।

ऋषि ने खोल कर कहा—

'ब्रह्म-लोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थित होके मोक्ष सुख को भोगते हैं, और उसी परमात्मा की, जो कि सबका अन्तर्यामी है, उपासना मुक्ति प्राप्त करने वाले विद्वान् लोग कहते हैं।' (स. प्र. ६५८—६५९ श स)।

ऐसे तत्त्वदर्शी महात्मा—

दशस्यन्त उशिज शंसमायो।

मुक्ति के अभिलाषी होकर मनुष्य के [अथवा मनुष्य को] गुणों का उपदेश करते हैं।

अर्थात् मनुष्य को उसके अल्प सामर्थ्य आदि धर्मों का बोध कराके समझाते हैं, कि 'वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता तथा सब का स्वामी है।' और कि जीव कर्मानुसार सुख दुःख का भोक्ता है।

जब तक जीव बन्धन में है, तब तक अनेकों सुख दुःखों तथा नाना दुरवस्थाओं तथा दुर्गतियों में ग्रस्त रहता है। बन्धन से छूटता है, तभी चमकता है, महात्माओं में जो तेज और चमक होती है, वह बाह्य शरीर की नहीं, वरन् अन्दर के आत्मा की होती है। अतः मन्त्र के प्रारम्भ में कहा है—

तव श्रिया देव सुदृशो देवा —

हे आत्मदेव तत्वदर्शी तेरी शोभा के द्वारा—

अथवा हे आत्मदेव! देव=इन्द्रिया तेरी शोभा से ही सुदर्शी अच्छी प्रकार देखने सुनने का काम करते हैं।

आओ इस आत्मा की शोभा के दर्शन करें।

भगवान् अपूर्व सर्वाधिक याज्ञिक

ओ३म् । न त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान्न काव्यैः पुरो अस्ति स्वधावः ।

विशश्च यस्या अतिथिर्भवासि स यज्ञेन वनवद्देव मर्त्तान् ॥ ऋ० ५।३।५

हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप । यज्ञ-साधक प्रभो ! (त्वत्) तुझ से (पूर्वः) पूर्ववर्त्ती, कोई भी (होता) दाता (न) नहीं है और न ही कोई (यजीयान) अधिक याज्ञिक है। हे (स्वधाव) अपनी शक्ति से सुरक्षित भगवन । और (न) नहीं (काव्यैः) काव्यों के द्वारा, क्रान्त—दर्शनों के द्वारा कोई (पुरः) मुखिया (अस्ति) है । (च) और (यस्या) जिस (विश) प्रजा का तू (अतिथिः) आत्मा (भवासि) हो जाता है, हे (देव) देव । भगवन् ! (सः) वह (यज्ञेन) यज्ञ के द्वारा (मर्त्तान) मनुष्यों को (वनवत) निरन्तर भक्तियुक्त कर देता है ।

ईश्वरविश्वासी सभी आस्तिक मानते हैं कि जब यह जहान् न था, तब भी भगवान् था । वेद भी कहता है—

हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे ॥ ऋ० १०।१२१।१

सूर्यादि सभी प्रकाशकों का आधार परमात्मा इस संसार से पूर्व विद्यमान था ।

जब भगवान् सब से पूर्व विद्यमान था, उससे पूर्व किसी की सत्ता नहीं थी, तब फिर उसकी महत्ता में क्या सन्देह ? संसार रचना करके सारा संसार जीवों के अर्पण कर दिया इस से बड़ा दान और दानी भला और कौन हो सकता है ?

० कैसी अद्भुत् रचना है ? आग पानी को सुखा देता है, पानी आग को बुझा देता है । इन परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले पदार्थों को मर्यादित करके कैसे विचित्र रचना रची है, सचमुच उनसे बढ़ कर मेल कराने वाला कोई नहीं है—

न त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् ।

संसारी जन समान गुणों वाले पदार्थों को मिला कर कुछ बनाया करते हैं । किन्तु उसकी रचना देखो । मित्र और वरुण को—आक्सीजन तथा हाइड्रोजन को विद्युत के द्वारा मिला कर जल बना देता है । आक्सीजन जलाती है, हाइड्रोजन जलता है, विद्युत के द्वारा मिल कर शीतलता देने वाला जल बनता है । प्रभु की इस अनुपम लीला को देख कर आदिग्रन्थों ने कहा—

अग्नीषोमीय जगत

यह संसार आग, पानी का मेल है, अग्नि जल का मेल है ।

पदार्थरचना से पूर्व पदार्थों के गुणधर्मों का ज्ञान आवश्यक है, उनसे कार्य लेने की योग्यता तथा क्षमता भी चाहिये, इस गुण में भी भगवान का स्थान प्रधान है—

न काव्यैः पुरो अस्ति स्वधाव

हे स्वशक्ति से सुरक्षित । काव्यों के द्वारा, ज्ञानों के द्वारा भी और कोई मुखिया नहीं है ।

मनुष्य अपने कार्यों के लिये सदा परमुखापेक्षी रहता है । कोई छोटे से छोटा कार्य ऐसा

नहीं, जिसे वह दूसरों की रचमात्र सहायता लिये बिना कर सके, किन्तु परमात्मा स्वधावा है। अपनी शक्ति से सब कुछ कर लेता है।

कवियों ने मनु की सन्तान की महिमा का गान करते हुए कहा—

स्ववीर्य्यगुप्ता हि मनो प्रसूति

मनु की सन्तान अपने सामर्थ्य से सुरक्षित है।

कवियों की इस उक्ति में अतिशयोक्ति है। किन्तु मनु के पितरों का पिता तो सचमुच स्वधावा= स्ववीर्य्यगुप्त है। भगवान् की शक्ति का वर्णन कौन कर सकता है। अनन्त पार उसकी शक्ति है।

सब में रह रहा है, किन्तु दीख नहीं रहा। मानव के अन्तस्तल में वह विराजता है किन्तु मानव उससे विमुख है। किसी भाग्यवान साधना सपन्न के हृदय में, आत्मा में अचानक उसका चमकारा हो जाता है। इस बात को वेद ने अपने सुन्दर शब्दों में कहा—

विशश्च यस्या अतिथिर्भवासि

जिस प्रजा का तू अतिथि हो जाता है।

अतिथि के आने की कोई तिथि नहीं। जाने कब आ खड़ा हो। किन्तु मनुष्य को अतिथिसत्कार के लिये तो सदा तय्यार रहना चाहिये। ऐसा न हो कि अतिथि आये और सत्कार पाये बिना चला जाये। लौकिक अतिथि के सम्बन्ध मे यम ने कहा—

आशाप्रतीक्षे सगतं सूनृता चेष्टापूर्त्ते पत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्त पुरुषस्याल्पममेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ कठो० १।१।८

जिस मन्दभागी गृहस्थ के घर ब्राह्मण अतिथि भूखा रहता है, उस मन्दमति की आशा प्रतीक्षा, सगति, मधुरवाणी, यज्ञयाग, दानपुण्य, सन्तान हैवान सभी नष्ट मे हो जाते हैं।

अरे लौकिक—सासारिक—अतिथि के सत्कार न करने का यह कुफल है। तो ब्राह्मणों के ब्राह्मण, परम ब्राह्मण के सत्कार न करने का कितना बड़ा कुफल होगा?

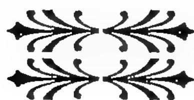
जा भाग्यशील उस अनुपम निराले अतिथि को पहचान लेता है और उसका करता है सत्कार तो—

स यज्ञेन वनवद्देव मर्त्तान

वह तो भगवन्, यज्ञ के द्वारा, अतिथि यज्ञ के द्वारा मनुष्य को भक्तियुक्त कर देता है।

यह अतिथि यज्ञ निराला है।

दयामय अतिथे! आओ! अपना यज्ञ सिखाओ!



६३

हृदय में तेरा भजन

ओ३म्। यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम ॥ ऋ० ५।४।१०

(यः) जो (मर्त्यः) मैं मरणधर्मा (त्वा) तुझ (अमर्त्यम्) अविनाशी को (मन्यमानः) मानता हुआ (कीरिणा) स्तुतिपूर्ण (हृदा) हृदय से (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूँ। हे (जातवेदः) सर्वज्ञ! हृदय के मर्मज्ञ। (प्रजाभिः) प्रजाओं के साथ, अथवा प्रजाओं के द्वारा (अस्मासु) हम में (यशः) यश (धेहि) डाल। हे (अग्ने) सब को ऊपर उठाने वाले। हम (अमृतत्वम्) मोक्ष (अश्याम) प्राप्त करें।

जब कोई ज्ञानी प्रति दिन प्राणियों को मृत्यु का ग्रास होते देखता है, तो उसे निर्वेद तथा चिन्ता आ घेरते हैं। निरन्तर चिन्तन से उसे बोध होता है कि मैं मर्त्य हूँ, मेरे आत्मा और देह का वियोग अवश्यम्भावी है। उसे दीखता है—

वियोगान्ता हि संयोगाः

संयोग का अन्त वियोग है।

शरीर का परिणाम राख है।—

भस्मान्तं शरीरम् ॥ य० ४०।१५

तब उसका इस देह विषयक अभिमान नष्ट हो जाता है। इस देह की ममता उसे नहीं पकड़ती। उसे इस शरीर से पृथक् कोई ऐसा तत्त्व नहीं दीखता है जो इस मरणधर्म देह में रहता हुआ भी मृत्यु का ग्रास नहीं होता। उसे वह अमर्त्य समझता है। उसे भासता है कि वास्तविक वह 'यह' है किन्तु इस का मरणधर्मा के साथ संग उसे व्याकुल देता है, बेचैन कर देता है। तेरी शरण में आता है। तेरे गुण से उसका हृदय भर जाता है। भूल जाता है, वह संसार को बार बार तुझे पुकारता है, दिल से पुकारता है, हृदय से पुकारता है। वह कहता है—

यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि

मैं मर्त्य अपने आपको और तुझको अमर्त्य मानता हुआ तेरे अनुराग से पूर्ण हृदय से तुझे बार बार पुकारता हूँ। केवल पुकारता ही नहीं। तुझ से कुछ मांगता हूँ—

जातवेदो यशो अस्मासु धेहि

सब के रखने वाले! हमें यश दो।

मुझे? नहीं। हमें। पुकारता मैं हूँ, किन्तु मांगता सब के लिये हूँ। तू ने ही सिखाया है। तू ने अपनी वेदवाणी में फरमाया है—

केवलाघो भवति केवलादी ॥ ऋ० १०।११७।६

अकेला खाने वाला पाप खाता है।

पापी तो यशरहित=या अपयश वाला होता है। मुझे अपयश नहीं चाहिये। अतः हम सबको यश दे। हम सभी यशस्वी हों—

बाहुभ्यां यशोबलम्

भुजाओं से यशोयुक्त बल मिले।

तू तो बड़ा कृपालु है। वेद ने मुझे बतलाया है—

यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उलोकमग्ने कृणवः स्योनम्।
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति॥ ऋ० ५।४।११

जातवेद! जिस सुकृति के लिये तू छोटा सा भी सुखकारी सूराख=छिद्र कर देता है। वह संसार के सभी सुखों, ऐश्वर्यों को आराम से प्राप्त करता है।

प्रभो! जातवेद! सूराख को थोड़ा सा चौड़ा कर दे। मुझे घोड़े नहीं चाहियें, मुझे पुत्र कलत्र नहीं चाहियें। मुझे चाहिये अमृत=मृत्युरहित जीवन।

यह कीर्ति तो नाशवान् है, अनित्य है। अतः इस कीर्ति के चक्र में न पड़े रहें। हमारी कामना इससे बड़ी है। वह हमारी हार्दिक भावना यह है—

अग्ने अमृतत्वमश्याम

ज्ञानिन्! हम मुक्ति प्राप्त करें।

धनधान्य, पुत्रकलत्र भूसम्पत्ति सब यहीं रह जाती हैं। सब विमुख हो जाते हैं। अतः मैं ज्ञानपूर्वक इस से छूटना चहाता हूँ। अकेला? नहीं नहीं, नहीं!!! मैं? नहीं? हम। सभी दुःखी हैं, मृत्यु से त्रस्त हैं। अमृत का प्याला पिला, और हमें मृत्यु से छुड़ा।



यज्ञ का संचालन कौन कर सकता है ?

नराशंसः सुषूदतीमं यज्ञमदाभ्यः । कविर्हि मधुहस्त्यः ऋ० ॥ ५।५।२

(नराशस.) मनुष्यों से प्रशंसनीय अत. (अदाभ्यः) किसी से न दबने वाला (मधुहस्त्यः) मिठास भरे हाथों वाला (कविः) क्रान्तदर्शी (हि) ही (इमम) इस (यज्ञम्) यज्ञ को (सुसूदति) अच्छी प्रकार सचालित कर सकता है ।

यज्ञ क्या है ? देवपूजा, सगति तथा दान यज्ञ हैं। देवों की दिव्यगुण वालों की पूजा, देने वालों की पूजा, तेजस्वियों की पूजा, प्रकाशकों की पूजा देवपूजा है। यथायोग्य उपकार ग्रहण और व्यवहार का नाम पूजा है। सगतिकरण—स-गति—विगतिक पदार्थों को स-गति वाला करना, उलटी चाल वालों को सुलटी चाल पर ले आना, विरुद्ध दिशा में गति करने वाले को अविरुद्ध गतिक बनाना, विविध चाल वालों को एक चाल वाला बनाना सगतिकरण है। अपने पदार्थ पर से अपना स्वत्व=अधिकार छोड़कर पराये अधिकार में उसे दे डालना दान है। यह सब मिल कर यज्ञ है।

पूजा करने के लिये पूज्यों को जानना अनिवार्य्य है। सगति करने के लिये सङ्गमनीय पदार्थों के गुणधर्म तथा उनके मेल की चाल युक्ति का ज्ञान आवश्यक है। दान से पूर्व देय वस्तु, तथा अपने स्वत्व तथा लेने वाले की पात्रता का ज्ञान होना प्रयोजनीय है। इन तीनों कार्य्यों के लिये सामान्य ज्ञान से कार्य्य नहीं चल सकता। इन कार्य्यों के लिये पैनी दृष्टि चाहिये, जो परले पार तक जाती हो। अत: वेद ने कहा, कि इस यज्ञ का करने वाला कवि=क्रान्तदर्शी होना चाहिये।

यज्ञ के इस सक्षिप्त भाव पर थोड़ा विचार कीजिये, कितना विशाल है यह। वेद में तो यज्ञ करने के लिये तन तक लगा देने की बात कही है—

बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत् ॥ ऋ० १०।१३।४

बृहस्पति ऋषि यज्ञ को करता है और यम=सयमी, दूसरों को सयम में रखने वाला अपने प्यारे मन को रिक्त कर देता है, अर्पण कर देता है।

अर्थात यज्ञ अल्प नहीं है। आरम्भ में भले ही वामन हों, अन्त में तो बृहस्पति है, बड़ों का पालक है, अरे यह तो ऋषि है, राह दिखाता है।

यज्ञ को कौन करे जो यम हो, स्वय सयमी हो दूसरों को संयम में रखता हो। यम मौत हो। मर चुका हो। ससार के लोभ से परे हो चुका हो। यम सब को दबाता है, उसे कौन दबाये। वह अदाभ्यः है।

यज्ञार्थ यम ने तन दे दिया है; धन देना सरल है। तननाश और धननाश में चुनाव के समय बुद्धिमान धननाश स्वीकार कर तन की रक्षा करता है। किन्तु यम अपना तन भी दे रहा है, त्याग की यह है पराकाष्ठा। दूसरों का तन नहीं वरन्—

प्रिया यमस्तन्वं प्रारिरेचीत

अपने प्यारे तन को अर्पण कर देता है।

जिस ने तन दिया, उसने धन तो पहले ही दे दिया था। मन के बिना तन धन किस ने दिया। जिसने तन, धन, तन दे डाला, वह हो गया नराशस। सभी मनुष्य उसकी स्तुति करते हैं, सभी उसका यशोगान करते हैं।

वह यज्ञ लोकोपकार है। उपकारी की वाणी तो मीठी होती है, अपितु उसके हाथों से भी मिठास चूता है। वह मधुहस्त्य है। वह जो कुछ यज्ञमें डालता है वह मधुर बन जाता है, क्योंकि वह है मधुहस्त्य।

सत्य को जान

ओ३म । ऋतं चिदित्व ऋतमिच्चिकिद्ध्यृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वी. ।
नाह यातु महासानद्वयेन ऋत सपाम्यरुपस्य वृष्ण. ॥ ऋ० ५।१२।२

हे (ऋत+चिकित्वः) सत्य ज्ञानाभिलाषिन् । (ऋतम्+इत) ऋत को ही, सत्य को ही (चिकिद्धि) बार बार जान। (ऋतस्य) ऋत की, सत्य की (पूर्वी) पुरातन, सनातन से चली आई (धारा') धाराओं को (अनु+तृन्धि) अनुकूलता से फोड । (अहम्) मैं (यातुम्) यातु=राक्षस को (न) न तो (सहसा) बलसे और (न) न ही (द्वयेन) दोगली चाल से प्राप्त होता हूं, वरन् मैं (अरुषस्य) रोषरहित (वृष्णा') सुखवर्षक भगवान् के (ऋतम्) ऋतु=सत्यसृष्टिनियम को (समापि) धारण करता हूँ ।

मनुष्य को सम्बोधन करते हुए भगवान्ने मनुष्य को **ऋत चिकित्व** सत्यज्ञानभिलाषी कहा है। जो मनुष्य इस मनुष्यतन को पाकर सत्य का अनुसन्धान नहीं करता, वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। मनुष्य के सामने सत्यासत्य दोनों आते हैं। जैसा कि वेद कहता है।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते (ऋ० ७।१०४।१२)

उत्तम ज्ञान के अभिलाषी जन के सामने सत्य और असत्य वचन एक दूसरे को दबाते हुए आते हैं। समझदार मनुष्य असत्य को असफल मान त्याग देता है।

तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ ऋ० ७।१०४।१२

उन में जो सत्य है जो अधिक सरल है, शान्ति का अभिलाषी उसे पसन्द करता है और असत्य को त्याग देता है।

सत्य की पहचान भी भगवान् ने बता दी। सत्य ऋजु होता है, सरल है। अर्थात् असत्य टेढा होता है, कुटिल होता है।

इस अशान्ति के सागर में जिसे शान्ति की कामना हो, वही सुविज्ञान का अभिलाषी है। सुविज्ञान के अभिलासी को, शान्ति की कामना वाले सत्य पसन्द करना चाहिये। पसन्द से पूर्व सत्य का ज्ञान भी तो होना चाहिये। अतः प्रकृत मन्त्र कहता है—**ऋतमिच्चिकिद्धि**

ऋत को ही, सत्य को ही बार बार जान। सत्य आज की वस्तु नहीं है, यह सनातन है, सदा से चला आता है। अत. वेद कहता है। **ऋतस्य धारा अ तृन्धि पूर्वी**

ऋत की सनातन धाराओं को अनुकूलता से फोड। अर्थात् ऋत का रहस्य जान, सत्य का मर्म पहचान।

वेद नीतियुक्त, असत्यमिश्रित सत्य का विरोधी है। नितान्त अभ्रान्त सत्य का प्रचारक है, अत ऋत शब्द का प्रयोग करता है। ऋत=सृष्टि नियम सदा से है और एक रस है।

धार्मिक जन कभी भी दोरुखी चाल नहीं चला करते वरन् वे सदा सत्य का अनुगमन करते हैं। इसी बात को अतीव सुन्दर शब्दों में उत्तरार्ध में कहा गया है—

नाहं यातुं सहसा न द्वयेन, ऋत सपाम्य रुषस्य वृष्णः ।

न मैं हठ से और न दो रुखी चाल से, राक्षस को अपनाता हूं वरन् मैं तो रोषरहित सुखवर्षक के ऋत को धारण करता हूँ।

भगवान् सुखवर्षक हैं, वे रोषरहित हैं। उनका ऋत भी सुखवर्षक तथा रोषरहित है। इस ऋत को, अबाधित सत्य को जानना, पहचानना, मानना तथा धारना चाहिये।

शत्रु मित्र की पहिचान

ओ३म् । के ते अग्ने रिपवे बन्धनासः के पायवः सनिपन्त द्युमन्तः ।

के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति क आसतो वचसः सन्ति गोपाः ॥ ऋ० ५।१२।४

हे (अग्ने) अग्ने ! (रिपवे) शत्रु के लिये (ते) तेरे (के) कौन से (बन्धनासः) बन्धन हैं और (के) कौन से (द्युमन्तः) प्रकाशमय (पायवः) रक्षक (सनिपन्त) सत्कृत होते हैं और सत्कार करते हैं। हे (अग्ने) प्रकाशक । शत्रुमित्र का ज्ञान कराने वाले । (के) कौन लोग (अनृतस्य) अनृत के, झूठ के (धासिम्) बन्धन को, धारण को (पान्ति) रक्षा करते हैं । और (के) कौन (आ+सतः) सर्वथा सत्य (वचसः) वचन के (गोपाः) रक्षक (सन्ति) हैं ।

शत्रु मित्र की पहचान का संकेत इस मन्त्र में है। शत्रुओं के लिये बन्धन का विधान है, मित्र के लिये सत्कार का आदेश है। संसार में जो किसी की हानि करे, वह उसका रिपु=शत्रु कहाता है और जो किसी से स्नेह करे, प्रीति करे, वह मित्र कहाता है। हानिकर को हानि से रोकने का उपाय प्रतिबन्ध है, बन्धन है, उसकी गतिविधि में रुकावट उसे हानि करने से रोक सकती है। मित्र तो रक्षक के रूप में आता है, अतः यहां उसे पायु=रक्षक कहा है।

मारने वाले से बचाने वाले को सभी श्रेष्ठ मानते हैं। बिगाड़ने में किसी चतुराई की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु बनाने में तो असीम बुद्धि-कौशल चाहिये। अतः रक्षक प्रायः प्रतिभाशाली होता है इसी भाव को लेकर कहा है—

के पायवः सनिपन्त द्युमन्तः ।

कौन से प्रकाशमय रक्षक सत्कृत होते हैं ।

अथवा—के पायवः ? रक्षक कौन हैं ? इसका उत्तर है—सनिपन्त द्युमन्तः जो दीप्तिमान सत्कृत हो रहे हैं। इससे रक्षक का तेज अधिक उज्ज्वल होता है।

दीक्षा लेते हुए यजमान कहता है—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि (य० १।५)

मैं अनृत=झूठ छोड़ कर सत्य को प्राप्त होता हूँ।

अनृत त्याग पूर्वक सत्य ग्रहण मनुष्य जीवन का ध्येय है। किन्तु अविद्या के कारण कई लोगों को असत्य से प्रीति होती है। संसार में यथायोग्य व्यवहार के लिये इसका ज्ञान होना आवश्यक है, अतः वेद ने कहा—

के धासिमग्ने अनृतस्यपान्ति

ही होता है, अतः ये सखा हैं । यदि ये इन्द्रिया आत्मा के कार्य्य साधन में सहायक हों तब तो ये आत्मा के सहायक हैं । और यदि यह आत्मा से विमुख हो जायें [यह विमुखता भी आत्मा की मूर्खता के कारण होती है] तब ये—

शिवास सन्तो अशिवा अभूवन्

मगलमय होते हुए अमंगल हो जाते हैं।

आत्मा के पतन का कारण होजाते हैं।

वेद ने उत्तरार्ध में एक अद्भुत बात कही है—

अभूर्षत स्वयमेते ' ब्रुवन्त'

पाप की बातें बोलते हुए यह स्वय अपनी वाणी से हिंसित होते हैं।

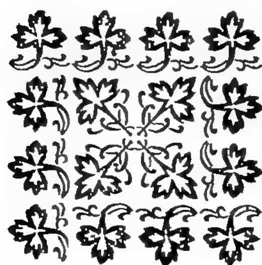
पहले ये मित्र मीठी मीठी बातें करते थे । अपने मित्र के पसीने के स्थान में अपने प्राण देने को उद्यत थे अब ये मित्र के प्राणों के ग्राहक बन गये हैं । यह कैसा उलट फेर ? जो बातें नहीं कहनी चाहियें, उनको ये कह रहे हैं, मानों अपना खंडन आप कर रहे हैं । जो मनुष्य पहले कुछ कहे वह अपनी बात का आप खडन करने के कारण विश्वासपात्र नहीं हो सकता । विश्वास खो जाने से मनुष्य का मान नहीं रहता। मान खोने से तो मृत्यु ही भला है—

सभावितस्य चाकीतिर्मरणादतिरिच्यते

सम्मानित के मान का न रहना मौत से भी अधिक दु:खदायी है ।

अत. मित्र बनकर पीछे शत्रु बनना अपने हाथों अपनी मौत करना है।

विषयों में जब मनुष्य अति मात्र फस जाता है, तो उनमे अरुचि होने लगती है । मानों वे एक वाणी से अपना तिरस्कार कर रहे हैं।



सत्य त्रिकालाबाधित

ओ३म्। स हि सत्यो य पूर्वेचिद् देवासश्चिद्य मीधिरे ।
होतारं मन्द्रजिह्वमित्सुदीतिभिर्विभावसुम ॥ ऋ० ५।२५।२॥

(हि) सचमुच (सः) वह (सत्य.) सत्य है (यम्) जिस (होतारम) महादानी (मन्द्रजिह्वम्) वाणी को मस्त कर देने वाले (विभावसुम्) प्रकाश, सपत्ति वाले को (इत्) ही (पूर्वे+चित्) पूर्ववर्त्ती विद्वान् भी (सुदीतिभीः) उज्जवल प्रकाशों के द्वारा (ईधिरे) प्रकाशित करते हैं और (यम्) जिसको (देवासः+चित्) निष्काम् विद्वान भी प्रदीप्त करते हैं ।

इस मन्त्र में भगवान् को सत्य=त्रिकालाबाधित कहा गया है । वेद कहता है,

सहि सत्यः=वही सत्य है ।

प्रकृति सत्य है, सदा रहती है । किन्तु परिणामिनी है, शक्लें बदलती हैं । बहुरुपिये की भांति नानारूप धारण करती रहती है । अभी एक रूप में है, दूसरे क्षण में दूसरा रूप है । मुग्ध जन धोखा खा जाते हैं, वह समझते हैं, पहले रूप वाली और थी, यह और है । मानों तीनों कालों में एक न रही । दार्शनिकों ने प्रकृति को धर्म्म लक्षण-अवस्था परिणाम वाली माना है । मिट्टी ले लो, इसे कूट पीट कर घड़ा बनाया । मिट्टी का ढेलापन रूपी धर्म्म दूर हुआ और घड़ा रूपी धर्म्म आया । ढेले में और घड़े में भेद है । बालक ढेले और घड़े को एक नहीं मान सकता । कोई ज्ञानी ही जानता है कि ढेले और घड़े दोनों में मिट्टी जुदा नहीं है ।

जीव अभी सुखी है । पुत्र कलत्र मित्र के संग बैठा मौज मार रहा है । अब वही रो रहा है । सुख दुःख हर्ष शोक आदि द्वन्द्वों से अभिभूत होने के कारण अनन्य होता हुआ भी जीव अनन्य प्रतीत हो रहा है ।

भगवान् तो कूटस्थ है, उनमें धर्म्म लक्षण, और अवस्था के परिणाम होते ही नहीं । वह सदा एक रस रहता है । वह आप्त काम है, अकाम है । कामनाओं से आक्रान्त ही क्रान्त हुआ करता है । वह अथर्व वेद के शब्दों में 'न कुतश्चनोन'—कहीं से भी त्रुटि वाला नहीं है । कोई कामना न होने से उसे हर्ष शोक व्यापते ही नहीं । अतः वही सत्य है । अतः वही सत्य है=सदा 'एक रस है । सत्य स्वरूप, सत्य ज्ञानी सत्यवादी और सत्यकारी है ।'

वह सत्य स्वरूप ऐसा है कि—

य पूर्वेचिद् देवासश्चिद्यमीधिरे

जिसे पूर्ववर्त्ती विद्वान तथा निष्काम ज्ञानी प्रकाशित करते हैं ।

सदा सर्वत्र सर्वथा विद्यमान भगवान् प्राकृत मनुष्य को प्रतीत नहीं हो रहा। वह इन आखों से उसे देखना चाहता है। जो उसके दृष्टिगोचर न हो, उसकी सत्ता मानने को वह तय्यार नहीं। बेचारा भटक रहा है। कारुणिक ब्रह्मनिष्ठ आता है और उसे समझाता है—ओ भोले! क्यों भटक रहा है। आखों का जो विषय नहीं, इन्द्रियों से जो गृहीत नहीं हो सकता, उसे क्यों कोई इन्द्रियों द्वारा जानने का हठ कर रहा है। अरे भाई! वह तो—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् (कठो. १.३ १५)

शब्द रहित है अतः वह कान का विषय नहीं हो सकता, उसमें स्पर्श गुण नहीं है, वह त्वगिन्द्रिय से कैसे प्रतीत हो, वह रूप रहित है अतः आख उसे कैसे देखें, रसना कैसे चखे, गन्ध की सत्ता वहा है नहीं, नाक से कैसे ज्ञान हो। वह सदा एक रस है।

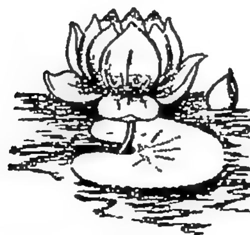
देख। आख से सभी रूपी पदार्थों को लोग देखते हैं, किन्तु क्या आख को भी देख पाते हैं? तथापि आख की सत्ता का अपलाप कोई नहीं करता। उसे ज्ञानी ध्यानी ही देख पाते हैं—

नित्य विभु सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मु. १।१।६)

उस नित्य सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म, अविकारी, वस्तुमात्र के अधिष्ठान भगवान् को धीर ही सर्वथा देखते हैं।

धीर=धी+र=बुद्धिमान् विद्वान् ज्ञानवान् कहो, देव कहो। एक बात है।

विद्वान् ही उसे जानते और वह उसका प्रकाश करते हैं।



६९

त्रिकालज्ञ

ओ३म् । अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वां अभि पश्यति ।

कृतानि या च कर्त्वा ॥ ऋ० १।२५।११

(अतः) इस कारण, वह सब से स्वीकरणीय भगवान् (विश्वानि) सभी (अद्भुता) अद्भुत, अभूतपूर्व पदार्थों को (चिकित्वान्) जानता हुआ (कृतानि) किये हुए पदार्थों को (च) और (या) जो (कर्त्वा) किये जाते हैं उन सब को (अभि+पश्यति) सम्मुख देखता है ।

जितनी सृष्टि है, भगवान् उसे जानता है, जो थी, उसे भी जानता था और जानता है । भावी सृष्टि का भी उसे ज्ञान है, इसका एक हेतु इसी मन्त्र में दिया है—

विश्वान्यद्भुता चिकित्वान्

सम्पूर्ण अद्भुत विलक्षण पदार्थों को जानता है ।

अर्थात् सर्वज्ञ है । 'सर्व' से भूत भविष्यत् तथा वर्त्तमान तीनों आते हैं । ईश्वर की दृष्टि में तो कोई भूत भविष्यत् आदि नहीं है । ईश्वर का ज्ञान सदा रहता है । ऋषि दयानन्द ने बहुत ही सुन्दर कहा है—

"ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है, क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल और न होके होवे वह भविष्यत्काल कहलाता है । क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है ? इस लिये परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस अखण्डित वर्त्तमान रहता है । भूत भविष्यत् जीवों के लिये है । हां । जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं ।" (स. प्र. ३०४ श. स.) मन्त्र में त्रिकालज्ञता का जो निरूपण है, वह जीवों की अपेक्षा से है । चूंकि वह सब को जानता है । अतः

अभि पश्यति कृतानि या च कर्त्वा ।

जो किये जा चुके और जो किये जाने हैं, उन सब पदार्थों को सम्मुख ही देखता है ।

इस सम्मुख दर्शन का हेतु इस से पूर्व मन्त्र में कहा गया है—

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा । साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ ऋ० १।२५।१०

नियमों का धारक, श्रेष्ठ कर्मा, वरणीय भगवान् साम्राज्य के लिये=एक रस प्रकाश के लिये प्रजाओं में, प्रकृति तथा जीवों में पूर्णरूप से निरन्तर और नितरां रहता है ।

सभी स्थानों में रहता है, ज्ञानवान् है, सर्वत्र है । और साथ ही है 'सुक्रतु'=उत्तम कारीगर, श्रेष्ठकर्त्ता । सीधा सीधा भाव निकला कि वही सृष्टिकर्त्ता है । तब उसे अपनी कृति का ज्ञान क्यों न होगा । वह कालातीत है । नित्य में काल की कल्पना असम्भव ! किन्तु शरीरस्थ जीव की अपेक्षा तो भूत भविष्यत् काल है । शरीरस्थ जीव के तीन काल और उस का एक काल या वह अकाल ।

'सुक्रतु' शब्द तो एक रहस्य का भण्डार है । भगवान् श्रेष्ठ, उत्तम भले कर्म ही करता है । उसकी कृति में, रचना में कोई दोष नहीं हो सकता । हमारे दृष्टिदोष के कारण ही हम को दोष प्रतीत होते हैं ।

वह भगवान् धृतव्रत है । नियमों का निर्माता ही नहीं, वरन् वह नियमों का धारण करने वाला भी है, अतः वह वरुण है, चाहने योग्य है, आदर्श है ।

अभिमानी भगवान् को न दबा पाते

न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम् ।
न देवमभिमानय. ॥ ऋ० १।२५।१४

(दिप्सव.) दबाने की इच्छा वाले (यम्) जिसको (न) नहीं (दिप्सन्ति) दबा सकते, और (न) न ही (जनानाम्) लोगों के (द्रुह्वाण.) द्रोही उसे दबा पाते हैं और (न) न ही (देवम्) जिस भगवान् को (अभिमानयः) अभिमानी जन दबा सकते हैं ।

ससार में शक्ति का तारतम्य दीखता है । प्रबल दुर्बलों को दबाते दीखते हैं, जड़ चेतन सभी पदार्थों में यह दृश्य देखने को मिलता है । 'धनवान् निर्धन को दबाता है, सताता है । राजा प्रजा को दबाता है । ज्ञानी अज्ञानी को दबाता है । सूर्य पृथिवी को अपने आकर्षण विकर्षण के बल से दबा रखे हुए है । चन्द्र को पृथिवी अपने आकर्षण से अपने चारों ओर घुमाने पर विवश कर रही है । चन्द्र समुद्र को क्षुब्ध करता रहता है । समुद्र तीर को तोड़ता रहता है । आग पानी को सुखाती रहती है। पानी आग को बुझाता रहता है । आंधी का रूप धर वायु वृक्षों को उखाड़ता गिराता रहता है । चट्टान नदी के प्रवाह को रोक रही है । नदी का जल चट्टान से टकरा कर उसे टुकडे टुकडे कर रहा है ।

विचारने से प्रतीत होता है, इस संसार में सर्वत्र द्वन्द्व मचा हुआ है बल के अभिमान में चेतन जीव महा बलवान भगवान् से भी होड़ लेने लगता है । वेद कहता है—

न य दिप्सन्ति दिप्सव'

दबाने की इच्छा वाले जिसे नहीं दबा पाते । कैसे दबा पायें ? वह सब से अधिक बलवान् है, उस

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि ॥ ऋ० १।२४।१०

वरुण=आदर्श भगवान् के व्रत=नियम अटल हैं । तभी

विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥ ऋ० १।२४।१०

विविध प्रकाश करता हुआ चन्द्रमा रात को आता है ।

है किसी की सामर्थ्य, जो चन्द्रमा से दिन में प्रकाश कराये ? सारा बल लगालो, चन्द्रमा रात्रि में ही उदय होगा । इस छोटे से नियम को नही बदल सकते हो तो उसे कहा दबा पाओगे ?

अतएव—न द्रुह्वाणो जनानाम्=जनता के द्रोही भी न दबा सकते ।

जब सृष्टि नियम तोड़ने के साहसी उसे नहीं दबा पाते तो साधारण जनता के, उत्पन्न हुए हुओं के विरोधियों की क्या मजाल ? जिसको नहीं दबा पाते, वह देव कैसा है—

स नो विश्वहा सुक्रतुरादित्य. सुपथा करत् प्र ण आयूषि तारिषत् ॥ ऋ० १।२५।१२

वह सुक्रतु आदित्य=अखण्ड भगवान् हमारे लिये सुपथ=सुमार्ग बनाता है । वही हमारे ज्ञान. और आयु को बढाता है । जो आदित्य है, अखण्ड है, उसका खण्डन कौन कर सकता है ?

उस ने तो वेद रूप सुपथ बना दिया । चलना न चलना या उसके उलटा चलना मनुष्य के हाथ में है । अभिमानी क्या अभिमान करके इसका अनादर करता है ?

तू परम धन देता है

ओ३म । त्वमग्ने उरुशंसाय वाघते स्पार्हं यद्रेक्णः परमं वनोषि तत् ।
आध्रस्य चित्प्रमतिरुच्यसे पिता प्र पाकं शास्सि प्रदिशो विदुष्टरः ॥ ऋ. १।३१।१४

हे (अग्ने) सर्वोन्नतिसाधक परम पिता परमेश्वर । (यत्) जो (स्पार्हम्) चाहने योग्य (परमम्) परम, सबसे अच्छा (रेक्णः) धन है, (तत्) वह (त्वम्) तू (उरुशंसाय) अत्यन्त प्रशंसनीय (वाघते) उपासक को (वनोषि) सम्मान सहित देता है । तू (आध्रस्य) दुर्बल का (विदुष्टरः) अधिक ज्ञानी (पाकम्) पवित्रात्मा को (प्र+दिशः) उत्तम उपदेश [ईश्वरादेश] (प्र+शास्सि) अच्छी तरह सिखाता है ।

भगवान् की उपासना का, पूजा का फल बताया है । प्राणिमात्र संग्रह में तत्पर है । पिपीलिका से लेकर बुद्धिमद्वरिष्ठ मनुष्य तक सभी संचय में निमग्न हैं । सभी को धन की आशा है । धन के बिना सभी को निधन=मृत्यु दिखाई देता है । धन को तृप्ति का साधन समझा जाता है । अन्न वस्त्र पशु, गृह तथा अन्य संपत्ति सभी धन हैं । पिपीलिका अन्नकण चयन में लीन है, ऐसे ऋतु में जब बाहर निकलना असंभव सा हो जायेगा, उसके लिये प्रबन्ध करने की चिन्ता में वह दिन रात घूमती है । मनुष्य को भी अपनी वृद्धावस्था, आतुरावस्था एवं परिवार परिजन के रक्षण की व्यग्रता है । आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य जन्तुओं की अपेक्षा मनुष्यों की आवश्यकताएं भी अधिक हैं । अतः मनुष्य का संचय भी अधिक और विलक्षण होता है । जो धन तृप्ति का साधन होना चाहिये था, जिसके अभाव में निधन प्रतीत होता था, उसके प्राप्त होने पर तृप्ति न होकर लालसा बढ़ जाती है, और अब मनुष्य के लिये धन नहीं रहता, वरन् धन के लिये मनुष्य हो जाता है । कितनी भयङ्कर विडम्बना है !!! किन्तु ज्ञानी मनुष्य तो इस धन को निधनवान मानकर इस से ऊपर उठता है । क्योंकि उसके मन में

यो ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा, उभे ह्येते एषणे एव भवतः ॥
बृहदा० ४।४।२२

जो पुत्रैषणा=पुत्र की कामना है, वही भी वित्तैषणा=धन की लालसा है जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा=सामाजिक मान बड़ाई की इच्छा है । ये दोनों पुत्रैषणा तथा लोकैषणा एषणा ही हैं ।

पुत्र कलत्र भी मनुष्य तृप्ति के लिये ही चाहता है उनसे जब तृप्ति नहीं होती, उनसे पहली पहली तारतम्य देखकर उनसे निर्विण्ण होकर उस धन की कामना करता है, जिसमें वृद्धि ह्रास नहीं होते जिसके सम्बन्ध में कहा गया है—

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन । बृहदा० ४।४।२३

ब्राह्मण के धन की यह बड़ाई है कि न वह कर्म से बढ़ता है और न घटता है, 'उसी को ही यह प्राप्त समझना चाहिए जो प्राप्त करके पाप कर्म से लिप्त न हो।

वही स्पार्ह परम रेक्ण=चाहने योग्य परम धन है।

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति (बृहदा० ४।४।२२)

ब्राह्मण लोक इसी को वेद के अनुवचन द्वारा, यज्ञ के द्वारा, दान और तप के द्वारा, जानना चाहते हैं। जो इसे जान लेता है, वह मुनि हो जाता है, चुप हो जाता है।

वेद स्पष्ट कह रहा है कि यह धन—

उरुशंसाय वाघते=अत्यन्त प्रशंसनीय उपासक को मिलता है।

जब मनुष्य अपने आप को दुर्बल मान कर उसकी शरण में जाता है, तब वह पिता की भांति उसकी सार सभार करता है—

आध्रस्य चित्प्रमतिरुच्यसे पिता=तू दुर्बल का तो रक्षा करने, चिंतने वाला पिता कहाता है।

इतना ही नहीं, जो अनन्य भाव से उसे प्राप्त करता है, उस

प्र पाक शास्सि प्रदिशो विदुष्टर=पवित्रात्मा को तू अतिज्ञानी सब उत्तम आदेशों का उपदेश कर देता है।

अर्थात् ज्ञान की गहराइयों तक लेजाकर उसे सब आत्मिक, जागतिक विधानों का ज्ञान करा देता है। इससे बढ़ कर और क्या धन हो सकता है?



ऋषि बनाने वाला

ओ३म् । इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात् ।

आपि पिता प्रमति सोम्यानां भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम् ॥ ऋ० १।३१।१६ ॥

हे (अग्ने) ज्ञानदात: । (न:) हमारी (इमाम्) इस (शरणिम्) त्रुटि को (मीमृष:) सहन ही कर जा (यम-इमम) जिस इस (अध्वानम) मार्ग को हम (दूरात्) दूर से, कठिनता से (अगाम) प्राप्त हुए हैं। तू (आप) प्राप्त करने योग्य बन्धु (पिता) पिता (सोम्यानाम) शान्ति के अभिलाषियों का (प्रमति) चिताने वाला, सार सभाल करने वाला तथा (भृमि:) ससार चक्र को चलाने वाला और (मर्त्यानाम) मरण धर्माओं को (ऋषिकृत) ऋषि बना ने वाला (अग्नि) है।

अल्पज्ञता के कारण प्रकृति के मोहक जाल में फस कर जीव परमात्मा से दूर चला जाता है। जिस लालसा से जाल में फसा था, वह पूरी न हुई। प्रकृति का मोहक जाल इन्द्रजाल, मृगमरीचिका ही प्रमाणित हुआ। अपने बन्धु को भूल चुका था। सुकृत जागे, ज्ञानी गुरु से मेल हुआ, उसने बताया, अरे, तुम बहुत दूर जा पड़े। तद् दूरे (य ४०।५) वह बहुत दूर है। घबराया, किन्तु शान्त, दान्त, उपरत तितिक्षु और समाहित हुआ चल पड़ा। गिरता पड़ता भगवान के द्वार पर पहुँचा और कहने लगा—

इमामग्ने शरणिं मीमृषो न =हे गुरो। हमारी इस भूल को सहन करो।

क्यों ?

इममध्वानं यमगाम दूरात्=इस रास्ते पर हम दूर से आये हैं।

दूर के मार्ग से आने में अनेक कष्टों एव भूलों का होना स्वाभाविक है। हम से जो भूलें हुई हैं, उनके लिये हमें पश्चात्ताप है। प्रभो ! तू बल दे, हम फिर वैसी भूल न करें, तेरा मार्ग न छोड़ें। तेरी शरण में इस वास्ते आये हैं कि तू—

आपि. पिता प्रमति सोम्यानाम

शान्ति के अभिलाषियों का तू ही प्राप्तव्य बन्धु तथा सुध लेने वाला पिता है।

शान्ति की खोज में हम बहुत भटके हैं। ऐसे भटके हैं कि शान्ति के स्थान में उलटा अशान्ति का आगार बन गए हैं। ज्ञानीगुरु ने बताया- जगत्पिता की शरण में जाओ।

क्योंकि पिता से बढ़ कर सन्तान का रक्षक और कौन हो सकता है ? अत हम तेरी शरण आये हैं। क्योंकि तू

भूमिरस्यृषि कृन्मर्त्यानाम्

ससार चक्र का चलाने वाला तथा मनुष्यों को ऋषि बनाने वाला है।

साक्षात्कृतधर्म्याण ऋषयो वभूवु (नि)

पदार्थों के धर्म्मों का जिन्हें साक्षात्कार होता है, वही ऋषि होतेहैं।

जो तेरी शरण में आता है, उसका अज्ञानान्धकार हटा कर तू उसे ऋषि बना देता है। हम तेरी शरण आये हैं। हमें भीऋषि बना और अपना आपा दिखा।

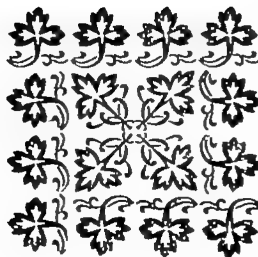
प्रभो! तूने स्वय कहा है—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्ट देवेभिरुत मानुषेभिः।

यं य कामये तं तमुग्र कृणोमि तं ब्रह्माण तमृषिं त सुमेधाम्। १।१२५।५

मैं स्वय ही विद्वान् और साधारण जनों के प्रीतिसाधक इस वचन को कहता हूँ, कि जिस जिस को चाहता हूँ उस उस को उग्र, उस को वेदवेत्ता, उसको ऋषि तथा उसको सुमेधाः=उत्तममेधावी बना देता हूँ।

पिता! तू मुझे भी चाह, और ऋषि बना तू जिस तरह मुझे चाहने लगे, मुझे वह राह बता और उस पर चला,



७३

दौड़ कर भगवान् को मिलता हूं

ओ३म् । उपदेहं धनदामप्रतीतं जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि ।

इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैर्यः स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन् ॥ ऋ० १।३३।२

(न) जिस प्रकार (श्येनः) श्येनपक्षी=बाज (जुष्टाम्) प्रीति पूर्वक सेवित (वसतिम्) ठिकाने को [उड़ कर जाता है तद्वत्] (अहम्) मैं (इत्) भी (धनदाम्) प्रीतिसाधनों के दाता (अप्रतीतम्) इन्द्रियों से प्रतीत न होने वाले अप्रति-इतम्=अनुपम, अजातशत्रु (इन्द्रम्+उप) अज्ञाननाशक भगवान् के पास (उपमेभिः) उपमायोग्य (अर्कैः) वेदमन्त्रों के द्वारा (नमस्यन) नमस्कार करता हुआ (पतामि) उड़ कर जाता हूँ, (यः) जो भगवान् (स्तोतृभ्यः) स्तोताओं के लिये (यामन) प्रतिदिन (हव्यः) पुकारने योग्य (अस्ति) है ।

श्येनादि पक्षी किसी वृक्ष पर अपना ठिकाना बना लेते हैं। प्रयोजनवश ठिकाने से बाहर जाते हैं, फिर उड़ कर उसी अपने अपने ठिकाने पर आ जाते हैं। जीवों का ठिकाना परमात्मा है, कहा है—

वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्ये (ऋ १।४६।१)=दूसरे अग्नि=जीव, हे परम अग्ने । तेरे वय=आश्रित ही हैं ।

तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवाः (अ १०।७।३५)=सभी देव तुझ में ही आश्रित हैं ।

भगवान् सब से महान् है, यह जगत् समस्त का समस्त उसी के आश्रय रहता है, किन्तु अज्ञान के कारण वैसा समझता नहीं ।

संसार में आने से पूर्व उसी परमाश्रय ब्रह्म में ही मैं रहता था क्योंकि तब तो प्रकृति से किसी भी प्रकार का उस का सबन्ध नहीं था, ब्रह्मानन्द में निमग्न था । ऋषियों का कहना ऐसा ही है—

"जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार पर भोगता है वैसे परमेश्वर के आधार से मुक्ति के आनन्द को जीव भोगता है । वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता—।' (स० प्र० १ पृ० ३६२ श० स०)

"मुक्त जीव स्थूल शरीर छोड़ कर संकल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं ।" स० प्र० १ पृ० १३५६ श० स०)

"शरीररहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है ।" (स० प्र० १ पृ० ३५६ श० स०)

"जो ब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण है उसी में मुक्त जीव अव्याहतगति [अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं] विज्ञान-आनन्द पूर्वक स्वच्छन्द विचरता है ।" (स० प्र० ३५६ श० सं०)

मुक्ति से छूट कर संसार में आया था पुनः मुक्ति के साधन करने. किन्तु लग गया भुक्ति=भोग के साधन जुटाने । ऋषि कहते हैं—जहां भोग, वहां रोग' (स० प्र० १ पृ० ३६७ श० स०)

विरक्त भर्तृहरि ने भी कहा है—**भोगे रोगभयम्** भोग में रोग या शोक का भय लगा हुआ है । मैं भोग में फंस कर रोगशोक के जंजाल में पड़ गया । भूल गया मैं अपने असली ठिकाने को, सच्चे देश को और सुख अपने स्वदेश की तब,

उपदेहं धनदामप्रतीतं जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि ।

मैं श्येन की भाति उड कर अपने प्यारे ठिकाने, इन आखों से दिखाई न देने वाले धनदाता के पास उड कर आता हू ।

अब तो व्यग्रता है, धीरे धीरे चलने से काम नहीं बनता दीखता, अतः उड कर आता हूं ! वह मेरी '**जुष्टा वसति**' है । अनेक बारप्रेम पूर्वक उस ठिकाने का मैंने सेवन किया हैं । अब भी वहीं आऊगा ।

वहा जाने का उपाय—

इन्द्र **नमस्यन्नुपमेभिरर्कैः**=उपमायोग्य स्तावक वेदमन्त्रों से उस अज्ञानवारक को नमस्कार करता हुआ उडता हूँ ।

भगवान् को भूलने से भवभय बाधा देता है । उस का स्मरण चिन्तन ध्यान सब बाधाओं के बाध तोड देता है ।

नही

स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन्

इस मार्ग में स्तोताओं के लिये वही पुकारने योग्य है । दूसरा नहीं, तभी तो उपनिषत् ने कहा—

अन्या वाचो विमु चथ (मु० २।२।५)=दूसरी बातें छोड़ो ।

आओ । दूसरी बातें छोड़ ही दें ।



देवत्व का साधक

[illegible]

अर्थात् जैसा कर्म्म तथा आचरण होता है वैसा हो जाता है, भला करने वाला भला होता है, पाप करने वाला पापी होता है। पुण्य कर्म्म से पवित्र होता है। पाप कर्म्म से मलिन। कहते भी हैं—'यह जीव काममय है।' जैसी कामना वाला होता है वैसी बुद्धि वाला हो जाता है, जैसी बुद्धि से युक्त होता है वैसा कर्म्म करता है, जैसा कर्म्म करता है वैसा बन जाता है।

वेद के 'क्रतुं जुषन्त' की कैसी मनोरम व्याख्या है। तात्पर्य स्पष्ट है—जैसा चाहो बन जाओ।

भगवान् के कर्म्मों का अनुसरण क्यों करें? क्योंकि शुष्काद् यद्देव जीवो जनिष्ठाः=इस नीरस संसार से तू जीवनमय प्रकट हुआ है।

अर्थात् इस सूखी प्रकृति में जीवन डालने वाला जीवनाधार परमात्मा ही है।

देव बनना चाहते हो तो सूखे जगत् में तुम भी जीवन डालने वाले बनो।

२ भजन्ते· ' ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः

वे ज्ञान कर्म्म द्वारा ऋत और अमृत का सेवन करते हैं।

जब देव सत्य है, तब वे अवश्य ऋत का सेवन करेंगे ही। कहा भी है—

ऋतस्य देवा अनुव्रता गु (ऋ १।६५।२)=देव ऋत के व्रतों=नियमों के अनुकूल चलते हैं।

उन का उठना, बैठना चलना फिरना आहार व्यवहार सब ऋत के अनुसार होता है। ऋत के अनुसार चलने से वे अमृत=मुक्ति प्राप्त करते हैं और देवत्व नाम धारण करते हैं।

प्रसङ्ग से यहां यह बात सुझाना परमावश्यक है कि 'देव' कोई विलक्षण योनि नहीं। यास्काचार्य्य के 'देवो दानात्' [देने वाला देव होता है] वचन को कभी नहीं भूलना चाहिए। इस दृष्टि से ब्रह्म से तुच्छ तृणपर्य्यन्त सभी पदार्थ देव हैं। किन्तु यहां मनुष्यों में सर्वोच्च कोटि वाले देव कहलाते हैं।



कर्म्म की मुख्यता

ओ३म्। शुक्रः शुशुका उषो न जारः पप्रा समीची दिवो न ज्योतिः।
परि प्रजातः क्रत्वावभूथ भुवो देवाना पिता पुत्रः सन्॥ ऋ १।६६।१

[उष+जार न] उषा को समाप्त करने वाले सूर्य की भांति [शुक्रः] शुक्र ने [शुशुकान्] सब कुछ सुखा दिया और [दिवः+ज्योतिः+न] सूर्य्यके प्रकाश की भांति [समीची] द्यावापृथिवी को [पप्रा] तू ने भर दिया। तू [क्रत्वा] कर्म्मों के कारण [परि] सर्वत्र [प्रजातः] उत्तमरीति से प्रकट, प्रकाशित, प्रसिद्ध [बभूथ] होता है। [पुत्र+सन्] पुत्र होता हुआ [देवानाम्] देवों का, इन्द्रियों का [पिता] पिता, पालक [भुवः] है।

सूर्य उषा को समाप्त कर देता है। शुक्र=शुद्ध-कर्म्म-परायण जीव-शुक्र-अपने सामर्थ्य से पापों को सुखा देता है। सूर्य अपने प्रकाश से द्यावापृथिवी को भर पूर करदेता है, जीव भी अपनी यशोज्योति से दोनों को प्रकाशित कर देता है। जन्म होना कर्म्माधीन है। परि प्रजात. क्रत्वा बभूथ=कर्म्मों के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध हो रहा है। कर्म्म की इस प्रबलता को चौथे चरण मे खोलकर कहा है—

भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्=पुत्र होता हुआ भी देवों का पिता हो गया है।

शरीर के साथ सम्बन्ध होना जन्म लेना है। सामान्य रीति से जन्म लेने पर जीव किसी का पुत्र बनता ही है। आत्मा का जन्म हुआ, वह पुत्र बना, किन्तु उसके कर्म्मों की महिमा देखो, वह देवों का=इन्द्रियों का पिता बन गया है। इन्द्रियों की रक्षा जीव ही करता है। यदि आत्मा शरीर को छोड जाये, तो आख, नाक, कान आदि कोई भी इन्द्रिय वहा नहीं रहेगी। वेद मे कहा भी है—

यस्य प्रयाणमन्व न्यइ द्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा [य. ११।६]
जिस वेद=आत्मदेव के प्रयाण=शरीरत्याग के साथ दूसरे देव=इन्द्रिया मानो हठात् प्रयाण कर जाती हैं।

वैदिक धर्म्म की यह सब से बड़ी विशेषता है। इसका कर्म्म-सिद्धान्त मनुष्य मात्र के लियेसान्त्वना का हेतु होता है। इससे उसे अपने ऊपर भरोसा करना आता है, और वह पुरुषार्थमय जीवन बिताने में आनन्द मानता है। जो पुत्र को देवों का बाप बना दे, वह अवश्य उपादेय और अनुष्ठेय है।

वेद में कर्म्म की मुख्यता इसी से समझ लीजिये कि मरणोन्मुख मनुष्य को भगवान् कर्म्म स्मरण करने का आदेश कर रहा है—कृत स्मर [य० ४०।१५]=मरने वाले। अपने किये को याद कर।

मरता समय तड़प रहा है, हाथ पैर पटक रहा है। कोई कोई भगवान् को उपालभ भी देते हैं। भगवान् कहते हैं. मुझे उपालभ भी मत दो। अपने कर्म्म को स्मरण करो। पुत्र मित्र कलत्र सर्वत्र साथ नहीं देता। मृत्यु मे इनमें से भी कोई सग नहीं चलता। सभी यहीं रह जाते हैं। तब जीव को अकेला जाना होता है। हा सर्वथा अकेला नहीं होता, कर्म्म साथ होते हैं। वैदिक कहते हैं—

कर्म्मानुगो गच्छति जीव एक.

कर्म्म से अनुगत जीव परलोक मे अकेला चल रहा है।

यात्रा मे साथी का होना अच्छा। अकेला होने मे डर लगता है। किन्तु साथ भी अच्छा होना चाहिये। साथ जाते हैं कर्म। कर्म्म यदि बुरे हुए. तो भय लगा रहेगा अत. उत्तम कर्म्मों ऋतु=यज्ञों को साथ ले चलने का प्रबन्ध करने चाहिए फिर निर्भय यात्रा होगी।

देवत्व के कारण अग्नि सब का अधिकारी

ओ३म् । पुत्रो न जातो रण्वो दुरोणे वाजी न प्रीतो विशो वितारीत् ।
विशो यदह्वे नृभि: सनीळा अग्निर्देवत्वा विश्वान्यश्या ॥ ऋ० १।६६।३

(पुत्र—न) पुत्र की भांति (जात) प्रकट होकर (दुरोणे) घर में (रण्व) आनन्द देने वाला है, अग्नि (वाजी—न) वेगवान ज्ञानी की भांति (प्रति) प्रसन्न हुआ वह (विश) प्रजाओं को (वितारीत्) विशेष रूप से तार देता है, (सनीळा.) सामानस्थान वाली (विश) प्रजाओं को (यत्) चूंकि (नृभि) नेताओं के साथ वह (अह्वे) चाहता है, इस (देवत्वा) देवत्व के कारण (अग्नि') अग्नि (विश्वानि) सब को (अश्या) प्राप्त करता है।

विद्वान् की महिमा का बखान है। किसी के घर में पुत्र की उत्पत्ति पर जो हर्ष होता है, राष्ट्र में विवेक जनों को किसी विद्वान् के आगमन, यश कीर्त्ति से उल्लास होता है। आपद् विपद् में पड़ी प्रजा को वह तार देता है। उसका सब से बड़ा गुण यह होता है कि वह

विशो यदह्वे नृभि. सनीळा=नेताओं के साथ सारी प्रजाओं से प्रेम करता है।

केवल प्रजा से प्रेम करे, तो नेता बिगड़ें, और नेताओं ही के साथ गोष्ठी करता रहे तो प्रजा रुष्ट हो जाती है। सचमुच नरपतिहितकर्त्ता और प्रजा प्रेमी कोई विरला ही होता है। किन्तु जो नेताओं और प्रजाओं दोनों से प्रेम करे, वह **अग्नि**=वास्तविक अग्रणी=नेता है। इसके नियमों की व्यवस्थाओं को कोई नहीं तोड़ता—

नकिष्ट एता व्रता मिनन्ति नृभ्यो यदेभ्या श्रुष्टिं चकर्थ ऋ० १।६६।४

चूंकि वह इन नेताओं का भी भला करता है, अत वे इन नियमो का उल्लघन नहीं करते।

साधारण प्रजा तो प्राय शान्तस्वभाव होती है। अग्रणी नेता का कर्त्तव्य है कि वह इनका भी कल्याण करे, अन्यथा उसके कार्य्य में विघात होगा। ऐसा

अग्निर्देवत्वा विश्वान्यश्या

अगुआ दिव्यगुणो के कारण सभी का अधिकारी होता है। तभी मनु ने कहा है—

सैनापत्य च राज्य च दण्डनेतृत्वमेव च। सर्व लोकाधिपत्यच वेदशास्त्रविदर्हति ॥ (मनु १२।१००)

वेदशास्त्र जानने वाला सेनापति का कार्य्य, राज्य, दण्डव्यवस्था, सपूर्ण ससार के आधिपत्य के अधिकार के योग्य है।

हमारे यहा नेतृत्व वेदवेत्ताओं का ही माना गया है, जैसा कि मनु जी कहते हैं—

एकोपि वेदविद्धर्मं य व्यवस्येद् द्विजोत्तम' ।
स विज्ञेय' परो धर्मो नाज्ञाना मुदितोऽयुतै' ॥ (मनु १२।११३)

अकेला भी वेदवेत्ता सन्यासी जिसे धर्म्म कहे उसे परम धर्म्म मानना चाहिये, न कि हजारों मूर्खों के कथन को।

ऐसा वेदवेत्ता ही अग्नि=अग्रणी=नेता होता है। क्योंकि वह सब को धर्म्मपथ पर ले चलता है।

जिनकी वाणी गण्या

ओ३म्। जानन्ति वृष्णो अरुषस्य शेवमुत ब्रध्नस्य शासने रणन्ति।
दिवो रुचः सुरुचो रोचमाना इळा येषां गण्या माहिना गीः॥ ऋ० ३।७।५

वे (अरुषस्य) अहिंसक (वृष्णः) सुखवर्षक के (शेवम्) आनन्द को, निधि को (जानन्ति) जानते हैं (उत) और (ब्रध्नस्य) उस महान् के (शासने) शासन में (रणन्ति) आनन्द करते हैं, वे (सुरुच.) अत्यन्त कान्तिमान्, सुरुचिपूर्ण हैं और (दिव) ज्ञान के (रुचः) प्रकाश से (रोचमानाः) देदीप्यमान होते हैं (येषाम्) जिनकी (गीः) वाणी (माहिना) महत्त्व के कारण (गण्या) गण्य, मान्य और (इळा) प्रशंसनीय हैं।

संसार में एक मनुष्य ऐसे हैं कि सारा सारा दिन चिल्लाया करते हैं किन्तु उनकी बात की ओर कोई भी कान नहीं देता। एक वे हैं जिनकी बात सुनने का संसार सदा लालायित रहता है, उत्सुक रहता है। उनके एक एक वचन को सावधानता और ध्यान से सुना जाता है और गम्भीरतापूर्वक उसकी गहराई तक पहुंचने का यत्न किया जाता है। सचमुच ऐसों की वाणी ही वाणी है। तभी वेद कहता है—

इळा येषां गण्या माहिना गीः=जिनकी वाणी महत्त्व के कारण गण्या तथा प्रशस्या है।

वे सदा सावधान रहते हैं कि उनकी वाणी से किसी को हानि न हो। वे सत्य तो बोलते हैं और सत्य ही बोलते हैं। किन्तु उनका सिद्धान्त है कि

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। (मनु)

सत्य बोले, प्रिय बोले, किन्तु अप्रिय सत्य कभी न बोले।

उन्हें ज्ञात है, तलवार का घाव ठीक हो जाता है, किन्तु

वाक्क्षतं न प्ररोहति=वाणी का घाव नहीं भरता है।

उन्होंने योगियों से सुन रखा है—

"एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात् न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्॥ (यो० द० २।३० व्यासभाष्य)

यह वाणी सब प्राणियों के उपकार के लिये प्रयुक्त की जाती है न कि प्राणियों की पीड़ा के लिये। और यदि यह इस भांति कहीं जाकर प्राणियों की पीड़ा का कारण हो, तो वह सत्य नहीं है, पाप ही है।

अर्थात् सत्य बोलने का प्रयोजन प्राणियों का हित है, यदि यह सिद्धान्त नहीं होता, तो मौन का अवलम्बन करना चाहिये। परोपकार अथवा पराए अनिष्ट में उच्चारण किये वचनों का परिणाम बोलने वाले को भी कभी न कभी भोगना ही पड़ता है। अत. बोलने से पूर्व तोलना चाहिए। सत्यवादिता के अहङ्कार में पापोच्चारण हो जाया करता है। इसका सदा ध्यान रखना चाहिए।

इनकी वाणी के महत्त्व का कारण है क्योंकि वे

जानन्ति वृष्णो अरुषस्य शेवम्=सुखवर्धक अहिंसक भाव के आनन्द को जानते हैं।

सचमुच अहिंसा में जो रस है, आनन्द है, वह हिंसा में कहां? हिंसक को सदा प्रतिहिंसा का भय सताता रहता है। और वे

[२] **ब्रध्नस्य शासने रणन्ति**=महान् भगवान् के शासन में, आज्ञापालन में आनन्द मनाते हैं।

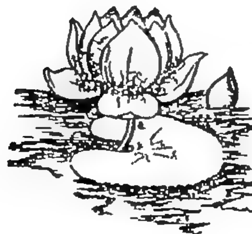
भगवान् के उपदेश तथा सृष्टि-नियम के अनुकूल चलकर वे अपना तथा पराया कल्याण साधते हैं। और इसी कारण

दिवो रुच. सुरुचो रोचमाना=ज्ञान प्रकाश से उत्तम कान्तियुक्त होकर देदीप्यमान रहते हैं।

अहिंसक की दीप्ति और तेज अवर्णनीय होते हैं। पशु तक उनके प्रभाव में आकर वैर छोड़ देते हैं। प्रेम की=अहिंसा की महिमा ही ऐसी है। इसी लिये—वेद में मीठा बोलने का बार बार विधान है।

वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषम (अ. ५।७।४)=मैं प्रीतियुक्त मीठी वाणी बोलता हूं।

अत, साधक! आ तू भी अपनी वाणी को रसीली बना। मीठे बोल से लोगों को अपना, अपना बना। उसके लिए वेदोक्त प्रेमपथ=अहिंसक मार्ग को अपना। और उससे पूर्व अहिंसक भगवान् के शासन में चलना अपने को सिखा। नम्र और अहिंसक तेरा ओज, तेज घटेगा नहीं, बढ़ेगा ही। वह तेरा ओज सर्वाभिभावी होता हुआ भी जनमनहारी होगा।



इन्द्रियां एक दूसरे की सहायता करती हैं

ओ३म् । अध्वर्युभिः पञ्चभिः सप्त विप्राः प्रियं रक्षन्ते निहितं पदं वेः ।
प्राञ्चो मदन्त्युक्षणो अजुर्या देवा देवानामनु हि व्रता गुः ॥ ऋ० ३।७।७

(सप्त–विप्राः) सात विप्र=ज्ञानेन्द्रिया—पाच ज्ञानेन्द्रिया एक मन तथा सातवीं बुद्धिः (पञ्चभिः) पाच (अध्वर्युभिः) अध्वर्युओं=कर्मेन्द्रियों के साथ मिल कर (वेः) परमात्मा के (निहितम्) गुप्त (प्रियम्) प्रिय (पदम्) पद की, प्राप्तव्य की, अधिष्ठान की (रक्षन्ते) रक्षा करते हैं। ये (प्राञ्चः) अत्यन्त गतिशील होकर (उक्षणः) सुखवर्षक (मदन्ति) उन्मत्त होती हैं। (हि) क्योंकि (अजुर्याः) हिंसित न हुई (देवाः) इन्द्रिया (देवानाम्) इन्द्रियों के (व्रता+अनु) व्रतों के अनुकूल ही (गुः) चलती हैं।

इस में चार बातें कही गई हैं जो अत्यन्त सावधानता से मनन करने योग्य हैं।

(१) इस शरीर मे पाच अध्वर्यु हैं। अध्वर्यु उस ऋत्विक् को कहते हैं जो यजुर्वेद के द्वारा कर्म्म कराता है। यजुर्वेद कर्म्मप्रधान वेद है। अतः यहां अध्वर्यु का अर्थ है कर्मेन्द्रिया। मनुष्य जीवन भी एक यज्ञ है।

पुरुषो वा यज्ञः [छा०]=मनुष्य जीवन सचमुच यज्ञ है।

यजमान यज्ञानुष्ठान के लिए अध्वर्यु आदि ऋत्विजों की अपेक्षा करता है इस यज्ञ मे पाच अध्वर्यु=कर्मेन्द्रिया हैं और सात दूसरे विप्र=ऋत्विक्। सात विप्र=पाच ज्ञानेन्द्रिया तथा मन और बुद्धि। यजुर्वेद मे इनको सप्त ऋषि कहा है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। [य ३४. ५५]=सात ऋषि शरीर में रख दिये गये हैं।

[२] इनका काम है—

प्रियं रक्षन्ते निहितं पदं वेः=आत्मा के गुप्त प्रियपद की रक्षा करते हैं।

'वि' का अर्थ है इच्छा वाला। इच्छा चेतन जीव मे सभव है अचेतन जड़ करणों—आख, नाक आदि मे इच्छा नहीं हो सकती। ज्ञानेन्द्रिया कर्मेन्द्रियों के साथ मिल कर आत्मा के अभीष्ट की सिद्धि कर रही हैं। वह अभीष्ट गुप्त है। कौन इसे पहचानता है?

'रक्षन्ति' के स्थान मे 'रक्षन्ते' कह कर वेद एक अद्भुत सूचना दे रहा है। आत्मा के अभीष्ट की रक्षा से ही इनकी भी रक्षा होती है। इनकी सफलता भी तो इसी में है कि आत्मा के अभीष्ट की सिद्धि हो। वास्तव मे वेद ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व सकेत सकेत में सुझाया है। दूसरे की भलाई करने मे वास्तव में अपनी भलाई होती है। अतः दूसरे की भलाई का अवसर मिलने पर भलाई करने से चूकना नहीं चाहिए। जिसका समस्त समय परहित मे लगता हैं, उसके कल्याण की कल्पना तो करो।

(३) **प्रांचो मदन्त्युक्षणः**=उत्तम गतियुक्त होकर सुखवर्षक उन्मत्त होती हैं।

यदि ये बहिर्मुख कर दी जायें, तो बाह्य विषयसुख का हेतु बनती हैं। यदि अन्तर्मुख कर दी जायें, तो अतरात्मा का रस पिलाती हैं।

विषयसुख का हेतु बनती हैं। यदि अन्तर्मुख कर दी जायें तो अंतरात्मा का रस पिलाती है।

(४) अर्जुया देवा देवानामनु हि व्रता गुः

जब ये ठीक ठाक होती है तो एक दूसरे के कार्य्य की साधक बनती हैं। आत्मा का करण होने से ही ये एक दूसरे की सहायक होती है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।५।२१) में इस तत्व को बहुत सुन्दर रीति से सुलझाया है—

अथातो व्रतमीमांसा। प्रजापतिर्हि कर्म्माणि ससृजे। तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त, वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे। द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः। श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रम्। एवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म्म। तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे, तान्याप्नोत्, तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्धत्। तस्मात् श्राम्यत्येव वाक्, श्राम्यति चक्षुः, श्राम्यति श्रोत्रम्। अथेममेव नाप्नोत्, योऽयं मध्यमः प्राणः। तानि ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठः यः संचरँश्चासँचरँश्च न व्यथते, अथो न रिष्यति। हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति, एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्, तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति। तेन ह व तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति॥

अब इन्द्रियकर्म विचार। प्रजापति ने इन्द्रिया बनाईं, बन कर एक दूसरे से स्पर्धा करने लगीं। वाणी ने निश्चय किया कि मैं बोलूंगी ही, आंख ने निश्चय किया—मैं देखूंगी ही। कान ने धारणा की, मैं सुनूंगा ही। इसी प्रकार दूसरी इन्द्रियों ने अपने अपने कर्म का निश्चय किया। मृत्यु ने थकावट का रूप धारण करके उनको पकड़ा। वह उन के पास पहुंचा। उनके पास पहुँच कर मृत्यु ने उन्हें घेर लिया। इस वास्ते वाणी थकती है, आंख थकती है, कान थकता है। किन्तु मृत्यु इस मध्यम प्राण [सब का मध्यस्थ जीवनहेतु आत्मा] को प्राप्त न हो सका। इन्द्रियों ने उसे जानना चाहा। अरे यह हम से श्रेष्ठ है। गति करता हुआ और गति न करता हुआ यह दुःखित नहीं होता, नष्ट नहीं होता। अरे हम सब इसका रूप बनें। वे सभी उसका रूप बन गये। इसी कारण इन इन्द्रियों को प्राण कहते हैं। इस वास्ते जिस कुल में कोई होता है उसको उसी कुल का कहते हैं।

आत्मा का रूप बनने का अभिप्राय है इसकी भांति कार्य्य करना, सचेष्ट होना। जो जिसका रूप होता है वह उस का विरोधी और परस्पर विरोधी नहीं हो सकता। आत्मा के करण आत्मा के देखने सुनने बोलने की शक्ति से युक्त होकर इन्द्रियां आत्मा का रूप बन रही हैं। और इसी कारण अज्ञानी जन इन्हें आत्मा मान कर आत्मा के वास्तविक स्वरूप से वञ्चित हो जाते हैं।



यज्ञ देवप्राप्ति का साधन है

ओ३म् । अयं यज्ञो देवया अय मियेध्य इमा ब्रह्माण्ययमिन्द्र सोमः ।
स्तीर्णं बर्हिरा तु शक्र प्रयाहि पिबा निषद्य विमुचा हरी इह ॥ ऋ० १।१७७।४

(अयम्) यह (यज्ञः) यज्ञ (देवयाः) देव तक पहुँचाने वाला है । (अयम्) यह (मियेध्य) पवित्र करने वाला है। हे (इन्द्र) इन्द्र । (इमा) ये (ब्रह्माणि) मन्त्र, अन्न तथा (अयम्) यह (सोम.) सोम है, हे (शक्र) शक्तिमन् ! (बर्हिः) आसन (स्तीर्णम्) बिछा रखा है। तू (तु) तो (आ+प्र+याहि) आ ही । (निषद्य) बैठ कर (पिब) पी । (इह) यहीं (हरी) हरियों को=घोड़ों को (वि+मुच) खोल दे ।

यज्ञ रचा जा रहा है । आसन बिछा दिया गया है और बुलाया जा रहा है इन्द्र को । इन्द्र चला देव की खोज में । उसे कहते हैं, आ, इस यज्ञ मे समिलित हो । देख—

स्तीर्णं बर्हिरा तु शक्र प्रयाहि=आसन बिछा है तू तो इस पर आ बैठ ।

देव से मिलाने के लिये पवित्रता चाहिये, यह यज्ञ तेरे सारे मल धो देगा, तुझे विमल कर देगा, क्योंकि—

अय यज्ञो देवया अय मियेध्यः=यह यज्ञ देव तक ले जाने वाला तथा यह पवित्र है, और पवित्र से मेल कराता है ।

पवित्र की सगति से ही पवित्रता आयेगी । देव से तू क्यों मिलना चाहता है ? शान्ति के लिये, सोमरस पान के लिये । तो पिबा निषद्य=बैठ कर पी ।

बैठना चञ्चलता हटाने का द्योतक है । खाना पीना बैठ कर ही चाहिये । वैद्य लोग कहते हैं जल बैठ कर पीना चाहिये । और यह तो है सोम । किन्तु एक नियम भी है—

विमुचा हरी इह=सकल्प-विकल्प रूप दो घोड़ों को यहीं खोल दे ।

मनुष्य के चित्त की चचलता का मूल सकल्प और विकल्प हैं । यही मनुष्य को नाना स्थानों में हरण करते हैं, ले जाते हैं । अत इन्हें हरि=घोडे कहते हैं । सभी भाषाओं में संकल्प का घोडा कहा गया है । 'विचार के घोडे पर सवार' 'असपे खयाल' आदि प्रयोग इसके प्रमाण हैं ।

जब तू घोडे छोडेगा नहीं, सकल्प-विकल्प से रहित होगा नहीं, तब तक सोम-पान का लाभ नहीं होगा । स्वास्थ्यशास्त्री कहते हैं, खान पान का समय निश्चिन्त होना चाहिये । उस समय चिन्ता करने से खाया पिया अग नहीं लगता । तो परम भोजन—सोम—का पान करते समय सकल्प-विकल्प का होना कितना अनिष्ट कर सकता है, इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है । सहसा सकल्प विकल्प का छोडना असम्भव प्रतीत होता है । अतः

ये ते वृषणो वृषभास इन्द्र ब्रह्मयुजो वृषरथासो अत्य' ।
ता आ तिष्ठ तेभिरा याह्यर्वाङ् हवामहे त्वा सुत इन्द्र सोमे ॥ ऋ० १.१७७।२

जो तेरे सुखकारी अत्यन्त पुष्ट, सुखमय रथ [शरीर] वाले, ब्रह्मयुक्त ब्रह्म से मिलाने वाले घोडे हैं, उन पर सवार हो, उनके साथ आ । हम सोम के तय्यार होने पर तुझे बुला रहे हैं ।

सकल्प नहीं छूटने, तो उन्हें ब्रह्ममय बना दो । फिर तुम्हें सोम मिलने में विलम्ब न होगा । संकल्प विकल्प छुड़ाने की कितनी सुन्दर युक्ति वेद ने बताई है । सकल्प करना ही है तो ब्रह्ममय कर । मन एक समय एक ही सकल्प करता है । ब्रह्ममय संकल्प से प्रकृतिमय विकल्प विलीन हो जाएगे ।

युवावस्था में गृहस्थ धर्म्म

ओ३म्। पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषावस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः॥ ऋ० १।१७९।१

(अहम्) मैं ने (दोषावस्तोः+उषस) दिन रात और उषाओं को (जरयन्तीः) समाप्त करने वाली (शश्रमाणा) श्रान्त करने वाली, थका देने वाली (पूर्वीः) पहले की (शरद) सरदिया शरदृतुएं [वर्ष] को बिता दिये हैं। (जरिमा) बुढ़ापा (तनूनाम्) शरीरों की (श्रियम्) शोभा को (मिनाति) नष्ट कर देता है (उ) और (पत्नीः) पत्नियां (अपि) भी (नु) तो (वृषणः) वीर्य्यसेचनसमर्थ पुरुषों को (जगम्यु) प्राप्त करती हैं।

आयु का पहला भाग विद्याध्ययनादि तप में लगाया जाता है। विद्याध्ययन के परिश्रम से शरीर श्रान्त हो जाता है। विद्याध्ययन में लगा हुआ न दिन देखता है न रात, न सूझे उसे रात और न सूझे प्रभात। उसका शरीर ब्रह्मचर्य्य विद्याध्ययन रूप तपश्चर्या और कष्ट से दुर्बल है। उस अवस्था में यदि विवाह किया जाये, तो न तो शरीर के धातु परिपक्व हुए हैं, न मन बुद्धि आदि का विद्या से परिपाक हुआ है। बुढ़ापे में भी विवाह अयोग्य है क्योंकि

मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाम्=बुढ़ापा शरीरों की शोभा को नाश कर देता है।

विवाह के समय रूप की भी परख होती है। दांत नहीं रहे, आंखें धस गई हैं, हाथ हिलते हैं, टांगें लड़-खड़ाती हैं। ऐसी दशा में कौन लड़की उसे पसन्द करेगी, हां, लकड़ियों से उसका विवाह हो सकता है। लड़कियां तो जवान, वीर्यसेचन समर्थ को चाहती हैं—अप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्यूः=पत्नियां भी तो वीर्य्यसेचनसमर्थ को चाहती हैं।

अतः जिन्हें गृहस्थ धर्म्म पालन करना हो, उन्हें इस वेदोक्त नैसर्गिक नियम को सामने रखते हुए युवावस्था में ही यह कार्य्य करना चाहिये। मनु जी ने इसी भाव से कहा है—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ (मनु ३।२)

तीनों चारों, दो अथवा एक वेद क्रमानुसार पढ़ कर, अखण्डित ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

वेद ने वृष्ण=वीर्य्यसेचनसमर्थ कहा। मनु ने 'अविप्लुतब्रह्मचर्य्य' कहा। दोनों का भाव एक ही है। खण्डित ब्रह्मचारी की शरीरशोभा तो बुढ़ापे के बिना ही मारी जाती है।

विवाह का अधिकारी अविप्लुत ब्रह्मचारी है, न कि बूढ़ा और व्यभिचारी।

वेद के वृष्णः पद में जो स्वारस्य है, वह पूरी तरह व्यक्त नहीं किया जा सकता।

किस सुन्दर युक्ति से बाल, वृद्ध विवाहों का निषेध और युवाविवाह का समर्थन किया है। विवाह के लिये अनुभव, ज्ञान, परिपक्व ज्ञान होना आवश्यक है। बालक में वह है नहीं। अतः वह विवाह का अधिकारी नहीं। वृद्ध में अनुभव, ज्ञान आदि सब कुछ है किन्तु मिनाति श्रियं जरिमा तनूनाम्=बुढ़ापा शरीर की शोभा मार देता है, अतः शरीरशोभारहित वृद्ध भी विवाह के अयोग्य है। सुतरां जवान ही विवाह का अधिकारी सिद्ध हुआ। वेद में कहा भी है—

ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (अ. ११।५।१८)

ब्रह्मचारिणी कन्या जवान ब्रह्मचारी पति को प्राप्त करती है।

भगवान् प्यासे के लिये जल समान

ओ३म्। यथा पूर्वेभ्यो जरितृभ्य' इन्द्र मय इवापो न तृष्यते वभूथ।
तामनु त्वा निविद जोहवीमि विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम ॥ ऋ. १।१७५।६

हे (इन्द्र) इन्द्र। अज्ञानवारक परमेश्वर। (यथा) जैसे तू (पूर्वेभ्य) पूर्ववर्ती (जरितृभ्य') स्तोताओं के लिये (तृष्यते) प्यासे के लिये (आप+न) जल के समान (मयः+इव) सुख समान (वभूथ) होता है। मै (त्वा) तुझ को (ता+निविदम्+अनु) उस भक्ति-भाव के अनुकूल (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूँ। जिससे हम (इषम्) अन्न, बल (वृजनम्) पापवारणसामर्थ्य तथा (जीरदानुम्) जीवनदानविज्ञान (विद्याम) जान पायें, प्राप्त कर सकें।

प्यास सता रही है। जल मिलते ही वह शान्ति हो जाती है। प्यासे को तो जल ही अमृत है। प्यासे को वस्त्र दो, नहीं लेगा। प्यासे को भोजन दो, नहीं लेगा। वस्त्र और भोजन अवश्य उपयोगी हैं, किन्तु ये प्यास नहीं बुझा सकते, अत. प्यासे के लिये ये सुखदायी नहीं। प्यास से सूख कर जीभ कड़ा हो रही है, मौत सामने दीखती है, किसी ने आके एक दो बूद जल मुख में टपका दिया। आखें खुल गईं। जाता जीवन फिर वापस आता प्रतीत हुआ। तभी तो संस्कृत भाषा मे जल को जीवन, अमृत कहा जाता है—

जल जीवनमुच्यते=जल जीवन कहाता है।

कीलालममृतं पय (कोष)=कीलाल, अमृत और जल पर्याय हैं।

इसी प्रकार संसार ताप में झुलसे हुए, क्लान्त आत्मा के लिए परमात्मा

मयइवापो न तृष्यते वभूथ=प्यासे के लिये जल के समान सुखदायी होता है।

उसके सारे ताप मिट जाते हैं। जल से भी अधिक निर्मल से मेल करके सब क्लान्तियों की शान्ति हो जाती है। किन्तु उसके मिलने की विधि का ज्ञान ही नहीं है। अतः साधक भगवान् ही से कहता है कि सकल क्लेश नाशक प्रभो। जिन की क्लान्ति तू ने शान्त की थी, जिनकी प्यास बुझाई थी उनकी

तामनु त्वा निविद जोहवीमि=उस भक्ति भावना के अनुकूल ही तुझे पुकारता हूं। मै व्याकुल हूं, मुझे शान्ति चाहिये। शान्तिधाम। पूर्वों की भांति मुझे भी शान्त दे। मेरी भी प्यास बुझा। मेरे लिये भी जल बन जा।

प्रभो। मै अकेला नहीं हूं। केवल अपने लिये नहीं मांगता हूं। मै इस समस्त जगत को तृषाकुल, प्यास से त्रास में देखता हूं। हम अज्ञानी हैं, जीवन-विज्ञान मे अज्ञान हैं। तू जीवनधन है। सभी को जीवन दान देता है। हम केवल अपनी प्यास बुझा कर अपने लिये जीवन नहीं मांगते। हम मांगते हैं जीवन-दान-विधान जीवन-दान-विज्ञान। हमें वह प्रदान कर। हम तेरी प्रजा को, मरणोन्मुख सन्तान को पुन जीवनदान कर सकें। किन्तु हम तो स्वयं निर्जीव से हुए जा रहे हैं। अत पहले हमें जीवन दे, हमारी प्यास बुझा।

भगवान् अतिशय क्रियावान् है

ओ३म। अयं देवानामपसामपस्तमो यो जजान रोदसी विश्वशम्भुवा।
वि यो ममे रजसी सुक्रतूययाऽजरेभिः स्कम्भनेभिः समानृचे ॥ ऋ १।१६०।४

(अयम) यह महान् भगवान् (अपसाम्) कर्मशील (देवानाम्) देवों में से (अपस्तम) अतिशय क्रियाशील है, (य) जिस भगवान् ने (विश्वशम्भुवा) सबके लिये शान्तिकारी (रोदसी) द्यावा-पृथिवी को (जजान) उत्पन्न करता है और (य) जो (रजसी) दोनों लोकों के (सुक्रतूयया) उत्तम बुद्धि और श्रेष्ठक्रिया से (वि+ममे) विशेष रूप से निर्माण करता है। और (अजरेभिः) जीर्ण न होने वाले (स्कम्भनेभि) रोक रखने वाली शक्तियों के द्वारा (समानृचे) एक रस रचना करता है।

वेद परमेश्वर को क्रियाशील बताता है क्रियाशीलता के प्रमाण भी देता है। यदि भगवान् है और कुछ नहीं करता तो उसका होना न होना एक समान। कुछ न करनें वाले भगवान् की सत्ता का प्रमाण? यदि वह कुछ नहीं करता, तो उसके मानने से लाभ? यदि कहा जाये कि उपासना के लिये उसका मानना आवश्यक है. तो भी ठीक नहीं। क्योंकि उपासना का फल है उपास्य से कुछ लेना। उपास्य तो निष्क्रिय है, वह तो कुछ करता नहीं। निष्क्रिय कुछ देगा कैसे? देने के लिये भी क्रिया करना पड़ती है। वेद कहता है कि भगवान् तो—

देवानामपसामपस्तम=क्रियाशील देवों में सबसे अधिक क्रियाशील है।

सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि, हवा, पानी सभी देव क्रियावान् हैं। सूर्य क्रिया छोड़ दे, तो आप भी गिर पड़े और संसार के संहार का कारण बने। हवा क्रिया बन्द करदे, तो प्राणियों के प्राण प्रयाण कर जायें। पानी में क्रिया न रहे तो यह पानीय=पीने योग्य ही न रहे। किन्तु इन सब में क्रिया भगवान् की देन है, वह इन सब से अधिक क्रियावान् है। ये सभी क्रियावान् क्रिया के कारण थक कर क्रिया छोड़ देते हैं। जीव प्रतिदिन थक कर क्रिया छोड़ देता है। उसका शरीर भी एक दिन सग छोड़ देता है। जगत् भी एक दिन समाप्त हो जाता है किन्तु भगवान् सतत क्रियावान् है। उपनिषत् ने ठीक ही कहा है—

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च=भगवान् का ज्ञान, बल तथा क्रिया स्वाभाविक है।

अन्यों की क्रिया नैमित्तिक है, भगवान् की क्रिया नैसर्गिक है, उसकी क्रिया का एकाध उदाहरण लीजिये—

वि यो ममे रजसी सुक्रतूयया=जो दोनों लोकों को उत्तम बुद्धि तथा श्रेष्ठ क्रिया से विभिन्न रचता है।

प्रकृति से सारी सृष्टि बनाता है किन्तु कितनी विशेषता और विभिन्नता है रचना में। सूर्य स्वत प्रकाश होने के साथ कितना उग्र है पृथिवी प्रकाशहीन है। कहीं नदी नाले हैं कहीं जल सागर है,

कहीं बालू का सागर है। इस वैविध्य में उसकी सुक्रतूया=उत्तम प्रज्ञा तथा उत्तम क्रिया दोनों कार्य कर रही हैं। जैसी आवश्यकता समझता है, वैसी सृष्टि रच देता है। संसार रचना में उसका अपना कोई भी प्रयोजन नहीं, न तो क्रिड़ा करने के लिये उसने ससार बनाया है, क्योंकि इससे वह अज्ञानी सिद्ध होग। क्रीड़ा अज्ञानियों का, बालकों का कार्य है, बालक खेला करते हैं। अतः ससार रचना का कोई अन्य प्रयोजन है। वेद कहता है—

यो जजान रोदसी विश्वशंभुवा=जिसने दोनों लोकों को सबका कल्याणकारी बनाया है।

अर्थात् सपूर्ण जीवों के कल्याण के लिये भगवान् ने इस जगत् का निर्माण किया है। किसी एक के लिये सुखकारी नहीं, वरन् विश्व=सब के लिये यह सृष्टि शभु=कल्याणकारिणी है। विश्वशभु ने यह ससार विश्वशभु बनाया है। अपनी मूर्खता से हम इसे दुःखभूः बना रहे हैं।

उसकी चतुराई देखो। ससार के विशाल पिंडों को—

अजरेभिः स्कम्भनेभिः समानृचे=जीर्ण न होने वाले स्कंभों से एकरस रचता है।

अर्थात् उसकी स्कभन शक्ति जीर्ण नहीं होती। अतः आज भी वह वसी बनी है। देखिये न, जब से सृष्टि बनी है, सूर्य निरन्तर ताप और प्रकाश दे रहा है, उसके ताप प्रकाश में कोई न्यूनता नही दिखाई देती। सागर से सूर्य प्रतिदिन जल सुखा कर भाप बना रहा है किन्तु सागर की परिधि=वेला घटी नहीं, सरकी नहीं, सभी जीव, जन्तु पृथिवी से आहार सदा से पा रहे हैं, मनुष्यों की संख्या प्रतिदिन बढ ही रही है, किन्तु पृथिवी माता ने किसी सन्तान को जीवन सामग्री देने से इनकार नहीं किया। कोई भूखा मरता है तो अपनी मूर्खता से। वायु सदा से प्राण व साधन दे रहा है। कहा तक गिनाएं, थक कर कहना पड़ता है उस की धारक रोधक शक्तियां अजर अमर भी हैं।

काकु से वेद ने उपदेश कर दिया कि अकर्मण्यता भगवान् को इष्ट नहीं है। सदा कर्म में लगे रहने वाले को अकर्मण्यता कैसे पसन्द आ सकती है।



भक्त और ज्ञानी तेरी शरण में

ओ३म्। उभयासो जातवेदः स्याम ते स्तोतारो अग्ने सूरयश्च शर्मणि।

वस्वो रायः पुरुश्चन्द्रस्य भूयसः प्रजावतः स्वपत्यस्य शाधि नः ॥ ऋ. २।२।१२

हे (जातवेदः) सर्वज्ञ ! हे (अग्ने) आगे ले जाने वाले परमात्मन्! हम (उभयासः) दोनों (स्तोतारः) स्तोता, भक्त (च) तथा (सूरयः) ज्ञानी (ते) तेरी (शर्मणि) शरण में (स्याम) हों। (नः) हमें तू (वस्वः) बसाने वाले (पुरुचन्द्रस्य) अत्यन्त आह्लाद देने वाले (प्रजावतः) प्रजायुक्त (सु+अपत्यस्य) उत्तम सन्तानयुक्त (भूयसः) बहुत अधिक (रायः) धन का (शाधि) शासक बना।

वेद की यह अद्भुत विशेषता है कि इसमें सब के कल्याण की कामना है। भक्त-वेद का भक्त केवल अपने लिये कुछ नहीं चाहता, वह सब को साथ लेकर चलता है। वेद का ज्ञानी अभिमानी नहीं है, वह भी अकेला ज्ञान की खान नहीं बनना चाहता है। वह भी अपना ज्ञान बांटता है। भक्ति की सफलता इसी में है कि अनन्य भाव से भगवान् की आराधना से भरपूर हो। ज्ञान भी तभी सफल है—जब वह ज्ञान का अन्तिम ज्ञेय जान लें। अन्यथा वे—

ततो भूय इव ते तमो य ऊ विद्याया रताः ॥ [य. ४०।१२]

वे उससे भी अधिक अन्धकार में हैं जो विद्या में रत हैं। इसी वास्ते वेद कहता है—

उभयासो जातवेदः स्याम ते स्तोतारो अग्ने सूरयश्च शर्मणि।

भक्त और ज्ञानी दोनों तेरी सुखदायी शरण में रहें।

भगवान् की शरण सचमुच सुखदायी है। सारे मनुष्य उसी का दिया खाते हैं—

त्वया मर्त्तासः स्वदन्त आसुतिम् [ऋ २।१।१४]

मनुष्य तेरे कारण ऐश्वर्य का स्वाद लेते हैं।

ज्ञानी इस बात को जान कर भक्तों को अपनी सम्पत्ति देते हैं—

ये स्तोतृभ्यो गोअग्रामश्वपेशसमग्ने रातिमुपसृजन्ति सूरयः [ऋ. २।१।१६

विद्वान् लोग गौ-आदि प्रधान, तथा सुन्दर पदार्थों का दान स्तोताओं—भक्तों को करते हैं।

ऐसों को सब प्रकार का धन मिलता है। धन का पहला गुण 'वसु' बसाने की योग्यता होना चाहिये। उजाड़ना धन का काम नहीं। धन पुरुचन्द्र=अत्यन्त प्रसन्न करने वाला हो। धनी निस्सन्तान देखे जाते हैं किन्तु ऐसे भक्तों और ज्ञानियों की सन्तान भी विपुल होती है। क्योंकि परमेश्वर

रयिर्बहुलो विश्वतस्पृथुः ॥ ऋ २।१।१२॥

सब प्रकार से महान् विशाल धन है।

भगवान् की सदृष्टि में सब धन है—संदृशि श्रियः [ऋ.२।१।१२]

जो स्वयं धन है, जिसकी नजरेमिहर में जर है, उसकी शरण में रहने वाले बे-जर बेघर कैसे होंगे।

वेद का भाव स्पष्ट है। धन चाहते हो, भगवान् की शरण जाओ। धन मांगते हो, उस रयिपति के पास जाओ। जीवन की कामना भी वहीं से पूरी होगी। समस्त आशाओं और प्रतीक्षाओं का वह केन्द्र है।

८४

धन तन वचन से यज्ञ करो

ओ३म् । यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा ॥
समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरं द्युक्षं होतारं वृजनेषु धूर्षदम् ॥ ऋ. २।२।१

(जातवेदसम्) जातवेदा (अग्निम्) अग्नि को (यज्ञेन) यज्ञ द्वारा (वर्धत) बढ़ाओ । (हविषा) हवि, धन (तना) तन अथवा सन्तान और (गिरा) वाणी से (समिधानम्) एकरस देदीप्यमान (सुप्रयसम्) उत्तम प्रयासी (स्वर्णरम्) मनुष्यों के सुखदाता (द्युक्षम्) प्रकाशवासी तथा (वृजनेषुधूर्षदम) पापों में डराके बिठाने वाले (होतारम्) महादानी का (यजध्वम्) यजन करो ।

वैदिक धर्म्म यज्ञप्रधान धर्म्म है । यज्ञ को निकाल दो, तो वैदिक धर्म्म निष्प्राण हो जायेगा । पूर्वमीमांसा दर्शन वाले तो धर्म्म का अर्थ ही यज्ञ करते हैं । अर्थात् धर्म्म और यज्ञ एक पदार्थ हैं । वेद में भी कुछ ऐसी ही बात कही गई है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन। (य० ४१।१६)=

अध्यात्मतत्त्ववेत्ताओं ने यज्ञपुरुष की यज्ञ के द्वारा पूजा की, और यही मुख्य धर्म्म हुए ।

यज्ञ करना जब धर्म्म हुआ, तो प्रश्न है—यज्ञ है क्या ? इसके सम्बन्ध में किसी दूसरे मन्त्र की व्याख्या में लिख चुके हैं । उसको सामने रखते हुए कहा जा सकता है कि यज्ञ का प्रधानभाव आत्मसमर्पण है । तब

यज्ञेन वर्धते जातवेदसमग्निम् का अर्थ हुआ 'आत्मसमर्पण' के द्वारा सर्वज्ञ भगवान् को बढ़ाओ अर्थात् उसकी महिमा का विस्तार करो ।

यद्यपि भगवान् की महिमा अक्षुण्ण है, नित्य है, वृद्धि ह्रास से परे है, किन्तु नास्तिकों को आस्तिक बनाना मानों उसकी महिमा को बढ़ाना है । वेद का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि दस्यु को, नास्तिक को, अमन्तु को यज्ञ से, आत्मसमर्पण से, प्रीति से आस्तिक बनाओ । अत्याचार और क्रूरता से नहीं ।

यज्ञ में क्या क्या सामग्री चाहिये ? इसमें

यजध्वं हविषा तना गिरा

हवि से, तन से, सन्तान से और वाणी से यज्ञ करो । जो वस्तु दी ली जाये, उसे हवि कहते हैं । धन ही लिया दिया जाता है। इस वास्ते हवि वास्तव में धन है ।

परोपकार के कार्यों में धन देना यज्ञ है । धर्म्मप्रचार, विद्याप्रचार में धन का व्यय करना संसार में साधारण रीति से धन का मोह बहुत होता है, अतः यज्ञ में मंत्र से पहले धन का त्याग करो। मीमांसक कहते हैं—**देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागो यागः**—देवता को लक्ष्य करके द्रव्य का देना याग है । अर्थात् याग में त्याग की भावना प्रधान है सबसे पहले मायोगिक पदार्थों को ही सरलता से त्यागा जा सकता है, अतः यहां सबसे पहले धनत्याग की बात कही है । मायोगिक—स्थूल मायोगिक—घर घोड़ा गौ रुपया वस्त्र पात्र सम्पत्ति का मोह जब टूटता है तब आत्मा और देह के भेद का भान होने लगता है, यह भी एक प्रकार का धन ही है, अतः इसे भी धर्म्ममार्ग में लगा देने की भावना जागती है । वाणी का त्याग बहुत कठिन है। मनुष्य त्याग करता है किन्तु उसकी चर्चा का त्याग नहीं करता है । इस चर्चा को बन्द कर देना, नेकी करना और दरिया में डाल देना—है वाणी का त्याग । जब इस प्रकार इन तीनों से योग किया जायेगा, तो वह याग पूर्ण होगा ।

भगवान् का ऐश्वर्य्य शरीरधारी के लिये

ओ३म् । अध ग्मन्त नहुषो हव सूरे. श्रोता राजानो अमृतस्य मन्द्रा. ।
नभोजुवो यन्निरवस्य राधः प्रशस्तये महिना रथवते ॥ ऋ० १।१२२।११

(अध) अब (नहुषः) मनुष्य (सूरेः) विद्वान् की (हवम्) पुकार पर (ग्मन्त) जाते हैं । हे (राजानः) प्रकाशमानो । (अमृतस्य) जीवन के, मोक्ष के (मन्द्राः) मस्त करने वाले गानों को (श्रोत) सुनो कि (यत्) जो (नभोजुवः) प्रकाश के गति दाता (निरवस्य) परमेश्वर का (राधः) ऐश्वर्य है वह (महिना) महत्त्व के साथ (प्रशस्तये) प्रशसनीय (रथवते) रथवान् शरीरधारी के लिये हैं ।

ज्ञानी तो सदा से प्रकाश करते हैं किन्तु उनकी कोई सुना नहीं करता । कदाचित् कोई विरला ही उनकी पुकार पर कान देता है । यदि उनके वचनों को लोग अनायास सुन लिया करते तो व्यास जी यह क्यों कहते—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।

भुजायें ऊपर उठा कर मैं पुकारता हूं किन्तु कोई नहीं सुनता है । ठोकर खाकर अज्ञान विद्वान् के पास जाता है—**अध ग्मन्त नहुषो हव सूरे**

अब मनुष्य विद्वान् की पुकार पर जाते हैं । अब कब ? जब धक्के खा चुके । भगवती श्रुति प्यार से कहती है—**श्रोता राजानो अमृतस्य मन्द्राः**

मेरे राजो, राजा बच्चों । जीवन के मधुर गान सुनो । जीवन का एक मधुर गान यह है—

नभोजुवो रथवते ।

भगवान् का सारा ऐश्वर्य्य शरीरधारी के लिये है । जितना अच्छा रथ=शरीर, उतनी अच्छी सामग्री । तभी कहा—**प्रशस्तये महिना रथवते**

महत्त्व के साथ, प्रशस्त रथवान् के लिये है ।

देख लो । तुम्हारा रथ अच्छा है या नहीं । योगियों ने इस श्रुतिवाक्य की पुष्टि अपने अनुभव से की और कहा—**तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा (यो द. २।२१)**

आत्मा के लिये ही इस दृश्य=जगत् का स्वरूप है ।

जीवों को मुक्ति और भुक्ति देने के लिये ही ससार की रचना हुई है । अतः सारा ससार, जो वास्तव में भगवान् का धन है, जीव के लिये है । यह जीव की अपनी इच्छा है कि भोग की भावना से इसी में फस जाये, या इसका सार जान कर इसे अपवर्ग का साधन बनाये ।

जो भी हो, यह स्पष्ट है कि यह सारा ससार जीव के लिये है । इस मन्त्र से एक बड़ी भारी समस्या का समाधान हो जाता है । दार्शनिक संसार=रचना का प्रयोजन स्थिर करने में नित्य नई नई युक्तियां लड़ाया करते हैं । जीव की सत्ता न मानने से इसका समाधान नहीं होता । वेद ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में इसका समाधान कर दिया है—

राधः प्रशस्तये महिना रथवते

अपनी सारी महत्ता के साथ यह धन प्रशस्त रथवान्=शरीरवान् के लिये है ।

प्रशस्त शरीरवान्=उत्तम कर्म्म के फलस्वरूप उत्तम शरीर वाला । उत्तम कर्म्म करो, समस्त ऐश्वर्य्य लो ।

दाता का महत्व

ओ३म् । स आधतो नहुषो दसजूतः शर्धस्तरो नरां गूर्तश्रवाः ।
विसृष्टरातिर्याति बाढसृत्वा विश्वासु पृत्सु सदमिच्छूरः ॥ ऋ० १।१२२।१०

(स) वह (आधतः) उपासक (नहुषः) मनुष्य के (दसजूतः) तेज से प्रदीप्त हुआ हुआ (शर्धस्तर) अतिशय बलवान् (नराम्) मनुष्यों में (गूर्तश्रवः) प्रसिद्ध यश वाला (विसृष्टरातिः) खुला दान देने वाला (शूरः) शूर (बाढसृत्वा) प्रबलवेगवान् होकर (विश्वासु) सभी (पृत्सु) युद्धों में (सदम्+इत्) सदा ही (याति) जाता है।

वैदिकधर्म में दान का बहुत माहात्म्य है। दान न देने वाले कंजूस को वेद में अराति कहते हैं। लौकिक संस्कृत में अराति का अर्थ शत्रु है। सचमुच जो दान नहीं देता, वह समाज का शत्रु है। दान यज्ञ का अङ्ग है, धर्म्म का एक स्कन्ध है। जो धर्म्म का=सामाजिक नियम का उल्लंघन करता है, वह सचमुच सामाजिक समता में आघात पहुँचाने के कारण समाज का शत्रु है।

दान के कई सोपान हैं। पीछे एक मन्त्र की व्याख्या में लिख चुके हैं कि धन-दान, तन-दान, वाणी दान करने से यज्ञ की सफलता होती है। दान का अर्थ जैसे कि बता चुके हैं—अपनी अधिकृत वस्तु पर से अपना अधिकार हटा कर दूसरे का अधिकार स्वीकार करना दान है। मनुष्य सब कुछ दे सकता है, शरीर तक दूसरों के लिये उत्सर्ग कर सकता है, किन्तु अहंकार ममकार त्यागना बहुत कठिन है। अहंकार ममकार त्याग कर जब भक्त अपने आपको भगवान् के अर्पण करता है, तब भगवान् उस अपने उपासक को अपने तेज से तेजस्वी कर देता है। शास्त्र में उस तेज का नाम ब्रह्मवर्चस है। वेद कहता है, दानी मनुष्य

आधतो नहुषस्य दसजूतः

उपासक मनुष्य के तेज से तेजस्वी होता है।

अर्थात् निष्काम भाव से दान करने वाला आत्मसमर्पण करने वाले उपासक के समान तेजस्वी होता है। अत एव वह शर्धस्तर बलवत्तर=अत्यन्त बलवान् होता है और नरां गूर्तश्रवाः=मनुष्यों में उसकी कान्ति की चर्चा होती है।

ऐसे दानी के लिये वेद में आदेश है—कि वह

उतापरिषु कृणुते सखायम् (ऋ० १०।११७।३)

विपत्तियों के समय के लिये मित्र बना लेते हैं।

दाता को मित्रों की कमी नहीं रहती और अतएव वह

विसृष्टरातिर्याति बाढसृत्वा विश्वासु पृत्सु सदमिच्छूरः।

यह दानी शूरमहावेगवान् होकर सभी युद्धों में सदा जाता है।

अकेला वह ही नहीं उसके साथी, मित्र, सहायक पर्याप्त हैं। अतः वह पूर्ण वेग से संग्रामों में घुस जाता है।

जिसने अपना दान दे दिया, उसे तो सब से महान् सखा मिल गया है, उसे तो भय रहा ही नहीं। इस रहस्य को समझ कर दान करो।

पूर्वानुसार जन्म

ओ३म्। अहं सो अस्मि य. पुरा सुते वदामि कानि चित्
तं मा यन्त्याधको वृको न तृष्णजं मृग, चित्त मे अस्य रोदसी ॥ ऋ० १।१०५।२

(अहम्) मैं (सः) वही (अस्मि) हू (यः), जो (पुरा) पहले (सुते) जन्म में था। अब मैं (कानि+चित्) कुछ कुछ (वदामि) कहता हू । (तम्) ऐसे (माम्) मुझ को (आधयः) मानसिक दु.ख (व्यन्ति) प्राप्त हो रहे हैं (न) जिस प्रकार (वृकः) भेड़िया (तृष्णाजम्) प्यासे (मृगम्) मृग को प्राप्त होता है । हे (रोदसी) द्यावापृथिवी, माता पिता, (मे) मेरी (अस्य) इस अवस्था को (चित्तम्) जानो।

मृग प्यासा था व्याकुल होकर सामने दौड़ा । चमचमाती बालू में सूर्य्य किरणों ने मिल कर जल की झलमलाहट उत्पन्न कर दी । उस मृगमरीचिका को मृग ने समझा जल । प्यासा मृग दौड़ा, जितना दौड़ता था, जल उतना ही दूर भागता जाता था । मृग भाग भाग कर थक गया । प्यास मे व्याकुल होकर गिर पड़ा । जीभ बाहर निकल आई, फिर भी जीवन की आस थी । इस आशा और निराशा की द्वन्द्व-अवस्था से उसे भेड़िये ने आ पकड़ा । आ।।। बेचारा मृग प्यासा मर रहा है। उसे चारों ओर जल दीखता है किन्तु पीने को नहीं मिलता।

यही-दशा जीव की है । जीव प्यासा है, भोग की प्यास ने—विषय की लालसा ने—इसे व्याकुल कर दिया है । इसे मिटाने के लिये यह ससार में दौड़ लगाता है । जबकिसी पदार्थ को मुंह लगाता है, समझता है इस से प्यास मिटेगी, किन्तु प्यास उलटा बढ जाता है । शायद व्यास ने इसी कारण कहा था—

भोगाभ्यासमनु विवर्धते रागाः (रोगाः)

भोग के अभ्यास से राग=वासनाए बढती हैं।

सारे ससार से भोग के भूखे प्यासे प्राणी ने मृग की दौड़ लगाई किन्तु प्यास न बुझ पाई । व्याकुल है कि मृत्युवृक=मौत भेडिये ने आन दबोचा है । इस सुन्दर ऋतवृत्त को वेद ने थोडे से शब्दों में कहा है—

त मां व्यन्त्याधयो वृको न तृष्णजं मृगम्

प्यासे मृग को भेड़िये की भाति ऐसे मुझ को व्याधियों ने आ दबोचा है। कैसा मैं ?

अहं सो अस्मि यः पुरा सुते

अर्थात् मेरी आत्मा वही है। जैसे पूर्व जन्म मे कर्म किये थे वैसे सामान अब मिले।

पिछले सस्कारों के चक्कर में फस कर अपने आप को पहचानने का यत्न न किया, अत भगवान् को न जान सका । परोक्ष ब्रह्म को प्रत्यक्षवादी कैसे माने ? उस से, जो दीखता नहीं, फरियाद न करके आकाश और भूमि को कहता है—

वित्त मे अस्य रोदसी

मेरी इस अवस्था को द्यावापृथिवी जानें।

हा वही जानेंगे, तू ने ऊपर उठने का यत्न न किया, इन्हीं में जो विचरता रहा।

बहुपत्नीनिषेध

ओ३म् । सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो, वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ ऋ० १।१०५।८

(पर्शव) ससार के शूल (अभितः) चारों ओर से (मा) मुझको ऐसे (स+तपन्ति) सन्ताप दे रहे हैं (इव) जैसे (सपत्नी.) सौकिनें। (मूषः+न) चूहों की भाति (शिश्नः) शिश्न, भोग के साधन मुझको सता रहे हैं । हे (शतक्रतो) सैकड़ों कर्म्म करने वाले । (ते) तेरे (स्तोतारम्) स्तोता (मा) मुझको (आध्य) मानसिक पीडायें (व्यदन्ति) खाये जा रही हैं । हे (रोदसी) द्यावापृथिवी ! (मे) मेरी (अस्य) अवस्था को (वित्तम) जानो ।

वेद पतिव्रत तथा पत्नीव्रत का उपदेशक है । एक समय मे एक पति को एक ही पत्नी और एक पत्नी का एक ही पती होना चाहिये । जो मनुष्य एक समय में एक से अधिक पत्निया करता है, उसकी दुर्दशा का थोडा सा चित्र यहा खींचा गया है । स्वभावोक्ति का यह मन्त्र बहुत सुन्दर उदाहरण है ।

एक निर्विण्ण जिज्ञासु ससार के व्यवहार से व्याकुल हो उठा है । सासारिक भोग उसे शत्रु के समान दीखते हैं । वह देखता है कि एक मनुष्य आज विषयों में आसक्त है, विषयों के अतिरिक्त उसे कुछ सुझाई नहीं देता थोडे दिनों के पश्चात् किसी भयकर व्याधि मे ग्रस्त है । विषयों का परिणाम विचार कर वह व्याकुल हो उठता है, उसे जरा मृत्यु सामने खडी दीखती है । उसे दीखता है कि ससार में द्वेष, लोभ और मोह का साम्राज्य है । भाई भाई से द्वेष कर रहा है पराये पदार्थों की ओर लोगों ने गृद्धदृष्टि लगा रखी है । इस से ससार तप रहा है ! सस्कार मनुष्यों को परेशान कर रहे हैं । आग पानी के वैर के समान वह सारी सृष्टि मे वैर-विरोध देख कर ससार के पदार्थों को ही दु खमय समझने लगता है—

परिणामतापसस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन [यो. द. २।१५]

परिणामदु ख, तापदु ख, सस्कारदु ख तथा सत्त्वरजस् तमस् गुणों के पारस्परिक विरोध स्वभाव के कारण विवेकी की दृष्टि में सभी दु ख हैं ।

जब विवेकी की दृष्टि मे सभी दु ख हैं, तो वह इससे व्याकुल हो उठेगा, यह स्वाभाविक ही है । उस की व्याकुलता का दिग्दर्शन मन्त्र में किया गया है—

स मा तपन्त्यभित. सपत्नीरिव पर्शव

सपत्नियों की भाति ससार शूल मुझे सन्तप्त कर रहे हैं ।

एक पत्नी की इच्छाओं आवश्यकताओं आदेश का पूरा करना कठिन सा होता है, जब अनेक हों, और हों भी परस्पर विरुद्ध, तब पति का जाना सचमुच दूभर हो जाता है ।

सपत्नी की सपत्नी से ईर्ष्या है, किन्तु उसका वेग तो पति पर प्रकट होता है । कभी कभी मिल कर सपत्निया पति की मुरम्मत भी कर देती हैं । जैसे सौकिनों के कारण पुरुष व्याकुल हो जाता है, ऐसे ही ससार की वासनाये मनुष्य को कलत्रिहीन कर रही हैं । उनके कारण पुरुष चिन्ता-चिता मे पड जाता है और जल जल मरता है—

व्यदन्ति माध्य स्तोतारम्=मुझ भक्त को मानस दु ख खा रहे हैं ।
संसार की यह प्रतिकूल दशा प्रत्येक को प्रतीत नहीं होती, वरन् विचारवान् विद्वान् ही को सूझती है ।

संसार भगवान् की कीर्त्ति

ओ३म्। अस्य श्रवो नद्य: सप्त बिभ्रति द्यावाक्षामा पृथिवी दर्शतं वपु:।
अस्मे सूर्य्याचन्द्रमसाभिचक्षे श्रद्धे कमिन्द्रश्चरतो वितर्तुरम ॥ ऋ० १।१०२।२

(अस्य) इस भगवान के (श्रव:) यश को (सप्त+नद्य:) सात नदिया (बिभ्रति) धारण कर रही हैं (द्यावाक्षामा) द्यौ, पृथिवी और (पृथिवी) अन्तरिक्ष (दर्शतम्) देखने योग्य (वपुः) निर्माण सामर्थ्य=शरीर को (बिभ्रति) धारण कर रहे हैं। हे (इन्द्र) अनन्त बल पराक्रम वाले भगवान्! (सूर्य्याचन्द्रमसा) सूर्य और चन्द्र (अस्मे) हमें (अभिचक्षे) दिखाने तथा (श्रद्धे) तुझ पर श्रद्धा कराने के लिये (कम्) सुखपूर्वक (वितर्तुरम) परस्पर विरुद्ध मार्ग में (चरतः) चल रहे हैं।

अपने उद्गम स्थान से निकल कर कल कल ध्वनि करती हुई नदिया भगवान् का यशोगान कर रही हैं। उस का रूप देखना चाहते हो, यह विशाल द्यौ, विस्तृत अन्तरिक्ष और महती मही उसका शरीर ही है, जैसा कि अथर्ववेद में कहा है—

यस्य भूमि: प्रमान्तरिक्षमुतोदरम।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १०।७।३२
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णव:।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १०।७।३३
यस्य वात: प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १०।७।३४

भूमि जिसका पादतल है और अन्तरिक्ष पेट। जिसने द्यौ का सिर बनाया, उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार। सूर्य और प्रतिदिन नूतन प्रतीत होने वाला चन्द्रमा जिस की आंख है और अग्नि को जिस ने मुख बनाया है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार। वायु जिस के प्राण अपान हैं, किरणें जिस की आंख हैं, दिशाओं को जिसने प्रज्ञानी=ज्ञान कराने वाली या कान बनाया है उस सर्वोत्तम ब्रह्म को नमस्कार।

रूप अलङ्कार से ससार के पदार्थों को भगवान् का शरीर निरूपण किया है।

इस विशाल अनन्त-पार ससार को देख कर किस बुद्धिमान का भगवान् के आगे सिर नहीं झुकेगा। सूर्य्य पूर्व से उदय होता है, चन्द्रमा का उदय पश्चिम से प्रारम्भ होता है, दोनों विपरीत दिशा

से उदय होकर भी प्राणियों के सुख के हेतु बनते हैं। परस्पर विरुद्ध दिशा मे चल कर भी ये दोनों मनुष्य का हित साधन करते हैं। क्या यह अपने आप करते हैं? कदापि नहीं। ये किसी के आदेश में बंधे हुए ऐसा कर रहे हैं और इस भांति उसकी सत्ता का पता दे रहे हैं—

अस्मे श्रद्धे कमिन्द्र चरतो वितर्तुरम्

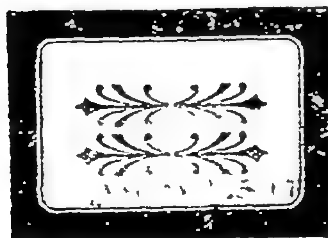
ये सूर्य्य चन्द्र हमें उसके दर्शनीय तेज का दर्शन कराने के लिये, और उस पर श्रद्धा कराने के लिये सुखपूर्वक परस्पर विरुद्ध चलते हैं।

सूर्य्य चन्द्र, विशाल संसार भी भगवान् पर यदि श्रद्धा नहीं करा सकते तो कौन करायेगा, कार्य्य कर्त्ता की सूचना देता है। यह अद्भुत सुन्दर संसार उस अपार की महिमा का सार है।

भगवान् का यश बहुत बड़ा है। सबसे बड़ा है—

उत्ते शतान्मघवन्नुच्च भूयस उत्सहस्राद्रिरिचे कृष्टिषु श्रवः॥ १।१०२।७

प्रभो! प्रजाओं में तेरा यश सैकड़ों से बड़ा है, हजारों से अधिक है और बड़ों से भी बड़ा है। यह समूचा संसार विकार के द्वारा, परिवर्तन के द्वारा, वृद्धि ह्रास के द्वारा, उत्पत्तिविनाश के द्वारा, पुकार कर रहा है कि यह कार्य्य है। कार्य्य कर्त्ता की सूचना देता है। जैसी सुन्दर रचना होगी, वैसी कर्त्ता की योग्यता समझी जाती है। संसार के पदार्थों पर विचार किया जाए, तो ये चक्कर में डाल देते हैं। पृथिवी को ही देखा जाए, क्या कोई बड़े से बड़ा वैज्ञानिक यह कहने का साहस कर सकता है कि उसने पृथिवी का सब कुछ जान लिया है। मिट्टी का ढेला जल में डालो, वह जल में घुल जाएगा। यह नैसर्गिक नियम है। पृथिवी के चारों ओर जल है और उससे तिगुना, पृथिवी पर और इसके भीतर भी जल है। किन्तु पृथिवी नहीं घुलती। अग्नि जलाती है किन्तु शरीर के भीतर का अग्नि जिलाता है। एक पत्ते को देखिए किस प्रकार की सूक्ष्म रचना है। मानव तन कितना अद्भुत है। कोई बड़े से बड़ा वैज्ञानिक इस शरीर का पूर्ण रहस्य नहीं जान पाया। संसार के पदार्थ एक एक से बढ़ कर विलक्षण और अद्भुत हैं। इनका बनाने वाला कितना अद्भुत बुद्धि का धनी होगा, इसकी तो मनुष्य पूरी कल्पना भी नहीं कर सकती, यहां आकर वह कुण्ठित हो जाती है।



यज्ञ और उत्सवों में भगवान् का भजन

ओ३म् । इमा ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्त आनजे ।
तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु ॥ ऋ. १।१०२।१॥

(अस्य+ते) इस तेरी (इमाम्) यह (महः+महीम्) बड़ी से बड़ी (धियम्) स्तुति (स्तोत्रे) भक्त के लिये (प्र+भरे) देता हूं, (यत्) जो (धिषणा) बुद्धि (ते) तुझसे (आनजे) व्यक्त हुई है । (देवासः) विद्वान् ज्ञानी (उत्सवे) उत्सव में (च) और (प्रसवे) प्रसव में, यज्ञ में (तम्) उस (सासहिम्) अत्यन्त बलवान् (इन्द्रम्+अनु) भगवान् को लक्ष्य करके (शवसा) यथाशक्ति (अमदन) मस्त होते हैं ।

सब ज्ञानों की खानि भगवान् है। वही मनुष्य को स्तुति प्रार्थना उपासना का उपदेश करता है, जिस भाग्यवान को प्रभु कृपा से भगवान् की महती स्तुतिविद्या का भान हुआ है, वह उसे छिपा न रखे, वरन् वह इसे दूसरों में बांटे—

इमा ते धियं प्रभरे महे महीमस्य स्तोत्रे=

भगवान् की महती से महती स्तुति को उसके भक्त के प्रति देता हूँ ।

उससे बढ़कर भाग्वान् कौन है, जिसे घर बैठे ज्ञानी गुरु भगवद्भक्ति सिखाने आया है ?

विद्वान् सदा उसी का यशोगान करते हैं ।

तमुत्सव च प्रसवे च सासहिमिन्द्र देवासः शवसामदन्ननु=

विद्वान् शक्ति भर उत्सवों और यज्ञों में उस शक्तिमान भगवान् को लक्ष्य करके मस्त होते हैं ।

संसार का निरीक्षण करने से विद्वानों को भगवान् के इस महान निर्माण विधान का भान हुआ है । उन्हें प्रतीत होता है कि जो कुछ उनके पास है, वह सब भगवान् का दान है । जब जब उनके कोई हर्ष का समय आता है, उस समय को, हर्ष को, वे भगवान की कृपा समझते हैं, और अतएव वे ऐसे प्रत्येक समय में भगवान् का यशोगान करते हैं, उसका धन्यवाद करते हैं । वे तो सदा कहते हैं—

त्वा देवेषु प्रथम हवामहे [ऋ १।१०२।६]

देवों में मुख्य तुझ को पुकारते हैं । क्योंकि—

त्व बभूथ पृतनासु सासहिः [ऋ १।१०२।६]

क्यों तू ही शक्तिमान् हमारे जीवन संग्रामों में सहायक है ।

दुर्बल मनुष्य विकट संकट के प्रकट होने पर विह्वल हो जाता है । उसकी विह्वलता व्याकुलता को परमेश्वर ही दूर करता है । भगवान् की इस कृपा का अनुभव करके वे चाहते हैं—

विश्वाहेन्द्रो अधिवक्ता नो अस्तु [ऋ १।१०२।११]

सदा इन्द्र=सर्वज्ञान भगवान् ही हमें बताने वाला हो और हम—

अपरिहूवृता. सनुयाम वाजम [ऋ. १।१०२।११]

कुटिलता रहित होकर उसके उपदेश का सेवन करें ।

भगवान् की कृपा का पात्र बनने के लिये प्रत्येक हर्ष के अवसर पर उसका धन्यवाद अवश्य देना चाहिये ।

आस्तिकों की तो यही प्रबल कामना है कि—**अनुत्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव [ऋ. ५।८।६]**

हे प्रभो । हम तुझे लक्ष्य करके कार्यारंभ करें, ताकि सदा तेरी सुमति में रहें ।

वेदशब्देभ्यो निर्ममे

ओ३म् । स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम् ।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम ॥ऋ. १।९६।२॥

(स) वह (पूर्वया) पूर्ववाली (निविदा) युक्ति से अथवा ज्ञान कराने वाले वेदवाणी रूपी (कव्यता) परम कवि की कविता के द्वारा (आयोः) अनादि कारण से (मनूनाम्) मनुष्य के लिये (इमाः) इन (प्रजाः) प्रजाओं को और (चक्षसा) दर्शनसाधन (विवस्वता) सूर्य के साथ (द्याम्) द्यौ (च) और (अप) अन्तरिक्षको (अजनयत) उत्पन्न करता है । (देवाः) विद्वान् इस (द्रविणोदाम्) धनदाता (अग्निम्) अग्नि को, ब्रह्म को (धारयन्) धारण करते हैं ।

वेद में यह बात बार बार कही गई है कि भगवान् ने इस सृष्टि का निर्माण जीवों के कल्याण के लिये किया है । यहां भी—

इमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्=मनुष्यों के लिये सृष्टि के इन पदार्थों को पैदा किया है ।

पदार्थ उत्पन्न करके उनके नामादि अपनी सनातन निवित्=वेदवाणी से रखता है । मनु ने भी यह बात कही है—

सर्वेषां तु नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ १।२१ ॥

सबके नाम और कर्म्म, और सारी रचनायें वेद शब्दों के अनुसार ही आरम्भ में निर्माण कीं । अथवा इनकी रचना वह पूर्वया निविदा पुरानी रीति से करता है—

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

धाता=जगद्विधाता ने सूर्य और चन्द्र को यथापूर्व=पूर्व की भांति बनाया ।

'पूर्वया निविदा' और 'यथापूर्व' ने एक और सूचना भी दी कि यह सृष्टि अपूर्व और अनुत्तर नहीं है । इस सृष्टि से पूर्व भी सृष्टि थी, और इस सृष्टि के बाद भी सृष्टि होगी । सृष्टि का चक्र चलता रहता है । सृष्टि के पीछे प्रलय, प्रलय के पीछे सृष्टि, इस प्रकार यह प्रवाह चलता है । सृष्टि का प्रवाह अनादि है, तब स्रष्टा की निवित्=निर्माणज्ञान भी अनादि है । ज्ञानकी सफलता निर्माण में=अनुष्ठानमें है, इस पर वेद का बहुत आग्रह है । इस प्रवाह का प्रवाहयिता भगवान्—

नू च पुरा च सदनं रयीणाम् (ऋ. १।९६।७

आज भी और पहले भी धनों का ठिकाना है ।

इतना ही नहीं, वह तो—

रायो बुध्न' संगमनो वसूनां यज्ञस्य केतुर्मन्मसाधनो वे.

धन का वर्धक धनों का प्राप्त कराने वाला, यज्ञ का केतु तथा आत्मा के ज्ञान का, मनन का प्रधान साधन है।

मनुष्य धन का अभिलाषी है. वह धन का ठिकाना है, केवल ठिकाना ही नहीं वरन् बढ़ाने वाला भी है, और साथ ही धन प्राप्त कराने वाला भी वही है। इससे बढ़कर आत्मा के मूल धन=ज्ञान का साधन भी वही है। अत.

देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्=देवा उस धनदाताभगवान् को धारण करते हैं।

जब धन का ठिकाना है ही वही, तो उसे ही धारण करना योग्य है। यह मत समझना कि विद्वान् लोग भी धन की कामना में लिप्त होकर लक्ष्य को भूल गये। न, न, वे तो—

अमृतत्व पक्षमाणास (ऋ १।९६।६)=अमृत की, जीवन की रक्षा करते हुए, मोक्ष को बचाते हुए, धन की कामना करते हैं।

जीवननिर्वाह के लिये धन की कुछ आवश्यकता किन्तु इतनी नहीं कि इसी में लिप्त होजाये। वरन इस धन के द्वारा वह अपने मोक्ष की, मोक्ष साधन रक्षा करे।

तनिक और विचार लो। विद्यार्थी के लिए प्राप्तव्य धन विद्या है। गृहस्थका प्राप्तव्य धन अन्नवस्त्र, गौ घोड़ा, घृतदुग्ध, घरबाड़ी आदि है।जिससे प्रयोजन सिद्ध होकर प्रीति की प्राप्ति हो, उसे धन कहते हैं। मोक्षाभिलाषी को किस से प्रीति हो सकती है? सभी मानेंगे कि मोक्षसाधनों से। अत' सिद्ध हुआ कि मोक्षाभिलाषी मोक्ष के साधनों को संग्रह करता हैं, क्यों उसे मोक्ष की रक्षा करना है। कई वार मोक्ष से आना पड़ा। और कई वार मोक्ष सामने आता दिखाई देता हुआ भी प्राप्त नहीं होता उस समय की मुमुक्षु की वेदना को वही कुछ कुछ समझ सकता है, जिस किसी अभीष्ट वस्तु से वियुक्त होना पड़ा हो और कई वार प्राप्त होती प्रतीत होती हुई भी प्राप्त न हो।



ज्ञानी तेरे परम सामर्थ्य को धारण करते हैं

ओ३म् । तत्त इन्द्रियं परमं पराचैरधारयन्त कवयः पुरेदम् ।

क्षमेदमन्यद् दिव्यन्यदस्य समी पृच्यते समनेव केतुः ॥ ऋ० १।१०३।१

(कवय) क्रान्तदर्शी विद्वान (ने) तेरे (तत्) प्रसिद्ध (इदम्) इस (परमम्) परम, अतिमहान् (इन्द्रियम्) सामर्थ्य को (पुरा) पहले की भांति (पराचैः) प्रकट उपायों के द्वारा (अधारयन्त) धारण करते हैं। (अस्य) इस का (इदम्) यह सामर्थ्य (क्षमा) पृथिवी में (अन्यम्) पृथक् है, और (दिवि) आकाश में (अस्य) इसका सामर्थ्य (अन्यत्) और ही है। (केतुः) इस का केतु (समना+इव) समानता से (समी+पृच्यते) एक रस सब में मिल रहा है।

भगवान् की महिमा का बखान कौन करे? यदि वह स्वयं सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को अपनी महिमा का पता न देता, तो कदाचित् मनुष्य भी पशुवत् वञ्चित रहते।

किसी ने ठीक ही कहा है—

जन्तूनां नरजन्मदुर्लभम्=प्राणियों में मनुष्य जन्म सचमुच दुर्लभ है।

मनुष्य जन्म पाकर फिर भगवान् का ज्ञान होना तो और ही शान की बात है। जिन्हें भगवान् की शक्ति का ज्ञान हो जाता है, वे उसकी शक्ति को धारण करने का प्रयत्न करते हैं—

तत्त इन्द्रियं परमं पराचैरधारयन्त कवयः पुरेदम्=

कवि लोग तेरी इस प्रसिद्ध परम शक्ति को विविध उपायों से पहले धारण करते हैं।

शक्ति-धारण ही उपासना है। अथवा यों कहा जा सकता है कि उपासना के द्वारा=पास बैठने से शक्ति आती है। आग के समीप बैठने से=उपासना से अग्नि की शक्ति ताप आदि प्राप्त होते हैं।

उस की शक्ति अनेक प्रकार की है। ऋषि श्वेताश्वतर कहते हैं—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। ६।८=उसकी परम शक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है।

यह न समझना कि वह केवल सृष्टि का रचयिता, पालयिता, एवं मारक है, इससे उसकी शक्ति कुछ विलक्षण है।

रचना, पालना मारना तो साधारण मनुष्यों को भी ज्ञात है।

इस शक्तिभेद का निर्देश मन्त्र में भी किया है—

क्षमेदमन्यद् दिव्यन्यदस्य=पृथिवी में इस की शक्ति अन्य प्रकार की है, द्यौ में दूसरे ही प्रकार की, विचारने से यह भेद उत्तम रीति से प्रतीत होने लगता है। पदार्थों का निरीक्षण कीजिए तो ज्ञात होगा कि पृथिवी तो सब को सहारे का कार्य दे रही है। अतः पर्वत वृक्षादि इस पर स्थित हैं, किन्तु द्यौ ने किसी सहारे के बिना सूर्यचन्द्रादि थाम रखे हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में इसकी शक्ति की

विविधाता स्पष्ट दिखाई देती है। उसकी शक्ति का वर्णन सक्षेप मे करना हो, तो कह सकते है—

यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् (ऋ २।१२।६)

जो सपूर्ण ससार का निर्माता है और जो न गिरने वालों को भी गिरा देने वाला है।

इस विशाल ससार की रचना और सहार के लिये कितना बल चाहिये ? इसके रचनासामर्थ्य को अनुभव करके भक्त के मुख से सहसा भगवद्वाक्य निकलता है—

इन्द्रस्य नु वीर्य्याणि प्रवोच या चकार प्रथमानि वज्री (ऋ १।३२।१

भगवान् के बलों का वर्णन करू, जिनका उपयोग उस पापवारक ने सृष्टिरचना मे किया।

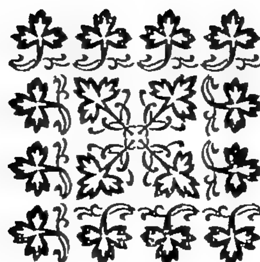
उस के चरने का बल और मारने का बल हमें नहीं दीखता, ऐसे अर्द्धसन्दिग्ध अर्द्धश्रद्धालु को वेद कहता है—

तस्येद पश्यता भूरि पुष्ट श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्याय=

अरे उसके इस महान् पालन को देखो, और इन्द्र की शक्ति पर विश्वास करो।

मारने से रक्षा करना बहुत बड़ा और कठिन कार्य्य है। चींटी से कुञ्जर तथा पामर से ज्ञानी तक सभी की पालना करने वाले के सामर्थ्य पर विश्वास करो, भरोसा करो और उसे अपने अन्दर धारो। उस के पालन मे एक अद्भुत विशेषता है, वह अपने न मानने वालों, निन्दकों, नास्तिकों की भी पालना करता है।

नास्तिक विचार तुझे कैसे आख मिली ? क्या जड़ प्रकृति की देन है? ऐसा मान कर तू हृदय की अन्धता को व्यक्त करता है। तू रसना जिस से तू सब कुछ खाता है, किसने प्रदान की ? न होती रसना, कैसे भोजन करता ? अवश्य भूखों मरता। जीवन साधन देने वालों को न मानता बड़ा अज्ञान है। किन्तु भगवान् महान् है। वह इसे भी पालता है। धन्य हो प्रभो। धन्य हो।



वह सब को मार्ग दिखाता है

ओ३म् । श्रो त्ये नर इन्द्रमूतये गुर्नू चित्तान्त्सद्यो अध्वनो जगम्यात् ।
देवासो मन्यु दासस्य श्चम्नन्ते न आ वक्षन्त्सुविताय वर्णम् ॥ ऋ० १।१०४।२

(श्रो) अरे ! (त्ये) वे (नरः) मनुष्य (ऊतये) रक्षा के लिये (इन्द्रम्) इन्द्र के पास (गुः) गये । (नू+चित्) ताकि वह (तान्) उन को (सद्यः) तत्काल (अध्वनः) मार्गों पर (जगम्यात्) पहुँचादे (देवासः) निष्काम ज्ञानी (दासस्य) दुर्बल के, क्षीण के (मन्युम्) क्रोध को (श्चम्नन्ते) पी जाते हैं और (सुविताय) कल्याणोपदेश करने के लिये (वर्णम्) क्रोध के रंग को (न) नहीं (आ+वक्षन्) धारण करते हैं । अथवा हमारे कल्याण के लिये चुने पदार्थ लाते हैं ।

मनुष्य भटक रहे हैं, उन्हें सत्य मार्ग सुझाई नहीं देता । प्रत्येक अपने अपने मार्ग की प्रशंसा कर रहा है । नवागन्तुक मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है, किसका अनुसरण करे और किसका न करे । साधक के सामने विभिन्न कर्त्तव्य आते हैं, जो परस्पर विरुद्ध हैं, किस कर्त्तव्य को पूरा करे और किस को छोड़े । गृहस्थ को वैराग्य हुआ है । संकीर्ण गृह से निकल कर विशाल संसार में आना चाहता है, निकलने की तैयारी की है कि पुत्र कलत्र का मोह आ पड़ता है, माता पिता की ममता और प्यार भी सवार हो जाते हैं । नया वैरागी सोच में पड़ जाता है । क्या करे और क्या न करे ? ऐसी विषम परिस्थित अबोधों को तो क्या, कभी कभी सुबोधों को, महाबोधों को भी भी बुद्धू बना देती है । विवेकी जन ऐसे अवसर पर इन्द्रमूतये गुः=रक्षा के लिये, प्रयोजन सिद्धि के लिये इन्द्र के पास, सर्वाज्ञाननिवारक, मार्गप्रदर्शक भगवान् के पास जाते हैं ।

उन्हें विश्वास है कि वह

नूचित्तान्सद्यो अध्वनो जगम्यात्=तत्काल उन्हें मार्ग पर पहुँचा देगा ।

इन्द्र देव की शरण में जाकर ये भी देव हो आये हैं । और **देवासो मन्युं दासस्य श्चम्नन्ते**=दास के क्रोध को देव पी जाते हैं ।

देखते हैं, प्रतिदिन अनुभव करते हैं, कि महान् भगवान् पापियों के अपराध पी रहा है, सहन कर रहा है । वह तो है ही 'सासहि'=बार बार सहन करने वाला । भगवान् जीव का कल्याण करते हुए उसके पुराने अपराधों के कारण कभी भी अपना रङ्ग नहीं बदलते, वरन्, उसके कल्याण के लिये चुन चुन कर उसे साधन देता है, अतः उसके संग में बने देव भी

न आवक्षन्त्सुविताय वर्णम्=कल्याण प्रेरणा के लिये रंग नहीं बदलते, अथवा कल्याणोपदेश के लिये हमारे लिये उत्तम चुने हुए पदार्थ लाते हैं ।

ब्राह्मण और क्षत्रिय के सुधार प्रकार का सुन्दर भेद है । क्षत्रिय दण्ड देता है ब्राह्मण प्यार करता है । प्यार और मार में जो सार है, उसे ग्रहण करना चाहिये । प्यार में ही सार है, अतः भगवन् ।

श्रद्धित ते महते इन्द्रियाय (ऋ० १ । १०४ । ६)

तेरे महान् सामर्थ्य पर भरोसा किया है । तू ही मार्ग दिखा, और उस पर चला ।

बल के लिये उस पर श्रद्धा करो

ओ३म् । तस्येदं पश्यता भूरि पुष्टं श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्य्याय ।

सगा अविन्दत्सो अविन्ददश्वान्त्स ओषधीः सो अपः स वनानि ॥ ऋ० १।१०३।५

(तस्य) उस भगवान् का (इदम्) यह (भूरि) महान् (पुष्टम्) पोषणविधाय (पश्यत) देखो और (वीर्य्याय) बल के लिये (इन्द्रस्य) भगवान् पर (श्रत्+धत्तन) श्रद्धा करो । (सः) वह (गाः) गौएं पृथिविया (अविन्दत) प्राप्त कराता है, (स) वह (अश्वान्) घोड़े, सूर्य्य, इन्द्रिया (अविन्दत्) प्राप्त कराता है । (सः) वह (ओषधीः) ओषधिया, ओषधी वनस्पति आदि अथवा दोषनाशक सामर्थ्य प्राप्त कराता है, (स) वह (अपः) जल प्राप्त कराता है और (स.) वही (वनानि) वनों को प्राप्त कराता है ।

बल चाहिये बल । खोज हो रही है, बल किससे मिलेगा ?

बलमसि बल मे दा स्वाहा (अ २।१७।३)=

प्रभो ! सत्य कहता हू, तू बल है, मुझे बल दे । भूरि ते इन्द्र वीर्यम् (ऋ० १।५७।५)=

हे इन्द्र ! तेरा बल बड़ा है । अत भक्तो ! ज्ञानियो ! साधारण जनो ! श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्य्याय= बल के लिये इन्द्र का भरोसा करो । कितना बड़ा बल है उसका ? सुनो—

अनु ते द्यौर्बृहती वीर्य्यं मम इय च ते पृथिवी नेम ओजसे । ऋ० १।५७।५

इस विशाल द्यौ ने तेरा बल मापना चाहा और इस पृथिवी ने भी, किन्तु तेरे बल के आगे झुक गये ।

अहो कितना बल है ? हो सकता है कुछ कल्पना ? तभी तो वेद कहता है—

तस्येद पश्यता भूरि पुष्टं उसका यह महान् पालनविधान देखो ।

कितना विस्तृत यह जगत् है । अरबों सौर मण्डल इस ब्रह्माण्ड मे हैं । पूरी सख्या न कोई मनुष्य जान सका, और न आगे जान पायेगा । वेद का कहना सर्वथा ठीक है कि

सप्तदिशो नाना सूर्याः (ऋ. ६।११४।३)=इन सात दिशाओं म अनन्त सूर्य्य हैं ।

इन अनन्त सौर मण्डलो मे से हमारे सौरमण्डल के अवकाश space का आज तक पूरा पता नहीं चला । इस अनन्तपार ब्रह्माण्ड मे कितने प्राणी होगे, यह किसी एक बिल की चीटियों की सख्या का विचार करने से ज्ञात हो सकता है । जो इन कल्पनातीत असख्य प्राणियों का पालन कर रहा है, उसका पालन सामर्थ्य अवश्य अति महान् है ।

अधिक क्या कहें ? प्राणियो की जितनी आवश्यकतायें हैं, उनकी पूर्त्ति भी वही करता है—

स गा अविन्दत्सो . वनानि=

पशु आदि जीवनोपयोगी जल तथा बन सभी वही प्राप्त कराता है ।

इतने पदार्थों के देने दिलाने वाला कितना महान् है ? भगवान् का बल देख—

तदिन्द्र प्रेव वीर्यं चकर्थ यत्ससन्तं वज्रेणाबोधयोऽहिम (ऋ० १।१०३।७)=

इन्द्र ! तू बड़े बल कार्य्य करता है, तू निवारण-प्रेरणा से सोए पापी को जगा देता है ।

सचमुच भगवान् ही पाप से हटा सकता है । पाप से हटाना साधारण कार्य नहीं है ।

दूर देश में तथा समानगुण वाले विवाह

ओ३म् । अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभि समानेन योजनेनापरावत. ।
इष वहन्ती. सुकृते सुदानवे विश्वेदह यजमानाय सुन्वते ॥ ऋ. १।६२।३

(न) जिस प्रकार (विष्टिभि) अन्नादि सत्कारों से (अपस.) कर्मशीलों का सत्कार करते हैं, वैसे (विश्वा+इत्+अह) सदा ही (सुकृते) उत्तमकर्मा (सुदानवे) श्रेष्ठ दानी (यजमानाय) यज्ञ करने वाले (सुन्वते) सोम सम्पादन करने वाले पुरुष के लिये (इषम्) अन्न रस (वहन्ती.) धारण करने वाली (परावतः) दूर देश से लाई गई (नारी.) नारियों का (समानेन+योजनेन) समान गुण कर्म्म स्वभाव के मेल से (अर्चन्ति) सत्कार करते हैं ।

इस मन्त्र मे विवाह सम्बन्धी कुछ तत्त्व वर्णित हुए हैं—

१. अर्चन्ति नारी =नारियों का सत्कार करते हैं ।

अर्थात् घर मे स्त्रियों का सत्कार होना चाहिये । मनु जी कहते हैं—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ मनु० ३।५५

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रिया ॥ मनु० ३।५६

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥ मनु० ३।५७

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्य सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ मनु० ३।५९

अत्यन्त कल्याणाभिलाषी पिता भाई, पति, देवर इनका सत्कार करें और इन्हें भूषित करें। जहा स्त्रियों की पूजा होती है, वहा सभी सद्गुण विराजते हैं, जहा इन का आदर नहीं होता, वहा की सभी क्रियायें निष्फल होती हैं । जहा स्त्रिया शोक मे सन्तप्त रहती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है, जिस कुल में यह प्रसन्न रहती हैं, वह सदा बढ़ता है । इस लिये, भूषण वसन और भोजन के द्वारा सत्कार के अवसरों और उत्सवों मे ऐश्वर्याभिलाषी इनकी सदा पूजा सत्कृति अवश्य करें ।

वेद और तदनुसार मनु जी के कथन से सिद्ध होता है कि स्त्रियों का निरादर, ताड़न वेदविरुद्ध अतएव पाप है ।

(२) विवाह के समय वर वधू दोनो के गुणकर्म्म स्वभाव समान होने चाहियें । समानेन योजनेन दोनों का मेल समान हो ।

बल के लिये उस पर श्रद्धा करो

ओ३म् । तस्येदं पश्यता भूरि पुष्टं श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्याय ।

सगा अविन्दत्सो अविन्ददश्वान्त्स ओषधीः सो अपः स वनानि ॥ ऋ० १।१०३।५

(तस्य) उस भगवान् का (इदम्) यह (भूरि) महान् (पुष्टम्) पोषणविधान (पश्यत) देखो और (वीर्याय) बल के लिये (इन्द्रस्य) भगवान् पर (श्रत्+धत्तन) श्रद्धा करो । (सः) वह (गाः) गौएं पृथिविया (अविन्दत) प्राप्त कराता है, (सः) वह (अश्वान्) घोड़े, सूर्य्य, इन्द्रिया (अविन्दत) प्राप्त कराता है । (सः) वह (ओषधीः) ओषधिया, ओषधी वनस्पति आदि अथवा दोषनाशक सामर्थ्य प्राप्त कराता है (स) वह (अपः) जल प्राप्त कराता है और (स.) वही (वनानि) वनों को प्राप्त कराता है ।

बल चाहिये बल । खोज हो रही है, बल किससे मिलेगा ?

बलमसि बल मे दा स्वाहा (अ २।१७।३)=

प्रभो । सत्य कहता हू, तू बल है, मुझे बल दे । **भूरि ते इन्द्र वीर्यम् (ऋ० १।५७।५)=**

हे इन्द्र । तेरा बल बड़ा है । अत भक्तो । ज्ञानियो । साधारण जनो । **श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्याय=** बल के लिये इन्द्र का भरोसा करो । कितना बड़ा बल है उसका ? सुना—

अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे । ऋ० १।५७।५

इस विशाल द्यौ ने तेरा बल मापना चाहा और इस पृथिवी ने भी, किन्तु तेरे बल के आगे झुक गये ।

अहो कितना बल है ? हो सकता है कुछ कल्पना ? तभी तो वेद कहता है—

तस्येद पश्यता भूरि पुष्ट उसका यह महान् पालनविधान देखा ।

• कितना विस्तृत यह जगत् है । अरबों सौर मण्डल इस ब्रह्माण्ड मे हैं । पूरी सख्या न कोई मनुष्य जान सका, और न आगे जान पायेगा । वेद का कहना सर्वथा ठीक है कि

सप्तदिशो नाना सूर्याः (ऋ ९।११४।३)=इन सात दिशाओं म अनन्त सूर्य है ।

इन अनन्त सौर मण्डलो मे से हमारे सौरमण्डल के अवकाश space का आज तक पूरा पता नहीं चला । इस अनन्तपार ब्रह्माण्ड मे कितने प्राणी होंगे, यह किसी एक बिल की चीटियों की सख्या का विचार करने से ज्ञात हो सकता है । जो इन कल्पनातीत असख्य प्राणियों का पालन कर रहा है, उसका पालन सामर्थ्य अवश्य अति महान् है ।

अधिक क्या कहें ? प्राणियों की जितनी आवश्यकतायें हैं, उनकी पूर्त्ति भी वही करता है—

स गा अविन्दत्सो वनानि=

पशु आदि जीवनोपयोगी जल तथा वन सभी वही प्राप्त कराता है ।

इतने पदार्थों के देने दिलाने वाला कितना महान् है ? भगवान् का बल देख—

तदिन्द्र प्रेव वीर्यं चकर्थ यत्ससन्तं वज्रेणाबोधयोऽहिम् (ऋ० १।१०३।७)=

इन्द्र । तू बड़े बल कार्य्य करता है, तू निवारण-प्रेरणा से सोए पापी को जगा देता है ।

सचमुच भगवान् ही पाप से हटा सकता है । पाप से हटाना साधारण कार्य नहीं है ।

हमें अकृत घर न दे

ओ३म् । अधा मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा चोदस्व महते धनाय ।
मा नो अकृते पुरुहूत योनाविन्द्र क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः ॥ ऋ० १।१०४।७

(अध) अब, मैं (मन्ये) मानता हूं, तेरी सत्ता और महत्ता स्वीकार करता हूं, (अस्मै) इसे, तुझ पर (श्रत्+अधायि) श्रद्धा करता हूं। तू (वृषा) सुखवर्षक हो कर (महते) महान (धनाय) धन के लिये (चोदस्व) प्रेरित कर उत्साहित कर। हे (पुरुहूत) अनेकों से पूज्य! (नः) हमें (अकृते) बिन बने, बिना सजाये (योनौ) घर में (मा) न स्थापित कर और हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान। (क्षुध्यद्भ्यः) भूखों को (वयः) अन्न और (आसुतिम्) पान (दाः) प्रदान करे।

भगवान् पर श्रद्धा होना बड़े भाग्य की बात है। पूर्व सुकृतों के परिणाम में यह उत्तम भाव जागता है। अन्यथा लोग अपने पालनकर्त्ता से विमुख ही रहते हैं। बहुत धक्के खाकर ही कोई जाग सकता है—

अधा मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा

अब मैं मानता हूँ तुझ पर श्रद्धा करता हूँ, विश्वास करता हूँ कि तू वृषा है, सुखवर्षक है।

मुझे सुख चाहिये। तेरे भक्त कहते हैं—

भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति

भूमा ही सुख है, थोड़े में सुख नहीं है, अतः

चोदस्व महते धनाय

महान् धन के लिये प्रेरित कर, उत्साहित कर।

तेरे पास आकर भी, तुझ पर विश्वास रख कर भी, तेरा श्रद्धालु बनकर भी मैं थोड़े में तृप्त हूंगा, यह कदापि नहीं। धन-संपत्ति लूंगा तो महान्। धन—निधान—लूंगा तो वह भी महान्, अर्थात् व्यर्थ न मरूं व्यर्थ भाग मे जान दूं। जब मेरी आकांक्षा उची हो गई है तो

मा नो अकृते पुरुहूत योनौ

टूटेफूटे उजड़ घर मे न स्थापित कर।

घर मिले, तो परिष्कृत, भूषित, सजा हुआ। योनि मिले तो परिष्कृत, जिस मे परिष्कार के सब साधन प्रस्तुत हों।

घर दिया किन्तु खाने को न दिया, तो घर व्यर्थ है अतः

क्षुध्यद्भ्यो वयः आसुतिं दाः

भूखों को वयः=कमनीय अन्न, जीवनप्रद अन्न तथा पान दे।

वेद कगाली के जीवनका विरोधी है। वेद मे एक स्थान पर आया है—

मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम [ऋ० ७।८९।१]

हे राजन्। वरुण। मैं मिट्टी के घर को प्राप्त न होऊं।

चाहिये सहस्रस्थूण=हजारों खंभों वाला घर चाहिये।

इसी भाव को मनु जी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

अप्राप्तामपि ता तस्मै कन्यां दद्याद्विचक्षणः। मनु० ९।८८

न चैवैना प्रयच्छे्त्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ मनु० ९।८८

विन्देत सदृशं पतिम्॥ मनु० ९।९०

श्रेष्ठ, सुन्दर तथा समान गुण वाले वर के प्रति ही बुद्धिमान् मनुष्य कन्या देवे। गुणहीन को तो कन्या कभी न देवे। कन्या सदृश्य पति को प्राप्त करे।

यदि स्वभाव समान न होगा, तो प्रतिदिन कलह बढ़ेगा और गृह नरक बन जायेगा।

(३) नारी **परावत.** दूर देश की हो। कन्या को वेद में दुहिता भी कहते हैं। दुहिता शब्द की निरुक्त करते हुये यास्काचार्य्य जी लिखते हैं—

दुहिता दुर्हिता दूरे हिता वा [निरु० ३।४]

दुहिता इस वास्ते कहते हैं कि यह दुर्हित है, और दूर में ही जिसका हित है।

दूरदेश के विवाह के लाभ सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास में देखिये।

(४) नारियां—इषं वहन्ती' हों।

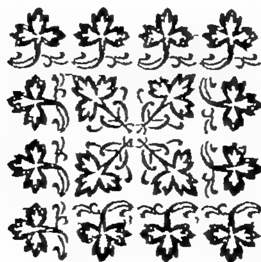
पुरुष यज्ञ करता है, उसके लिये आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करना, भोजनादि तैयार करना स्त्री का कार्य है। मनु जी कहते हैं—

अपत्य धर्म्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामत्मनश्च ह॥ मनु० ३।७७

सन्तान, धर्मकार्य्य, सेवा, उत्तम प्रीति, माता पिता का तथा अपना सुख सब स्त्री के अधीन है।

विवाहिता स्त्री को पत्नी कहते हैं। यज्ञ सम्बन्ध से वह पत्नी कहलाती है। अपना यज्ञ संबन्ध अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये याज्ञिक पति के कार्य्य में पूरा सहयोग देना चाहिये।

(५) पति भी सुकृत्=शुभ कर्म्म करने वाला, उत्तम दानी, याज्ञिक तथा परिश्रमी हो।



हमें अकृत घर न दे

ओ३म् । अधा मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा चोदस्व महते धनाय ।
मा नो अकृते पुरुहूत योनाविन्द्र क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः ॥ ऋ० १।१०४।७

(अध) अब, मैं (मन्ये) मानता हूं, तेरी सत्ता और महत्ता स्वीकार करता हूं (अस्मै) इस, तुझ पर (श्रत्+अधायि) श्रद्धा करता हूं। तू (वृषा) सुखवर्षक हो कर (महते) महान (धनाय) धन के लिये (चोदस्व) प्रेरित कर उत्साहित कर। हे (पुरुहूत) अनेकों से पूज्य ! (नः) हमें (अकृते) बिन बने, बिना सजाये (योनौ) घर में (मा) न स्थापित कर और हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान । (क्षुध्यद्भ्यः) भूखों को (वयः) अन्न और (आसुतिम्) पान (दाः) प्रदान करे।

भगवान् पर श्रद्धा होना बड़े भाग्य की बात है। पूर्व सुकृतों के परिणाम में यह उत्तम भाव जागता है। अन्यथा लोग अपने पालनकर्त्ता से विमुख ही रहते हैं। बहुत धक्के खाकर ही कोई भक्त बनता है—

अधा मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा

अब मैं मानता हूँ तुझ पर श्रद्धा करता हूँ, विश्वास करता हूँ कि तू वृषा है, सुखवर्षक है।

मुझे सुख चाहिये। तेरे भक्त कहते हैं—

भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमास्ति

भूमा ही सुख है, थोड़े में सुख नहीं है, अतः

चोदस्व महते धनाय

महान धन के लिये प्रेरित कर, उत्साहित कर।

तेरे पास आकर भी, तुझ पर विश्वास रख कर भी, तेरा श्रद्धालु बनकर भी मैं थोड़े में तृप्त हूंगा, कदापि नहीं। धन-संपत्ति लूंगा तो महान्। धन—निधान—लूंगा तो वह भी महान, अर्थात् व्यर्थ न मरूं धन मार्ग में जान दूं। जब मेरी आकांक्षा ऊंची हो गई है तो

मा नो अकृते पुरुहूत योनौ

टूटेफूट उजड़े घर में न स्थापित कर।

घर मिले, तो परिष्कृत, भूषित, सजा हुआ। योनि मिले तो परिष्कृत, जिस में परिष्कार के सब साधन प्रस्तुत हों।

घर दिया किन्तु खाने को न दिया, तो घर व्यर्थ है अतः

क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः

भूखों को वय=कमनीय अन्न, जीवनप्रद अन्न तथा पान दे।

वेद कंगाली के जीवनका विरोधी है। वेद में एक स्थान पर आया है—

मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम [ऋ० ७।८९।१]

हे राजन। वरुण ! मैं मिट्टी के घर को प्राप्त न होऊं।

पक्का सहस्रस्थूण=हजारों खंभों वाला घर चाहिये।

आयु का प्रथम भाग सुकृत से बिताने का फल

ओ३म । आदिङ्गरा॰ प्रथम दधिरे वय. इद्धाग्नय॰ शम्या ये सुकृत्यया ।
सर्वं पणे समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्त पशु नर॰ ॥ ऋ० १।८३।४

(ये) जो (अङ्गिरा॰) अङ्गारों के तुल्य (इद्धाग्नयः) प्रदीप्त है अग्नि जिनकी ऐसे होते हुए (प्रथमम्-वय.) आयु के प्रथम भाग को (शम्या) शान्तिदायक (सुकृत्यया) उत्तम क्रिया के साथ (आत्) सर्वथा (अधिरे) धारण करते हैं । वे (नरः) मनुष्य अगुआ बन कर (पणेः) पणि के, व्यवहार कुशल के (अश्वावन्तम्) अश्वादि युक्त, (गोमन्तम्) गौ आदि, तथा (पशुम्) देखने भालने योग्य अन्य पदार्थ और (पणे॰) पणिके, व्यवहार कुशल, प्रशसनीय मनुष्यों के योग्य (सर्वम्) सभी (भोजनम्) भोगसामग्री को (समविदन्त) प्राप्त करते हैं ।

सामान्यरूप से शास्त्रों में आयु के चार भाग किये गये हैं। आयु का प्रथम भाग शरीर, मन, बुद्धि आत्मा के विकास, पुष्टि, बुद्धि तथा शुद्धि के लिये नियत है ।

मनुष्य जीवन का लक्ष्य शान्ति प्राप्ति है । यदि आरम्भ से उसके साधनों का अनुष्ठान किया जाये, तो अन्तिम अवस्था मे शान्ति का प्राप्त होना अवश्य सम्भव है । यदि आरम्भ मे कुटिलता , कदाचार आदि शान्तिविघातक दुर्व्यसनों में व्यस्त हो गये, तोफिर उनको हटाना अत्यन्त कठिन है । फ़ारसी मे एक कहावत है जिसका भाव यह है कि 'जब स्थपति [घर आदि बनाने वाला शिल्पी] ने नींव की पहली ईंट ही टेढी रखी, तो चाहे मकान को आकाश तक ले जाओ, दीवार टेढी ही रहेगी' इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को सामने रख कर वेद जीवन के प्रथम भाग के सम्बन्ध मे कहता है—

आदगिराः प्रथमं दधिरे इद्धाग्नय. शम्या ये सुकृत्यया

जीवनाग्नि को प्रदीपत रखते हुए जो तेजस्वी जीवन के प्रथम भाग को शान्तिदायक सुकर्मों के साथ धारण करते हैं ।

अर्थात् जीवन के प्रथम भाग में अग्नि खूब प्रदीप्त रखना चाहिये । ब्रह्मचर्य्य द्वारा शरीरस्थ वीर्य्याग्नि, ज्ञानाग्नि आदि को प्रदीप्त रखना चाहिये । अच्छे कर्म हों, जिनका परिणाम शान्ति हो। अच्छे कर्मों की यह पहचान है। शान्तिदायक सुकर्मों से अग्नि को प्रदीप्त करने से ही अङ्गिरा= अगार बनेगा ।

मन्त्र के उत्तरार्ध में सदा चार का फल वर्णित हुआ है जीवन की सब सामग्री सच्चरित को प्राप्त होती है । मनु जी ने कदाचित् इसी उत्तरार्ध का अनुवाद करते हुए कहा है—



आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ [४।१५६]

आचार से मनुष्य आयु [दीर्घायु] प्राप्त करता है, आचार से अभीष्ट, श्रेष्ठ सन्तान, तथा आचार से अक्षय्य धन प्राप्त करता है। और आचार के द्वारा समग्र दुष्ट लक्षणों का नाश करता है।

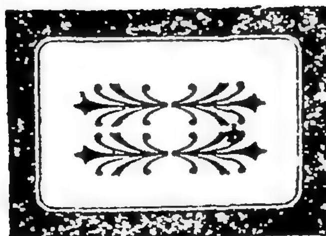
ऋषि दयानन्द ने आचार का अर्थ 'ब्रह्मचर्य्य जितेन्द्रियता' किया है। है भी ठीक। यही आचरण करने की वस्तु है।

इस के विपरीत मनु जी ने दुराचारी की दुर्दशा का दिग्दर्शन भी करा दिया है—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ [४।१५७]

दुराचारी मनुष्य की लोक में निन्दा होती है, वह सदा दुःखी, और रोगी रहता है। और उसकी आयु भी थोड़ी होती है।

अतः जीवन के आरम्भ से ही सदाचार का अभ्यास करना चाहिये।



प्रभो ! अपने ज्ञान से हमें शिक्षा दे

ओ३म् । सनादेव तव रायो गभस्तौ न क्षीयन्ते नोपदस्यन्ति दस्म ।

द्युमाँ असि क्रतुमाँ इन्द्र धीरः शिक्षा शचीवस्तव नः शचीभिः ॥ ऋ. १।६२।१२

हे (दस्म) दुःखनाशक (इन्द्र) ऐश्वर्यप्रदातः प्रभो । (सनात्+एव) सनातन से ही, अनादि काल से ही (रायः) धन (तव) तेरे (गभस्तौ) अधिकार में है जो (न) न तो (क्षीयन्ते) घटते हैं और (न) नाही (उपदस्यन्ति) नष्ट होते हैं। हे प्रभो ! तू (द्युमान्) प्रकाशवान्, ज्ञानवान् (क्रतुवान्) क्रियावान् एव (धीरः) धीर (असि) है। हे (शचीव.) बुद्धिदातः ! तू (नः) हमें (तव) अपनी (शचीभिः) बुद्धियों से, शक्तियों से [शिक्षा] शिक्षा दे, सिखा।

अनादि भगवान् का भग=ऐश्वर्य भी अनादि है। जब से भगवान् है, तब से उसका भग है, और वह उस के अधिकार में है। ससारस्थ प्राणियों के धन घटन बढते रहते हैं। क्योंकि

ओ हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुपतिष्ठन्तराय ॥ ऋ० १०।११७।५

अरे धन तो रथ के पहियों के समान दूसरे से दूसरे के पास जाते रहते हैं।

धन का सभाल कर रखना एक विशेष कला है। जो उस कला को नहीं जानता, सपत्ति उस का त्याग कर देती है। भगवान् से बढकर नीतिमान् कौन है ? वह प्रणीति सर्वोत्कृष्ट नीतिमान है। अतएव धन उसके वश में रहते हैं। भगवान् के धन का विनाश या ह्रास नहीं होता। दाता का धन नष्ट नहीं होता—

उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति ॥ ऋ० १०।११७।१

दाता का धननष्ट नहीं होता।

भगवान् सब से बडा दानी है। वेद मे आता है—

भूरिदा ह्यसि श्रुतः ॥ ऋ० ४।३२।२१

तू बड़ा दानी प्रसिद्ध है।

भूय इन्नु ते दान देवस्य ॥ ऋ० ८।४।

तुझ भगवान् का दान सचमुच महान् ही है।

जहा दान के कारण भगवान् का धन अक्षय्य है, वहा वह स्वभाव से भी अनन्त है—

नहि ते शूर राधसोऽन्त विन्दामि सत्रा ॥ ऋ० ८।४६।११

दुःख विनाशक परमेश्वर ! तेरे धन का अन्त मै कभी नहीं पाता हूँ।

अनन्त का धन अनन्त ही होना चाहिये।

भगवान् जड़निधि नहीं है, वरन्

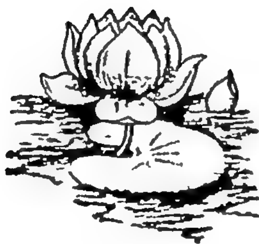
द्युमा असि क्रतुमा इन्द्र धीर.

हे ऐश्वर्य्यप्रदात । तू द्युमान्, क्रतुमान् और धीर है । तू द्युमान् है, अर्थात तुझे अपने धन-ऐश्वर्य—का ज्ञान है । धन के अर्जन, रक्षण का ज्ञान न हो, तो धन नष्ट हो जाय । अच्छा ! अर्जन की भगवान् को आवश्यकता नहीं, किन्तु रक्षण की तो होगी । नहीं, वह स्वभाव से धनवान् है, अतः उस का धन रक्षण की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि स्वभाव अनपायी=अविनाशी होता है । द्युमान् होने के साथ ही वह क्रतुमान् है=यज्ञवान् है। यज्ञ करने से परोपकारार्थ धन लगाने से धन का नाश नहीं होता।

भगवान् के धन के नाश न होने का, सदा रहने का जो भी कारण हो, हम तो उससे प्रार्थना करते हैं—

शिक्षा शचीवस्तव न शचीभिः

बुद्धिमद्वरिष्ठ । बुद्धि के प्रेरक । हम अल्पज्ञ हैं, हमारी बुद्धि में भ्रम की सभावना है, विकार का डर है, तू अपनी बुद्धियों से अपनी युक्तियों से शिक्षा दे ।



६६

हम तेरे हैं

ओ३म्॥ भूरि त इन्द्र वीर्यं तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन् काममा पृण।

अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे ॥ ऋ १।५७।५

हे (इन्द्र) महाबलपराक्रमेश्वर ! (ते) तेरा (वीर्य्यम्) सामर्थ्य (भूरि) महान् है। हम (तव) तेरे (स्मसि) हैं। हे (मघवन्) पूजित धनवान् भगवन् ! (अस्य) इस (स्तोतुः) स्तोता की (कामम्) कामना को (आ+पृण) पूर्ण कर। (बृहति) विशाल (द्यौ) द्यौलोक (ते) तेरे (वीर्यम्+अनु) बल के अनुसार ही (ममे) बना है (च) और (इय) यह (पृथिवी) अन्तरिक्ष या पथिवी (ते ओजसे) ओज के सामने, बल के सामने (नेमे) झुक रही है।

भगवान् के बल का पार कौन पासकता है ? जिसने यह समस्त जगत् बनाया है उसकी महत्ता की इयत्ता कैसे कोई जान सकता है ? निर्बल प्राणी को ससार में जड़ चेतन सभी से भय लग रहा है। वह रक्षक की खोज में है। ससार मे महान् और बलवान् समझ कर जब किसी के पास जाता है, तो उसे भयभीत पाता है। खोजते खोजते प्रभु के पास पहुँचता है और उसे न केवल स्वय भय रहित वरन् दूसरों को भी भय रहित करने वाला पाता है—

स्वस्तिदा विशा पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।

वृषेन्द्र: पुर एतु न सोमपा अभयकर ॥ अ १।२१।६॥

कल्याण प्रदाता, पापनाशक, दुष्टों को वश में रखने वाला, सुख वर्धक, शान्ति पालक, प्रजा पालक, अभयकर=अभय करने वाला भगवान् हमारा आदर्श हो।

निर्बल भयभीत दूसरे को क्या भयरहित करेगा। परन्तु भगवान् बलवान् है। यह अनुभव करके भक्त उसकी शरण मे जाता है और कहता है—

भूरि य इन्द्र वीर्यं तव स्मसि।

प्रभो! तेरा बल महान् है। हम तेरे हैं।

'तव स्मसि' हम तेरे हैं। अभिमान छूट गया। अपने बल की निर्बलता या मूल का ज्ञान होते ही मुख से निकलता है—तव स्मसि—हम तेरे हैं।

हम तेरे हैं, तुझ ही से मागते हैं—

अस्य स्तोतुर्मघवन् कामापृण।

हे पूजित धन वाले! इस भक्त की कामना-भावना पूरी कर।

भक्त की कामना भी सुनले—

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे।

उत त्वमस्मयुर्वसो ॥ ऋ. ३।४१।७॥

हे इन्द्र । हम तुझे चाहते हुए श्रद्धा भक्ति से तेरी स्तुति करते हैं । हे वसो । सब को बसाने वाले । तू भी हमें चाहने वाला हो ।

प्रभो । जब तेरी चाहना हमारी ओर होगी तो हम सचमुच तेरे ही हो जावेंगे ।

तेरे सामर्थ्य का परिचय यह विशाल द्यौ और पृथिवी दे रहे हैं । दोनों तेरे बल के आगे झुक रहे हैं । तेरे बल को जान कर हम तेरे पास आये हैं और निवेदन करते हैं—

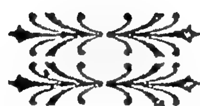
इन्द्र तुभ्यमिन्मघवन्नभूम वयं दात्रे मा विवेन. (ऋ. ६।४४।१०)

हे पूजित धन पते । धनदाता । हम तुझ दाता के लिये जीते हैं । हमारी उपेक्षा न कर । प्रभो । शरणागत की उपेक्षा न कर । तुझे छोड़ कर जायें भी कहां ? न ही जाता ।

नहि त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वच ॥ ऋ. १।८४।१९॥

मैं तो तुझे कहता हूं कि हे पूजित धनपते । दाता । तेरे बिना और कोई सुखदाता, तृप्ति प्रदाता नहीं है ।

जब तुझ बिना सुखदाता और कोई नहीं, तब मैं क्यों अन्यत्र जाऊं ?



धनी दरिद्र दोनों उस के याचक

ओ३म् । अस्य शासुरुभयास सचन्ते हविष्मन्त उशिजो ये च मर्त्ता. ।
दिवश्चित्पूर्वो न्यसादि होतापृच्छ्यो विश्पतिर्विक्षु वेधा' ॥ ऋ १।६०।२ ॥

(ये) जो (हविष्मन्तः) जीवन-सामग्री-सम्पन्न धनी हैं, त्यागी हैं (च) और जो (मर्त्ता) मनुष्य (उषिज) धनाभिलाषी हैं कामी हैं वे (उभयासः) दोनों प्रकार के मनुष्य (अस्य) इस (शासु.) शासक के (सचन्ते) शरणागत होते हैं । वह (होता) दानी (आपृच्छ्य) जिज्ञास्य, जानने योग्य (विश्पति.) प्रजा-पालक (वेधा) विधाता, महान् ज्ञानी (दिव) द्यौ से, सूर्य से (चित्) भी (पूर्व') पूर्व (विक्षु) प्रजाओं में (न्यसादि) रहता है ।

ससार मे कोई ऐसा धनी नहीं मिलता, जो तृप्त हो। अपार सा ऐश्वर्य होते हुवे भी उमे धन की लालसा लगी रहती है। किसी मनुष्य को अपने से अधिक धनी न देख कर वह प्रभु से ही याचना करता है। अमीरों को उस से मागने पर लाज नहीं आती। दरिद्र तो उस से मागते ही हैं।

वास्तव में सम्पत्ति का भाव और अभाव, धनिता तथा दरिद्रता हृदय से मन से सम्बन्ध रखती है। जिस के हृदय में जितनी अधिक लालसा उतना वह दरिद्र। किसी ने कहा भी है—

को हि दरिद्रो ! यस्य तृष्णा विशाला=
कङ्गाल कौन ? जिस की तृष्णा, लालसा विशाल है।
चाहे अभाव के कारण हो, और चाहे लालसा के कारण। मागना पड़ता है। इस वास्ते—

अस्य शासुरुभयास' सचन्ते=
दोनों धनी—दरिद्र, त्यागी कामी उस शासक के शरण में जाते हैं।
क्योंकि वह—ईशे हि वस्व उभयस्य (ऋ ६।१६।१६।)=
दोनों प्रकार के धनों का स्वामी है।

धनी को जो धन चाहिए, वह भी भगवान् के पास है, कङ्गाल को जो चाहिए, वह भी भगवान् के पास है। त्यागी जो कुछ चाहता है, उस का अधिष्ठाता, भी वही है। और काम-कामी को जो चाहिए, उस का अधिपति भी वही है। जब सब प्रकार के धनों का स्वामी वही है तो वही—आपृच्छ्य.=पूछने योग्य है, सवाल करने योग्य है। उस को ही जानना चाहिए। वेद ने कहा भी है—

त सप्रश्न भुवना यन्त्यन्या (ऋ ६)
उसी सप्रश्न=आपृच्छ्य=जिज्ञास्य को सम्पूर्ण भुवन प्राप्त हो रहे हैं।
तैत्तिरीयोपनिषत् की भृगुवल्ली के प्रथमानुवाक में कहा है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति।

यत्प्रन्त्यभि संविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म ॥

जिससे ये सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए जिससे जीते हैं, मरते हुए जिसमें जाते हैं। उसके सबन्ध मे पूछ, जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है।

वेद के आपृच्छय और सप्रश्न की व्याख्या है। वही आपृच्छय दानी है, वही प्रजापालक है। वह लौकिक राजा की भाति प्रजा के पश्चात् उत्पन्न नहीं होता। वरन् वह—

दिवश्चित्पूर्वोन्यसादि विशु=सूर्य्य से भी पूर्व प्रजाओं में रह रहा है।

इस ससार मे—सौर मडल में सबसे पूर्व सूर्य्य उत्पन्न होता है। शेष सृष्टि उसके पश्चात् होती है। किन्तु भगवान् उससे भी पूर्व अपनी शाश्वत प्रजाओं—जीवों और परमाणुओं मे विद्यमान रहता है। हुआ जो वह पुर' स्थाता (ऋ. ८।४६।३)=सबसे पहले रहने वाला।

प्रभो। जब तू सब से पूर्व विद्यमान है और सभी तुझ से मागते हैं तो हमारी भी माग सुनले—

यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्ष तदाभर। (ऋ. ५।३६।२)=

जिस धन को तू सर्वश्रेष्ठ मानता है, वह हमे दे।



जितेन्द्रिय गृहस्थ धनियों का धनी

ओ३म् । उशिक् पावको वसुर्मानुषेषु वरेण्यो होताधायि विक्षु ।

दमूना गृहपतिर्दम आ अग्निर्भुवद्रयिपती रयीणाम् ॥ऋ. १।६०।४॥

(उशिक्) कामनाओं वाला (पावकः) पवित्र (वसु.) वास देने वाला (मानुषेषु=वरेण्यः) मनुष्यों से श्रेष्ठः (होता) दाता (विक्षुः) प्रजाओं मे (अधायि) लाया गया है। ऐसा (दमूना.) दान्त, जितेन्द्रिय (गृहपतिः) गृहस्थ (दमे) घर में, अथवा दमन के कारण (रयीणा+रयिपतिः) सब धनियों का धनी तथा (अग्नि.) नेता, श्रेष्ठ (आ+भुवत्) सब प्रकार से होता है।

इस मन्त्र में श्रेष्ठ पुरुष को ही गृहस्थाश्रम का अधिकार दिया गया है और जितेन्द्रिय गृहस्थ की महिमा वर्णन की गई है।

गार्हस्थ्य का अधिकारी 'उशिक्' कामना वाला होना चाहिये। क्योंकि अकाम=कामनारहित की कोई क्रिया नहीं हो सकती। संसार में जो कुछ हो रहा है, सब कामना के कारण हो रहा है। जैसा कि मनु जी कहते हैं।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तद्धि कामस्य चेष्टितम् ॥ [२।४]

निष्काम का कहीं कोई क्रिया नहीं दिखाई देती, जो कहीं भी कोई क्रिया है, सब कामना से है'।

गार्हस्थ्यभिलाषी को पवित्र होना चाहिये। दुराचारी अपवित्र को इस आश्रम का अधिकार नहीं। मनु जी ने कहा है—**अधर्यो दुर्बलेन्द्रियैः**=दुर्बल इन्द्रिय वालों को गृहस्थाश्रम धारण करने का अधिकार नहीं। और '**अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृह आश्रममाविशेत**' अखण्डित ब्रह्मचर्य्य वाला गृहस्थाश्रम में प्रविष्ठ हो। वह दाता और वसु भी होना चाहिये—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ मनु. ३।७८ ॥

चूँकि तीनों ही आश्रमियों—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी—को गृहस्थ ही दान और अन्न के द्वारा प्रतिदिन पालता है, इस वास्ते गृहस्थाश्रमी ज्येष्ठ है।

ब्रह्मचारी गृहस्थ से उत्पन्न होता है, वानप्रस्थ और सन्यासी भी, सामान्यतः गृहस्थ से होते हैं, अतः गृहाश्रम ज्येष्ठ है। वेद ने इसको इन शब्दों में कहा है—

वसुर्मानुषेषु वरेण्यो होताधायि विक्षु=

बसाने वाला, मनुष्यों में श्रेष्ठ, दाता प्रजाओं में लाया गया है।

गृहस्थ=गृहपति को दान्त=जितेन्द्रिय होना चाहिये। कइयों को भ्रम है कि गृहस्थ होने से उन्हें ब्रह्मचर्यभंग का आदेशपट्ट मिल गया है। अतिप्रसक्ति से मनुष्य हीनवीर्य और दुर्बलेन्द्रिय होजाता है। दुर्बलेन्द्रिय मनुष्य से गार्हस्थ्य का निर्वाह नहीं हो सकता। मनु जी कहते हैं—

स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।

सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥४।७६॥

अक्षय सुख और संसार सुख के अभिलाषी को यह गृहस्थाश्रम प्रयत्न से धारण करना चाहिये, क्योंकि दुर्बलेन्द्रिय मनुष्य इसको धारण नहीं कर सकते।

गृहस्थाश्रम एक छोटा सा संसार है। इस संसार को पालने के लिये बड़ी शक्ति चाहिये। शक्ति ब्रह्मचर्य और इन्द्रियदमन से प्राप्त होती है, अतः मनु जी कहते हैं—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।

ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥३।५०॥

गृहस्थ यदि ऋतुकालाभिगामी हो, और अपनी पत्नी के अतिरिक्त किसी से रत न हो, जिस किस स्थान में रहता हुआ ऐसा गृहस्थ ब्रह्मचारी ही होता है।

ऐसा जितेन्द्रिय गृहस्थ सचमुच—

भुवद्रयिपती रयिणाम्=धनियों का भी धनी होता है।

ब्रह्मचर्य धन के समान और कोई धन नहीं है। अन्तिम वाक्य से ऐसी ध्वनि निकलती प्रतीत होती है कि दरिद्र को विवाह का अधिकार नहीं है। है भी ठीक, जिसके पास भरण पोषण का सामान नहीं है, वह इस व्ययसाध्य आश्रम का अधिकारी कैसे हो सकता है। विवाह के समय वर वधू को कहता है—'त्वं मम पोष्या'=तेरा पालन मैं करूँगा। दरिद्र का ऐसा कहना विडम्बना ही है।



(गृहस्थ) कार्य्यारंभ की सामग्री

ओ३म् । समिन्द्र राया समिषा रभेमहि स वाजेभि पुरुश्चन्द्रैरभि द्युभि' ।
स देव्या प्रमत्या वीर शुष्मया गोअग्रयाऽश्ववत्या रभेमहि ॥ ऋ. १।५३।५

हे (इन्द्र) परमेश्वर । हम (राया) धन से (स+रभेमहि) आरम्भ करें, (इषा) अन्न से (सम्) आरम्भ करें (वाजेभि') ज्ञान बलादिकों से (स) आरम्भ करें (पुरु—चन्द्रैः) अत्यन्त प्रसन्न करने तथा (द्युभिः) यशों के साथ (अभि) सम्मुख हो आरम्भ करें (देव्या) दिव्यगुणयुक्त (वीरशुष्मया) वीरों के बल वाली (गोअग्रया) गवादि दूध देने वाले साधन मुख्य हैं जिसमें ऐसी और (अश्वत्या) अश्वादि भार ढोने वाले साधनों से युक्त (प्रमत्या) उत्तम बुद्धि से (स+रभेमहि) आरम्भ करें ।

गृहस्थाश्रम के लिये कुछ आवश्यक सामग्री का निर्देश इस मन्त्र में है ।

१ रै=धन । गृहस्थाश्रम धन के बिना चल नहीं सकता ।

२ इट्= अन्न । धन का प्रयोजन जीवनसामग्री सम्पादन करना है । जीवनसामग्री में अन्न का प्रधान स्थान है, अतः धन के पश्चात् अन्न का उपादान किया है ।

३ वाज=बल । अन्न से बल होता है । कहा है—

अन्नं वै प्राणिनां प्राण =अन्न तो प्राणियों का प्राण है ।

अन्न से ही जगत् जीता है । धन से ऐसा अन्न उपार्जन करना चाहिये, जो बल दे । वेद ने 'बल' शब्द का प्रयोग न करके 'वाज' का प्रयोग विशेष अभिप्राय से किया है । वाज का अर्थ गति देने वाला बल, तथा ज्ञान है । जहां रै [राया] और इट् [इषा] एक वचनान्त हैं । वहां वाज [वाजेभि] बहुवचनान्त है । बल अनेक प्रकार का होता है । शरीर-बल, इन्द्रिय बल, हृदय-बल, मनोबल, बुद्धिबल, आत्मबल, अध्यात्मबल, ज्ञानबल, ध्यान-बल, कर्म-बल, धर्म-बल, राज्य-बल, समाज-बल, राष्ट्र-बल आदि अनेक बल हैं । इस वास्ते एकवचनान्त 'वाजेन' न कह कर 'वाजेभि' का प्रयोग किया है । दुर्बल, अज्ञानी को गृहस्थाश्रम का अधिकार नहीं है ।

४ पुरुचन्द्र द्यु । यश भी आवश्यक है । ऐसा यश जिससे आनन्द बहुत आनन्द प्राप्त हो । दुष्कीर्त्ति वाला गृहस्थ आदर का पात्र नहीं होता ।

५ इनसे बढ़कर 'प्रमति'=उत्तम बुद्धि अत्यन्त आवश्यक है । मूर्ख किस प्रकार गृहस्थव्यवहार चलायेगा । बुद्धि में निम्नलिखित विशेषतायें होनी चाहियें—

(क) वीरशुष्मा—वीर=सन्तानों में बल बढ़ाने वाली हो । अर्थात् गृहस्थ को इन उपायों का ज्ञान होना चाहिये, जिनसे सन्तान बलवान् गुणवान बनती है ।

(ख) गोअग्रा । गृहस्थ को भोजन तथा यज्ञ के लिये दूध, घृत, दधि आदि पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है । दूधारु पशुओं में गौ सबसे उत्तम है । गृहस्थ के घरबार में गौ सेवा होनी चाहिये । गौ के बिना दूधादि उत्तम खाद्य पदार्थ न मिलने से गृहस्थाश्रम नरकधाम सा हो जाता है ।

(ग) अश्ववती । भार उठाने के साधनों का उपाय भी होना चाहिये ।

(घ) देवी । वह प्रमति देवी दिव्यगुणयुक्त होनी चाहिये । आसुर भाव वाली नहीं ।

यह थोड़ी सी आवश्यक सामग्री है, जिसके विना गृहस्थाश्रम का आरम्भ नहीं करना चाहिये ।

परमेश्वर स्वभूत्योजाः

ओ३म् । त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अव से धृषन्मनः ।
चक्रे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥ ऋ० १।५२।१२ ॥

हे (धृषन्मनः) सब के मनों को धर्षण करने वाले भगवन् ! (त्वम्) तू (अस्य) इस (रजसः) लोक और (व्योमनः) आकाश के (पारे) परे भी, (स्वभूत्योजाः) स्वसत्ता॰ से ओजस्वी होता हुआ, अपने कार्य्यों में दूसरों से निरपेक्ष होता हुआ (अवसे) रक्षा के लिये समर्थ है । तूने (भूमिम्) भूमि को (ओजसः) अपने बल का (प्रतिमानम्) अनुमान कराने वाला (चक्रे) बनाया है और (परिभूः) सर्व-व्यापक होता हुआ (अपः) जल तथा अन्तरिक्ष (स्वः) प्रकाश, आनन्द और (दिवम्) द्यौ लोक में (आ+एषि) सर्वतः प्राप्त है ।

भगवान् की शक्ति कितनी बड़ी है इस का व्यक्त करने के लिये इस मन्त्र में 'धृषन्मनः' पद का प्रयोग हुआ है । मनुष्य का मन बड़ा प्रबल है । वह वात इव ध्रजीमान् (वेद)=वायु की भांति वेगवान् है किन्तु भगवान् उस से भी बलवान् है । मानुष-मन भगवान् के सामने हार मानता है । इसी वास्ते भगवान् को धृषन्मन कहा है ।

वेद में कहा है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपाद स्यामृतं दिवि (य. ३१।३)=

यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड मानो उस के एक अंश में है । शेष वह अविनाशी स्वप्रकाश में स्थित है । इस का अर्थ हुआ कि इस विशाल संसार से परे भी वह है । तो वहां उस की रक्षा कौन करेगा ? इस का उत्तर है—

त्वमस्य पारे रजसो व्योमन अवसे=

इस अपार संसार के पार (परे) तू ही रक्षक है ।

क्योंकर । तू

स्वभूत्योजा है स्वकार्य्यों में परनिरपेक्ष है ।

कैसे मानें कि वह स्वभूत्योजा है ?

चक्रे भूमिं प्रतिमानमोजस=वह भूमि को अपने बल का प्रतिमान=अनुमापक बनाता है ।

छोटी सी बारीक सुई देख कर सुई बनाने वाले की महिमा गाने लग जाते हो, किन्तु लोक बनाने वाले को भूल जाते हो । नहर खोदने वाले की प्रशंसा के पुल बांधते हो किन्तु अहन्नहिमपस्ततर्द (ऋ) बादल तोड़कर जल बहाने वाले की बात नहीं करते हो । इन तुच्छ पदार्थों में तुम्हें यदि तथा

शक्ति का उपयोग दीखता है किन्तु वसुन्धरा धरा, महती मही को किसी का बनाया नहीं मानते हो। अरे ! उसी ने बनाई है। अगले मन्त्र में तो स्पष्ट कह दिया—

त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्याः [ऋ० १।५२।१३]= तू पृथिवी का रचने वाला है।

भूमि के रचने वाले ने अपना अनुमान कराने का साधन तो दे दिया। न देखो तो।

नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति=
यह स्तंभ का अपराध नहीं यदि उसे अन्धा न देखे। वरन
पुरुषापराध एव स =यह मनुष्य का अपराध है।
रची पृथिवी को देख कर भी जो रचने वाले को न माने तो रचने वाले का क्या अपराध
वह अप स्व' परिभूरेष्या दिवम्
जल, प्रकाश आकाश में सर्वव्यापक होकर सर्वत्र प्राप्त है।
अगले मन्त्र में स्पष्ट ही तो बता दिया—

विश्वमाप्रा-अन्तरिक्षं महित्वा=विश्व और सारे अन्तरिक्ष को अपनी महिमा से व्याप रहा है।
सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान्। [ऋ० १।५२।१३]=सचमुच तेरे जैसा और कोई नहीं है।
जो अनुपम है, वह अपने ही ओज में रहता है, उसे दूसरे में रक्षित होने की अपेक्षा नहीं होती।



वन में भजन

ओ३म्। सइन्द्वने नमस्युभिर्वचस्यते चारु जनेषु प्रब्रुवाण इन्द्रियम्।
वृषा छन्दुर्भवति हर्यतो वृषा क्षेमेण धेनां मघवा यदिन्वति॥ ऋ. १।५५।४

(जनेषु) लोगों में (चारु) मनोहर (इन्द्रियम्) इन्द्रशक्ति, इन्द्रप्रेम का (प्रब्रुवाणः) उपदेश करने वाला (सः+इत्) वही प्रभु (नमस्युभिः) नमस्कार करने वाले भक्तों के द्वारा (वने+इति) वन में ही एकान्त में ही अथवा अभिलाषी के प्रति (वचस्यते) विवक्षित होता है, कहने को अभीष्ट होता है। वह (वृषा) सुख वर्षक प्रभु (हर्यतः) अभिलाषी का, भक्त का (छन्दुः) रक्षक (भवति) होता है (यत्) जब वह (मघवा) पूजित धनवान् भगवान् भक्त के लिये (वृषा) सुख वर्षक होता है (क्षेमेण) कुशलता के साथ, प्राप्त की रक्षा के साथ (धेनाम्) वाणी को (इन्वति) प्रेरित करता है।

भक्त लोग एकान्त में ही भगवान् का भजन करना चाहते हैं, एकान्त में ही उसका उपदेश करते हैं, इसका भी एक कारण है—

चारु जनेषु प्रब्रुवाण इन्द्रियम्=लोगों में सुन्दर ईश्वरप्रेम का उपदेश करता है।

एकान्त में ही भगवान का, अन्तर्यामी भगवान् का उपदेश सुनाई देता है। भीड़ भड़क्के में रहने से वृत्ति बहिर्मुख हो जाती है, अन्दर की बात सुनाई नहीं देती। अतः

स इद्वने नमस्युभिर्वचस्यते=भक्त लोग वन में ही उसकी बात चीत=चर्चा करना चाहते हैं।

अपने जैसों के साथ ही बात चीत हो सकती है। जैसा कि महर्षि गोतम जी ने कहा है—

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः [न्यायद० ४।२।४७]=अध्यात्म विद्या का ग्रहण, धारण, अभ्यास यह सब कुछ अध्यात्मविद्यावेत्ताओं के साथ संवाद करने से बन पड़ते हैं। अज्ञानी के साथ बात चीत का लाभ? जो भगवान की कामना करता है, भगवान् भी उसका वृषा छन्दुर्भवतिहर्यत=सुख वर्षक होकर रक्षक होता है।

वेद में कहा है—न जरितुः काममूनयी. [ऋ ५।५३।३]

भक्त की कामना अधूरी नहीं रहने देता।

भगवान् एकान्त में केवल अपनी भक्ति की शक्ति ही का उपदेश नहीं करता, वरन्

क्षेमेण धेनां मघवा यदिन्वति=क्षेम के साथ वाणी को देता है।

अर्थात् भक्त के कुशल कल्याण का भार भगवान् अपने ऊपर ले लेता है। वह तो

प्र वीर्येण देवताति चेकिते [ऋ. १।५५।३]=शक्ति के कारण सब देवों से, दानियों में, दिव्य गुणवालों से बढ़कर जाना जाता है।

इस वास्ते अधा चन श्रद्धधीत त्विषीमत इन्द्राय [ऋ. १।५५।५]=अब तो उस तेजस्वी भगवान् पर श्रद्धा करो।

और एकान्त में जाकर उसके भजन के द्वारा अपने अन्दर बल, वीर्य्य, पराक्रम, ज्ञान, ध्यान, समाधान का आधान करो।

इन्द्र ! तेरे शरीर में अनेक कर्म हैं

ओ३म्। अप्रक्षितं वसु बिभर्षि हस्तयोरषाढं सहस्तन्वि श्रुतो दधे।

आवृतासोऽवतासो न कर्तृभिस्तनूषु ते क्रतव इन्द्र भूरयः॥ ऋ० १।५५।८

हे (इन्द्र) इन्द्र=ऐश्वर्याभिलाषिन्! तू (हस्तयोः) हाथों मे (अप्रक्षितम्) अखुट (वसु) धन (बिभर्षि) धारण करता है। (श्रुतः) सर्वत्र प्रसिद्ध होता हुआ (तन्वि) शरीर मे (अषाढम्) असह्य (सहः) बल (दधे) धारण करता है (ते) तेरे (तनूषु) शरीरों म, विस्तारों मे (अवतासः+न) रक्षितों की भांति, निधियों की भांति (कर्तृभि) रक्षकों से (आवृतास.) आवृत, आच्छादित (क्रतव.) कर्म्म (भूरयः) बहुत हैं।

हे ऐश्वर्याभिलाषिन्! कहा भटकता है? धन की खोज में, देख तू तो

अप्रक्षितं वसु बिभर्षि हस्तयोः=हाथों में अखुट धन धारण करता है।

तेरे जैसे किसी का कहना है—अयं मे हस्तो भगवान् (ऋ. १०।६०।१२)=यह मेरा हाथ भगवान्=ऐश्वर्यवान् है।

अत हाथ हिला, धन बरसने लगेगा। कहता है। हाथ कैसे हिलाऊ, शक्ति नहीं। अरे

अषाढं सहस्तन्विश्रुतो दधे=यह प्रसिद्ध है कि तू शरीर में असह्य बल धारे हुए है।

असह्य बल जिसके सामने दूसरा न ठहर सके। देख! अपना शरीर तो देख यहा तो

आवृतासो अवतासो न कर्तृभिस्तनूषु ते क्रतव इन्द्र भूरयः=अनेक बडे कार्य्यकर्त्ता दीख रहे हैं मानों किसी कोष की रक्षा मे लगे हुए हों।

देखो। आख शरीर मे कार्य्य कर रही है खुली रहती है। कान खडे रहते हैं। नाक सदा खुली रहती है। स्पर्श क्षण क्षण के ऋतु का परिचय दे रहा है। रसना रस की मीमासा में लगी है। प्राण निरन्तर चल रहे हैं। मन अपनी उधेड़ बुन में लगा है। विचार कर देखो, ये सारे के सारे कार्य्य में लगे हैं। इन्हीं के सम्बन्ध में कहा है—

सप्त ऋषय' प्रतिहिता शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। य. ३४।५५=शरीर में सात ऋषि बिठा रखे हैं वे सातो प्रमादरहित होकर घर की रक्षा कर रहे हैं।

केवल कर्त्ता ही नहीं, वे ऋषि हैं, द्रष्टा=देखने वाले तथा दिखाने वाले भी हैं।

ऋषियों से रक्षित होकर भी तू यदि रक्षित नहीं है, ता कब रक्षित होगा?

तनूषु ते क्रतव इन्द्र भूरय. का भाव यह भी है। शरीरों में, इन्द्र, तेरे बहुत कार्य्य हैं।

अत इसे सम्भाल कर रख। बिगाड मत इसको। इससे तेरे अनेक प्रयोजन सिद्ध होने हैं। भोग का साधन यह प्रसिद्ध है ही। मानवतन को मोक्ष का द्वार भी सभी स्वीकार करते हैं। अतः सावधान होकर इस का प्रयोग, उपयोग कर।

प्राणों की कोई सुनता है

ओ३म् । यद्ध यन्ति मरुत स ह ब्रुवतेऽध्वन्ना ।
शृणोति कश्चिदेषाम् ॥ ऋ १।३७।१३॥

(यत्+ह) जभी (मरुत) प्राण (यन्ति) चलते हैं, (ह) सचमुच (अध्वन्) मार्ग को (आ) सब ओर से (सं+ब्रुवत) भली प्रकार बताते जाते हैं (कश्चित्) कोई विरला ही (एषाम्) इनकी प्राणों की बात को (शृणोति) सुनता है ।

यह विश्व वैचित्र्य का भण्डार है । छोटा सा ससार-हमारा शरीर—भी एक अच्छा खासा अद्भुतालय है । शरीर मे आख, नाक कान आदि को किसी न किसी के साथ आसक्ति है । आख रूप की प्यासी है, कान शब्द के भूखे हैं । रसना रस की रसिया है । नाक को गन्धमाल्य से प्रेम है । त्वगिन्द्रिय छूत की बीमारी है । रूप आदि आख आदि को लुभाकर इनको कर्त्तव्य से च्युत कर देते हैं । किन्तु प्राणों को किसी की आसक्ति नहीं सुन्दर सुन्दर रूप मधुर से मधुर शब्द मीठे से मीठे रस, कोमल से कोमल स्पर्श, और भीनी से भीनी सुगन्ध भी इनके कार्य्य मे प्रतिबन्ध नहीं डाल सकती । यजुर्वेद ३४।५५ मे बहुत सुन्दर कहा है—

तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ

उस शरीर म स्वप्न के वश मे न होने वाले जीवन यज्ञको चलाने वाले देव (प्राण) जागते रहते हैं ।

आख झपक जाती हैं, मुन्द जाती है । जीभ भी ऊब जाती है । इसी प्रकार सभी इन्द्रिया पर क्लान्त भाव आक्रान्त होजाता है किन्तु प्राण सदा जागते रहते हैं । बडे पक्के पहरेदार हैं । ये ऐसे हितकर हैं कि—यद्ध यन्ति मरुत. स ह ब्रुवतेऽध्वन्ना=जब यह चलते हैं तो अपना मार्ग पूरा बताते हैं ।

किसी नन्हें बालक को सुप्त दशा मे देखो, उसके प्राण कहा से कहा तक जा रहे हैं । स्पष्ट नाभि तक जाते और वहा से वापस ऊपर को आते हैं । तनिक बालक के तालु पर हाथ रखो, जहा ना।लपिला सा स्थान है, उसपर ध्यान से हाथ धरो । प्राण की प्रबल ठोकर लगती दीखेगी । प्राण इस प्रकार अपना मार्ग बता रहे हैं कि हमारा मार्ग नीचे से ऊपर को जाना है । ऐसा प्रबन्ध करो कि प्राणऊपर को पहुंच जाये प्राण सदा चलते रहते हैं, अत' सदा अपना सदेश देते रहते हैं । किन्तु—शृणोति कश्चिदेषाम्=इनकी सुनता कोई विरला ही है । जो सुनता है, वह—

नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय मन्यवे ।
जिहीत पर्वतो गिरि. ॥ ऋ. १।५।७

मनुष्य का बच्चा तुमको पहर भर के लिये भी यदि उग्र विचार के लिये धर लेता है । तो गांठों वाला गिरि=पहाड भी कांप जाता है ।

पहर भर प्राणों की बात सुनो, इनको रोको. तृष्णा अन्न पर्वत सन्दराय [illegible] जायेगा । सुषुम्णा जाग पडेगी । अधिक क्या कहें ।

सुषुम्णा को जगाने के लिये समय की अवधि का विधान भी कर दिया । एक पहर भर अडोल आसन, निरुद्ध प्राण सुषुम्णा को जगा देते हैं । अनुभवी अपने अनुभव से इसकी पुष्टि करते हैं ।

मेरी बुद्धि का लक्ष्य भगवान् है

ओ३म्। परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु।

इच्छन्ती रुरुचक्षसम् ॥ऋ. १।२५।१६ ॥

(गावः) गौए (न) जिस प्रकार (गव्यूती+अनु) बाडे का लक्ष्य करके जाती हैं, ऐस ही (मे) मेरी (धीतयः) बुद्धिया, (उरुचक्षसम्) महान् द्रष्टा तथा दर्शयिता का, विशाल दर्शन को (इच्छन्तीः) चाहती हुई (अनु+परा+यन्ति) उसकी लक्ष्य कर दूर तक जाती हैं।

भगवान् के पास जाते डर लगता है, अत. साधक डर कर कहता है—

प्र देव वरुण व्रतम्। मिनीमसि द्यविद्यवि ॥ (ऋ १।२५।१॥)

हे वरणीय भगवान्। प्रतिदिन हम तेरा नियम तोड़ते हैं। किन्तु—

मा नो वधाय हत्नवे रीरध.। (ऋ. १,२५।२ ॥] हमें वध और हत्याका लक्ष्य न बना।

कितना डर है।। किन्तु उसकी दया देखकर कहा—

अश्व न सन्दितम्। गीर्भिर्वरुण सीमहि ॥ [ऋ १।२५।३॥]

बधे घोडे की भांति, वरुण। तुझे हम अपनी वाणियों से बाधते हैं।

अहह।।! क्या अद्भुत तमाशा है। कहा तो डर रहा था। अपराधों के कारण मृत्यु दण्ड से घबरा रहा था। और कहा अब उसे वाणियों से बाधने की तय्यारी। घोडे को बाधने के लिये रस्सी चाहिये। इसे बाधने के लिये वाणी ही बाधनू का काम देती है। सस्ता सौदा है। करले। मत चूक। इसे बाध लिया है। सारथी बार बार अपने घोडे को देखता है। यह भी अपने वाणी से बंधे वरुण को देख रहा है और कह रहा है—

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु=

जैसे गौए अपने स्थान को भागती हैं, वैसे मेरी बुद्धिया उसको लक्ष्य कर दूर तक भाग रही हैं। कहा से कहा आ पहुँचे। अब बुद्धि विषयों की ओर नहीं जाती। ससार से विमुख हो चुकी है। गौ अपने स्थान पर घास तथा बछडे आदि की लालसा से जाती है। और मेरी बुद्धि—

इच्छन्तीरुरुचक्षसम् विशाल दर्शन को चहाती हुई। इसी सूक्त में चौथे मन्त्र में कहा है—

परा हि मे वि मन्यव पतन्ति वस्य इष्टय। वयो न वसतीरुप=

जिस प्रकार पक्षी अपने वास स्थान को उड़कर जाते हैं। उसी प्रकार मेरे विचार सेवनीय इष्ट प्राप्ति के लिये दूर-तक उड़ कर जाते हैं।

इष्ट के लिये उड़ रहे हैं, किन्तु अधिक ज्ञान होने पर पता लगता है कि वही वस्य=सेवनीय और वही इष्ट है। अत. उसी उरुचक्षा की चाह होजाती है। अन्य सब चाहें मिट जाती है। अब उसी की चाह है। अत. उसकी ओर बुद्धि दौड़ रही है। ऐसा बुद्धिमान, विश्वास से कहता है—

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय त्वामवस्युराचके ॥ ऋ १।२५।१९॥

हे वरुण। मेरी इस पुकार को सुन और आज ही कृपा कर। [देर मत लगा, जाने कल क्या हो जाये।] मैं तेरा अभिलाषी होकर स्तुति करता हू।

अब तो बात भी सुनने लग गये, और उसे मनवाने के लिये मानो विवश भी करने लगे।

१०८

परमात्मा जीव को गुहा में मिलाता है

ओ३म्। पूषा राजानमाघृणिरप गूढं गुहाहितम्।
अविन्दच्चित्रबर्हिषम्॥ ऋ. १।२३।१४॥

(आघृणिः) सब प्रकार से प्रकाशमय (पूषा) पुष्टिकारक, मार्गप्रदर्शक भगवान् (अप+गूढम्) अत्यन्त गुप्त (गुहाहितम्) हृदय गुफा में रहने वाले (चित्रबर्हिषम्) कमनीय आसन वाले (राजानम्) राजा आत्मा को (अविन्दत्) प्राप्त होता है।

अनेक मनुष्य परमात्मा की खोज में लगे हैं किन्तु परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती। किसी विरले के भाग्य में यह कृतकृत्यता होती। कहा भी है—

अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परागतिम्=

अनेक जन्म यत्न करने पर कहीं सफलता मिलती है, तब कहीं जाकर परा गति मिलती है। परमात्मा का मिलना ही परा गति है।

पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः [कठ. ३।६१]=

पूर्ण परमात्मा से परे कुछ नहीं है, वही सीमा है, वही, परा गति है।

परमात्मा किस को मिलता है?

आत्मा को।

कैसे आत्मा को?

जो अपगूढ है, अत्यन्त गुप्त है।

आत्मा तो सभी गुप्त हैं। आज तक किसी को आखों द्वारा आत्मा के दर्शन नहीं हुए। सामान्य जन तो आत्मा की सत्ता के विषय में ही सन्देहान रहते हैं। उन्हें तो आत्मा के होने का भी निश्चय नहीं होता। इस वास्ते सभी आत्मा अपगूढ हैं, अत्यन्त छिपे हैं, यदि हैं तो।

आत्मा है किन्तु गुहाहित=हृदय-गुफा में रहता है।

सभी आत्मा हृदय गुफा में रहते हैं।

गुहाहित का विशेष अभिप्राय

क्या?

जो आत्मा बहिर्मुख न हो, जिसकी विषयरति हट चुकी है, जो अपने अनुशीलन में लगाकर अन्तर्मुख हो चुका है। अर्थात जिसने चित्तवृत्ति का निरोध कर लिया है, वह गुहाहित=अन्तर्मुख है। अन्य आत्मा गुहाहित न होकर विषयरत होते हैं, बहिर्हित बहिर्मुख होते हैं। आत्मा में, जिसे परमात्मा आ मिलता है, एक और गुण भी होना चाहिये।

वह क्या?

आत्मा चित्रबर्हि होना चाहिये।

चित्रबर्हि क्या?

चित्र है आसन जिसका।

आसन क्या?

हृदय को आसन कहते हैं। जिसका हृदय-आसन भगवान् के भावों से चित्रित हो चुका हो। जिसमें और भाव उठने रुक चुके हों, वह चित्रबर्हि है।

एक बात और भी अपेक्षित है।

क्या?

आत्मा राजा होना चाहिये।

किसका राजा?

अपनी इन्द्रियों और शरीर का। इस समय आत्मा इनका दास हो रहा है। इन्द्रियों के वृत्तियों के पीछे दौड़ रहा है। जब यह भली भांति जानले कि मैं इन्द्रियों और शरीर का स्वामी हूं, ये मेरे प्रयोजन के साधक हैं, तब यह राजा होता है।

किन्तु परमात्मा को यह कैसे देख पायेगा, क्योंकि यह अंधेरी गुफा में रहता है?

परमात्मा आघृणि=सर्वतः प्रकाशमान है। अर्थात् परमात्मा स्वयं इसकी गुफा को प्रकाश से भर देंगे। और परमात्मा पूषा है, पथिकृत् हैं, मार्ग बताने वाले हैं। स्वयं मार्ग बता देंगे। एक बार सच्चे दिल से आत्मा परमात्मा को मिलना चाहे, परमात्मा स्वयं इससे आ मिलेंगे। इतना ही नहीं, अपितु वह कृपालु—

उतो स मह्यमिन्दुभिः षड् युक्तां अनुसेषिधत॥ ऋ० १।२३।१४॥

सुख से युक्त छहों को—आंख, नाक, कान, रसना, त्वग् और मनको—मेरे लिये मेरे अनुकूल चलाता है।

इससे अधिक और क्या चाहिये?



सोम पान का फल बल

ओ३म । इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधिबर्हिषि ।
तां इन्द्र सहसे पिब ॥ ऋ. १।१६ ६ ॥

हे (इन्द्र) इन्द्र (इमे) यह (इन्दवः) आनन्द देने वाले (सोमासः) सोम (बर्हिषि-अधि) आसन पर (सुतासः) कूट कर रखते हैं, (तान्) इनको (सहसे) बल के लिये (पिब) पान कर ।

'सोम' एक औषधि का नाम है । इस के सम्बन्ध में सुश्रुत के चिकित्सा स्थान में लिखा है कि उसके सेवन करने से कायकल्प हो जाता है, वृद्ध पुनः युवा हो जाता है । किन्तु वेद में एक और सोम की भी चर्चा है, जिसके सम्बन्ध में लिखा है—

सोम यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन [ऋ. १०।८५।३]=ब्राह्मणों को जिस सोम का ज्ञान है कोई उसे नहीं खाता ।

ब्राह्मण के सोम की महिमा इन शब्दों में है—

अपाम सोमममृता अभूम [ऋ. ८।४८।३]=हमने सोम पान किया और हम अमृत हो गये [या जी उठे ।]

कोई प्राकृत मनुष्य इस का उपयोग नहीं कर सकता. वेद कहता है—

न ते अश्नाति पार्थिवः [ऋ. १०।८५।४]=पृथिवी वासी, मिट्टी में लोट पोट होने वाले [प्राकृतिक विषयों का उपासक] उसका उपभोग नहीं कर सकता ।

सोम—बूटी की भी वेद में चर्चा है—

सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिंषन्त्योषधिम् । ऋ. १०।८५।२

ये औषधि—बूटी कूटते पीसते हैं, उसे सोम का पिया जाना मानते हैं ।

इस मन्त्र में दोनों प्रकार के सोमों के पान का आदेश है । बूटी–सोम आसन पर विशेष कर कुशासन पर बैठ कर कूटा पीसा छाना जाता है । और आध्यात्मिक सोम ब्राह्मणों के हृदय में छनता है ।

सोमपान की जो विधि सुश्रुत–चिकित्सा स्थान में लिखी है, उससे प्रतीत होता है कि यह बड़े परिश्रम से तय्यार किया जाता है । ब्राह्मणज्ञेय सोम की दुःसाध्यता तो वेद ने ही बतला दी है । सामान्य जन इस का पान नहीं कर सकते ।

बूटी सोम को सुश्रुत में चौबीस प्रकार का बताया गया है । इधर जीव की भी शक्ति चौबीस प्रकार की ऋषि बताते हैं—

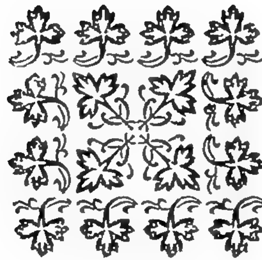
'बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भाषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्ध ग्रहण तथा ज्ञान इन चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है । इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है।' (स. प्र ३५७ श स)

संसार के सभी पदार्थ वेद की परिभाषा में सोम हैं।

भगवान् कहते हैं । हम ने इस संसार में सोम तैयार किये हैं, जो वास्तव में सुखदायी हैं। [आनन्दघन प्रभु दुःखद पदार्थों का निर्माण क्यों करेगा ?] तू

ता इन्द्र सहसे पिव=उन को बल के लिये पी।

बू को जवान बनाने वाला अवश्य ही बलदायक होगा । अमृत करने वाला निस्सन्देह बहुत बलवान् होना चाहिये ।



१९०

वेद शान्तिप्रद है

ओ३म् अय ते स्तोमो अग्रियो हृदिस्पृगस्तु शन्तमः।
अथा सोमं सुत पिब। ऋ० १।१६।७॥

(अयम्) यह (अग्रियः) सब से पहला, पूर्वजों का भी हितकारी (स्तोमः) स्तुतिसमूह=वेद-ज्ञान (हृदिस्पृक्) हृदय को स्पर्श करता हुआ (ते) तेरे लिए (शन्तमः) अत्यन्त शान्तिदायक हो। (अथः) इस के पश्चात् अर्थात् वेद ज्ञान प्राप्त करके (सुतम्) तय्यार किया गया (सोमम्) ससार का ऐश्वर्य (पिब) पान कर।

पक्षपातरहित सभी विद्वान् इस बात में सहमत हैं कि वेद संसार में सब से पुराना ग्रन्थ है। इसी वास्ते इसे **अग्रिय** कहा है। यह अग्रों का, पहलों का भी हितकारी है। सब से पहला ज्ञान भगवान् से मिलना चाहिये, वह वेद है। कणाद महर्षि तो इसी कारण वेद की प्रमाणिकता मानते हैं—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्=ईश्वर वचन होने से वेद की प्रमाणता है।

यह वेद **'स्तोम'** है, स्तुति समूह है। तृण से ब्रह्मपर्य्यन्त सभी पदार्थों की स्तुति—गुणगाथा—इसमें है। उदाहरण के लिये जीव के संबन्ध में कहा है—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानम्—

मैने अविनाशी और गोप=इन्द्रियों के स्वामी को देखा है। [विशेष व्याख्या इस मन्त्र की इसी पुस्तक में अन्यत्र की हुई है] आत्मा को इन्द्रियों से पृथक् तथा अविनाशी कहा है। इसी प्रकार परमात्मा के सम्बन्धों में कहा है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् (य)=मैं ने उस महान्, सूर्यों के प्रकाशक, अज्ञान-अन्धकार से विरहित सर्वव्यापक के दर्शन किये हैं।

प्रकृति का निरुपण इन शब्दों मे हुआ है—

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी सर्वमेव बभूव (ऋ. १०।८।३०)=यह सदा रहने वाली प्रकृति सदा से ही विद्यमान है, यह पुराणी=पुरानी होती हुई भी नई सब कार्यों में विद्यमान है। इसी भांति जीवोपयोगी सभी पदार्थों का ज्ञान वेद में कराया गया है। और यह शन्तमः अत्यन्त शान्ति प्रदान करता है।

शान्ति तो परमात्मा के दर्शन से होती है, जैसा कि कठोपनिषत् में कहा है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ ५।१२
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ ५।१३

जो सब पदार्थों का अन्तरात्मा, सबको नियन्त्रण मे रखने वाला अकेला ही एक प्रकृति रूपी बीज को अनेक प्रकार का बना देता है, आत्मा में रहने वाले उस परमात्मा के जो ध्यानी दर्शन करते हैं, उन्हें ही शाश्वत सुख मिलता है, दूसरों को नहीं। वह नित्यों में नित्य, अर्थात् सदा एक रस और चेतनों का चेतन अर्थात सर्वज्ञ है, वह अकेला अनेकों की कामनायें पूरी करता है। उस आत्मस्थ के, जो धीर दर्शन करते हैं उन्हें ही अखंड शान्ति मिलती है, दूसरों को नहीं।

ठीक है, शान्ति परमात्मा के दर्शन से मिलती है किन्तु परमात्मा के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान वेद से ही मिलता है। तभी तो औपनिषद महर्षियों ने कहा है—

नावेदविन्मनुते त बृहन्तम्=

वेद न जानने वाला उस महान् भगवान् का मनन नहीं कर पाता।

अत वेद का श्रवण अध्ययन, मनन, चिन्तन, धारण प्रत्येक शान्ति के अभिलाषी का कर्त्तव्य है। इस भाव को लेकर कहा है—हृदिस्पृक्=हृदय का स्पर्श करने वाला केवल वाणी ही वेद मन्त्र को न रटे, हृदय में उन का स्पर्श भी हो। वेद तो है ही परमात्मा का वर्णन करने के लिये—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् (१।१२४।३९)=

वेद सर्वव्यापक अविनाशी परमात्मा का ज्ञान कराने के लिए हैं।

भगवान् का आदेश है, कि जब इस प्रकार तू इस अप्रिय ज्ञान को हृदय स्पर्शी करले,

अथा सोमं सुतं पिब=तब निष्पादित सोम का—ऐश्वर्य का—पान कर

बहुत सुन्दर बात कही है। पहले ज्ञान, पीछे अनुष्ठान। पहले पदार्थों को जान, पश्चात् उन का यथा योग्य उपयोग कर। ऋषि इसी लिए ज्ञान को कर्म्म से पूर्व स्थान देते हैं।

ध्वनि निकलती है कि यत वेद तुझे पदार्थों का ज्ञान कराने के लिए तथा तदनुसार कर्म्म करने के लिए दिया गया है, अत. तू वेद का अध्यन करके उस के अनुसार जीवन बना और बिता। इसी में सफलता है।



हे कानों वाले ! मेरी पुकार सुन

ओ३म्। आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद् दधिष्व मे गिरः।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्॥ ऋ० १।१०।९

हे (आश्रुत्कर्ण) सब ओर से सुनने की शक्ति से सम्पन्न कानों वाले! (मे) मेरे (हवम्) उपदेश, पुकार, ललकार को (श्रुधी) सुन। (नू+चित्) निश्चयपूर्वक (मे) मेरी इन (गिरः) वेदवाणियों को (दधिष्व) धारण कर, मत भुला। हे (इन्द्र) ज्ञानसम्पन्न जीव! अज्ञान-नाश के अभिलाषिन् (इमम्) इस (मम) मेरे (स्तोमम्) पदार्थज्ञानोपदेश को (युजः) समाधि के द्वारा सावधानता से, चित्त की एकाग्रता से (अन्तरम्) अपने भीतर (कृष्व) कर।

संसार में आकर जीव प्रमादी बन जाता है, भगवान् को भुला देता है। संसार के मोहक पदार्थों में फंस कर अपने आप को भुला देता है और नाना कष्ट पाता है। वह संसार के विषयों में ऐसा लिप्त होता है कि अपने अन्दर उठती हुई भगवान् की वारणा=वारक-ध्वनि को भी नहीं सुनता, अथवा सुनी को अनसुनी कर देता है। तब मानो भगवान् उसे सावधान करते हुए कहते हैं—

आश्रुत्कर्ण श्रुधीहवम्=ओ सब ओर सुनने में समर्थ कानों वाले मेरी बात सुन।

भगवान् की रचना की विचित्रता देखिये। आंख तो सामने के ही पदार्थ को देख सकती हैं, कान सब दिशाओं के शब्दों को सुन सकते हैं। इसी वास्ते भगवान ने जीव को 'आश्रुत्कर्ण'=सब ओर सुनने में समर्थ कानों वाला कहा है। प्रभु कहते हैं, मेरी बात सुन। केवल सुन ही नहीं अपितु

नूचिद् दधिष्व मे गिरः=इसके साथ मेरे शब्दों को धारण कर, मत भुला।

धारण का अर्थ है आचरण में लाना। आचरण में लाने से पूर्व मनन करना होता है। अर्थात् श्रुति वचनों का श्रवण मनन करो। किसी ने कहा भी है—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा वै सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

श्रुति वाक्यों के द्वारा तत्त्व का श्रवण करना चाहिये, और युक्तियों के द्वारा, तर्क के द्वारा मनन करना चाहिये। मनन के बाद निरन्तर ध्यान करना चाहिये। ये दर्शन के साधन हैं।

भगवान स्वयं धारणा का उपाय बतलाते हैं—

इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्।

हे अज्ञाननाशक के इच्छुक! मेरे इस उपदेश को योगसमाधि द्वारा अन्दर कर, आत्मसात् कर।

स्पष्ट ही योग समाधि का उपदेश भगवान् कर रहे हैं। अन्दर करने का अभिप्राय है अपने ज्ञान का प्रधान अंग बनाना। अर्थात भगवान् का यह कल्याणसाधक, अमंगलघातक तत्त्व उपदेश केवल बात चीत का विषय ही न रहे, किन्तु जीवन में ओत-प्रोत और अनुस्यूत हो जावे। इस मन्त्र में साथ ही वेद का यथार्थ तात्पर्य हस्तामलक करने के लिये योगसमाधि के अनुष्ठान का संकेत भी कर दिया गया है। इतने गहन तत्त्व, जीव के उपयोगी सभी ज्ञान तत्त्व जिसमें उपदिष्ट हैं, उनको स्वायत्त करना समाधि भावना के बिना कैसे सम्भव है?

वेद मनुष्य जीवन का अन्तिम और वास्तविक लक्ष्य प्राप्त करने का साधन अनेक प्रकार से और बार बार बताने से थकता नहीं होता, जिस प्रकार माता सन्तान के कल्याण की बात बार बार कहती नहीं थकती। इसीलिये वेद को वेदमाता कहा जाता है।

११२

तू प्राणों का ऋषि है

ओ३म् । त्र्यर्यमा मनुषो देवताता त्री रोचना दिव्यो धारयन्त ।
अर्चन्ति त्वा मरुत: पूतदक्षास्त्वमेषामृपिरिन्द्रासि धीरः ॥ ऋ. ५।२६।१

हे (इन्द्र) इन्द्र । (मनुपः) मनन शील (देवताता) दिव्यगुणों के विस्तार के लिये (त्री) तीनों—श्रवण मनन निदिध्यासन-कार्यों में (अर्यमा) न्याययुक्त व्यवहार को, न्यायकारी परमेश्वर को धारण करते हैं और (त्री) तीन प्रकार के (दिव्या) दिव्य (रोचना) प्रकाशों को (धारयन्त) धारण करते हैं । (पूतदक्षाः) पवित्र क्रिया वाले (मरुतः) प्राण (त्वा) तुझ को (अर्चन्ति) पूजते हैं (त्वम्) तू (धीर.) परम ध्यानी (एषाम्) इनका (ऋषि.) ऋषि (असि) है ।

परमात्मा परम देव हैं, उसमें सभी दिव्य गुणों का अवसान=पराकाष्ठा है । मनुष्य यदि दिव्य गुणों का विस्तार करना चाहें तो

त्र्यर्यमा मनुषो धारयन्त=तीन श्रवण मनन निदिध्यासन के प्रकार से अर्यमा को, न्यायकारी भगवान् को अपने आगे रखें ।

अर्थात् भगवद्भक्ति के मार्ग मे पग धरने वाले को सब से पूर्व अपने व्यवहार की शुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि

युक्ताहारविहारस्य योगो भवति दु खहा=उचित आहार व्यवहार वाले के लिये ही योग दु ख-नाशक हुआ करता है ।

अत. अपना व्यवहार न्याययुक्त करना अत्यन्तावश्यक है, इसीलिये योगी लोग सब से पूर्व यम नियम का उपदेश करते हैं । जो इस प्रकार व्यवहार शुद्ध करके श्रवण मनन निदिध्यासन करते हैं, वे

त्री रोचना दिव्या धारयन्त=तीन दिव्य प्रकाशों को धारण करते हैं ।

उन्हें मनःप्रकाश, आत्मप्रकाश, तथा परमात्मप्रकाश—इन तीनों प्रकाशों की प्राप्ति होती है । प्रकाश प्राप्त करने से आत्मा पूजनीय बन जाता है, क्योंकि प्रकाश की सभी पूजा करते हैं । भगवान् जीव से कहते हैं—

इन्द्र । तू पूज्य बन गया है, अत.

अर्चन्ति त्वा मरुतः पूतदक्षा=पवित्र कर्म वाले प्राण तुझे पूज रहे हैं ।

प्राणों का व्यवहार बड़ा पवित्र है । ये तो सब को पवित्र कर देते हैं । जैसे मनु जी कहते हैं—

देह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

जैसे अग्नि से धौंकायी जाती हुई [तपाई जाती हुई] धातुओं के मल=मैल जल जाते हैं वैसे ही प्राण के संयम से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं।

अर्थात् अग्नि के तपाने से जैसे सुवर्ण आदि धातुओं के दोष नष्ट होकर वे शुद्ध हो जाते हैं, वैसे प्राण को वश में करने से मन आदि इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं।

योगिराज दयानन्द महाराज ने भी लिखा है—

जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो जाय आत्मा का ज्ञान बढता जाता है।" [स. प्र. १२३ श. स.]

"प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रिय भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाता है कि जो बहुत कठिन विषय का शीघ्र ग्रहण करता है। इस से मनुष्य शरीर में योग्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल पराक्रम जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोडे ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा।" [स. प्र. १०३-१ श. स.]

'प्राण पवित्र होकर इन्द्र की पूजा करते हैं।' इस से एक उपदेश और निकलता है कि पूजा करने के लिये पूजा करने वाले को पहले अपने आप को पवित्र करना चाहिये। अपवित्र मनुष्य पूजा कर ही नहीं सकता।

इन्द्र! तेरा महत्त्व और भी है

त्वमेषामिन्द्रासि धीरः=तू धीर=ध्यानी होने पर इन का ऋषि है, द्रष्टा है, गति-दाता है।

आत्मा न रहे तो प्राण की गति बन्द हो जाये। प्राणों की क्रिया तभी तक चलती है जब तक देह में आत्मा का निवास है। आत्मा ने देह छोड़ा नहीं कि रानी मक्खी के पीछे मधुमक्खियों की भांति प्राण भी आत्मा के पीछे प्रयाण कर देते हैं।

सामान्य जनों को प्राणों के गमनागमन का ज्ञान ही नहीं हो पाता। ध्यानी को इन की गतिविधि का केवल ज्ञान ही नहीं होता, प्रत्युत वे इन को तथा सब क्रियाओं, व्यवहारों को हस्तामलकवत् साक्षात् करता है। इस के मनन करने की आवश्यकता है।



तेरी पूजा कैसे करूं ?

ओ३म् । कथो नु ते परिचराणि विद्वान् वीर्या मघवन् या चकर्थ ।
या चो नु नव्या कृणवः शविष्ठ प्रेदु ता ते विदथेषु ब्रवाम ॥ ऋ० ५।२९।१३

हे (मघवन्) पूजितधनवान् भगवन् ! तुझ (विद्वान) सर्वज्ञ ने (या) जो (वीर्या) पराक्रम (चकर्थ) किये हैं (च) और (या+उ+नु) जो भी (नव्या) नये (कृणवः) किये हैं । हे (शविष्ठ) सब से अधिक बलवान (ते) तेरे (ता) उन कार्यों (उ) तो, हम (विदथेषु) ज्ञानसत्रों में, जीवनसंग्रामों में (प्र+ब्रवाम+इत) भली भांति कहें ही, वर्णन करें । (नु) किन्तु (कथो) कैसे (नु) तो (ते) तेरी (परिचराणि) पूजा करूं, सेवा करूं ?

भगवान् सर्वज्ञ है, अतः वह सब की आवश्यकता और कर्मों को जानता है । जीवों को भुक्ति मुक्ति देने के लिये वह शतक्रतु प्रभु सदा अद्भुत शक्तियुक्त कार्यों को करता है । ऐसे महोपकारी कृपाकारी अद्भुतबलधारी महिमामहान् भगवान् की पूजा का क्या विधान है ? कैसे उसकी पूजा की जाये ?

एक उपाय छोटा सा बताया है कि—

प्रेदु ता ते विदथेषु ब्रवाम=उस के उत्तम कार्यों को हम सत्रों में-सभाओं में वर्णन करें ।

भगवान् की पूजा का सादा सा उपाय है कि उस की गुणावली का खुलेबन्धों बखान करें । हर एक के सामने भगवान् का यशोगान करना चाहिये । ऋग्वेद ५।१४।१ में कहा है—

अग्निः स्तोमेन बोधय समिधानो अमर्त्यम्=तू स्वयं भली प्रकार प्रकाशित होकर अविनाशी भगवान् को स्तोम द्वारा=स्तुतिसमूह द्वारा जगा ।

यशोगान का बखान यहां भी समान है किन्तु एक बात विशेष कही है, मानो वह—कथो नु ते परिचराणि='कैसे तेरी पूजा करूं' का उत्तर है । वह है 'समिधान' पद । परमेश्वर की स्तुति कर, किन्तु स्वयं 'समिधान'=प्रकाशमान होकर । किसी ने कहा है—

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
तथापि नाममात्रेण तस्य वारि प्रसीदति ॥

यद्यपि कतक वृक्ष का फल [निर्मली] जल को निर्मल करता है, तथापि नाममात्र लेने से जल निर्मल नहीं हो जाता ।

इसी प्रकार भगवान का पावक है, पतितपावन है। किन्तु इतना कहने से मनुष्य पवित्र नहीं बन जाता। इन गुणों से मनुष्य स्वयं समिधान=प्रकाशमान होना चाहिए। तात्पर्य्य यह निकला कि उरुक्रम भगवान् के पराक्रम को देख कर जब मनुष्य के मन में उस की पूजा की भावना उठे, तो उसे भी भगवान् के समान महान् कार्यों के सम्पादन में यतमान होना चाहिए। अपने अन्दर भगवान् के गएत्र गुणों की गणना को प्रति दिन बढ़ाता जाए, इसी में कल्याण है। ऋषि ने बहुत सुन्दर शब्दों में इस तत्त्व का वर्णन किया है—

"जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है उस को वैसा ही वर्तमान करना चाहिए। अर्थात् जैसी सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता है उस के लिए जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना करे। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है।..... "जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है वैसे धर्म्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है..... 'इसी प्रकार परमेश्वर भी सब के उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म्म में नहीं। जो कोई 'गुड़ मीठा है' ऐसा कहता है उस को गुड़ प्राप्त वा स्वाद कभी नहीं होता और जो यत्न करता है उस को शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है।" (स० प्र०)

भाव यह निकला कि जैसे पदार्थों के गुण धर्म्म जानने मात्र से मङ्गल नहीं होता, वरन् उन के उपयोग से लाभ होता है। वैसे परमात्मा के गुण-गण-ज्ञान अथवा गुण गणगान मात्र से कल्याण की उतनी सम्भावना नहीं जितनी उन गुणों को जीवन में धारण करने की।



इन्द्र स्वाभाविक शक्ति मे अकेला सारे कार्य करता है

ओ३म्। एता विश्वा चकृवाँ इन्द्र भूर्य्य परीतो जनुषा वीर्येण।

या चिन्नु वज्रिन् कृणवो दधृष्वान् न ते वर्त्ता तविष्या अस्ति तस्याः ॥ ऋ० ५।२६।१४

हे (इन्द्र) बल पराक्रम के भण्डारसर्वाधार। तू ने (अपरीत.) अकेला (एता+विश्वा) ये सब कार्य (जनुषा+वीर्य्येण) स्वाभाविक शक्ति से (भूरि) अनेक प्रकार से (चकृवान्) किये हैं और (या+चित्) जो भी कार्य तू, हे (वज्रिन्) वज्रयुक्त। वारणसामर्थ्यसम्पन्न। (नु) शीघ्र (कृणवः) करता है, (ते) तेरी (तस्याः) उस (तविष्या.) शक्ति का (दधृष्वान्) दबाने वाला तथा (वर्त्ता) अपनाने वाला (न+अस्ति) नहीं है।

भगवान् ने अद्भुत अचिन्त्यपार ससार की रचना की है, और प्रतिदिन नये नये पदार्थों का निर्माण कर रहा है। ये सारे कार्य्य वह अपरीत=अकेला, दूसरे की सहायता लिये विना कर रहा है। उसमें इस विश्व के निर्माण का स्वाभाविक सामर्थ्य है। उसका सामर्थ्य ऐसा है कि उसे कोई दवा नहीं सकता। अपना सकने की तो बात ही कौन कहे।

भगवान् के बल सामर्थ्य का वर्णन एक स्तुति मन्त्र में बहुत ही सुन्दर रीति से हुआ है—

तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते। आ पप्राथ महित्वना ॥ ऋ० ८।६८।२

हे महाबल! हे महाकर्मन्। महाबुद्धे! हे मते। तूने अपना महत्ता से ससार को पसारा है।

भगवान् मे बल महान्, कर्म माहन्, ज्ञान महान्, सब कुछ महान् है। दूसरे स्थान पर कहा गया है-- विश्वस्मादिन्द्र उत्तर ॥ ऋ० १०।८६=भगवान् सब से महान् है। अतः

दधृष्वान न ते वर्त्ता तविष्या अस्ति तस्या.=उसकी उस शक्ति को न कोई दबा सकता और न अपना सकता है। सचमुच—

न किरस्य शचीना नियन्ता सुनृतानाम्। न किर्वक्ता न दादिति ऋ० ८।३२।१५

इस भगवान् की सच्ची मीठी शक्तियों का न कोई नियन्ता है न कोई वक्ता है, न कोई दाता है।

उसकी शक्तिया सच्ची हैं, अर्थात् त्रिकालाबाधित है, किसी समय उसकी शक्ति मे विघ्न या रुकावट नहीं आ सकती। अबाधित होने के कारण उनका नियन्ता कोई नहीं हो सकता। अनन्त होने

के कारण उसका कोई वक्ता भी नहीं है। जब अनन्त शक्तियां हैं, तो उसका वर्णन कौन करे ? जीव सारे अल्पज्ञ, सान्त, उस अनन्तशक्ति की शक्तियां का कथन कैसे करें ? जो कही ही न जा सकती हो, उसके देने की बात तो दूर रही।

भगवान् का बल कोई भी नहीं दबा सकता—

न मे दासो नार्यो महित्वा व्रत मीमाय यदहं धरिष्ये। अ०—जिस व्रत को मैं धारण करता हूं, महत्त्व के कारण न दास और न आर्य उस व्रत को मार सकते हैं।

भला बुरा कोई भी भगवान् के कार्यों को नहीं कर सकता, उनको वह स्वयं ही करता है। वेद में कहा ही है—

न तत्ते अन्यो अनुवीर्यं शकन्न पुराणो मघवन्नोत नूतन ॥ अ. २०।१७।५

मघवन्! नया पुराना कोई भी तेरी शक्ति का अनुकरण नहीं कर सकता।

भगवान् सदा से अनुपम शक्तिमान् है।

जब वेद यह कहता है कि भगवान् के सामर्थ्य को कोई अपना नहीं सकता, तो इसका गहरा अभिप्राय है। इस का अभिप्राय यह नहीं कि भगवान् के धारणीय दया आदि गुणों को भी हम धारण न करें। प्रत्युत इस का भाव यह है कि भगवान् का सामर्थ्य अनन्त है, सान्त जीव अनन्त के सामर्थ्य को कैसे धारण कर सकता है। सृष्टिरचना आदि भगवान् के विशिष्ट कर्मों के करने की शक्ति तो जीव में आ ही नहीं सकती, व्यास मुनि ने वेदान्त दर्शन में, इसी आशय को लक्ष्य में रख कर कहा—

भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्=मुक्त जीव तथा भगवान् में आनन्द भोग की समता है।

प्रश्न यह है कि मुक्त जीव जब सब साधनों से मुक्त छूट गया तो वह भगवान् या भगवान् के समान क्यों न माना जाए। महर्षि व्यास उत्तर देते हैं, कि यह सत्य है कि मुक्ति प्राप्त करने पर जीव बन्धनरहित हो गया, किन्तु बन्धनशून्यता का आरम्भ होने के कारण उस के अन्त की सम्भावना भी है। अल्पज्ञ अल्पसामर्थ्य जीव परमात्मनिष्ठ हो जाने के कारण परमात्मा के आनन्दगुण के उपभोग का अधिकारी तो हो जाता है किन्तु उसकी अनन्तता तथा सृष्टिरचनादि उस को कभी प्राप्त नहीं होते।



आत्मा कहां है ? उसे कौन देखता है ?

ओ३म् । क्व स्य को अपश्यदिन्द्र सुखरथमीयमान हरिभ्याम ।
यो राया वज्री सुतसोममिच्छन् तदोको गन्ता पुरुहूत ऊती ॥ ऋ. ५।३०।१

(स्यः) वह (वीरः) वीर (क्व) कहा है ? (क) किसने (सुखरथम्) सुखकारक शरीर वाले (हरिभ्याम्) प्राण अपान, अथवा ज्ञान, कर्म रूप दो घोडों से (ईयमानम्) गति करने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र को, आत्मा को (अपश्यत्) देखा है । (य.) जो आत्मा (वज्री) वज्रसपन्न होकर तथा (पुरुहूत.) अत्यन्त प्रशस्त होकर (सुतसोमम्) बने बनाये ऐश्वर्य को (इच्छन्) चाहता हुआ (राया) ऐश्वर्य से युक्त होकर (ऊती) रक्षा और प्रीति के साथ (तत्) उस (ओकः) घर को (गन्ता) जाने वाला है

मैं मैं सभी करते हैं किन्तु मैं को कितनों ने देखा है । वेद का प्रश्न सीधा किन्तु तीखा है—

क्व स्यवीरः=कहा है वह वीर ?

कः अपश्यदिन्द्रम्—इन्द्र को किसने देखा है ? सचमुच आत्मदर्शन अति दुर्लभ है ।

आत्मा के बाह्य स्वरूप की थोड़ी सी झलक इस मन्त्र मे दिखाई है । वह इन्द्र कैसा है—

सुखरथमीयमानं हरिभ्याम्

जिसे यह शरीर सुख के लिये मिला है और जो दो घोड़ों के साथ आता जाता है ।

कदाचित् कठोपनिषत् में इन्हीं पदों की व्याख्या में ये वाक्य हैं—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरँ रथमेवतु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन' प्रग्रहमेव च ॥ ३।३

इन्द्रियाणि हयाना हुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनो युक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण ॥ ३।४

आत्मा को रथी समझ, और शरीर को रथ । बुद्धि को कोचवान् जान और मन को लगाम मान । इन्द्रियों को घोड़ा कहते हैं और विषयों को उनका घास । आत्मा, इन्द्रिय तथा मन—इनके सघात को ज्ञानी लोग भोक्ता कहते हैं ।

उपनिषद् के रथ और रथी से सुखरथ अधिक स्पष्ट है । सुखरथ से शरीर का प्रयोजन भी स्पष्ट हो जाता है । आत्मा के शरीरधारण के प्रयोजन को अधिक स्पष्ट करके कहा है—

सुतसोममिच्छन् तदोको गन्ता=निष्पादित ऐश्वर्य्य की चाहना करता हुआ उस घर को जाता है ।

अगला मन्त्र मानों इसका उत्तर है—**अवाचचक्ष पदमस्य सस्वरुग्र निधातुरन्वायमिच्छन् ।**
अपृच्छमन्या उत ते म आहुरिन्द्र नरो बुबुधाना अशेम ॥

मैंने इस शरीरधारक के गुप्त उग्र ठिकाने को बार बार देखा है । और उसकी चाहना करता हुआ उसके पास आया हूं । [अपने ज्ञान के शोधन के विचार से] मैंने दूसरों से पूछा है, उन्होंने भी मुझे कहा है "हम मनुष्यों ने निरन्तर ज्ञान से इन्द्र को—आत्मा को प्राप्त किया है ।"

निरन्तर ज्ञानध्यान करने से आत्मा की प्राप्ति हो सकती है । अर्थात् विवेक का अभ्यास सदा होना चाहिये

११६

अविद्वान् सुने, जाने

ओ३म्। प्र नु वय सुते या ते कृतानीन्द्र ब्रवाम यानि नो जुजोष'।

वेददविद्वाञ्छृणवच्च विद्वान् वहतेऽयं मघवा सर्वसेनः ॥ ऋ० ५।३०।३

हे (इन्द्र) इन्द्र। (सुते) इस ससार के निमित्त (या) जो (ते) तेरे (कृतानि) कृत कर्म्म हैं और (यानि) जिनको तू (नः) हमारे लिये (जुजोषः) प्रीतिपूर्वक करता है। उन सब को (वयम्) हम (नु) तत्काल (प्रब्रवाम) कहें, बखान करें। (वेदद्) समझदार (अविद्वान्) विद्यारहित मनुष्य (शृणवत्) सुने। अथवा (अविद्वान्) विद्यारहित मनुष्य (वदत्) जानने का यत्न करे (च) और (शृणवत्) सुने। (अयम्) यह (सर्वसेनः) सब सेनाओं वाला (मघवा) विद्याधन का धनी (वहते) प्राप्त कराता है।

आत्मा के कर्मों का सदा विवेचन करना चाहिये। किन किन पूर्व कर्मों के फल से यह देह प्राप्त हुआ है, कौन से ऐसे कर्म हो सकते हैं, जिनसे भावी कल्याण का सामान जुट सकता है? विद्वान् मनुष्य के पास सब सामान, साधन होते हैं—अतः वह

विद्वान् वहते अयं मघवा सर्वसेनः=सब साधनों वाला महाधनी विद्या को प्राप्त कराता है।

जिसके पास न हो, वह दूसरों को क्या देगा? विद्वान् ही दूसरों को ज्ञान दे सकता है। अज्ञानी बेचारा क्या करे? वेद का उसके लिये आदेश है—

वेददविद्वाञ्छृणवच्च=विद्या रहित मनुष्य जानने का यत्न करे और सुने।

विद्या के दो उपाय इसमें बताये हैं—

(१) जो अविद्वान् है, वह विद्वानों की क्रिया, चेष्टा आदि देख कर वैसा करे और जाने।

(२) सुनना दूसरा उपाय है। बड़े बड़े विद्यावान् विद्वान् जब आकर व्याख्यान दें, वह उनको सुने।

पढ़ना सुनने के अन्तर्गत सा हो जाता है। गुरु बोलता है, शिष्य सुनता है, इस का नाम पढ़ना पढ़ाना है। सुने बिना पढ़ना लगभग असम्भव है। वेद में दूसरे स्थान में कहा है—

अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् (ऋ० १०।३२।७)=अज्ञानी ज्ञानी से पूछता है।

पूछना सुनने का मूल है। लगे हाथों विद्वान् का कर्त्तव्य भी बता दिया है—

विद्वान् वहते विद्वान् विद्या प्राप्त कराता है। अर्थात् सच्चे विद्वान के लिये यह स्वाभाविक है कि वह अज्ञानियों को ज्ञान दे। ऋषि लिखते हैं—

"विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें॥" (स. प्र. भूमिका ७४ श. स)

क्योंकि विद्वान् सर्वसेनः=सब साधनों वाला होता है।

इस मन्त्र में विद्वान् के साथ मघवा और सर्वसेन ये दो विशेषण यह सकेत करते प्रतीत होते हैं कि धनी और क्षत्रिय का भी विद्या-प्रचार कर्त्तव्य है। अथवा विद्वान के लिये बलहीन और धनहीन होना कोई गौरव की बात नहीं है। विद्या के साथ शारीरिक बल तथा साम्पत्तिक बल भूषण हैं दूषण नहीं। वर्णों के ह्रास के साथ लोगों में यह कुसस्कार घर कर गया कि विद्वान निर्बल और निर्धन होता है। आवश्यकता है कि ससार में, विशेषतः भारत में इस वैदिक तत्त्व का प्रचुर प्रचार किया जावे।

मन स्थिर कर

ओ३म्। स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्र वेषीदेको युधये भूयसश्चित्।

अश्मानं चिच्छवसा दिद्युतो वि विदो गवामूर्वमुस्रियाणाम् ॥ ऋ. ५।३०।४ ॥

हे (इन्द्र) योगैश्वर्येच्छुक। यदि तू (जातः) समर्थ होकर (मनः) मन को (स्थिरम्) स्थिर (चकृषे) करे तो तू (एकः+इत्) अकेला ही (भूयस+चित्) बहुतों को भी (युधये) युद्ध के लिये (वेषि) प्राप्त हो सकता है, जीत सकता है, पर्याप्त है। (अश्मानम्) पत्थर को (चित्) भी (शवसा) बल से (दिद्युत.) चमका दे और (उस्रियाणाम्) सुख वर्षाने वाली (गवाम्) किरणा, इन्द्रियों के (ऊर्वम्) विघातक को (वि+विदः) विचार।

मन बहुत चचल है, इसका वश में करना बहुत कठिन है। कहा है—

चचलं हि मन' कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

हे कृष्ण। मन बहुत चचल है, उधेड़बुन करने वाला बलवान् तथा हठी है। वायु को वश मे करने के समान उसका निग्रह अत्यन्त दुष्कर है, कठिन है।

चचलता का दृश्य वेद ने दिखाया है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ॥ य. ४३।१ ॥=

जागते हुए का मन बहुत दूर चला जाता है। वैसे ही सोए हुए का चला जाता है।

अर्थात् न सोते चैन, और न जागते कल, ऐसा यह मन चचल और विकल है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहकार, ईर्ष्या, द्वेष, आदि नाना शत्रु आत्मा पर प्रहार कर रहे हैं। आत्मा अकेला, और उसके शत्रुओं की विशाल सेना, कैसे पार पायेगा आत्मा? वेद कहता है—

स्थिरं मन' चकृषे जात इन्द्र वेषीदेको युधये भूयसश्चित्=

हे इन्द्र! यदि तू मन को स्थिर कर सके तो तू अकेला ही बहुतों से भी लड़ने को पर्याप्त है।

मन के द्वारा युद्ध तो तभी हो सकता है, जब मन किसी एक स्थान पर ठहरे। अतः मनको स्थिर करो। ससार के सभी व्यवहारों के लिये मन की स्थिरता अपेक्षित होती है। मन की शक्ति के सम्बन्ध में वेद में कहा है—

यस्मान्न ऋते क्रियते किंचन कर्म (य. ३४।२)=जिसके बिना कोई भी कार्य्य नहीं किया जाता।

आख देखती है किन्तु मन के सहयोग से, कान सुनता है मन के सहयोग से। जिस इन्द्रिय के साथ मनका सहयोग न हो, वह कार्य्य नहीं कर सकती। अत ऐसे महाबली मनको ठहराना चाहिये।

मन वश में हो जाये, तो अज्ञान का पत्थर भी फूट जाता है—

अश्मानं चिच्छ्वसा विद्युत =पत्थर को भी बल से चमका देता है।

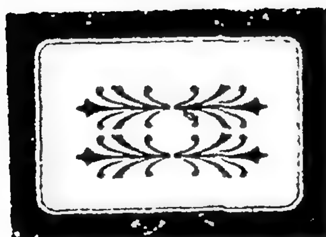
पत्थर चमक उठा, तो पत्थर ही न रहा।

स्थिर मन वाला ज्ञान प्रतिबन्धकों को भी जान लेता है। धारणा, ध्यान, तथा समाधि के द्वारा मन ठहराया जा सकता है। धारणा, ध्यान, समाधि—इस त्रिक को संयम कहते हैं। इसका फल योग दर्शन में यह बताया है—

तज्जयात्प्रज्ञालोकः (३।५)

संयम के जीतने से बुद्धि-प्रकाश होता है।

प्रकाश होने पर सभी रुकावटों का प्रत्यक्ष भान होने लगता है।



आत्मा परम है, इन्द्रियां उससे डरती हैं

ओ३म् । परो यत्त्व परम आजनिष्ठा: परावति श्रुत्य नाम बिभ्रत् ।
अतश्चिदिन्द्रादभयन्त देवा विश्वा अपो अजयद्दासपत्नी ॥ ऋ० ५।३०।५

(परावति) दूरदेश मे (श्रुत्यम्) प्रसिद्ध (नाम) नाम (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (यत्) जो (त्वम्) तू (पर:) पर, उत्कृष्ट होता हुआ (परम:) अत्यन्त उत्कृष्ट (आजनिष्ठाः) हुआ, (अत:+चित्) इस लिये भी (इन्द्रात्) तुझ इन्द्र से, आत्मा से (देवा:) देवा, इन्द्रियगण (अभयन्त) मानो डरते से हैं, क्योंकि यह (विश्वा:) सपूर्ण (दासपत्नी) पापपालक (अपः) कर्मों को (अजयत्) जीत लेता है ॥

यह बात सभी मानते हैं कि शरीर और इन्द्रिय आत्मा के लिये हैं। शरीर आत्मा का भोगाधिष्ठान-सुख दु:ख भोगने का ठिकाना है । इन्द्रिया आत्मा का करण=हथियार हैं । अतः आत्मा इनसे श्रेष्ठ है । उपनिषद् में इस तत्त्व का प्रतिपादन इन शब्दो मे किया गया है—

इन्द्रियेभ्य परं मनो मनस सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥
अव्यक्तात्तु पर पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च ।
यंज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्व च गच्छति ॥८॥ [कठो ६ बल्ली]

इन्द्रियों मे मन श्रेष्ठ, मन से बुद्धि (अहंकार) उत्कृष्ट। अहंकार से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अव्यक्त+प्रकृति उत्कृष्ट है । अव्यक्त से पुरुष पर=उत्तम है । वह व्यापक=व्यापक सामर्थ्य वाला तथा अलिङ्ग=किसी का उपादान कारण नहीं है ।

प्रकृति विकृति दशा को प्राप्त हो रही है, उसके विकार उसके अनुमापक हैं । किन्तु आत्मा का इस प्रकार का कोई विकार या कार्य्य नहीं, अत ऋषि ने आत्मा को अलिङ्ग कहा है । आत्मा की शक्तिया सारे देह मे कार्य कर रही हैं, अतः उसे व्यापक कह दिया है ।

इस प्रकार का उत्कृष्ट आत्मा जब सत्कर्मों के कारण कीर्ति पाता है और सर्वत्र उस का नाम सुनने को मिलता है, तब यह पर=केवल उत्कृष्ट न रह कर परम-उत्कृष्टतम हो जाता है ।

मन आदि देव मानो इसी कारण आत्मा से भय खाते हैं कि यह हमसे श्रेष्ठ है । हम उसके कारण ही इस देह में रहते हैं । यह यदि इस शरीर से चला गया तो हमें भी यहा से चलना होगा । मानो, उन्हें बेठिकाना होने का भय सता रहा है ।

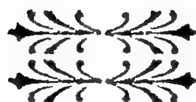
इन इन्द्रियों मे जो शक्ति है, वह भी तो आत्मा की है । आत्मा की स्तुति करती हुई इन्द्रिया कहती हैं—

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ (प्रश्नो. २।१२)

जो तेरा विस्तार वाणी में है जो कान में और जो आंख में है और जो मन में फैल रहा है उसे कल्याणकारी बना, इस शरीर से तू मत निकल ।

क्योंकि यदि आत्मा शरीर से निकल गया, तो इन्द्रियां इसमें न रह पायेंगी । आंख, नाक आदि की अपनी कोई शक्ति नहीं है, जो है, वह आत्मा की है । दूसरा कारण यह भी है कि जिस प्रकार सूर्य जल को रोकने वाले मेघों को छिन्न भिन्न करके जल बरसाता है । इसी प्रकार आत्मा आत्मप्रकाश को रोकने वाली समस्त शक्तियों को छिन्न भिन्न कर देता है । इस से भी मानों, इन्द्रियां घबड़ाती हैं कि कहीं हमारी प्रवृत्तियों का ही अवसान हो जाए । सार यह निकला कि शरीर और इन्द्रियां की सत्ता, सामर्थ्य तभी तक है जब तक कि आत्मा शरीर में वास कर रहा है । इन्द्रियों तथा शरीर की महत्ता एवं सामर्थ्य का विचार करो तो आत्मा के गुण सामर्थ्य समझे जा सकते हैं ।

ऐसे परमोत्तम आत्मा को जानना चाहिये ।



आत्मा अहि=पाप का नाश करता है

ओ३म्। तुभ्येदेते मरुतः सुशेवा अर्चन्त्यर्कं सुन्वन्त्यन्धः।

अहिमोहानमप आशयानं प्र मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः ॥ ऋ० ५।३०।६

हे इन्द्र। (एते) ये (सुशेवा) अत्यन्त सुखकारी (मरुतः) प्राण (तुभ्य+इत्) तेरी ही (अर्चन्ति) पूजा करते हैं और (अर्कम्) प्रशंसनीय (अन्धः) अन्न (सुन्वन्ति) उत्पन्न करते हैं तू (इन्द्रः) सूर्यसमान आत्मा (ओहानम्) सुमार्ग त्यागने वाले (अपः+आशयानम्) कर्मों में रहने वाले (मायिनम्) हिंसक स्वभाव वाले (अहिम्) पापभाव को (मायाभिः) बुद्धियों से (सक्षत्) ताड़ देता है।

मरुत् शब्द का मूल अर्थ है मरने मारने वाला। लाक्षणिक अर्थ प्राण, ऋत्विक्, सिपाही, वायु आदि अनेक हैं। आत्मा को पाप से शुद्ध करना है, उसे सेना चाहिये, वेद कहता है प्राण ही तेरी सेना है, और

तुभ्येदेते मरुत सुशेवा अर्चन्ति=ये सुखकारी प्राण तेरी ही पूजा करते हैं।

प्राण आत्मा ही की सेवा के लिये हैं। सारी भोग सामग्री आत्मा के लिये लाते हैं।

अर्कं सुन्वन्त्यन्धः=प्रशंसनीय अन्न भोग सामग्री को निष्पन्न करते हैं।

जो कुछ हम खाते पीते हैं, उसको शरीर का अंश बनने की योग्यता प्राण ही उत्पन्न करते हैं।

इसी भाव को प्रश्नोपनिषत् (दूसरे प्रश्न) में बहुत मनोहारी शब्दों में कहा गया है—

तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७

वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥ ११

प्राणाधार आत्मन्। जब तू प्राणों के साथ शरीर में प्रतिष्ठित होता है, तब ये सारी प्रजाएं तेरे लिये भेंट लाती हैं। हम तो भोग के देनेहारे हैं, हे जीवनाधार। हमारा पालक पिता तू ही है।

जब तक आत्मा और प्राण मिलकर शरीर में रहते हैं, तभी तक इसे भोग भेंट मिलती है। प्राणों का साथ छूटने पर प्राण-जड़ प्राण बेकार हो जाते हैं।

पाप-भावना प्राय मनुष्य के कर्मों में घुसी रहती है। हमारी प्रत्येक चाल में कुचाल होती है। संसार का व्यवहार विचित्र है। प्राय सभी लोग अहिंसा को मुख्य धर्म मानते हैं किन्तु मारक सामग्री का संग्रह भी सभी करते हैं। पूछने पर कहते हैं--संसार में शान्ति स्थापना करने के लिये यह अशान्ति का सामान आवश्यक है। अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिये हिंसा अनिवार्य है, तो अहिंसा परम धर्म कैसे? फिर तो 'हिंसानु परमो धर्मः' मानना पडेगा।

पापभाव मायी है। ठग है। पुण्य का रूप धर के आता है। इसको आत्मा ही मार सकता है—

अहिमोहमानमप आशयानं प्र मायाभिमायिनं मक्षदिन्द्र:=कुमार्ग छोड़ने वाले, कर्म्मों मे व्यापक, ठग पापभाव को बुद्धियों से ताड़ता है।

पाप को हटाने का योगदर्शन में उपाय 'प्रतिपक्षभावना' कहलाता है। 'वितर्कबाधने प्रतिपक्ष-भावनम्' [यो. २।३३] सूत्र के भाष्य मे व्यास देव जी लिखते हैं—

"एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान् भावयेत्। घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपगतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्म्मः। स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेतिभावयेत्। यथा श्वावन्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददानः इति"

इस प्रकार उलटे मार्ग की ओर ले जाने वाले अत्यन्त तीव्र वितर्क ज्वर से पीड़ित होता हुआ उसके प्रतिपक्षों का चिन्तन करे। भयंकर संसार के अंगारों में जलते हुए मैंने सब भूतों को अभय प्रदान करने से योगधर्म्म की शरण ली है। उसको छोड़ कर उन वितर्कों को फिर ग्रहण करने से मेरा कुत्ते का सा स्वभाव होगा' ऐसा विचारे। जैसा कुत्ता वमन किये पदार्थ को चाटता है, छोड़े हुए को फिर ग्रहण करने वाला भी वैसा ही है।

इस तरह हिंसा, असत्य, स्तेय, व्यभिचार, अहंकार, अपवित्रता, असंतोष, विलास, बकवास और नास्तिकता रूपी वितर्कों को लेकर एक एक के दोष सोचे। विचार से आचार बनता है। विचारना आत्मा का काम है अत एव

मायिनं मक्षदिन्द्र =कुटिल पाप भावना को आत्मा ही ताड़ता है।



आत्मा बलवान् भगवान् से बल पाकर अन्धकार नाश करता है

ओ३म । उद्यत्सह: सहस आजनिष्ट देदिष्ट इन्द्र इन्द्रियाणि विश्वा ।
प्राचोदयत्सुदुघा वव्रे अन्तर्वि ज्योतिषा ससवृत्वत्तमोऽव: ॥ ऋ० ५।३१।३

आत्मा (सहस:) महान बलवान् भगवान् मे (यत्) जो (सहः) बल (उत्+आजनिष्ट) उत्पन्न करता है (इन्द्रः) आत्मा (विश्वा) सम्पूर्ण (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को, आत्मा की शक्तियो को (देदिष्टे) दिशा दिखलाता है, और उनको (प्राचोदयत्) उत्तम प्रेरणा करता है, कार्य मे प्रवृत्त करता है, तथा (सुदुघा) उत्तम फल देने वाली क्रियाओं को (वव्रे) स्वीकार करता है। हे आत्मन् ! (अन्त) भीतर, अपने अन्दर विद्यमान (ससवृत्वत्) प्रबलरूप से ढकने वाले (तम:) अन्धकार को (ज्योतिषा) प्रकाश से (वि+अव:) विशेष रूप से हटा ।

बल के लिये जब बलपति की शरण मे जाकर आत्मा बल पाता है तब

देदिष्टे इन्द्र इन्द्रियाणि विश्वा=सभी इन्द्रियों का उपदेश करता है।

अर्थात् मानों वह इन्द्रियों से कहता है कि यह बल मेरा नहीं है, वरन् महान् भगवान् का है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिष यस्य देवा ॥ य० २५।१३

जो जीवन दाता और बल प्रदाता है, सभी जिसकी उपासना करते हैं विद्वान् लोग जिसके आदेश का पालन करते हैं।

बल प्रदाता की सभी उपासना करेंगें ही, क्योंकि

"बलं वाचविज्ञानाद्भूय., अपि ह शत विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते। स यदा बली भवति, अथोत्थाता भवति। उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति। परिचरन्नुपसत्ता भवति। उपसीदन् द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्त्ता भवति, विज्ञाता भवति। बलेन वै पृथिवी तिष्ठति, बलेनान्तरिक्षं, बलेन द्यौ., बलेन पर्वता., बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयासि च तृणवनस्पतयः श्वपदान्याकीटपतंगपिपीलिक, बलेन लोकस्तिष्ठति, बलमुपास्स्व। (छन्दोग्योपनिषत् ७।८।१)

सचमुच बल विज्ञान से बड़ा है। सैंकड़ों विज्ञानियों को एक बलवान् कपा देता है। जब बलवान् होता है, तो उत्साही होता है। उत्साही होने से सेवा करता है। सेवा करने से समीपता लाभ करता है। समीपता प्राप्त करने मे देखता, सुनता, विचारता है तथा ज्ञाता और कर्त्ता बनता है। बल के सहारे ही पृथिवी ठहरी है, बल के सहारे अन्तरिक्ष, बल के आधार पर द्यौ, बल पर ही पर्वत, बल पर ही विद्वान्

तथा सामान्य मनुष्य, बल के सहारे ही पशु पक्षी, घास पात, हिंसक, कीट, पतंग, पिपीलिका और बल के आधार पर ससार ठहरा है। अतः बल की उपासना कर।

किसी गुरु आदि से कुछ प्राप्त करना हो, तो गुरु की सेवा शुश्रूषा परिचर्य्या करनी होती है। निर्बल मनुष्य में सेवा-सामर्थ्य भी नहीं होता। अतः वह मेवा के मेवा से वञ्चित रहता है। अतः बल प्राप्त करना चाहिए। बल का परम धाम ब्रह्म है। अतः 'बलमुपास्स्व' का अन्तिम भाव है—बलप्रदाता ब्रह्म की उपासना करो।

बल पा कर

देदिष्टे इन्द्र इन्द्रियाणि विश्वा=आत्मा सभी इन्द्रियों को दिशा दिखाता है।

अर्थात जिधर चाहता है, इन्द्रियों को ले जाता है। निर्बल को इन्द्रियां घसीटती रहती हैं। उस दशा में आत्मा उनके बुरे मार्ग में नहीं चलता। वरन्

प्राचोदयत्सुदुघा वव्रे=

उत्तम प्रेरणा करता है और उत्तम फलप्रदायी क्रियाओं को स्वीकार करता है, पसन्द करता है। अर्थात भगवान से बल पाकर मनुष्य उत्तमोत्तम कार्यों को करे और अन्त में

अन्तर्वि ज्योतिषा सववृत्त्वत्तमोऽव =अन्दर फैले अन्धकार को प्रकाश से दूर करे।

मनुष्य जीवन का लक्ष्य ही प्रकाश प्राप्ति है तभी तो सन्ध्या में प्रतिदिन पढते हैं—

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

हम अन्धकार का परित्याग करते हुए, उससे श्रेष्ठ ज्योति को प्राप्त करते हुए प्रकाशकों के प्रकाशक विश्वात्मा रूप उत्तम प्रकाश को प्राप्त करें।

प्रकाश बहुत बड़ा बल है। अन्धकार में मनुष्य को भय लगता है, प्रकाश में वह निर्भय रहता है। अतः प्रकाश बल है। प्रकाशों में ज्ञानप्रकाश श्रेष्ठ है और ज्ञानप्रकाशों आत्मज्ञानज्योति श्रेष्ठ है। मनुष्य शरीर दृष्टि से कैसा ही बलवान् क्यों न हो, यदि उसमें ज्ञानबल नहीं तो वह सचमुच निर्बल है। हाथी एवं सिंह जैसे महाबली पशुओं को मनुष्य अपने ज्ञानबल से यथेष्ट कार्य लेता है, खेल तक कराता है। इसी भांति आत्मज्ञानबल का बली लाखों मनुष्यों को अपने पीछे लगा लेता है।

भाव यह कि मनुष्य सब प्रकार के बलों का सञ्चय करे और उसके लिए बलधाम भगवान् के शरण में जाए।



जो तुझे चाहते हैं वे ही तृप्त होते हैं

ओ३म् । ये चाकनन्त चाकनन्त नू ते मर्त्ता अमृत मो ते अंह आरन् ।
वावन्धि यज्यूँरुत तेषु धेह्योजो जनेषु येषु ते स्याम ॥ ऋ. ५।३१।१३ ॥

हे (अमृत) जीवनाधार प्रभो ! (ये) जो (चाकनन्त-) तुझे चाहते हैं (ते मर्त्ता) वे मनुष्य (नु) ही (चाकनन्त) सदा तृप्त होते हैं । (ते) वे (अंह) दाप को (मो) मत (आरन्) प्राप्त हों । तू ऐसे (यज्यून्) याज्ञिकों को, भक्तों को (वावन्धि) चाह, सम्मानित कर । (उत) और (तेषु) उन (जनेषु) जनों में (ओज') ओज, शक्ति (धेहि) दे, डाल, (येषु) जिनमें [सम्मिलित होकर] हम (ते) तेरे (स्याम) होवें ।

दीनबन्धो करुणासिंधो ! ससार के समस्त पदार्थ देख लिये । किसी मे नितान्त और स्थिर रस नहीं है । मुझे तेरे प्यारों ने बताया है, **रसं हि लब्ध्वानन्दी भवति (उप)** मनुष्य रस प्राप्त करके आनन्दमग्न हो जाता है ।

वह रस मैं कहा पाऊ ? उन्हीं तेरे प्यारों ने बताया—**रसो हि स (उप०)** वह परमात्मा रस है ।

प्राण से प्यारे, प्राण के भी प्राण ! तू रस, और मैं नीरस । यह क्या बात है ? मुझे रस चाहिये रस । क्या कहते हो ?

ये चाकनन्त चाकनन्त नू ते जो चाहते हैं, वे ही तृप्त होते हैं ।

तो क्या मेरे अन्दर चाह नहीं ?

नहीं । क्योंकि—**ये चाकनन्त चाकनन्त नू ते** । जो चाहते हैं, वे ही चाहते हैं । मै चाह तो रहा हूँ, किन्तु ससार को । कृपा करके ससार की चाह मिटा ।

प्रभो ! 'चाह गई, चिन्ता मिटी मनुवा बेपरवाह !' ससार की सब कामना समाप्त करदी है ।

नहीं । तूने मन को बेपरवाह कर दिया है । मन को मेरी चाह में लगा और फिर रस पा ।

प्रभो ! अच्छा ! मेरा एक विनय सुन—**मो ते अंह आरन्** वे तेरे अभिलाषी पाप को प्राप्त न हों ।

पाप का फल दुःख होता है । प्रभो ! उनके दु.खमूल को उन्मूलन कर । प्रभो ! और भी— **वावन्धि यज्यून्** ऐसे भक्तों को बाध रख, तू भी इन को चाह ।

वे तेरा सग न छोड़ें । तेरे मार्ग से न बिदकें । तू भी उन्हें चाह । तेरे प्रेम से बन्धे वे पाप से बचे रहेंगे ।

अन्त में प्रभो ! एक स्वार्थ भी—

तेषु धेह्योजो जनेषु येषु ते स्याम=

शक्ति उनको देना, जिनमें जाकर हम तेरे हो जायें ।

अमृत ! जीवनाधार ! मेरी कामना है कि मै तेरा बन जाऊँ । तुझे ही ध्याऊँ । तेरा ही यश गाऊ ! अत' प्रभो ! उनको अवश्य बल दे जो मुझे तेरा बना दें ।

तेरा तो व्रत ही है शरणागत की लाज रखना ।

दिन रात सोम-सवन वाला द्युमान्

ओ३म् । यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह ।
अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः ॥ ऋ० ५।३४।३

(यः) जो मनुष्य (अस्मै) इस आत्मा के लिये (घ्रंसे) दिन में (सोमम्) सोम को (सुनोति) कूटता है, तय्यार करता है (उत वा) अथवा (य) जो (ऊधनि) रात्रि में, सोम निष्पादन करता है, वह (द्युमान्+अह) तेजस्वी ही (भवति) होता है । (यः) जो (शक्र) समर्थ (मघवा) धनवान (कवासखः) ज्ञानी मित्रों वाला (ततनुष्टिम्) विस्तार को और (तनूशुभ्रम्) शरीर की शुद्धि को (ऊहति) विचारता है, वह (अप+अप) दुःख से अत्यन्त दूर रहता है ।

अथवा (य) जो (मघवा) धनवान् तथा (कवासखः) ज्ञानियों का मित्र है, वह (शक्रः) शक्तिशाली (ततनुष्टिम) विस्तार को तथा (तनूशुभ्रम्) शरीर-शुद्धि-मात्र को (अप+अप+ऊहति) अत्यन्त बुरा मानता है ।

दिन रात सोम-निष्पादन करने का बहुत बड़ा माहात्म्य दिखाया है । जो दिन रात

सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह=सोम-सम्पादन करता है, वह तेजस्वी होता ही है । आत्मा के लिये जो दिन रात शान्ति के उपाय करने में लगा रहता है, वह तेजस्वी अवश्य होता है । अशान्त मन चञ्चल होता है । चञ्चल होने के कारण उसकी शक्ति बिखरी रहती है किसी एक केन्द्र पर केन्द्रित न होने से उसकी शक्ति का पूरा पता नहीं चलता । जब कोई मन को किसी एक केन्द्र पर केन्द्रित करने में सफल हो जाता है, तब उसका मुख सुदीप्त होने लगता है । वायुसमान निरन्तर चञ्चल मन को वश में करने के लिये थोड़ा बल नहीं चाहिये, वरन् बहुत बल चाहिए । ऐसे महाबल को वेद की परिभाषा में 'शक्र' कहते हैं ।

सोमपान करने से आत्मा शरीर की चिन्ता और संसार व्यापार से ऊब जाता है । अत

अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रम्=

शक्र संसार विस्तार के तथा शरीरशुद्धि मात्र के विचार को दूर—बहुत दूर—भगा देता है ।

प्रातःकाल स्नान करता है, मल-मल कर देह को माजता है, धोता है । किन्तु थोड़ी देर बाद फिर देह मलिन प्रतीत होने लगता है । देह की इस मलिनता को देख कर वह शरीरशुद्धि मात्र को तुच्छ समझता है । बिज्जू नाम का पशु अपना स्थान अत्यन्त स्वच्छ रखता है, इतना कि यदि उसके भट के पास मलमूत्र फेंक दिया जाये, तो वह स्थान छोड़ देता है । बाहर से इतना स्वच्छ रहने वाला बिज्जू खाता है मुर्दे । बताओ, बाहर की सफाई से क्या बना ? अतः केवल शरीरशुद्धि ऐसे ज्ञानी के जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता । उसके जीवन का लक्ष्य बहुत ऊंचा होता है ।

दिन रात सोमसम्पादन करने का फल 'द्युमान्=तेजस्वी होना' बतलाया है । शरीरशुद्धि मात्र से तेज नहीं आता । सोमपान से तेज आता है जैसा कि वेद में कहा—

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् । (ऋ० ८।४८।३)=

हमने सोमपान किया और हम अमृत हो गये, प्रकाश मिला और मिले दिव्य गुण ।

प्रकाश के बिना तेज कहां ? सोमपान से जीवनशक्ति मिलती है । शक्ति का अधिकारी तो काय को बहुपाय मानता है वह उसकी चिन्ता में क्यों रोगा ?

उद्योगरहित मनुष्य हानि उठाता है

ओ३म् । न पञ्चभिर्दशभिर्वष्ट्यारभं नासुन्वता सचते पुष्यता चन ।
जिनाति वेदमुया हन्ति वा धुनिरा देवयुं भजति गोमति व्रजे ॥ ऋ० ५।३४।५

जो (असुन्वता) पुरुषार्थहीनता से (पञ्चभिः) पाँच इन्द्रियों के द्वारा (दशभिः) दश प्राणों के द्वारा (आरभम्) कार्य्य का आरंभ (न) नहीं (वष्टि) चाहता है । वह (पुष्यता+चन) फलने फूलने के साथ भी (न) नहीं (सचते) मिलता । वरन् वह (जिनाति) हानि उठाता है, अपमानित होता है । (वा) और (धुनि॰) हलचल करने वाला (अमुया) इससे (हन्तिहत्) मार ही देता है (वा) और (देवयुम्) देवाभिलाषी को (गोमति) गौओं वाले (व्रजे) बाड़े में (भजति) पहुँचाता है ।

भगवान् ने यह संसार इसलिये रचा है कि जीव पुरुषार्थ करके अपने लिये भोग और मोक्ष कमाये । धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष का ज्ञान कराने के लिये भगवान् ने वेदज्ञान प्रदान किया, साथ उससे कार्य्य लेने के लिये शरीर इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि साधन भी दिये । जो इन साधनों के होते पुरुषार्थ नहीं करता । वेद कहता है वह

न सचते पुष्यता चन=वह फलते फूलते के साथ नहीं मिलता ।

अथवा पुष्टिकारक साधन के साथ उसका मेल नहीं हो पाता । वेद में स्पष्ट उपदेश है—

इच्छन्ति देवा सुन्वन्तम् (ऋ० ८।२।१८)=देव विद्वान् या सद्गुण पुरुषार्थी को पसन्द करते हैं ।

आलसी को संसार में कभी सफलता नहीं मिलती ।

जिनाति वेदमुया हन्ति वा धुनि.=

वह इस आलस्य से हानि उठाता है । हलचल करने वाला **agitator** उसे मार देता है ।

इस भाव को दूसरे शब्दों में यों कहा है—

न स्वप्नाय स्पृहयन्ति (ऋ० ८।२।१८)

सोये रहने वाले को, प्रमादी को नहीं चाहते ।

सोने से मुसाफिर को है खतरा । जो जागत है सो पावत है ।

इसके विपरीत जो पुरुषार्थी हैं, विजयाभिलाषी हैं । उसको सब प्रकार के साधन मिल जाते हैं—

आ देवयुं भजते गोमति व्रजे

देवयु=देवाभिलाषी, विजयाभिलाषी को गौओं के बाड़े में पहुँचा देता है ।

अर्थात् पुरुषार्थी को सभी पदार्थ मिल जाते हैं । पुरुषार्थ करते समय कष्ट अवश्य होता है किन्तु उसका फल मीठा होता है—

यन्ति प्रमादतन्द्राः ॥ ऋ० ८।२।१८=तन्द्रा रहित, उद्योगी आनन्द को प्राप्त करते हैं ।

कहा भी तो है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः=उद्योगी नरव्याघ्र को लक्ष्मी प्राप्त होती है ।

सांसारिक तुच्छ धन से लेकर मोक्षलक्ष्मी तक सभी पुरुषार्थी की वस्तुएं हैं । अतः आलस्यादि छोड़कर उद्योग को अपनाना चाहिये ।

१२४

जीव ! तू सिद्धि के लिये पैदा हुआ है

ओ३म्। वृषा ह्यसि राधसे जज्ञिषे वृष्णि ते शवः।

स्वक्षत्रं ते धृषन्मनः सत्राहमिन्द्र पौंस्यम्॥ ऋ० ५।३५।४

हे (इन्द्र) ऐश्वर्याभिलाषिन् जीव। तू (हि) सचमुच (वृषा) बलवीर्य्ययुक्त, समर्थ (असि) है, तू (राधसे) सिद्धि के लिये, ऐश्वर्य्य के लिये (जज्ञिषे) उत्पन्न हुआ है, (ते) तेरा (शवः) बल (वृष्णि) सुखवर्षक है (ते) तेरा (स्वक्षत्रम्) घाव भरने का अपना सामर्थ्य है, अपनी त्रुटियों को पूरा करने का अपना बल है। (ते) तेरा (मनः) मन (धृषत्) प्रौढ है और (पौंस्यम्) पुंस्त्व, शौर्य्य (सत्राहम्) सत्याचरणादि है।

संसार में प्रायः मतमतान्तर जीव को निर्बल, हीनवीर्य्य मानते हैं। वेद जीव का वास्तविक स्वरूप बताता है। निस्सन्देह भगवान् की रचना अत्यन्त अद्भुत है, परन्तु जीव की कृति भी बहुत विलक्षण है। आग जलाना, कूप खोदना, नदियों से नहरें निकालने, कृषि करना, मकान बनाना आज साधारण से कार्य्य प्रतीत होते हैं किन्तु सोचिये, जब पहले पहल ये कार्य किये गये होंगे, तब ये कितने कष्टसाध्य, मस्तिष्क को थका देने वाले हुए होंगे। रेल, तार, जहाज, वायुयान, बेतार का तार, बिजली के प्रदीप वनस्पति तैल, घृत, अन्न से भोजन पकाना, गुड़, शक्कर, खांड, चीनी, फलों के आचार मुरब्बे, सुवर्ण आदि धातु के आभूषण, मोटर, पैट्रोल, मिट्टी का तेल, पीतल, ताम्र आदि के पात्र, लोहा आदि के उपकरण, शास्त्र ग्रन्थ तथा अन्य उपयोगी पदार्थ, विविध धातुओं के भस्म, पानी से बरफ, सीमेंट से पत्थर बनाना आदि कार्य्य कहां तक गिनायें। युद्ध के उपयोगी आयुध इन से पृथक् हैं। मनुष्य ने इतने पदार्थों की सृष्टि कर डाली है कि उसे छोटा मोटा विधाता मानने में कोई दोष नहीं है। प्रतिदिन हमारे व्यवहार में आने वाले विद्युत्प्रदीप आदि आज सरल प्रतीत होते हैं किन्तु इनके निर्माण में मनुष्यों को कितना परिश्रम करना पड़ा, इस की कल्पना भी करना आज कठिन है।

ये सारे के सारे पदार्थ जीव ने अपने और अपने जैसों के सुख के लिये बनाये हैं। अतः वेद कहता है—

असि वृषा=सचमुच तू वृषा है, सुख बरसाने वाला है।

तेरा स्वभाव तो सुखी होने तथा सुखी करने का है। तू संसार के लिये सुख के साधन जुटा, सब को सुख सम्पन्न बना। यदि मनुष्य केवल अपना सुखसाधन लक्ष्य मान लेता है तो भयंकर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। जब वह दूसरे के सुखों का भी विचार करता है तब उसका परिवार बढ़ता है और उसके स्वर्गीय मर्यादा की वृद्धि होती है। मनुष्य के लिये यह आवश्यक भी है कि वह सिद्धि के साधनों का अवलम्बन करे। क्योंकि वेद में उसे सम्बोधन करके कहा है कि तू

राधसे जज्ञिषे=सिद्धि के लिये उत्पन्न हुआ है।

तुझे नरतन मिला भी इसलिये है कि तू संसार की सुख सामग्री उत्पन्न कर और बढ़ा। पूर्वजों के बुद्धि-वैभव तथा हस्तकौशल का लाभ हमने उठाया है। हमारी सफलता इसी में है कि आगे आने

१२६

किन का धन भाग्यवान्

ओ३म्। त्वोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीरा।
ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः॥ ऋ० ५।४२।८

हे (बृहस्पते) रत्नधातः, धनदातः, सब से महान् (तव) तेरी (ऊतिभिः) कृपाओं से (सचमानाः) युक्त होते हुए, (ये) जो (अरिष्टाः) विघ्नबाधारहित, हिंसारहित (सुवीराः) सुवीर (मघवानः) धनी (अश्वदाः) घोड़ों के दाता (उतवा) अथवा (ये) जो (वस्त्रदाः) वस्त्रों के दानी (सन्ति) हैं (रायः) धन (तेषु) उनमें (सुभागाः) सुन्दर, भाग्यवान्, सफल हैं।

निस्सन्देह मनुष्य के पास जो धनसम्पत्ति आदि है, उसके दाता भगवान् ही हैं। बृहस्पति का अर्थ है बड़ों का पालक। संसार में दो प्रकार के बड़े होते हैं। एक सदाचार विद्यादि सद्गुणों के कारण बड़े होते हैं, दूसरे धन, ऐश्वर्य्य, राज्य आदि से बड़े कहलाते हैं। भगवान् दोनों प्रकार के बड़ों का पालक है। सम्पूर्ण धनों का निर्माता तथा दाता वही है। जैसा कि ऋ० ४।४२।६ में कहा है—

तमु स्तुहि प्रथमं रत्नधेयं बृहस्पतिं सनितारं धनानाम्=

उसी बृहस्पति की स्तुति कर, जो सब से पहला, प्रधान रत्ननिर्माता तथा धनों का दाता, संविभाजक है।

संसार में हम देखते हैं, जो दानी हैं, उनका परस्पर प्रेम होता है। जो सचमुच विद्वान् हैं, वे परस्पर अतीव प्रीतिमान् होते हैं। तात्पर्य यह कि समान गुणकर्म्म स्वभाव प्रीति तथा स्नेह के उत्पादक हैं। भगवान् धनदाता है, उचित रीति से धन का संविभाग, पात्रापात्र का विवेक करके यथायोग्य दान करता है, इसी से भगवान् का ऐश्वर्य्य सफल है। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवान् के इस महान् दान को देख कर तदनुसार पात्रों को उनकी अपेक्षित सामग्री देता है, निःसंशय उसे भगवान् की रक्षा तथा प्रीति प्राप्त होती है।

कोई कोई कहेंगे, हम कर्म्म करते हैं, भगवान् फल देते हैं, इसमें भगवान् का क्या दान? उन्हें छोटा सा उत्तर है, यदि वे आप के कर्म्म का फल न दें, उलटा दें तो आप क्या कर सकते हैं? अरे कर्म्मानुसार फल देना भगवान् का महान् दान है, वह देता ही है न, लेता तो कुछ नहीं। तुम जो सुकर्म्म करते हो, उससे भगवान् का क्या लाभ? तुम्हारे दुष्कर्मों से भगवान् की क्या हानि? तुम्हारे सुकर्म्म दुष्कर्म्म उसका कुछ संवारते बिगाड़ते नहीं, अतः उसका तुम्हारे कर्मों के अनुसार फल देना प्रत्युपकार नहीं। प्रत्युपकार तो तब होता जब तुम्हारे किसी कर्म्म से उसका उपकार होता, और वह उसके बदले तुम्हारा उद्धार करता। भगवान् स्वभाव से न्यायकारी और दयालु है, अतः वह

शंसते स्तवते शम्भविष्ठः (ऋ० ५।४२।६)=स्तुति प्रार्थना करने वाले के लिये अत्यन्त कल्याणकारी है।

इतना ही नहीं, वरन् वह

पुरुवसुरागमज्जो हुवानम् (ऋ० ५।४२।६)=महाधनी बार बार पुकारने वाले के पास आ जाता है।

भगवान् को अपने धन का अभिमान नहीं है, जो उसे बुलाता है, भगवान् उसके पास पहुँच जाता है। धन के अभिलाषियो! उसे पुकारो, वह पुरुवसु है।

अश्वदान, गोदान, वस्त्रदान सभी दानों के उपलक्षण हैं। दूध दही की प्राप्ति के साधन, यातायात का सामान, तथा तन ढकने की सामग्री देना जीवन की रक्षा करना है, अतः इनका नाम लिया।

ऐसे दानियों के पास रहने वाला धनैश्वर्य्य है। शेष तो काष्ठ, लोष्ठ समान है।

तुच्छ कामना वाले को अधिकारभ्रष्ट करो

ओ३म्। य ओहते रक्षसो देववीतावचक्रेभिस्त मरुतो नि यात।
यो वः शमीं शशमानस्य निन्दात् तुच्छ्यान् कामान् करते सिष्विदानः॥ ऋ० ५।४२।१०

(यः) जो (देववीतौ) देवप्राप्ति के कार्य्य में (रक्षसः) राक्षसों को, दुष्टभावों को, विघ्नों को (ओहते) लाता है, अथवा (यः) जो (वः) तुम में से (शशमानस्य) निरन्तर शान्ति का अनुष्ठान करने वाले के (शमीम्) शान्तिकारक कर्म की (निन्दात्) निन्दा करे, और (सिष्विदानः) निरन्तर स्नेह करने वाला बन कर (तुच्छ्यान्) तुच्छ पुरुषों की (कामान्) कामनाओं को (करते) करता है, हे (मरुतः) मरुतो। (तम) उसको (अचक्रेभिः) चक्रशून्य दण्डों के द्वारा (नि—यात) निकाल दो।

रक्षः=' राक्षस' का अर्थ है जिससे अपना बचाव किया जाये। अर्थात् जो विघ्न अथवा विघ्नकारी हैं, चाहे वे भाव हों, कर्म हों, मनुष्य हों, कीट पतग आदि कोई हों, सभी राक्षस हैं। मनुष्य समाज की रक्षा के लिये जो मरने मारने को तत्पर हों, उन्हें 'मरुत्' कहते हैं। दूसरे शब्दों में समाज से विघ्नों का नाश करके, शान्ति, समता स्थापित रखने वालों को 'मरुत्' कहते हैं।

इस मन्त्र मे मरुतों को प्रेरणा की गई है कि वे उस मनुष्य को निकाल बाहर करें कि

१. य ओहते रक्षसो देववीतौ=जो भगवान् की प्राप्ति के कार्य्य मे, अथवा शुभकामना मे राक्षसों को लाता है।

शुभकर्म करना, भगवान् की भक्ति करना ये मनुष्य जन्म की सफलता के साधन हैं, जो मनुष्य इन शुभकर्म्मों में विघ्न डालना चाहता है विघ्नकारियों को लाना चाहता है, उसे बाहर कर देना चाहिये। समाज का आधार ही शुभ-गुण-प्राप्ति है, जो उसमें विघ्न डालता है, वह समाज का शत्रु है ऐसे राक्षस-सहायक से समाज की रक्षा करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है।

२. यो वः शमींशशमानस्य निन्दात=जो तुममें से शान्तिकारक कर्मों के करने वाले के शान्तिदायक कर्मों की निन्दा करे।

सम्पूर्ण प्राणियों का सब सुखशान्ति प्राप्त करने के लिए हैं। वे वास्तव में धन्य हैं। जो मनुष्यों को सुख शान्ति पहुँचाने के साधनों का सविधान करते हैं। मनुष्य समाज के ये महोपकारक वास्तव में समाज का आधार हैं।

किन्तु समाज में ऐसे भद्र मनुष्य भी हैं जिनको दूसरों की सुखशान्ति देख कर ईर्ष्या और मत्सर घेर लेते हैं। वे उनकी प्रशंसा को सुन नहीं सकते, सहन नहीं कर सकते। वे स्वयं तृप्ति भले मार्ग करके,

प्रशंसा प्राप्त नहीं कर सकते अतः जलन के मारे वे ऐसे शुभकर्म्मा लोगों के कर्म्मों की निन्दा करते रहते हैं और इस प्रकार अपने हृदय की जलन बुझाना चाहते हैं, जो उल्टा और बढ़ जाती है ऐसे निन्दक, शान्ति भङ्ग करने वालों को भी समाज से बाहर कर देना चाहिए। और

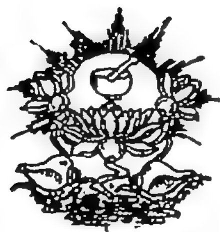
३. तुच्छयान् कामान् करते सिष्विदानः

जो बार बार प्रेम करता हुआ तुच्छों की कामनायें करता है।

खाना पीना भोग आदि तो पशुओं में भी है। मनुष्य-तन पाकर भी यदि ऐसा ही हीन कामनाओं के चक्कर में मनुष्य पड़ा रहा, तो वह मनुष्य कैसा ? उसे तो भगवान् भी मनुष्य शरीर न देंगे। ऐसे हीन भावों वाले लोग मनुष्य समाज में हीन भावों का प्रचार कर के मनुष्य-समाज के पतन का कारण बनते हैं। ऐसों से मनुष्य समाज की हर प्रकार रक्षा करनी चाहिये, ये लोग राक्षस हैं

समानशीलव्यसनेषु सख्यम्=जिन का स्वभाव एक सा है अथवा जिन पर एक जैसी विपत्ति हो, वे मित्र बन जाते हैं। इसी नीतिवाक्य के अनुसार जो किसी कार्य्य में विघ्नधारियों=राक्षसों की सहायता करता है, वह भी राक्षस ही है।

इस दृष्टि से मन्त्र पर विचार किया जाए, तो राक्षसों का स्वरूप स्पष्ट समझ में आ जाता है। किसी भी कार्य्य में विघ्न करने वाला पदार्थ राक्षस है, चाहे वह चेतन अथवा अचेतन।



१२८

जैसा देखा जाता है वैसा कहा जाता है

ओ३म्। यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते स छायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा।
महीमस्मभ्यमुरुषामुरु ज्रयो बृहत्सुवीरमनपच्युतं सहः ॥ ऋ. ५।४४।६॥

उन लोगों से (यादृग्+एव) जैसा ही (ददृशे) देखा जाता है (तादृग्) वैसा (उच्यते) कहा जाता है, (ये) जो (ज्रयः) वेगवान् मनुष्य (अप्सु) कर्मों में (सिध्रया) सरल, मंगलमयी (छायया) छाया के साथ (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (महीम्) बहुत बड़ी (उरुषाम्) अति आदर करने वाली वाणी तथा (उरु) विशाल (बृहत्) महान् (सुवीरम्) शोभन वीरों वाला तथा (अनपच्युतम्) क्षीण न होने वाला (सहः) बल (दधिरे) धारण करते हैं।

विद्वान् धार्मिक सज्जनों की शक्ति मानों छाया बनकर उनके कर्मों में विराजती है—

स छायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा...... सहः...

मंगलमयी छाया के साथ, कर्मों में शक्ति को धारण करते हैं।

ऐसे महापुरुषों के कर्मों में बल होता है, उनके वचन में शक्ति होती है। **अमोघास्य वाग्भवति**= इसकी वाणी अवश्य सफल होती है। जिनकी वाणी में इतना बल हो, उनकी क्रिया में आकर्षण-शक्ति का क्या कहना? किन्तु इनके इस अवर्णनीय बल के साथ इनकी शान्तिदायिनी छाया=छवि भी होती है। अर्थात् उनकी प्रत्येक क्रिया पर शान्ति की, मंगल की छाप होती है। क्योंकि इनकी वाणी तथा बल 'अस्मभ्यम्' हमारे लिये होता है।

स्वार्थ छोड़कर लोकोपकार की भावना से प्रेरित होकर जो अपना सारा बल, पराक्रम, तन, मन, धन, जन सेवा में अर्पण कर देते हैं, उनके कर्म लोकहित की भावना से प्रेरित होकर प्रवृत्त होते हैं अतः वे 'सिध्रा छाया' मंगलमयी छाया साथ लिये होते हैं।

जो लोकहित में प्रवृत्त होते हैं, लोक भी उनका साथ देते हैं, अतएव उनका सहः=बल।

उरु बृहत् सुवीर मनपच्युतम्=विशाल महान् सुवीर और क्षीण न होने वाला होता है।

दिन दिन इनके साथियों की संख्या बढ़ती जाती है, अतः इनका बल उरु और विशाल होता जाता है, उत्तम श्रेष्ठ सज्जन वीर पुरुषों के सहयोग से वह सुवीर और अतएव **अनपच्युत**=क्षीण न होने वाला होता है।

इसका मूल कारण यह है कि—

यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते=जैसा दीखता है, वैसा कहा जाता है।

ये सत्य के धनी होते हैं, केवल सुनी सुनाई बातों पर विश्वास नहीं कर लेते, अपितु बात की तह तक पहुँच कर उसकी यथार्थता जानने का यत्न करते हैं। इतने अनुसन्धान पर जैसी प्रतीति होती है, वैसा कहते हैं। सत्य का स्वरूप भी सुझा दिया गया है। जो मनुष्य सत्य बोलना चाहे उसे पहले सत्य का ज्ञान भी करना चाहिए। ज्ञान यदि सत्य नहीं तो वचन कैसे सत्य होंगे।

सत्य ज्ञान बड़ा बल है।

पवित्र बुद्धि वाले का मन अडोल होता है।

ओ३म्। समुद्रआसामव तस्थे अग्रिमा न रिष्यति सवन यस्मिन्नायता।
अत्रा न हार्दिक्रवणस्य रेजते यत्रा मतिर्विद्यते पूतबन्धनी ॥ ऋ. ५।४४।१॥

(समुद्र) समुद्र या अन्तरिक्ष (आसाम्) इन प्रजाओं का (अग्रिमा) अगुआ (अव+तस्थे) होता है। इनका (सवनम्) सवन, यज्ञ (न) नहीं (रिष्यति) नष्ट होता, (यस्मिन्) जिसमें (आयता) वृद्धि है और (यत्र) जहा (पूतबन्धनी) पवित्र को धारण करने वाली (मति) बुद्धि (विद्यते) रहती है, (क्रवणस्य) क्रियाशील मनुष्य का (अत्र) उस विषय मे (हार्दि) हृदय का भाव (न) नहीं (रेजते) कापता, डोलता।

इस मृत्तिकामयी भूमि से जलमय सागर बहुत विशाल है। सैकड़ों नदिया इसमें पड़ती हैं किन्तु यह नहीं उछलता। इसी प्रकार जो मनुष्य इस दृष्टान्त को सामने रखता है। उसका—**न रिष्यति सवनम्**=यज्ञ नष्ट नहीं होता। पुरुषार्थ अकारथ नहीं जाता। उसके सामने वृद्धि ही वृद्धि है। उसे किसी प्रकार की हानि की सभावना ही प्रतीत नहीं होती। यह सब वहा सभव है—

यत्रा मतिर्विद्यते पूतबन्धनी=जिसमे पवित्रता से बन्धी हुई बुद्धि है।

तात्पर्य्य यह कि जो मनुष्य चाहता है कि उसका उद्योग विफल न हो, उसकी क्रियायें सफल हों, उसे सबसे पहले अपनी बुद्धि को व्यवसायात्मिका=निश्चयात्मिका बनाने के लिये भी उसे पवित्रपदार्थ से बाधना होगा। उच्छृङ्खल या अपवित्र से संबन्ध रखने वाली बुद्धि चचल होती है, वह किसी विषय का दृढ निश्चय नहीं कर पाति। बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से होती है, जैसा कि मनु जी कहते हैं—**बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति**—बुद्धि ज्ञान से पवित्र होता है। किसी महात्मा ने कहा है—

नह्यानेन सम किंचित्पवित्रमिहविद्यते=ज्ञान के समान इस ससार में कोई वस्तु पवित्र नहीं है।

अत' मनुष्य को लगातार पवित्र ज्ञान के सचय में लगा रहना चाहिये। ज्ञानार्जन के जितने साधन हैं उन सबसे लाभ उठाना चाहिये। उनमें वेदशास्त्र सबसे मुख्य साधन हैं, अत' पवित्रता के अभिलाषी के लिए वेद शास्त्र सबसे मुख्य साधन है। उस' हेतु पवित्रता के अभिलाषी को वेद-शास्त्र का अभ्यास अवश्य और निरन्तर करना चाहिये। ज्ञान से बुद्धि को निर्मल करके जो कार्य्य क्षेत्र में आता है—

अत्रा न हार्दि क्रवणस्य रेजते=

इस ससार में उस क्रियाशील के हार्दिक भाव नहीं कापते, अडोल रहते हैं।

दुर्बलता का मूल हृदय में होता है। कार्यारम्भ में वा कार्य्य में किसी समय जब दिल दहल जाये तो कार्य बीच में ही रह जाये। किन्तु जिसने पवित्रबुद्धि से पहले ही कार्य्य साधकों बाधकों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उस का चित्त चचल नहीं होता।

परलोक की बात जाने दो। ससार-व्यवहार में भी सफलता प्राप्त करने के लिये बुद्धि की पवित्रता की नितान्त आवश्कता होती है। अतः बुद्धि की शुद्धि में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

१३०

शरीर-वर्णन

ओ३म। इद वपुर्निवचन जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः।
द्वे यदीं बिभृतो मातुरन्ये इहेह जाते यम्या सबन्धू॥ ऋ० ५।४७।५

(यत) जैसे (आप.) जल (नद्यः) नदियों मे (तस्थु:) रहते हैं, ऐसे (जनासः) लोग (इदम्) इस (निवचनम्) विशेष प्रसशनीय (वपु:) शरीर म (चरन्ति) विचरते हैं (इह+इह) यहीं ही (सबन्धू) समान-बन्धु (यम्या) जौडिये (जाते) उत्पन्न हुए (मातुः) माता से (अन्ये) भिन्न (द्वे) दो (यत्) जिसको (बिभृतः+इम्) धारण करते हैं।

'नदी',यहा उपलक्षण है समस्त जलाशयों का। जिस प्रकार जल जलाशयों में रहता है ऐसे ही आत्मा इस शरीर में रहता है, विचरता है। यह शरीर 'निवचन' है। यह शरीर विशेषकर मनुष्य-शरीर बहुत प्रशसनीय है, वेद मे इसे रथ, कलश, अपराजिता नगरी, अयोध्या, देवपुरी, ब्रह्मपुरी, नौका आदि विविध नामों से पुकारा गया है। ऐतरेय-उपनिषत् में इस शरीर की महिमा एक कथानक के द्वारा वर्णन की गई है। वहा कहा गया है, कि आत्मा के आगे गौ-आदि पशुओं के शरीर लाये गये, आत्मा को वे पसन्द न आये। जब इसके सामने मानव देह लाया गया, तो आत्मा प्रसन्न हो उठा और कहने लगा—'सुकृत बत' इति=यह बहुत अच्छा बना है।

निस्सन्देह मानव शरीर बहुत उत्तम और अद्भुत है। सब इन्द्रिय यथायोग्य स्थान पर हैं। मानव शरीर मे एक ऐसा इन्द्रिय है जो अन्य पशु-आदिक के पास नहीं है, वह है वागिन्द्रिय, जिससे मनुष्य अपने मनोगत भाव दूसरों पर व्यक्त कर सकता है। इस वागिन्द्रिय के कारण मनुष्य 'व्यक्तवाक्' कहलाता है। दूसरे पशुओं को 'अव्यक्तवाक्' कहते हैं। यह अपने दुःख सुख की कहानी कह सकता है, दूसरे पशु नहीं।

इसी शरीर मे प्रकृति माता की दो सन्तानें रहती हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं, और इस शरीर को धारण कर रही हैं। देखिये—ज्ञानेन्द्रिया और कर्मेन्द्रिया दोनों प्रकृति-माता की यह सन्तानें हैं। दोनों का स्वभाव एक दूसरे से भिन्न है। एक—ज्ञानेन्द्रियवर्ग—बाहर का ज्ञान अन्दर पहुँचा रहा है। दूसरा—कर्मेन्द्रियवर्ग—अन्दर के भावों को बाहर प्रकट कर रहा है। हैं ये दोनो सबन्धु। आत्मा ही इनका बन्धु है, और ये जौडिये हैं। शरीर में आत्मा के प्रवेश के साथ ही इनकी रचना आरम्भ हो जाती है, और जब माता के गर्भ से शरीर बाहर आता है, तो शरीर में ये दोनों प्रकार के इन्द्रिय उपस्थित होते हैं, अत. वेद इन्हे यम्या=जौडिये कहता है।

इसी प्रकार प्राण और अपान एक वायु माता के दो सन्तान इस देह मे कार्य कर रहे हैं। एक बाहर से अन्दर जा रहा है। एक अन्दर से बाहर जा रहा है। यह भी इसी प्रकार सबन्धु और यम्य हैं। यह दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी शरीर का धारण कर रहे हैं।

इसी शरीर में पाप पुण्य कर्म किये जाते हैं। दोनों की माता आकृति=सकल्प=इरादा है। दोनों का परिणाम भिन्न भिन्न है।

इस प्रकार विचारने से सिद्ध होता कि और भी कई जौडिये यहा काम कर रहे हैं, विस्तार भय से उनकी यहा चर्चा नहीं करते।

१३१

मातायें सन्तान के ज्ञानकर्म्म वस्त्र का विस्तार करें (बनायें)

ओ३म् । वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति ।
उपप्रक्षे वृषणो मोदमाना दिवस्पथा वध्वो यन्त्यच्छा ॥ ऋ० ५।४७।६

(मातर.) माताए (अस्मै) इस पुत्र के लिये (धिय.) बुद्धियों तथा (अपांसि) कर्मों को (वि-तन्वते) विस्तृत करती हैं, और (पुत्राय) सन्तान के लिये (वस्त्रा) वस्त्र (वयन्ति) बुनती हैं। (वध्व.) वधुयें (मोदमाना) प्रसन्न होती हुई (उपप्रक्षे) सम्पर्क के निमित्त (दिवः+पथा) ज्ञान के मार्ग से (वृषण.) वीर्य्य चेतन समर्थ पुरुषों को (अच्छ) भली भाति (यन्ति) प्राप्त होती हैं, अथवा (वध्वः) वधुयें (उपप्रक्षे) संबन्ध के निमित्त (मोदमाना) आनन्द मनाती हुई (वृषणः) वीर्य्यवान् पुरुषों को (दिव) चाहती हुई (पथा) धर्म्ममार्ग से (अच्छ+यन्ति) ठीक प्रकार प्राप्त होती हैं।

सन्तान जो कुछ है वह प्राय. माता पिता के आचार विचार व्यवहार आहार तथा संस्कार का प्रतिबिम्ब है। माता पिता के आचार विचार का संस्कार बालक पर अवश्य पड़ता है। और उनमें से भी माता का प्रभाव बहुत अधिक होता है। माता चाहे तो बालक को शूरवीर, धीर गम्भीर, धर्म्मात्मा महात्मा, विद्वान् पण्डित, ज्ञानी ध्यानी बना दे। माता चाहे तो उसे कायर भीरु विक्षिप्त चचल, पापात्मा दुरात्मा, मूढ, अज्ञ, विषयी, लम्पट बना दे। बालक की जीवन प्रभात माता की गोद में बितती है। माता की एक एक इङ्गित चेष्टित, भाषण, गमन, आसन सभी उस बालक के लिये अनुकरणीय होते हैं। उनको देखकर,-असमर्थ होता हुआ भी बालक उनका अनुसरण करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कहना होगा कि बालक की प्रवृत्ति माता ही बनाती है। वेद कहता है—

वितन्वते धियो अस्मा अपांसि **मातर**=मातायें अपनी सन्तान के लिये बुद्धियों तथा कर्म्मों का विस्तार करती हैं।

माता का उत्तरदायित्व बहुत है। मातायें सन्तान-सबन्धी अपने इस उत्तरदायित्व को समझ जाये तो ससार का संकट दूर हो जाये। क्षुद्र कौटुम्बिक वा दैशिक दुर्भावनाओं से ऊपर उठ कर समस्त ससार को अपना घर समझ कर विशाल मानव समाज की कमनीय कल्याण कामना से प्रेरित होकर अपना विचार, उच्चार तथा आचार ऐसा बनायें कि बालकों के हृदय में **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भव्य भावना उत्पन्न हुए विना न रहे। तब अवश्यमेव ससार से अशान्ति का निर्वासन होकर शान्ति का साम्राज्य होगा। माताओं का एक और कार्य्य भी यहां बताया गया है—

वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति=सन्तान के लिये वस्त्र मातायें बुनती हैं। यदि यह कार्य्य भी माता सम्भाल लें, तो गृहशिल्प की उन्नति होकर व्यापारिक स्पर्धा भी ससार में न्यून हो जाये।

मन्त्र के उत्तरार्ध में विवाहाभिलाषिणी स्त्रियों के मनोभावों का सक्षेप में वर्णन है, उसमें इशारे से पुरुष में पुरुषत्व के होने की आवश्यकता भी बतलादी। स्त्री क्यों और कैसे पुरुष को चाहती है, इसको 'उपप्रक्षे' तथा 'वृषण' दो पद स्पष्ट कर रहे हैं। स्त्री सोच समझ कर पति को चुने, वह उस को **'दिवस्पथा'** ज्ञान के मार्ग से चाहे। अर्थात स्त्री को अपने कर्त्तव्य तथा आवश्यकताओं, एव योग्यता का ज्ञान होना चाहिये।

१३२

जीव का लक्ष्य महान् संग्राम

ओ३म्। स वावशान इह पाहि सोमं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सुतं नः।
जातं यत्त्वा परि देवा अभूषन् महे भराय पुरुहूत विश्वे ॥ ऋ० ३।५१।८

हे (इन्द्र) ऐश्वर्याभिलाषिन् जीवात्मन्। (सः) ऐसा तू (इह) इस संसार में (वावशानः) निरन्तर कान्तिमान् होता हुआ, अपने (सखिभिः) मित्र (मरुद्भिः) प्राणों के साथ (नः) हमारे (सुतम्) निष्पादित (सोमम्) सोम की (पाहि) रक्षा कर, (यत्) क्योंकि हे (पुरुहूत) अनेकों से स्पर्धनीय! (विश्वे+देवाः) सब देव (जातं+त्वा प्रकट हुए तुझको (महे+भराय) महान् संग्राम के लिये (परि+अभूषन्) सब ओर से अलंकृत करते हैं।

यह मन्त्र जीवन को संग्राम बताता है। संग्राम में विजय पाने के लिये मरने मारने में तत्पर मित्रों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। जीव को ऐसे संग्राम में जूझना है जिसमें उसे आक्रमण की अपेक्षा रक्षा का कार्य अधिक करना है, उस अवस्था में तो मर मिटने वाले मित्रों की और भी अधिक आवश्यकता है।

जीव को भगवान् ने ऐसे साथी दिये हैं जो सदा इस का संग देते हैं। मुक्ति होने तक साथ बने रहते हैं। वे हैं मरुत्=प्राण। प्राण आत्मा के साथ सदा बने रहते हैं। इन प्राणों को अपना सखा बनाना आत्मा का कार्य है। इनको सखा बनाकर प्राप्त की रक्षा करना, और अप्राप्त को प्राप्त करना जीव का कर्त्तव्य है।

जीव के सामने एक महान् संग्राम है। भगवान् ने इस संग्राम के लिये इसके चारों ओर देवों को खड़ा कर दिया है।

जीवन संग्राम में यह देव इसके सहायक हैं। इसके सखा प्राणों ने इसके लिये ब्रह्मामृत रस तय्यार किया है। उसकी यदि यह रक्षा कर ले तो अपने साथियों के सहयोग से रक्षित सोम का पान करने से यह अमृत हो जायेगा। अन्यथा जन्ममरण का घोरण सिर पर है ही।

ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में इस जीवन संग्राम का अनेक बार, विविध प्रकार से वर्णन हुआ है, वहां इस संग्राम को देवासुर संग्राम कहा गया है। देवों और असुरों का सदा ही युद्ध ठना रहता है। अनेक बार ऐसा प्रतीत होता है कि देव हार जायेंगे, किन्तु अन्त में देवों की ही विजय होती है। होना ही चाहिये। क्योंकि देव सत्यपक्षावलम्बी का नाम है। संसार का यह नैसर्गिक नियम है कि सत्यमेव जयते नानृतम्=सदा सत्य का विजय होता है न कि झूठ का। और सत्यं वै देवाः (शत० १।१।१।१)=देव सत्य-स्वरूप ही होते हैं। ब्राह्मणों उपनिषदों तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों में जहां जहां भी देवासुर संग्राम की चर्चा है, वहां सब जगह यह भी लिखा है कि देवों ने विष्णु को आगे करके विजय पाया। इन्द्र समेत देव विष्णु के पास जाते हैं। सचमुच विष्णु=परम देव भगवान [विष्णुर्वै देवानां परमः (शत०)=विष्णु सब देवों में से श्रेष्ठ है] के सहयोग के बिना किसी शुभ कार्य में सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। इस तत्त्व को देवस्वभाव मनुष्य सदा सामने रखते हैं।

जीव=इन्द्र देवराज है, असुरों ने पापभावों ने इसे युद्ध करना है। निस्सन्देह देव=दिव्य भाव इसके सहायक हैं किन्तु जब तक परमदेव की सहायता यह नहीं प्राप्त करता, तब तक विजय सन्दिग्ध है।

१३३

ज्ञानी ही ज्ञानी को सिखा सकते हैं

ओ३म् । कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्यास्वायोः ।
अतस्त्वं दृश्यां अग्न एतान् पड्भिः पश्येरद्भुतां अर्य एवैः ॥ ऋ० ४।२।१२

(आयोः) ज्ञानी मनुष्य के या जीवन की (दुर्यासु) घरों में अथवा दुरवस्थाओं में (निधारयन्त) नियमों को धारण करते हुए (अदब्धाः) अदम्य (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् (कविम्) क्रान्तदर्शी मनुष्य को (शशासु.) शिक्षा देते हैं। (अतः) इस लिये, हे (अग्ने) ज्ञानाभिलाषिन् । (त्वम्) तू (अर्यः) समर्थ होता हुआ (एतान्) इन (दृश्यान्) दर्शनीय, दर्शनयोग्य (अद्भुतान्) अपूर्व अभूतपूर्व विद्वानों को (पड्भिः) पैरों के द्वारा तथा (एवैः) चालों के द्वारा (पश्येः) देख।

पूर्वार्द्ध में दो तत्त्व बताये हैं (१) **कविं शशासुः कवयः** ज्ञानी को ज्ञानी सिखायें।

इसमें मनो विज्ञान का एक गम्भीर सिद्धान्त बतलाया है कि जिसे शिक्षा देनी है, वह कवि है, क्रान्तः दर्शी है। उसे मूढ़ मत समझो। अध्यापक का कार्य्य केवल प्रतिबन्धों को हटाना है। यदि शिक्षकवर्ग यह समझकर चले तो फिर ससार में कोई भी मनुष्य अशिक्षित नहीं रह सकेगा। चेतन होने के कारण आत्मा में जानने का सामर्थ्य तो स्वाभाविक है। गुरु भी कवि है, शिष्य भी कवि। एक क्रान्तदर्शी है, दूसरा होने जा रहा है।

२. गुरु में क्रान्तदर्शी होने के अतिरिक्त निम्नलिखित गुणों का होन अत्यन्त आवश्यक है।

(क) अदब्ध—गुरु बनने वाला दब्बू नहीं होना चाहिये। यदि गुरु शिष्य से दबेगा, तो शिष्य पर उसका प्रभाव अच्छा न रहेगा और इससे शिष्य का अमगल होगा।

(ख) गुरु स्वयं नियम पालन करने वाले हों, जिन सद्गुणों का वह शिष्य में आधान करना चाहते हैं, उसको स्वय उन्होंने धारण किया हो, चाहे कैसे ही विपत्ति में ग्रस्त क्यों न हों। वीरता भी तभी है कि मनुष्य दुरवस्था में भी सद्गुणों का त्याग न करे।

मन्त्र के उत्तरार्ध में गुरुओं के सम्बन्ध मे दो विशेषण और कहे हैं—१. दृश्य और २. अद्भुत। शिक्षक दर्शनीय होना चाहिये। ऐसा न हो, जिसे देखकर शिष्य डर जाये। जिसके दर्शनमात्र से भय और उद्वेग हो, वह शिक्षक बनने के योग्य नहीं है। गुरु का सौम्यदर्शन होना अत्यन्त प्रयोजनीय है। (२) अद्भुत का अर्थ है अभूतपूर्व, अर्थात् गुरु ऐसा होना चाहिये जो शिष्य को नूतन शिक्षा दे सके। पहिली शिक्षा को दोहराने वाले गुरु की आवश्यकता नहीं। नित्य नया नया ज्ञान विज्ञान सीखने सिखाने से ही ज्ञान विज्ञान की उन्नति हो सकती है।

उत्तरार्ध में गुरु दर्शन की एक पद्धति लिखी है। गुरु के दर्शन पैरों से करने चाहियें, अर्थात् गुरु के चरणों की ओर ध्यान देना चाहिये, इसी प्रकार गुरु की गति विधि पर दृष्टि रखनी चाहिये। जैसा उसका आचार व्यवहार है, वैसी अपनी चाल ढाल बनानी चाहिये। तभी तो औपषिद् गुरु कहा करते थे—

यान्यस्माकमनवद्यानि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि (तैत्तिरीयोपनिषत्)=

जो हमारे अनिन्दनीय कर्म हैं, उनका सेवन तू कर, निन्दित कर्मों का नहीं।

एक प्रकार से गुरु को भी सावधान कर दिया गया है कि वह भी अपने आचार व्यवहार पर कठोर नियन्त्रण रखे। अज्ञ बालक उसकी प्रत्येक चेष्टा को आदर्श मान कर अनुकरण करता है। गुरु की सुचेष्टा के साथ गुरु की कुचेष्टा का शिष्य में आना सभव है। अत शिष्य के हित के लिये गुरु को अत्यन्त सावधान रहना चाहिये।

आत्मयुक्त आकाश के दोहन से अमृत पैदा होता है।

ओ३म्। आत्मन्वन्नभो दुह्यते घृतं पय ऋतस्य नाभिरमृतं वि जायते।
समीचीनाः सुदानवः प्रीणन्ति तं नरो हितमव मेहन्ति पेरवः॥ ऋ. ९।७४।४।

(आत्मन्वत्+नभः) आत्मयुक्त आकाश से (घृतम्) दीप्तियुक्त (पयः) अमृत जल (दुह्यते) दोहा जाता है। उस से (ऋतस्य) ऋत का (नाभि) सम्बन्धी, मूल (अमृतम्) अमृत (वि+जायते) विशेष रूप से उत्पन्न होता है। (समीचीनाः) उत्तम चाल चलन वाले (सुदानवः श्रेष्ठ दानी महानुभाव (तम्) उस को प्रीणन्ति) तृप्त करते हैं। (पेरवः ज्ञानी (नरः) मनुष्य (हितम्) हित को (अव+मेहन्ति) नीचे बरसाते हैं।

आत्मयुक्त आकाश से अमृत बरसने की बात को तैत्तिरीयोपनिषत् में सकेत से कहा है—

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः, अमृतो हिरण्मयः (१।६।१)=

यह जो हृदय में आकाश है, उस में यह मनोमय पुरुष=आत्मा है, जो अमृत तथा ज्योतिर्मय है। हृदय के भीतर का आकाश आत्मा का निवासस्थान है, और वही है परमात्मा की उपलब्धि का मन्दिर। छान्दोग्योपनिषत् ८. १. १ में हृदयाकाश के भीतर रहने वालों की खोज का आदेश किया है। और कहा है कि वह आकाश इतना महान् है कि इस में समस्त संसार समाया है। और कि यह शरीर-नाश के साथ नष्ट नहीं होता, यह आत्मा **"आपहतपाप्मा विजरो [=अजर] विमृत्युः [अमर]** विशोको [शोकरहित] विजिघत्सो [=क्षुधारहित] अपिपासः [प्यास से शून्य] सत्यकाम सत्यसङ्कल्प" है। हृदय के भीतरी आकाश में रहने वाले इस आत्मा=परमात्मा का निरूपण करके फिर आत्मज्ञान का माहात्म्य वर्णन किया है। प्रतिदिन प्रतीत होते हुए इस अन्तरात्मा के प्रत्यक्ष न होने का हेतु बता कर कहा—

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यत एष आत्मा होवाच एतदमृतमेतद् ब्रह्मेति। (८। ३। ४)

और यह जो सम्प्रसाद=जीवात्मा इस शरीर से निकल कर परमज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप में निष्पन्न होता है। यही आत्मा है, यही अमृत है। यही अभय है, यही ब्रह्म है।

इसी बात को मन्त्र में थोड़े से शब्दों में कहा है—**आत्मन्वन्नभो दुह्यते घृतं पयः=** आत्मयुक्त आकाश से [हृदयाकाश से] प्रकाश युक्त अमृत दोहा जाता है।

यह अमृत का रस मूल है। कहा है—**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो ऽध्यजायत (ऋ)=** ऋत और सत्य उस के प्रदीप्त उज्ज्वल तप से उत्पन्न हुए। इस अमृत से हर कोई तृप्त नहीं हो पाता वरन् **समीचीना सुदानवः प्रीणन्ति तम्**=अच्छे चलन वाले तथा उत्तम दानी इसे प्रसन्न कर पाते हैं।

क्योंकि ऐसे. **नरो हितमव मेहन्ति पेरवः**=ज्ञानी नरहित की वृष्टि बरसाते हैं।

जिन्हें इस आत्मतत्त्व का बोध नहीं है। ज्ञानी जन उन पर ज्ञानामृत की वृष्टि करते हैं।

मन्त्र में साधक की उस अवस्था का वर्णन है, जब वह आत्मामृत रस पान करने लग जाता है।

ऋतरक्षक नहीं दबता।

ओ३म्। ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस्त्री ष पवित्रा हृद्यन्तरा दधे।

विद्वान्त्स विश्वा भुवनाभि पश्यत्यवाजुष्टान् विध्यति कर्त्ते अव्रतान्॥ ऋ ९।७३।८

(ऋतस्य) ऋत=सृष्टि नियम का (गोपाः)) रक्षक (सुक्रतु') सदाचारी (न) नहीं (दभाय) दबता, (स') वह तो (हृदि+अन्तरा) हृदय में (त्री) तीन (पवित्रा) पवित्रों को (दधे) धारण किए हुए हैं। (सः) वह (विद्वान्) ज्ञानी (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों को लोकों को (अभि+पश्यति) सम्मुख देखता है। (कर्त्ते) कर्त्तव्य कर्म में (अव्रतान्) व्रतरहितो और (अजुष्टान्) प्रीतिरहितों को, कर्म न करने वालों को (अव+विध्यति) बींध देता है, नीचे गिरा देता है।

आर्य्य धर्म्म में सृष्टि नियम=ऋत का बड़ा महात्म्य है। ऋतज्ञानी ऋतानुष्ठानी का पद बहुत ऊचा है। ऋत का विचार हर एक को नहीं रुचता। कोई बिरला ही होता है जो इस पर परम आवश्यक तत्व पर दृष्टि देता है। वेद कहता है—**ऋतस्य धीतिमृषिषाड्वीवशत्** (ऋ० ९।७६।४)=

ऋत का चिन्तन ऋषिषाट् [ऋषियों क बल वाला] ही बार बार चाहता है।

वेदाध्यन, सृष्टि नियम-चिन्तन तथा योगाभ्यास ऋषि बनाते हैं। जो अभी ऋषि नहीं बना, किन्तु ऋषि बनने का मार्ग जिसने पकड़ लिया है, वेदाभ्यास और योगाभ्यास मे जो निष्णात हो चुका है, वह लगातार ऋत का चिन्तन करता है, और उसी के अनुसार अपनी जीवनचर्य्या बनाता है। ऐसे मनुष्य को किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। हानि के मार्ग पर तो वह जाता नहीं। अतः वेद का यह कथन सर्वथा सत्य है कि—**ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुः**=

ऋत का रक्षक सदाचारी नहीं दबता। क्योंकि

त्री ष पवित्रा हृदयन्तरा दधे=वह तीनों पवित्रों को हृदय में धारण किये हुए हैं।

भगवान् ज्ञान, तथा ध्यान तीन पवित्र हैं। ज्ञान, कर्म्म और उपासना तीन पवित्र हैं। पवित्र विचार, पवित्र उच्चार तथा पवित्र आचार तीन पवित्र हैं। इन तीनों पवित्रों का जिसने हृदय में धारण कर लिया, उसे कौन दबा सकता है। वह भवसागर से पार हो जाता है, जैसा कि वेद स्वय कहता है—

सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् (ऋ०९।७३।१)=सदाचारी को सत्य की नौकायें पार लगा देती हैं।

सृष्टि-नियम-चिन्तन के कारण उसे सारे रचनारहस्य का बोध हो जाता है और मानो वह समस्त लोक लोकान्तरों को अपने सामने देखता है—**विद्वान्त्स विश्वा भुवनाभि पश्यति**=

वह ज्ञानी सारे लोकों को अपने सम्मुख देखता है।

सृष्टि नियम का निरन्तर चिन्तन करने से स्रष्टा का ध्यान आता है, स्रष्टा का ज्ञान होने से सृष्टि का ज्ञान होना कोई अद्भुत बात नहीं है। योग दर्शन विभूतिपाद मे कहा है—

भुवनज्ञानं सूर्य्ये सयमात्॥ २६

सूर्य्य=चराचर के आत्मा में सयम करने से लोकों का ज्ञान होता है।

ऐसा मनुष्य कर्तव्यभ्रष्टों को बींध देता है। उन के हृदय में गहरी चोट लगती है, उन्हें उन की दुरवस्था का बोध करा के उस से ग्लानि कर देता है।

तप की महिमा

ओ३म् पवित्रं ते विततं ते ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्य्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥ ऋ० ६।८३।१ ॥

हे (ब्रह्मणस्पते) तपोरक्षक प्रभो ! (ते) तेरा (पवित्रम्) पवित्र नियम (विततम्) सर्वत्र फैला हुआ है। तू (प्रभुः) सर्व समर्थ (विश्वतः) सब प्रकार से (गात्राणि) शरीरों को (परि+एषि) व्याप्त करता है। (अतप्ततनूः) अतपस्वी शरीर वाला [कच्चे तन वाला] (आमः) कच्चा मनुष्य (तत्) उस को (न) नहीं (अश्नुते) प्राप्त करता। (शृतासः) पक्के (इत्) ही (तत्) उसे (वहन्तः) धारण करते हुए (समाशत) उत्तम रीति से भोग रहे हैं।

भगवान् के पवित्र नियम सर्वत्र व्याप्त हैं। वह हमारे अङ्ग अङ्ग में सङ्ग लगा हुआ है किन्तु उस का दर्शन नहीं हो रहा, क्योंकि—

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते=

कच्चे तन वाला कच्चा मनुष्य उस विस्तृत सर्वत्र वितत पवित्रता को नहीं पा सकता।

सुवर्ण तभी कुन्दन बनता है जब वह आग में तपाया जाता है। जो तप की भट्टी में तपाया नहीं गया, पकाया नहीं गया वह कैसे उस रस को पावे? कच्चे घड़े में पानी नहीं डाला जाता। पानी डालने के लिये उसे आवे में पकाना पड़ता है। इसी प्रकार आनन्द भरने के लिये शरीर को तपाना पड़ेगा आत्मा=आम=आत्मा=कच्चे आत्मा को पक्का करना पड़ेगा, तभी इस में ब्रह्मानन्द रस डाला जा सकेगा। तप की महिमा में वेद कहता है—

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ऋ० १०।१५४।२ ॥=

तप के कारण जो अनाधृष्य=किसी से न धमकाये जाने वाले हैं तप के कारण जो आनन्द को प्राप्त हुए हैं। जिन्होंने महान् तप किया है भगवान् उन्हें ही प्राप्त होता है।

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
पितृन्तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात् ऋ० १०।१५४।४॥

जो भी ऋत से सम्बन्ध रखने वाले, ऋत का सत्कार करने वाले और ऋत को बढ़ाने वाले हैं। जो तपस्वी ज्ञानी हैं, हे नियन्तः! तू उन्हें भी प्राप्त हो।

इस प्रकार तप की और भी बहुत महिमा वेद शास्त्रों में वर्णित की गई है जो यथार्थ है। तपस्वी से सभी डरते हैं, कोई भी उस के सामने धृष्टता नहीं कर सकता।

तप का अर्थ है ज्ञानपूर्वक कर्मों का अनुष्ठान तैत्तिरीयोपनिषत् १।९ में लिखा है—

ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च। तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च। मानुषं च

स्वाध्यायप्रवचने च प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च।• सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तप ॥

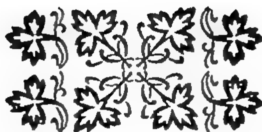
ऋत और अध्ययनाध्यापन तप है । सत्य और सत्य का पढ़ना पढ़ाना तप है । तप और तप का करना कराना तप है । शम और शान्त रहना और रखना तप है । ज्ञानाग्नियां और जानना और जनाना तप है । अग्निहोत्र और वेद का पढ़ना पढ़ाना तप है। अथिति यज्ञ और ज्ञान ग्रहण तथा ज्ञानदान तप है। सन्तान, सन्तान की उत्पत्ति तथा सन्तान में उत्कर्ष, इन बातों का जानना जतलाना तप है । सत्यवादी राथीतर के मत में सत्य ही तप है। तप-परायण पौरुशिष्टि तप को ही तप मानते हैं। मुद्गल के सन्तान नाक का कथन है कि स्वाध्याय प्रवचन ही तप है । यही तप है, यही तप है ।

सत्यवादी राथीतर का मत बताने से पूर्व ऋत आदि सभी तपों के साथ 'स्वाध्यायप्रवचन' को भी लिया है, और अन्त में फिर स्वाध्याय प्रवचन को ही तप बताया है । इस का मर्म यह है कि स्वाध्याय और प्रवचन के बिना सभी तप अधूरे हैं। स्वाध्याय और प्रवचन से वे पूरे बनते हैं अतः स्वाध्याय और प्रवचन मुख्य तप हैं। मनु जी का कहना है—कि जो नित्यप्रति स्वाध्याय करता है, वह नख से शिखा तक तप करता है । ज्ञान ही परम तप है । अतः जो तप की भट्टी में—स्वाध्याय प्रवचन की ज्वाला में जल कर किल्विषशून्य हो गए हैं, वे—

शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत=

पक्के होकर उसे धारते हुए उसे प्राप्त करते हैं ।

तप से अपने को उज्ज्वल विमल निर्मल बनाकर उस को आत्मसात् करने वाले ही उस आनन्द को प्राप्त करते हैं ।



१३७

देव पतितोद्धारक

ओ३म् । उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।

उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ ऋ० १०।१३७।१

हे (देवाः) लोकोपकारक महापुरुषो ! (उत) और (अवहितम्) नीचे गिरे को ? हे (देवाः) पतितोद्धारक विद्वानो ! (पुनः) फिर से (उन्नयथ) ऊपर ले जाओ, उठाओ, उन्नत करो । (उत) और हे (देवाः) देवो । (आगः+चक्रुषम्) बार बार अपराध करने वाले को हे (देवाः) आनन्दित करने वालो । (पुनः) फिर से (जीवयथ) जिलाओ, जीवन दो ।

अल्पज्ञता और अज्ञान के कारण मनुष्य से अनेक अपराध होते हैं । निस्सन्देह मनुष्य जीवधन्य है, प्राणिमात्र में श्रेष्ठ है । उन्नति के लिये जितने साधन इसे प्राप्त हैं, अन्य किसी प्राणी को प्राप्त नहीं हैं, वरन् अन्य सभी प्राणी तो उन्नति के साधनों से वञ्चित हैं । किन्तु जीव स्वाभाविक अल्पज्ञता तथा अहङ्कार के वश कई अकरणीय कर्म्म कर बैठता है, जिससे वह गिर जाता है । विद्वानों से पूछते हैं कि ऐसे अवहित=पतित का क्या करना है ? पूछ कर उनसे ही प्रार्थना की है—

देवा उन्नयथा पुनः

देवो । उसे फिर से उठाओ, उन्नत करो ।

मार्ग चलते हुए से चूक तो अवश्य होती है किन्तु

हसति खल. समादधति सज्जनाः=

दुष्ट पुरुष उस पर उपहास करता है किन्तु सज्जन समाधान करते हैं, उसको सान्त्वना करते हैं । उसे उत्साहित करते हैं ।

जब कोई मनुष्य गिर जाता है, तब उससे बार बार अपराध होते हैं, वह पुनः पुनः ऐसे कुकार्य्य कर बैठता है जिससे प्रतीत होता है कि उसका आत्मा मानो मर सा चुका है । ऐसे आत्मसम्मान-विहीन मृतक-प्राय मनुष्य का क्या करना ? वेद आदेश करता है—

देवा जीवयथा पुन =हे विद्वानो उनको फिर से जीवित करो ।

किसी को गिरा देना तो सरल है किन्तु उठाना बहुत ही कठिन है । मार देना तो कोई बड़ी बात नहीं है, जीवनदान करना अत्यन्त कठिन और वीरता का कार्य्य है ।

देवों से ऐसी आशा स्वाभाविक है । वेद में प्रार्थना है—

पुनन्तु मा देवजनाः (अ० ६।१६।१)=

देवजन विद्वान् जन मुझे पवित्र करें । दोषों की प्रवृत्ति हटा कर किसी को सुमार्ग पर लाना पवित्र करना है ।

पवित्र आचार विचार को उन्नत करने में कोई विशेषता नहीं है । विशेषता तो तभी है कि अवहित= नीचे गिरे=पतित का उत्थान किया जाये ।

जो लोग पतित से घृणा करते हैं, वेद की दृष्टि में उनका कोई मान नहीं, स्थान नहीं । वेद पतितोद्धारकों को माननीय मानता और उन्हें देव पदवी देता है ।

... से गति प्राप्ति

... २.६४।२

... (यायाम्) जाऊं तु ('नूनम्') अवश्य (मित्रस्य) ... इस (प्रियस्य) प्यारे (अहिंसानस्य) विघ्न दूर करने ... होते हैं।

... है। अपने आप को ऊंचा उठाना सभी को अभीष्ट ... देता। उसके सामने बार बार यह प्रश्न आता है— ... परिस्थिति में उसे सर्वमित्र, सहज मित्र, अकारण मित्र का ... है कि क्यों भटक रहे हो? आओ। जो मार्ग मैं बतलाता हूं, उस ... मार्ग पर चलने की भावना जाग उठती है, उसको मन्त्र के पूर्वार्द्ध

... यामा पथा=

... मित्र की गति पाऊं। अथवा यदि मैं मित्र के मार्ग से चलूं, तो ... और भी है—

... की गति जान लूं तो मार्ग से चलूं।

... उसे निश्चय नहीं हो पाता कि अन्दर से आती ध्वनि उसके अपने भावों की ... सन्देश है। इस विषय में कई बार बड़े बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है। ... कहलाया ही तो है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः=

क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये, इस विषय में महाज्ञानी भी मुग्ध हैं।

जिसमें महाज्ञानी भी ... सकते हैं, उसमें यदि साधार... में पड़ जावें, सशयशूल से बिध ... जावें तो आश्चर्य ही क्या है?

किन्तु एक ... मित्र मिला है, जो ... वरन् जो सदा कल्याणपथ का ... प्रदर्शन करता रहता है। ... है—

वय मित्रस्... ऋ० ५।६५।५)

हम उस सर्व... ॥ सारे विद्वान ... हैं—

अस्य प्रियस...

इस प्यारे विघ्...

हम भी उसी...

महाजनो येन ...

सभी सज्जन उ... सभी सत्... से ...

कल्याण होगा।

उपदेश करने का अधिकारी

ओ३म् । यश्चिकेत स सुक्रतुर्देवत्रा स ब्रवीतु नः ।
वरुणो यस्य दर्शतो मित्रो वा वनते गिरः ॥ ऋ० ५।६५।१

(यः) जो (चिकेत) जाने, ज्ञानी होवे, (वरुणः) सब से श्रेष्ठ भगवान् (यस्य) जिस सुकर्म्मा ज्ञानी का (दर्शतः) दर्शनीय है (वा) और (मित्रः) सर्वस्नेही भगवान् जिसकी (गिरः) वाणियों का (वनते) सत्कार करता है । (सः) वही (सुक्रतुः) उत्तमकर्म्मा हो सकता है, (सः) वही उत्तम ज्ञानी श्रेष्ठकर्म्मा (देवत्रा) देवों के सम्बन्ध में (नः) हमें (ब्रवीतु) बोले, उपदेश करे ।

वेद आचार पर बड़ा बल देता है । संसार के सभी धर्म्मग्रन्थ विश्वास=ईमान को प्रथम स्थान देते हैं । वेद ही ऐसा धर्म्मग्रन्थ है जिसमें ईमान का स्थान तो है किन्तु प्रधान नहीं । प्रधान स्थान आचार का है । वेद की इस भावना की झलक पौराणिक साहित्य में भी मिल जाती है । एक पुराण में लिखा है ।—

आचारहीन न पुनन्ति वेदा.=आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते ।

वेद को तो 'पावमानीः'=पवित्र करने वाला कहा गया है और यह पुराण वाक्य वेद की इस योग्यता का अपलाप सा करता दिखाई देता है । बात क्या है ? इस का भाव स्पष्ट है । ऐसे मनुष्य मिलते हैं जिनको चारों वेद कण्ठ कर लिये हैं, और जो एक एक मन्त्र का विस्तार से भाव समझा सकते है, किन्तु आचार उनका उनके विपरीत है । तब वेद क्या करेगा ? वेद का काम प्रेरणा करना है । मानना न मानना मनुष्य का काम है । इस आशय को समझ कर ऋषियों ने कहा—

आचारः परमोधर्म्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च=श्रुतिस्मृति में निर्दिष्ट आचार ही मुख्य धर्म्म है ।
वेद में आचार को यज्ञ कहा जाता है । वहा यज्ञ को मुख्यधर्म्म बतलाया गया है ।

इस मन्त्र में उपदेश देने के अधिकारी का वर्णन है—उपदेशक में निम्नलिखित गुण होने चाहियें—

१. **यश्चिकेत**—जो जानता हो ।

जिस पदार्थ का उपदेश करना है उसका उसे ज्ञान हो । अज्ञानी उपदेशक तो भ्रम में डाल देगा । जो जिसे जानता नहीं, वह उसका उपदेश क्या करेगा । किन्तु आज अनेक उपदेशक ऐसे हैं । जिन्हें अपने उपदेश्य विषय का ज्ञान नहीं है ।

२ स' सुक्रतु—वह सुकर्म्मा हो ।

उपदेशक के कर्म्म श्रेष्ठ होने चाहियें । ज्ञान के अनुसार उसका आचार व्यवहार हो । उसके विचारों और आचारों में समता हो, न कि विषमता । वह अपने विचार के अनुसार कह और कर सकता हो ।

३. **वरुणो यस्य दर्शतः**—वरुण जिसका दर्शनीय=आदर्श हो ।

जो अपने प्रत्येक कर्म्म और विचार में भगवान् को समक्ष रखता हो, जिसकी प्रत्येक क्रिया चेष्टा का लक्ष्य प्रभुदर्शन हो, जो भगवान् को अपना आदर्श समझता हो । भगवान् को आदर्श मान कर चलने वाला मनुष्य अपने उपदेश में भ्रम या ठगी की कोई बात नहीं कह सकता, क्योंकि भगवान् सदा भ्रमरहित एवं ठगी शून्य है, वह प्राणियों के कल्याण के लिये ही उपदेश करता है ।

४ **मित्रो वा वनते गिरः**—स्नेहमान् भगवान् जिसकी बात का समादर करता हो ।

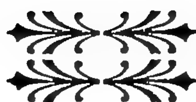
वेद में प्रार्थना है—

सखा सख्ये गातुवित्तमो भव ।ऋ० ६।१०४।५=

हे प्रभो । तू मित्र है अपने मित्र के लिये सब मे अधिक ज्ञानी है । अर्थात् तू मित्र की आवश्यकताओं को जानता है । तू उसकी बातें सुनता है और पूरी करता है ।

जो निरन्तर भगवान् के सकेतों, आदेशों को मनन करता है, उनके अनुसार चलता है, भगवान् उसकी अवश्य सुनता है और उस की बात पूरा करता है ।

सक्षेप में, उपदेशक में उपदेश्य विषय का ज्ञान, सदाचार, ईश्वरनिष्ठा, प्रभु की भक्ति न्यून से न्यून गुण अवश्य होने चाहिए । इन गुणों से हीन उपदेशक वाह वाह भले ही प्राप्त करले, किन्तु जनकल्याण नहीं कर सकता ।



मित्र पाप से बचाता है

ओ३म् । मित्रो अहोश्चिदादुरु क्षयाय गातुं वनते ।
मित्रस्य हि प्रतूर्वतः सुमतिरस्ति विधतः ॥ ऋ. ५।६५।४ ॥

(मित्रः) सर्वस्नेही भगवान् (अहोः+चित्) पाप से भी [बचा कर] (क्षयाय) निवास के लिये (उरु) विशाल (गातुम्) पृथिवी (वनते) देता है । (हि) क्योंकि (सुमतिः) उत्तम बुद्धि उस (प्रतूर्वतः) अतिशीघ्रकारी (विधतः) विधाता (मित्रस्य) कृपालु प्रभु की देन है ।

भगवान् के स्नेह को इतनी सी बात से जान लेना चाहिये कि हमें सदा चिताता रहता है । वेद में बहुत ही सुन्दर कहा है—अचेतयदचितो देवो अर्यः (ऋ. ७।८६।७)=

वह सर्वज्ञ स्वामी (मालिक) अचेतों को चिताता है । पापी को जब अपने पाप का और भगवान् के रक्षकत्व का बोध होता है और वह समझता है कि—

मित्रो अहोश्चिदादुरु क्षयाय गातुं वनते=स्नेहवान् भगवान् पाप से बचा कर और निवास के लिये विशाल भूमि देता है, तब वह रो रो कर कहता है—

क्व त्यानि नौ सख्या बभूवतुः सचावहे यदवृकं पुराचित् (ऋ. ७।८८।५)=

वे हमारी मैत्रियां क्या हुईं, जब पहले कुटिलता रहित मिल कर रहते थे ।

पाप करके अपने चिरसंगी, सदा संगी का संग छोड़ दिया, और हम पाप पंक में धस गये ।

जीव तो अज्ञान के कारण पाप करने लगा, उसको पाप से ग्लानि स्वतः ही नहीं हुई, बरन् सर्वरक्षक परमात्मा ने ही उसे वह सुमति दी, जैसा कि वेद कहता है—

मित्रस्य हि प्रतूर्वतः सुमतिरस्ति विधतः=

क्योंकि सुमति तो अति शीघ्रकारी, कृपालु विधाता की देन है । ऋषि ने लिखा है—

"जब आत्मा मन और इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता, वा चोरी आदि वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती हैं । उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं परमात्मा की ओर से है ।" (स प्र.)

सच्चे मित्र का यह कार्य्य ही है कि मित्र को सुमति=सच्ची मति दे । परमात्मा स्वाभाविक मित्र है—"जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र है न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है । इससे भिन्न कोई भी इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता ॥" (स. प्र १ समुल्लास) ।

यदि भगवान् उदासीन हो जायें तो जीवों का—विशेष कर पापी जीवों का—निस्तार, उद्धार कभी न हो सके । परमात्मा का स्नेह ही पापियों की रक्षा कर रहा है । सांसारिक मित्र प्रयोजन न होने पर उदासीन या वैरी बन जाते हैं । किन्तु भगवान् तो सहज मित्र है, नैमित्तिक मित्र नहीं । अतः वह कभी उदासीन या शत्रु नहीं होता ।

स्वराज्यार्थ यत्न

ओ३म् । आ यद्वामीयचक्षसा मित्र वय च सूरय ।
व्यचिष्ठे वहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥ ऋ० ५।६६।६

हे (ईयचक्षसा) प्राप्तव्य ज्ञान वाले (मित्रा) प्रीतियुक्त स्त्री पुरुषो । (वाम्) आप दोनों के (सूरयः) विद्वान् (च) और (वयम्) हम मिल कर (व्यचिष्टे) अति विशाल (बहुपाय्ये) अनेकों से रक्षणीय (स्वराज्ये) स्वराज्य में (आ+यतेमहि) सब ओर से यत्न करें।

ससार मे क्षुद्र से क्षुद्र कोई ऐसा प्राणी न मिलेगा, जो अपनी गतिविधि में प्रतिबन्ध को पसन्द करे। सभी चाहते हैं कि उनकी गति निर्बाध रहे। वेद में मार्ग के सम्बन्ध में प्रार्थना है—कि वह **अनृक्षरः** काटों से रहित हो। काटे मार्ग की बाधा हैं। बाधा से रहित मार्ग प्रशस्त माना जाता है। और प्रशस्त होता भी है। ऐसी स्थिति में स्वराज्य की कामना अस्वाभाविक नहीं और अतएव अपराध भी नहीं। जो दूसरे की गतिविधि में प्रतिबन्ध लगाता है, जब कभी उसकी गतिविधि पर प्रतिबन्ध लगता है तब उसे ज्ञात होता है कि स्वाधीनता=स्वतन्त्रता=स्वराज्य क्या वस्तु है।

वेद स्वराज्य का सबसे अधिक समर्थक है। वेद मे एक समूचा का समूचा सूक्त [ऋग्वेद १।८०] स्वराज्य प्रतिपादक है। इस स्वराज्य सूक्त के प्रत्येक मन्त्र की टेक है—**'अर्चन्ननु स्वराज्यम्'**❀ [स्वराज्य के अनुकूल कार्य्य करता हुआ]।

'स्वराज्य' के सबन्ध मे दो एक निर्देश इस मन्त्र मे हैं जो मनन करने योग्य हैं—

१ स्वराज्य मे तथा स्वराज्यप्राप्ति के लिये विद्वानो का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। विद्वानों के बिना स्वराज्य का सम्भालना दुष्कर हो जाता है।

२ स्वराज्य 'बहुपाय्य' है। अनेक जन मिलकर ही इसकी रक्षा कर सकते हैं। स्वराज्य तभी स्वराज्य हो सकता है, जब सभी को यह प्रतीत हो कि यह अपना राज्य है। किसी एक का एकछत्र राज्य उसके लिये भले ही स्वराज्य हो किन्तु उस राज्य मे रहने वाले सभी का वह स्वराज्य नहीं हो सकता। स्वराज्य में सभी स्वराज्य अनुभव करें।

३ स्वराज्य 'व्यचिष्ट' विशाल होना चाहिये। क्षुद्र स्वराज्य के अपहृत और नष्ट होने की सभावना का भय बना रहता है। विशाल स्वराज्य में उसके रक्षक बहुत होंगे, अतः उसके विनाश की सभावना भी कम होती है।

४ स्वराज्य के लिये जब सब को ममता होगी, तो सभी उसके लिये पुरुषार्थ करेंगे और सब प्रकार का पुरुषार्थ करेंगे। स्वराज्य का महत्त्व ऋषि ने इन शब्दों मे लिखा है—

"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्ररहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।" (स० प्र० ३४४ श० स०)

आद्य और आज के ऋषि का भाव कितना समान है। स्वराज्य की भावना का विरोध अस्वाभाविक है।

❀ इस सूक्त की व्याख्या हमारे लिखे 'वैदिक स्वदेशभक्ति' नामक पुस्तक में देखिये।

१४२

सृष्टि से पूर्व संसार की दशा

ओ३म् । गीर्णं भुवनं तमसापगूढमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ ।

तस्य देवाः पृथिवी द्यौरुतापोऽरणयन्नोषधीः सख्ये अस्य ॥ ऋ १०।८८।२

(भुवनम्) ससार (गीर्णम्) निर्गीण, निगला हुआ सा और (तमसा) अन्धकार से (अपगूढम्) बुरी तरह ढका था । (अग्नौ+जाते) अग्नि के उत्पन्न होने पर (स्वः) प्रकाश, आनन्द (आविः) प्रकट (अभवत्) हुआ । (तस्य+अस्य) उस इस प्रसिद्ध अग्नि के (सख्ये) सख्य में, मैत्री में, सहयोग में (पृथिवी) पृथिवी (द्यौः) द्यौ (आपः) जल तथा अन्तरिक्ष और (ओषधीः) औषधिया (अरणयन्) मानो प्रसन्न हो उठी ।

सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व क्या था, कैसा था ? ये प्रश्न प्रायः सभी विवेकशील महानुभावों के हृदय में उठते हैं । किन्तु जैसा इनका समाधान वेद में है, और किसी भी धर्म्म ग्रन्थ में नहीं है । उत्पत्ति से पूर्व यह—**गीर्णं भुवन तमसापगूढम्**=

ससार निगला हुआ सा और अन्धकार से अत्यन्त आच्छादित था ।

सूर्य्यचन्द्र ग्रह नक्षत्र ताराआदि, सस्यश्यामला मही, कलकलध्वनि करके बहता जल, सरसर करती धीर समीर (वायु) आदि पदार्थों का नाम ससार है । सृष्टि से पूर्व सुतराम् यह ससार अपने कारण में विलीन था, इसको वेद ने **'गीर्णं भुवनम्'** कहा है । जब सूर्य्य चन्द्रादि प्रकाशमय पिंड न थे तो अन्धकार ही होगा । इस अवस्था को **तमसापगूढम्**=अन्धकार से अत्यन्त आच्छन्न था शब्दों में व्यक्त किया गया है । ऋग्वेद १०।१२९।३ में इसी भाव को अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है—**तमआसीत्तमसागूढमग्रेऽप्रकेत सलिल सर्वमा इदम्**=सृष्टि से पूर्व तम=अन्धकार था, और अन्धकार के कारण सब गुप्त था । और यह सारा सरणशील पदार्थ लिंगरहित हो रहा था ।

मनुस्मृति में इसका अनुवाद सा ही है—

आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेय प्रसुप्तमिव सर्वतः

यह समस्त ससार तमोभूत=अन्धकाराच्छन्न प्रकृति में था, और प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, अर्थापत्ति आदि का अविषय हो रहा था । क्योंकि वह सर्वथा प्रसुप्त=निश्चेष्ट था ।

सृष्टि में सब से पूर्व एक आग्नेय पिंड पैदा हुआ, और

आविः स्वरभवज्जाते अग्नौ=अग्नि के उत्पन्न होने पर प्रकाश हो गया ।

इस आग्नेय पिंड की उत्पत्ति के पीछे सारी सृष्टि क्रमशः उत्पन्न हुई—

तस्य देवाः पृथिवी द्यौरुतापोऽरणयन्नोषधी सख्येअस्य

इस महान् आग्नेय पिंड के सहयोग में पृथिवी द्यौ, जल और ओषधिया रमण करने लगीं ।

सूर्य से पृथिवी पिंड पृथक् हुआ, सहस्रों वर्ष उस पर मूसलाधार वर्षा होती रही । तब कहीं पृथिवी ठडी हुई, और उसके पश्चात् औषधिवनस्पति आदि की उत्पत्ति हुई ।

सृष्टि-उत्पत्ति का यह क्रम आजकल के वैज्ञानिक बतलाते हैं, वेद विज्ञान का सिद्धान्तग्रन्थ है । इसमें ऐसे गभीर वैज्ञानिक तत्त्वों को देखकर पश्चिमी विद्वान् चकित रह जाते हैं ।

१४३
अग्नि भूमि को तपाता है

ओ३म् । यं देवासोऽजनयन्ताग्निं यस्मिन्नाजुहवुर्भुवनानि विश्वा ।
सो अर्चिषा पृथिवीं द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन्महित्वा ॥ ऋ० १०।८८।६

(देवास.) देवों ने **Natural Forces** ने (यम्) जिस (अग्निम्) आग्नेय पिंड को (अजनयन्त) प्रकट किया और (यस्मिन्) जिसम (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनों को (आजुहवु.) वे हवन कर डालते हैं (स) वह (ऋजूयमान.) ऋजुता स चलता हुआ (महित्वा) अपनी महती शक्ति के कारण (अर्चिषा) तेज से (पृथिवीम्) पृथिवी को (उत) और (इमाम्) इस (द्याम्) द्यौ को भी (अतपत्) तपाता है ।

सृष्टि के आरम्भ में जब महान् आग्नेय पिंड उत्पन्न होता है, तब मानो सारी प्राकृतिक शक्तिया सम्पूर्ण भुवनों को उसी में डाल देती हैं, तभी तो उसी से ग्रहों आदि की उत्पत्ति होती है। यदि देव **Natural Forces** उसमें सभी को डालते न, तो ये सब उत्पन्न कैसे होते ? मनुस्मृति में इसका अनुवाद सा ही किया है—

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभि. ।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मै सर्वभूतकृतदव्ययम् ॥१।१८

अपनी अपनी क्रियाओं के साथ समस्त भूत, और सूक्ष्म अवयवों के साथ मन भी उस सर्वजगत्कारण में प्रविष्ट होते हैं ।

वेद में देव हवन कर रहे हैं, मन में भूत स्वय प्रवेश कर रहे हैं । यह तो कहने की शैली है किसी ने 'कहा वह भोजन बनाता है', दूसरे ने कहा 'भोजन बन रहा है' । तात्पर्य दोनों का एक है ।

वह आग्नेय पिंड इतना शक्तिशाली है कि

सो अर्चिषा पृथिवीं द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन्महित्वा=

वह ऋजुता से गति करता हुआ अपनी शक्ति के कारण प्रकाश से, ज्वाला से पृथिवी और द्यौलोक को तपाता है ।

सूर्य्य प्रकाश से यह त्रिलोकी तपती है, इसमें किसी को सन्देह ही नहीं है । करोड़ों मील दूर रहकर पृथिवी को तपाना कम सामर्थ्य नहीं है । द्यौ के परिमाण की कल्पना मात्र मनुष्य की बुद्धि को चकरा देती है, उसको भी तपाना । कितना महान् है वह आग्नेय पिंड ?

और कितना महान् है वह जिसने यह सब रचा ?

इस आग्नेय पिंड को सब देवों ने मिल कर बनाया—

स्तोमेन हि दिवी देवासो अग्निमजनयञ्छक्तिभी रोदसीप्राम् । ऋ १०।८८।१०=

देवों ने स्तोम=समुदाय के द्वारा त्रिलोकी को भरने वाले अग्नि को द्यौ में शक्तियों के द्वारा प्रकट किया ।

प्रकृति का पहला कार्य्य—अग्नि द्यौ में उत्पन्न होता है आज भी अनन्तलोक—निर्माण—सामग्री आकाश गगा—द्यौ में विराजती है । अग्नि उत्पन्न होकर सारी त्रिलोकी में भर जाता है । कितनी अद्भुत बात है ?

स्तुति करने पर भगवान् को हृदय में पाते हैं

ओ३म्। हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान्धाद्गुहा निषीदन्।
विदन्तीमत्र नरो धियंधा हृदा यत्तष्टान्मन्त्रां अशसन्॥ ऋ. १।६७।२॥

वह भगवान् (विश्वानि) सब (नृम्णा) धनों, बलों, मनुष्योपयोगी पदार्थों को (हस्ते) अपने हाथ में, अपने अधीन (दधान·) धारण करता हुआ, रखता हुआ और (गुहा) हृदय गुहा में (निषीदन्) नितरा रहता हुआ (देवान्) सब देवों को (अमे) भय में, ठिकाने पर (धात्) रखता है। (धियधाः) ध्यानधारी बुद्धिमान् (नरः) मनुष्य (ईम्) उसको (अत्र) इसी में, अपने हृदय में (विदन्ति) प्राप्त करते हैं, जब वे (हृदा) हृदय से (तष्टान्) निकले, विचारे (मन्त्रान्) मन्त्रों के द्वारा (अशसन्) स्तुति प्रार्थना करते हैं।

ईश्वर को मानने वाले आस्तिक ईश्वर की खोज में हैं, कोई उसे आकाश से ऊपर मान कर वहा जाने की अपनी शक्ति न देखकर उसे सदा अदृश्य मान बैठता है। साधारण मनुष्य भगवान् को धनपति मान कर उसकी चाहना करता है। वेद कहता है कि वह—

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वानि। सम्पूर्ण धनों को अपने अधीन रखता है।

जो वस्तु जिसके अधिकार में होती है, उसका मिलना उसी से सभव है। अन्य से नहीं। किसी पदार्थ को प्राप्त करने के लिये अपनी योग्यता का भी प्रदर्शन करना होता है। यदि कोई सोचे कि हम उससे बलात् धन छीन लेंगे, तो उसे समझ लेना चाहिये कि वह भगवान्—**अमे देवान् धात**=देवों को भी भय में रखता है।

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥ तै. भृ.८॥

इसके भय से वायु चलता है, सूर्य मानों इसी के भय से उदय होता है। अग्नि और विद्युत् भी मानों इसी के भय से क्रिया करते हैं। मौत भी मानो इसके डर से दौड़ रही है।

प्रधानमल्ल न्याय * से सिद्ध हुआ कि सपूर्ण प्राकृतिक शक्तिया उसी के डर से कार्य कर रही हैं। अतः तुम, जो अत्यन्त दुर्बल हो, बलात्कार करके कुछ नहीं छीन सकते हैं। उसे रिझाओ, क्योंकि रिझा कर उससे कुछ लिया जा सकता है। उसे रिझाने के लिये, उसे कहीं अन्यत्र खोजने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह—**गुहा निषीदन्**=हृदय गुफा में रहता है, वह सदा अपने पास रहता है। उसका इधर उधर खोजना क्या? तभी तो **विदन्तीं मत्र नरो धियधाः।**

बुद्धिमान् ध्यानी मनुष्य उसे यहीं—हृदय मे—ही पा लेते हैं।

जब रहता ही हृदय में है, तो वह वहा कैसे नहीं पाया जायेगा? उसे कैसे पाते हैं?

हृदा यत्तष्टान्मत्रा अशसन्।

जब हृदय से निकले मन्त्रों द्वारा वे स्तुति करते हैं। हृदय मे जब तक आराधना न करोगे, तब तक न तो उसे पा सकोगे और न रिझा सकोगे। चाहे वह इतना समीप है।

---

*बडे पहलवान् को गिरा कर विजेता पहलवान् छोटे पहलवानों से कुश्ती नहीं लड़ता। वे सब पराजित समझे जाते हैं। सूर्य आदि महान् देवों को जब भयभीत बता दिया तो तुच्छों की चर्चा अयुक्त है। इसे प्रधान मल्ल न्याय कहते हैं।

१४५

सर्व जीवनाधार हृदय से हृदय को प्राप्त होता है

ओ३म् । अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः ।
प्रिया पदानि पश्वो निपाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः ॥ ऋ० १।६७।३

(अज+न) अज की भांति (क्षाम्) पृथिवी को (पृथिवीम्) विशाल अन्तरिक्ष को (दाधार) धारण करता है तथा (द्याम्) द्यौ को (सत्यैः) सत्य (मन्त्रेभिः) मन्त्रों, विचारों के द्वारा (तस्तम्भ) थाम रखता है। हे प्रभो ! (पश्वः) इस जीव के (प्रिया) प्रिय (पदानि) ठिकानों की, प्राप्त करने योग्य पदार्थों की (निपाहि) सर्वथा रक्षा कर। हे (अग्ने) सब के आगे रहने वाले भगवान्, तू (विश्वायुः) सब का जीवन होता हुआ (गुहा) हृदय गुहा से (गुहम्) हृदयगुहा को (गाः) प्राप्त होता है अथवा (गुहा+गुह+गाः) गुप्त से गुप्त हो रहा है।

भगवत्प्राप्ति के प्रयत्न के निमित्त प्रेरणा करने के लिये भगवान् के सामर्थ्य का वर्णन पूर्वार्द्ध में किया गया है—**अजो न क्षा दाधार पृथिवीं**=

अजन्मा इस पृथिवी और अन्तरिक्ष को धारण करता है और

तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः =

सूर्यों, नक्षत्रों, ग्रहों उपग्रहों आदि ज्योति पिण्डों के आधारभूत द्यौ को अपने अबाध्य निर्देशों के द्वारा थाम रखता है। इस महान् भगवान् को प्राप्त करके मनुष्य भी महान् बन जाता है। उस महान् भगवान् से प्रार्थना है कि—**प्रिया पदानि पश्वो निपाहि**=

प्रभो ! जीवात्मा के अभीष्ट पदों की रक्षा करो।

जो इतने विशाल संसार को धारण कर रहा है उसके लिये आत्मा के अभीष्ट पदार्थों की रक्षा करना साधारण बात है, अतः उससे अपने अभीष्ट की रक्षा के लिये प्रार्थना करना अत्यन्त उपयुक्त है।

जीव के पद ठिकाने—शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि हैं। इन की रक्षा के लिये प्रार्थना का विशेष प्रयोजन है। इन्द्रियों की अद्भुत रचना में भगवान् का अनुमान द्वारा ज्ञान होता है, अन्तःकरण में उसका साक्षात्कार होता है। शरीर इन इन्द्रियों तथा अन्तःकरण का आश्रय है। ये यदि नष्ट भ्रष्ट हो जायें या विकल हो जायें तो भगवान् के ज्ञान का साधन कोई शेष नहीं रहता, मन के अविकसित होने के कारण पशु आदि भगवान् के ज्ञान और ध्यान के अयोग्य हैं। भगवान् के ज्ञान ध्यान का साधन मानवदेह है, अतः इसकी रक्षा के लिये प्रार्थना है।

भगवान् के ध्यान के लिये बहुत सामग्री की आवश्यकता नहीं, वह हृदय में रहता है, जिस महापुरुष ने अपने हृदय में इसका साक्षात्कार किया है, वह अपने हृदय से दूसरे के हृदय में उसका प्रकाश दिखा सकता है। अतः वेद कहता है—**विश्वायुरग्ने गुहा गाः**=

सब का जीवनाधार ज्ञान स्वरूप परमात्मा हृदय से हृदय को प्राप्त होता है।

अर्थात् किसी महात्मा के दिल से अपना दिल मिलाओ, वह तुम्हें तुम्हारे हृदय में छिपे प्रियतम की झांकी दिखला देगा।

त्यागी को धन बताता है

ओ३म् । य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य ।
वि ये चृतन्त्यृता सपन्त आदिद्वसूनि प्र ववाचास्मै ॥ ऋ० १।६७।४

(यः) जो (ईम्) इस भगवान् को (गुहा) हृदय गुफा में (आ+भवन्तम्) सर्वथा रहता हुआ (चिकेत) जानता है और (यः) जो (ऋतस्य) ऋत की, सृष्टिनियम की (धाराम्) धारा को (ससाद) प्राप्त करता है, उसके अनुकूल चलता है । और (ये) जो (ऋता) सृष्टिनियमों को (सपन्तः) पालन करते हुए (वि+चृतन्ति) बन्धन तोड़ डालते हैं । (आत्+इत्) तत्काल ही वह प्रभु (अस्मै) ऐसे मनुष्य को (वसूनि) वास्तविक धनों का (प्र+ववाच) उत्तम रीति से उपदेश करता है ।

भगवान् को वाचिकतया तो सभी मानते हैं किन्तु हृदय से मानने वालों की संख्या बहुत थोड़ी है । वेद एक कसौटी बताता है जिससे ईश्वर को मानने तथा न मानने वालों की परख हो जाती है । वह परीक्षा यह है--**य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य**=

जो उसे गुहा में रहने वाला जानता है और जो ऋत की धारा को प्राप्त करता है ।

जिसे यह ज्ञान हो कि समस्त जगत् में व्यापक भगवान् उसके हृदय में रह रहा है । वह तो समझेगा कि भगवान् उसकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टा को देख रहे हैं, उससे कुछ भी छिप नहीं सकता । ऐसा मनुष्य निस्सन्देह पाप से छूट जायेगा । उसकी पापप्रवृत्ति निवृत्त हो जायेगी । तब वह भगवान् के नियम ऋत का ज्ञान करके उसके अनुसार आचरण बनायेगा । ऋत का बहुत बड़ा बल है--

देवो देवान् परिभूर्ऋतेन (ऋ० १०।१२।२)=

भगवान् ऋत के कारण सब देवों में व्यापक और इनका अध्यक्ष है । अतः ऐसा ऋतज्ञानी ऋतधारा को प्राप्त करता है । भगवान् को मानने वाला अवश्य ऋतानुसार अपना आचार रखता है । भगवान् की सत्ता तो स्वीकार की किन्तु भगवान् के नियमों की अवहेलना की तो भगवान् के मानने का क्या लाभ ? मानने और न मानने में क्या भेद रहा ? जो ऋताधार की धार प्राप्त करते हैं, वे

वि ये चृतन्त्यृता सपन्तः=

ऋत का पालन करते हुए वे बन्धनों को तोड़ डालते हैं ।

फिर काल्पनिक बन्धनों का कोई लाभ नहीं होता । ऋत के नियमपालन का अर्थ है अपने आप को भगवान के अर्पण कर देना । जब भक्त अपने आप को भगवान् के हवाले कर देता है तब वह

आदिद्वसूनि प्रववाचास्मै

सब ओर के धन इसे बता देता है । इसी को कहते हैं

ऋतेन सत्यमृतसाप आयन (ऋ० ७।५६।१२)

ऋत का पालन करने वाले ऋत के द्वारा सत्य को प्राप्त करते हैं ।

यह सारी सृष्टि भगवान् का ज्ञान करा रही है । ऋत के पालन से जब भगवान की प्रीति हो गई तो प्रभु इस पर अपने सब खजाने खोल देता है ।

भगवान् धन के द्वार खोल देता है

ओ३म । पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन्ये अस्य शासं तुरासः ।
वि रायऔर्णोद्दुरः पुरुक्षुः पिपेश नाकं स्तृभिर्दमूनाः ॥ ऋ० १।६८।५

(ये) जो (अस्य) इस हृदयविहारी भगवान् के (शासम्) शासन को (श्रोषन्) सुनते हैं और (तुरासः) शीघ्र तदनुसार कर देते हैं और (न) जैसे (पुत्राः) पुत्र (पितुः) पिता के (क्रतुम्) कर्म को, बुद्धि को (जुषन्त) प्रीति पूर्वक सेवन करते हैं, वह (पुरुक्षुः) महादानी, उनके लिये (रायः) धन के (दुरः) द्वारों को (वि+औौर्णोत्) खोल देता है । उस (दमूनाः) हृदयघर में रहने वाले, सब को दमन करने वाले प्रभु ने (नाकम्) आनन्द को (स्तृभिः) परदों से (पिपेश) सजा रखा है ।

भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य के सभी कार्यों को साधने वाला, सब ज्ञानों का मूल, वेदरूप ज्ञान दिया और सदा मनुष्य के हृदय में पापपुण्य के समय आदेश देता रहता है किन्तु कितने जन उसके दिये वेदज्ञान का अध्ययन करते हैं, कितने मानव हृदय में उठने वाली उसकी शासन-ध्वनि को सुनते हैं । परिणाम सबके सामने है । मारकाट खूनखच्चर का बाजार गर्म है । केवल सुनना ही पर्य्याप्त नहीं होता, वरन् उस पर आचरण भी करना होता है । इसीलिये वेद ने सुनने वालों के साथ एक विशेषण लगाया—तुरासः=शीघ्रकारी । वे परमात्मा के शासन को केवल सुनते ही नहीं, वरन् शीघ्र ही उस शासन के अनुसार कार्य्य कर डालते हैं ।

भगवान संसारोद्धारक के लिये अनेक कर्म्म करता रहता है । वह स्वपस्तमः=श्रेष्ठतम कर्म्मों का करने वाला है । तो जो

पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त=बाप के कर्म्मों को पुत्रों की भांति इसके कर्म्मों का प्रेम से सेवन करता है ।

सुपुत्र वही है । जो पिता के चलाये कार्यों में पिता की अपेक्षा उन्नति कर जाये वही जगत् सुपुत्र कहलाता है । भगवान के कार्य्यों में उन्नति करना किसी भी मनुष्य के सामर्थ्य में है नहीं । बढ़ना तो क्या, बराबरी भी नहीं हो सकती । तो जितना हो सकता है परमात्मा का अनुकरण करे, जिस प्रकार पुत्र पिता का अनुकरण करता है । तब वह परमपिता अपने आराधक पुत्र के लिये

वि राय और्णोद् दुरः=धन के द्वार खोल देता है ।

क्योंकि उसने **पिपेश नाकं स्तृभिः**=वह परदों में सुख को बनाता है । अर्थात् उसका जगन्निर्माण विधान गुप्त है ।

अतः भगवान् को पिता मान कर, उसके वर पुत्र बन कर अपने पिता की गुप्त निधि के द्वार खुलवाने चाहिएँ ।

पिपेश नाकं स्तृभिः [=आनन्द को परदों में सजा रखा है] का एक भाव यह है कि ब्रह्मानन्द तो पञ्चकोशों—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशों के अन्दर छिपा है । इन परदों को फाड़ो ।

मिलकर बलवान् धूम करो

ओ३म् । कृणोत धूमं वृषणं सखायोऽस्रेधन्त इतन वाजमच्छ ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवासो असहन्त दस्यून् । ऋ० ३।२६।६

हे (सखायः) समान मनोभावों वाले सज्जनो ! (वृषणम्) बलशाली (धूमम्) धूम (कृणोत) करो (अस्रेधन्तः) हिंसित न होते हुए (वाजम्) संग्राम में (अच्छ) अच्छी तरह (इतन) जाओ (अयम्) यही (अग्निः) अग्नि (पृतनाषाट्) फ़ितनों को दबाने वाली, युद्धों में विजय दिलाने वाला तथा (सुवीरः) बड़े वीरों वाला है, और (येन) जिस के द्वारा (देवासः) देव, सदाचारी (दस्यून्) दस्युओं को (असहन्त) दबाते हैं।

शत्रु से युद्ध करना है। युद्ध के लिए तैयारी करनी होती है यदि शत्रु से लड़ने के लिये भेजी जाने वाली सेना शत्रु के प्रति उदासीन भाव रखती है तो वह वीरता से न लडेगी सभव है, अवसर आने पर शत्रु से मिल भी जाये। इसी प्रकार जिस राष्ट्र के नायक किसी शत्रु के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करते हैं किन्तु राष्ट्र वासी उस के लिये उपेक्षा का भाव रखते हैं तो पराजय-कलङ्क से भाल को दूषित होता देखने के लिये तय्यार रहना चाहिये। ऐसे उपेक्षावृत्ति वाले सैनिक तथा राष्ट्र संग्राम में विजय कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। विजय के अन्य आवश्यक साधनों के साथ विजयाभिलाषी योद्धाओं के हृदय में शत्रु के प्रति घोर असन्तोष होना चाहिये। वेद इसी लिए कहता है—

कृणोत धूमं वृषणं सखायः=तुम सब मिल कर बलशाली धूम करो।

धूम का अर्थ है कपा देने वाला। राष्ट्र तथा सेना का धूम—शत्रु को अवश्य कपा देगा। यह धूम उत्पन्न करना किसी एक का कार्य्य नहीं है, वरन् सब का। अतः सब को मिल कर इस की उत्पत्ति में यत्नशील होना चाहिये।

राष्ट्र मे धूमोत्पादन के कार्य्य मे लगे लोगों के लिए एक शर्त और भी है, वह है कि वे 'सखा' हों, एक दूसरे के मित्र हों, एक से विचार रखते हों, परस्पर विरोधी न हों, क्योंकि फूट के शिकार तो मृत्यु के ग्रास बनते हैं।

इस कार्य्य मे एक और सावधानता भी वर्त्तनी पड़ती है, वह यह कि कहीं इस में अपनी हानि न हो जाये, अत वेद का आदेश है—

अस्रेधन्त इतन वाजमच्छ=हिंसित न होते हुए संग्राम को भली प्रकार जाओ।

संग्राम मे जाने से पूर्व ही यदि हिंसित हो गए, तो संग्राम मे क्या युद्ध करेंगे। अर्थात् अपना सब तरह का बचाव कर के संग्राम मे जाना चाहिए। नीतिकारो के मत मे 'शुद्ध पार्ष्णि,' [पीछा जिस का शुद्ध है] हो कर संग्राम मे जाना चाहिए। ऐसा न हो कि सेना शत्रु से जूझ रही हो और पीछे से प्रकृति-प्रकोप उठ खड़ा हो या कोई दूसरा शत्रु आक्रमण कर दे।

धूम जब होगा तो अग्नि भी होगी। यह अग्नि ऐसा है कि इस मे सारे, फसाद, उपद्रव मिट जाते हैं यह मन्त्र आध्यात्मिक सूक्त का है। आध्यात्मिक अर्थ की कल्पना पाठकों पर छोड़ी जाती है।

दरिद्र की पूजासामग्री

ओ३म्। नहि मे अस्त्यघ्न्या न स्वधितिर्वनन्वति।
अथैतादृग्भरामि ते ॥ ऋ० ८।१०२।१९
ओ३म्। यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि।
ता जुषस्व यविष्ठय ॥ ऋ० ८।१०२।२०

(नहि) न तो (मे) मेरे पास (अस्ति) है (अघन्या) गौ और (न) न ही (वनन्वति) वनों को छेदन करने वाला (स्वधिति:) कुल्हाड़ा है। (अथ) तो मैं (एतादृग्) ऐसा ही, रिक्तहस्त ही (ते) तुझे (भरामि) धारण करता हू। हे (अग्ने अग्ने। (यत्) जो (कानि कानि+चित्) जैसी कैसी भी (दारूणि) लकड़िया (ते) तुझ में (आ+दध्मसि) हम धारण करते हैं, हे (यविष्ठय) अत्यन्त बलशालिन् (ता) उनको (जुषस्व) स्वीकार करो।

अग्निहोत्र करने का नित्य विधान है। देखो अथर्ववेद—

साय साय गृहपतिर्नो अग्निः प्रात प्रात. सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वग त्वेन्धानस्तन्व पुषेम ॥ ३ ॥
प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः साय साय सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥४।१९।५५

गृह में स्थापित अग्नि प्रति साय और प्रति प्रात सुखका दाता है। नानाविध धनों का धाता है। इसको प्रदीप्तकर हम शरीर को पुष्ट करें, तथा सौ वर्ष फलें फूलें।

अग्निहोत्र करने के लिए निम्नलिखित पदार्थों की अपेक्षा होती है। समिधा (लकड़ी) घृत, सामग्री (जिसमें जौ, चावल, खाड, शक्कर, नानाविध औषध आदि सम्मिलित हैं), यज्ञकुण्ड, यज्ञपात्र, दियासलाई आदि। घृत दूध के बिना नहीं बन सकता, दूध गौ आदि के बिना नहीं मिल सकता। लकड़ी वृक्षों से मिल सकती है, किन्तु काटने के लिए कुल्हाड़ा चाहिये।

एक अत्यन्त दरिद्र मनुष्य भगवान् से कहता है—

नहि मे अस्त्यघ्न्या न स्वधितिर्वनन्वति =

मेरे पास गौ नहीं है, और वनों को छेदन करने वाला कुल्हाड़ा भी नहीं है।

गौ न होने से यज्ञनिष्पादक घृत का मेरे पास अभाव है। मैं इतना दरिद्र हूं कि लकड़ी काटने को कुल्हाड़ा भी मेरे पास नहीं है। भगवान्! मैं अग्निहोत्र करूं तो कैसे करू? सचमुच बड़ी विकट समस्या है। वेद से भी यज्ञों की नित्य-कर्त्तव्यता प्रतीत होती है। मनु जी भी इसे नित्य बतलाते हैं। यथा—

ऋषियज्ञ देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञ पितृयज्ञ च यथाशक्ति न हापयेत् ॥४।२१

ऋषियज्ञ (ब्रह्मयज्ञ), देवयज्ञ (अग्निहोत्र), भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव यज्ञ) नृयज्ञ (अतिथियज्ञ) तथा पितृयज्ञ को यथा शक्ति सदा करे, कभी न छोड़े।

श्रुति स्मृति जिनका करना नित्य बतला रहे हैं। सामग्री न होने पर उनका अनुष्ठान कैसे किया जा सकेगा ? इस चिन्ता से भक्त कहता है—

यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि। ता जुषस्व यविष्ठय ॥

जैसी कैसी भी लकड़िया हम डालें, उन्हें स्वीकार करो।

वेद का अभिप्राय स्पष्ट है कि जैसी कैसी समिधाओं से हवन कर दो। नहीं मिली बिल्व खदिर आदि की समिधायें तो न सही। जङ्गल से गिरी पड़ी लकड़िया बीन कर लाओ और यज्ञ कर दो। भगवान् उन्हें स्वीकार करेंगे। अर्थात् धर्म्म कार्य्य मे दरिद्रता बाधक नहीं होनी चाहिये।

एक बात बहुत गम्भीर कही है —

नहि मे अस्त्यघ्न्या = मेरे पास गौ नहीं है—

गौ यज्ञ का प्रधान साधन है। वैदिक धर्म्म यज्ञ का धर्म है। उस के निर्वाह के लिये प्रत्येक वैदिक के घर मे गौ का होना आवश्यक है। पीछे एक मन्त्र दिया जा चुका है कि उत्तम भोजन तो वही मनुष्य करता है जिस के घर में अपनी दूधार गौ है। अर्थात् अग्निहोत्र जाने दो। शरीर की आग को व्यवस्थित रखने के लिए गौ की आवश्यकता है।



पर्व पर्व में अग्निचयन करें

ओ३म् । भरामेध्म कृणवामा हवींषि ते चितयन्त. पर्वणा पर्वणा वयम्
जीवातवे प्रतर साधया धियोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वय तव ॥ ऋ. १।६४।४

(वयम्) हम (पर्वणा-पर्वणा) पर्व पव में (चितयन्त.) चयन करते हुए (ते) तेरे लिये (इध्मम्) इन्धन, समिधा (भराम) लायें (हवींषि) हवियें (कृणवाम) करें। हे (अग्ने) अग्ने । (जीवातवे) दीर्घ जीवन के लिए (धियः) बुद्धियों और कर्मों को (प्रतरम्) अत्यन्त उत्तम रीति से (साधय) सिद्ध कर। (वयम्) हम (तव) तेरे (सख्ये) सख्य में (मा) मत (रिषाम) हिंसित हों, हानि उठावें।

वेद में आता है—**आयुर्यज्ञेन कल्पताम्**) य० २२।२३)=

जीवन यज्ञ के द्वारा सफल हो। अर्थात् सारा जीवन यज्ञमय हो। इसी भव को उपनिषत् ने बहुत स्पष्ट करके कहा—**पुरुषो वाव यज्ञ.** [छान्दोग्योप]=मनुष्य-जीवन एक यज्ञ है।

जब सारा जीवन यज्ञ है तो पर्व पर्व में करना स्वाभाविक ही है। ब्राह्मणग्रन्थों और धर्मशास्त्रों में इसी भाव को लेकर दर्श, पौर्णमास आदि भिन्न भिन्न पर्वों में करने योग्य यज्ञों का साटोप निरूपण किया गया है। पार्वण यज्ञों का मानो फल बताते हुए कहा है—

जीवातवे प्रतर साधया धिय =दीर्घ जीवन के लिए बुद्धि और कर्म की सुदीर्घ साधना करो।

वेद में दीर्घ जीवन की अनेक बार कामना है, क्योंकि—

जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति=जीता हुआ मनुष्य सैंकड़ों कल्याणों के दर्शन करता है।

मरे की क्या भलाई हो सकती है। भलाई का भोग करने के लिये बुद्धि चाहिये।

वेद में प्रार्थना है—**अप्नस्वती धीरस्तु** [ऋग्वेद]=बुद्धि कर्मयुक्त हो।

वह बुद्धि ही क्या, जिसमें कर्मण्यता न हो। अत बुद्धि और कृति, ज्ञान और क्रिया को मिला कर करना चाहिये। पार्वणयज्ञ में कर्म के साथ बुद्धि का मेल करने का आदेश बता रहा है कि ज्ञानशून्य कोरे कर्म थोथे होते हैं, वे तो अविद्या कोटि में गिने जाते हैं। कर्म्म बिना कोरा ज्ञान भी अज्ञान ही है। अत. ज्ञान कर्म्म का समुच्चय ही श्रेयान् है। अन्त में प्रार्थना है

अग्ने सख्ये मा रिषामा तव=तेरे सख्य में हानि न उठायें।

अग्नि का सख्य उन्नति कारक होता है। अग्नि आगे ले जाने वाले को कहते हैं। उसके सख्य में किसी की हानि हो ही नहीं सकती, उन्नति ही होती है।

जीवनाग्नि को प्रदीप्त रखने के लिए भी पर्व पर्व में शरीर के अग-अग में समिधाचयन और हवि के आधान का विधान यह मन्त्र कर रहा है। तनिक ध्यान दीजिये अधिभूत, अधिदेव तथा अध्यात्म यज्ञों का सम्मिश्रण है।

१५१

हम ज्ञानी का संग करें

ओ३म् । तं सुप्रतीकं सुदृशं स्वञ्चमविद्वांसो विदुष्टरं सपेम ।
स यक्षद्विश्वा वयुनानि विद्वान् प्र हव्यमग्निरमृतेषु वोचत् ॥ ऋ. ६।१५।१०

हम (अविद्वांसः) अविद्वान् (तम्) उस (सुप्रतीकम्) सुन्दर प्रतीत होने वाले (सुदृशम्) उत्तम द्रष्टा (स्वञ्चम्) उत्तम चाल ढाल वाले, श्रेष्ठाचार वाले, सुपूज्य (विदुष्टरम्) अपने से अधिक विद्वान् को (सपेम) प्राप्त हों, मिलें, संग करें। (सः) वह (विद्वान्) विद्वान् (विश्वा) संपूर्ण (वयुनानि) ज्ञानों और कर्म्मों को, विचारों और आचारों को (यक्षत्) परस्पर संगत करे। वह (अग्निः) अग्रणी, ज्ञानी (अमृतेषु) अविनाशियों में, जीवों में (हव्यम्) ग्रहण करने योग्य पदार्थ का (प्रवोचत्) भली प्रकार उपदेश करे।

ज्ञानी के संग करने का उपदेश है। ज्ञानी के विशेषण विशेष मनन करने योग्य हैं—

१ सुप्रतीक—ज्ञानी सुन्दर आकार प्रकार वाला हो। सुन्दर प्रतीत हो। अर्थात् उसका अङ्गभङ्ग न हो। वह विकराल न हो। दुबला पतला मरियल या सर्वथा बेडोल न हो। वरन् सुप्रतीक हो, सुन्दर मूर्ति वाला हो। बाह्य आकार का पर्य्याप्त प्रभाव पड़ता है, और सब से प्रथम पड़ता है। अतः दूसरों को उपदेश देने वाला अपने आकार प्रकार का विशेष विचार रखे।

२ सुदृक्—स्वयं सुद्रष्टा हो। शास्त्र का अच्छा ज्ञानी हो। जिस पदार्थ को देखे, अवहेलना और बेपरवाही से न देखे, वरन् सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण करे। यदि उपदेशक या अध्यापक में यह गुण न हो तो वह अच्छा उपदेशक या अध्यापक नहीं बन सकता।

३ स्वञ्च्—उपदेशक, प्रचारक की प्रत्येक चाल ढाल का लोग सावधानता से अवलोकन करते हैं। एक प्रचारक बाह्याकार में उत्तम है, ज्ञान में भी गरीयान् है किन्तु आचार में हीन है तो उसे सफलता मिल ही नहीं सकती।

सारांश यह कि उपदेशक को सुन्दर, उत्तम ज्ञानी तथा श्रेष्ठ आचार व्यवहार वाला होना चाहिये।

४. **विदुष्टर=विद्वत्तर**। उपदेशक जिज्ञासु की अपेक्षा विदुष्टर=अधिक विद्वान् न होगा, तो जिज्ञासु का समाधान न कर सकेगा।

स यक्षद्विश्वा वयुनानि=वह सभी ज्ञानों कर्म्मों को संगत करे।

अर्थात् उसके ज्ञान कर्म्म एक दूसरे के विरोधी न हों। और **प्र हव्यमग्निरमृतेषु वोचत्**=वह जीवों के निमित्त हव्य=ग्रहण करने योग्य पदार्थ का उपदेश करे।

सामान्य भोग शरीर के लिये हैं, वह तो पशुओं को भी प्राप्त है। आत्मज्ञान ही अमृतों के लिये हव्य है। जैसे अग्नि सब देवों के लिये हव्य ले जाता है वैसे ही हम विद्वान् को आत्मा के कल्याण के प्रवचन करने चाहियें।

इस मन्त्र में एक गहरी बात कही गई है। प्राकृतिक भोग की प्राप्ति के लिये विशेष उपदेश की आवश्यकता नहीं है। वह तो पशुओं को भी प्राप्त है उसके लिये उन्हें कोई उपदेश देने नहीं जाता, प्रत्युत नैसर्गिक बुद्धि से वे उसे प्राप्त कर लेते हैं। हां, आत्मिक जीवन के लिये अपेक्षित सामग्री उपदेश के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। उपदेश करना हो, तो उसका करना चाहिये।

तेरी शरण सबसे अच्छी है

ओ३म्। अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहसः सूनो नह्यन्यदस्त्याप्यम्।
भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति त आरे हिंसानामप दिद्युमा कृधि ॥ऋ. १०।१४२।१॥

हे (अग्ने) सब को प्रकाश देने वाले। (अय) यह (जरिता) स्तोता (त्वे+अपि) तेरे ही सहारे (अभूत्) रहता है। हे (सहस.+सूना) बलियों को झुका देने वाले। क्योंकि (अन्यत्) तेरे भिन्न अन्य (आप्यम्) प्राप्तव्य, या सबन्धी (न) नहीं (अस्ति) है। (हि) सचमुच (ते) तेरी शरण (भद्रम्) भली और (त्रिवरूथम्) तीनों में श्रेष्ठ है, अत (हिंसानाम्) हिंसकों का (दिद्युम्) वज्र हम से (आरे+अप+आ+कृधि) बहुत दूर करदे।

आश्रयार्थी समस्त ससार मे घूम आया है। उसे अपेक्षित आश्रय नहीं मिला। जहा कहीं आश्रय मिला भी, थोडे समय के पश्चात् उसमें उसे दोष दिखाई दिया। निर्दोष आश्रय की अभिलाषा से वह उसने छोड़ दिया। इस प्रकार सारा ससार उसने खोज डाला है। उस बन्धु बान्धव, मित्र कलत्र, पुत्र, पिता सभी स्वार्थ के पुतले दीख पडे। अत आर्त्त स्वर में कहता है—

अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहसः सूनो नह्यन्यदस्त्याप्यम्=

प्रभो। यह भक्त तेरे ही सहारे हो गया है [रहता है]। बलवानों को झुकाने वाले। तेरे बिना और कुछ प्राप्तव्य नहीं और कोई सबन्धी नहीं।

सच है। भगवान् ही सच्चा सखा बन्धु, माता पिता है—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता (य. ३२।१०)=

वही प्रभु ही हमारा बन्धु, जनिता [माता पिता] है और वह विधाता [जगन्निर्माता] है।

वह प्रबलों में प्रबल है, उससे अधिक प्रबल कोई नहीं है। उसकी शक्ति के सामने सब मन्द पड़ जाते हैं। वह सर्वशक्तिमान् है। सर्वशक्तिमान् सर्वगुणनिधान् भगवान् मिल जाये, तो और चाहिये ही क्या ! आश्रय खोजते खोजते मिल गया सर्वाश्रय, सर्वाधार।

सारे सहारे देखे थे, उनके गुण अवगुण का ज्ञान है। जब ये मिला तो भक्त के मुख से निकला—**भद्रं हि शर्म्म त्रिवरूथमस्ति ते**=तेरी शरण तो सचमुच तीनों में श्रेष्ठ है।

एक शरण जड़ प्रकृति की है। उससे तो जीव उतना पाता नहीं, जितना गवाता है। चेतन जीव जब जड़ प्रकृति का शरणार्थी होना चाहता है तो समझ लो कि यह पहले बहुत कुछ गवा चुका है। विवेकशील जीव को इतना विवेक नहीं रहा कि मैं स्वामी हूं और यह स्व है। वह भूल गया कि जड चेतन की अपेक्षा हीन होता है, जड़ तो स्वय कोई क्रिया भी नहीं कर सकता। उसमें तो क्रिया, चेष्टा, गति वा आधान चेतन ही करता है। अत: जड़ की शरण तो मरण है। दूसरी शरण जीवों की है। जीव उसके समान चेतन अवश्य हैं।

जड़ प्रकाश रहित प्रकृति की अपेक्षा अवश्य उत्कृष्ट हैं। सन्य मन्त्र में ही जीव को प्रकृति से श्रेष्ठ कहा है।—

उद्वय तमसस्परि स्वः पश्यन्तः उत्तरम्=

अन्धकारमयी प्रकृति से ऊपर उठ कर उस से श्रेष्ठ आत्मप्रकाश के दर्शन करते हैं।

किन्तु जीव के ज्ञानादि गुणों में तारतम्य है। एक से एक उत्कृष्ट दीखता है। जीव एक की शरण लेता है, उस की अपेक्षा दूसरे का उत्कर्ष ज्ञात होने पर उसे छोड़ देता है। अन्त में वहां से भी अपना मनोरथ मिलता न देख शरणान्तर की तलाश करता है तीसरी शरण जगद्विधाता परमात्मा प्रकृति तथा जीव के अधिष्ठाता की है। उस के प्राप्त होते ही सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं, वासना शान्त हो जाती है। और वह आवेश में आकर कहता है—

भद्र हि शर्म्म त्रिवरूथमस्ति ते=तेरी शरण तीनों में श्रेष्ठ है।

अल्पज्ञता के कारण जीव बहुधा प्राप्त हुए उत्तम पदार्थ को सम्भाल कर नहीं रख पाता है। जीव अपनी इस दुर्बलता से डरता है। उसे चिन्ता है, कि काम-क्रोधादि घातक शत्रु उस पर कहीं वार न कर दें, अपना वज्र प्रहार न कर दें। और उस की चोट खाकर वह त्रिवरूथ शरण को खो बैठे। वह उस आप्य=बन्धु से प्रार्थना करता है—

आरे हिंसानामप विद्युमा कृधि=हिंसकों के वज्र को मुझ से बहुत दूर कर।

काम क्रोधादि के वज्र से आत्मा बचा रहे, तो इस के कल्याण उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है।

तात्पर्य्य यह है कि शरण प्राप्त कर के मनुष्य प्रमादी न बने, सदा सावधान रहे। इस के लिए वह निरभिमान होकर भगवान् से ही प्रार्थना करता है, क्योंकि उसे अपनी दुर्बलता का भान हो चुका है।



भगवान् परिश्रमी की रक्षा करते हैं

ओ३म् । यस्त इध्मं जभरत्सिष्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया ।
भुवस्तस्य स्वतवां पायुरग्ने विश्वस्मात्सीमघायत उरुष्य ॥ ऋ० ४।२।६

(सिष्विदानः) पसीना पसीना होता हुआ (यः) जो (ते) तेरे लिये (इध्मम्) ईंधन, समिधा (जरभत्) लाता है अथवा (ते) तेरे (इध्मम् प्रकाश को (जरभत्) धारण करता है । (वा) अथवा (त्वाया) तेरा अभिलाषी होकर (मूर्धानम्) माथे को (ततपते) बार बार तपाता है, हे (अग्ने) सर्वरक्षक ! तू (तस्य) उस का (स्वतवान्) परनिपेक्ष बलवान्, अपने बल से बली होता हुआ (पायुः) रक्षक (भुवः) होता है, प्रभो ! (सीम्) उस को (विश्वस्मात्) सभी (अघायातः) हानिकरों से (उरुष्य) बचा ।

भगवान् ने अपना प्राकृतिक ऐश्वर्य्य जीवों को अर्पित कर रखा है । प्रकृति के एक भी अणु परमाणु को वह अपने निजी स्वार्थ के लिये नहीं बरतता । वह जीवों को भोग मोक्ष देने के लिये ससार का पसारा पसारता है । जीवों के कर्म्मों के अनुसार उन के लिये नये नये मानो ससार बनाता रहता है । भोग में लिप्त होने वाले, कर्त्तव्यभ्रष्ट जीव को भोग से उठाने, उसे पुनः कर्त्तव्य पथ पर लाने के लिये उसे बार बर चेतावनी भी देता रहता है । इस तरह भगवान् मानो निरन्तर क्रियवान् है स्वाभाविक है कि भगवान् की प्रीति भी उन्हीं के साथ हो सकती है जो भगवान् के समान अपना सब कुछ दे डालने वाले हों ।

जब कोई मनुष्य स्वार्थ भावना से रहित हो कर कोई शुभ कर्म्म करता है, तो वह भगवान् का कार्य्य करता है । अर्थात् निष्काम भाव से कर्म्म करना भगवान् के अर्पण करना है । इस प्रकार के कर्म्म करने वालों का रक्षक भगवान् होता है ।

भगवान् की प्रीति-प्राप्ति के लिए भी स्वार्थ त्याग करना आवश्यक है । कोई वस्तु किसी को देते समय अपने अभिमान के मर्दन के लिये मनुष्य को करना चाहिए—प्रभो ! तेरी वस्तु तुझे देने लगा हू ।' परिश्रम से की कमाई को जो भगवान् के मार्ग मे दे डालता है सचमुच भगवान् ही—

भुवस्तस्य स्वतवा पायु =उस के रक्षक होते हैं ।

रक्षा करने के लिए भगवान् को किसी अन्य शक्ति की सहायता का अपेक्षा नहीं हुआ करती, वह स्वतवान् स्वबल से बलवान् है ।

पापों का मूल स्वार्थ है । जिस ने स्वार्थ त्याग दिया, जो अपने लिए समिधा नहीं लाता, वरन्

यस्त इध्म जभरन्=

जो तेरे लिए समिधा लाता है। जो बार बार 'इद न मम [यह मेरा नहीं है] पढता है। उस से पाप की सभावना कैसे ? अथवा

सिष्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया=

पसीना पसीना होता हुआ तेरा अभिलाषी होकर माथे को बार बार तपाता है।

मूर्धा को भगवान् के लिये तपाना बड़ा विकट कार्य है। इसमें मनुष्य पसीना पसीना हो जाता है। किसी साधक से पूछो, कितना माथा तपता है, कितना पसीना आता है। इतना परिश्रम करने पर वह अपनी रक्षा से बेसुध हो जाता है। अतः भगवान् से प्रार्थना करता है—

विश्वस्मात्सीमघायत उरुष्य=

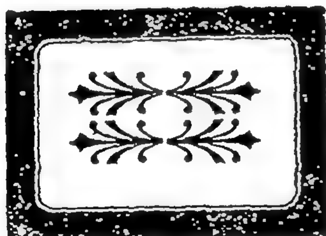
उसे सभी अनिष्टों से, हानि करने वालों से बचा।

भक्त की रक्षा भगवान् के सिवा कौन कर सकता है? अतः प्रभो! तू ही उसकी रक्षा कर। तू तो

अवितासि सुन्वतो वृक्तवर्हिषः (ऋ० ८।३६।१]=

घरद्वार छोड़ चुके हुए, निराश्रय याज्ञिक का तू ही रक्षक है।

घर बार छोड़ कर भी जो यज्ञ करता है, वह अवश्य भगवदाश्रित ही होता है। शरणार्थी की रक्षा तो भगवान् की टेक है। भगवान् से रक्षित सदा सर्वथा निर्भय एवं निरापद रहता है। इस लिए प्रत्येक उपाय से भगवान् की रक्षा करनी चाहिए।



प्रभु तू हमें सब ओर से बचा

ओ३म् पश्चात्पुरस्तादधरादुदक्तात्कविः काव्येन परि पाहि राजन्।
सखे सखायमजरो जरिम्णेऽग्ने मर्तां अमर्त्यस्त्वं नः ॥ ऋ० १०।८७।२१

हे (राजन्) राजाओं के राजन्। महातेजस्विन्! प्रकाशपुञ्ज परमेश्वर! तो (कविः) क्रान्तदर्शी (काव्येन) अपनी क्रान्तदर्शिता के द्वारा (पश्चात्) पीछे (पुरस्तात्) आगे (अधरात्) नीचे (उदक्तात्) ऊपर [अथवा पश्चिम, पूर्व, दक्षिण, उत्तर,] (परि) सब ओर से (पाहि) बचा। हे (सखे) मित्र, तू (अजरः) अजर अपने (सखायम्) मित्र को (जरिम्णे) बुढ़ापे के लिए बचा। हे (अग्ने) सर्वरक्षक! (त्वम्) तू (अमर्त्यः) अमर, मृत्युरहित (नः) हम (मर्त्तान्) मरने वालों को बचा।

हे घट घट के वासिन्। सर्वप्रकाशिन्! हम अल्पज्ञ हैं, अल्पगति हैं, अल्पशक्ति हैं, अल्पयुक्ति हैं। ऊपर, नीचे दायें, बायें तो क्या? प्रभो हमें सामने के पदार्थ भी ठीक नहीं दीखते। अतः हमें प्रतीत नहीं हो पाता कि हमारे लिए क्या क्या विपत्ति इन दिशाओं में खड़ी है। तू कवि है, क्रान्तदर्शी है। सर्वव्यापक और सर्वयज्ञ होने से तेरी क्रान्तदर्शीता स्वाभाविक है। तेरी क्रान्तदर्शीता से बाहर कोई भी वस्तु नहीं रह सकती। अतः प्रभो! तू अपनी क्रान्तदर्शीता से, सर्वज्ञता से हमें सब ओर से बचा। पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण जहा भी विपदा हमारे लिए हो, उसे प्रभो तू ही हटा। मेरी तो कामना है—

सर्वा आशा ममित्र भवन्तु (ऋ० १०।१५।६)=सभी दिशायें मेरी मित्र हो जायें।

किसी दिशा में मेरा कोई विरोधि, वैरी न रह जाये। सभी मुझ से स्नेह करने वाले हों। सर्वत्र मुझ से प्रीति करने वाले हों।

मित्र! सखे। प्रियतम! तू अजर है, तुझे जरावस्था, नहीं व्यपति, तुझे अवस्थाओं का विचार नहीं सताता। मैं हूँ तो तेरा मित्र, किन्तु बाल्य, यौवन और जरिमा मुझे व्याप रही है। मेरी तुझसे एक प्रार्थना है। भगवान्। स्वीकार अवश्य कीजियो। उसे सुना अनसुना न कर देना। सुन! प्रभो। सुन मेरी प्रार्थना।

सखे सखायमजरो जरिम्णे=हे मित्र! तू अजर सखा को बुढ़ापे के लिए बचा।

निस्सन्देह मेरा शरीर अजर नहीं हो सकता। किन्तु प्यारे बहुत दिनों तक तो रह सकता है। बाल्य या यौवन में यह विकाल काल की गाल मे न समा जाये। इसे बूढ़ा होने के लिए बचा।

पितः। थोड़ी बात और। तू स्वय तो अमर्त्य है, अमृत है। मृत्यु के जाल में नहीं फसता। किन्तु हमे तू ने मर्त=मर्त्य=मरणधर्मा बनाया है। इसको कच्चे फल की भाति डाल से न गिरा। इसे बचा। प्रभो। तू ही बता, तेरे सिवा ये वर कौन दे सकता है? अतः तू ही बचा।

ये मेरी कामना इस लिए हैं कि मैं चिरकाल तक तेरी आराधना करता हुआ तेरे आदेश का ससार में प्रसार कर सकूं।

मरने से पूर्व भगवान् को रक्षक बना लो

ओ३म् । आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः ।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥ ऋ० ४।३।१

(तनयित्नो.) मृत्युरूप विद्युत के द्वारा (अचित्तात्) अचेत होने से (पुरा) पूर्व ही (अध्वरस्य) यज्ञ के (राजानम) प्रकाशक (होतारम्) होता (रोदस्योः) दोनों लोकों के (सत्ययज) सच्चे याज्ञिक, ठीक ठीक सगति करने वाले (रुद्रम्) रुद्र, भयकर किन्तु (हिरण्यरूपम्) हितकारी और रमणीय कान्ति वाले (अग्निम्) भगवान् को (अवसे+आ+कृणुध्वम्) रक्षक बना लो ।

भगवान ने यह जो ससार रचा है, यह एक यज्ञ है, और ऐसा यज्ञ जो अध्वर है । अध्वर= अध्व-र, मार्ग देने वाला । जीव को उन्नति का मार्ग इसी ससार में मिलता है । अतः यह अध्व-र=मार्ग देने वाला है । ससार में हम प्रति दिन भयङ्कर मारकाट, घातपात, रक्तपात देखते हैं, परन्तु वास्तव में यह यज्ञ तो अ-ध्वर=अ-हिंस=हिंसारहित है। इस ससार-यज्ञ का पुरोधाः पुरोहित=ब्रह्मा भगवान् अत्यन्त दयावान् है, उसमें क्रूरता नाम को भी नहीं। उसके अध्वर में सम्मिलित होने के लिये तू भी अध्वर=हिंसारहित होके आ ।

भगवान् ने इस ससार यज्ञ की सब व्यवस्था सत्य पर की है । स्वय भगवान ने कहा—
सत्यं बृहद्दतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञं च पृथिवीं धारयन्ति (अ० १२।१।१)=
महान् सत्य उग्र ऋत, दीक्षा' तप, ब्रह्म और यज्ञ इस पृथिवी को धारण किये हुए हैं ।
जब उसने विश्व की व्यवस्था सच पर की है, तब तो वह अवश्य
सत्ययज रोदस्यो.=दोनों लोकों का सच्चा याज्ञिक है ।

समस्त ससार की ठीक ठीक व्यवस्था करता है । उसकी व्यवस्था के कारण पापियों को कष्ट मिलता है, वे रोते हैं, इससे इस ससारयज्ञ का ब्रह्मा उन्हें रुद्र प्रतीत होता है । रुद्र प्रतीत होने पर भी वह हिरण्यरूप अत्यन्त सुन्दर, कमनीय है, बड़ा हितकारी है । दूर से अवश्य वह रुद्र=विकराल भासता है किन्तु समीप से देखने पर वह हिरण्यरूप दिखाई देता है । मृत्यु सिर पर सवार है, जैसा कि उपनिषत् में कहा है—महद्भयं वज्रमेतद्युद्यत य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति=महाभयङ्कर मृत्युरुप वज्र तय्यार है, जो इसे जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं ।

ऐसा न हो, मौत की बिजली तुम्हारे सिर पर गिरे और तुम समाप्त हो जाओ, और हृदय की भावनायें हृदय में ही लेकर चले जाओ । वेद कहता है—
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्=
मृत्यु वज्र सिर पर पड़ने से पूर्व तुम हिरण्यरूप भगवान् को रक्षक बना लो ।

उसे यदि तुम रक्षक बना लो तो मृत्यु तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता, वह काल का भी काल है । किन्तु इसमें विलम्ब न होना चाहिये । जाने, कब मृत्यु सिर पर आ पडे । ऋषियों ने ठीक कहा है—
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति [केनो०]=इसी जन्म मे जान लिया तो ठीक है ।
अत. मरने से पूर्व उसे अपना लो ।

१५६

कौन जानता है हमने क्या पाप किया

ओ३म् । किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रत चकृमा को वि वेद ।
मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवाञ्छ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति ॥ऋ. १०।१२।५॥

(राजा) राजा ने, भगवान् ने (न.) हमारा (किं+स्वित्) क्या कुछ (जगृहे) लेलिया, छीन लिया ? हमने (अस्य) इसके (व्रतम्) नियम को (कत्) किस भांति (अति+चकृम) उल्लंघन किय ? इस बात को (क.) कौन (वि+वेद) विशेष रूप से जानता है। (मित्रः+चित्) मित्र भी (हि) तो (देवान्) देवों पर (जुहुराणः) रूष्ट (स्म) है। (न+याताम्) विचलित न होने वालों के लिए (श्लोकः) यश (अपि और (वाजः) अन्न, बल, ज्ञान भी (अस्ति) है।

यदि सेना अपने शस्त्रों से प्रजा की रक्षा न कर के उस की हत्या करने लग जाये, तो चतुर धार्मिक राजा या राज्यसत्ता सेना से हथियार छीन लेती है- और अन्य उचित दण्ड भी देती है। इसी प्रकार जीव जब अपने हथियारों से उपकार के स्थान में ससार का अपकार करने लगता है और सीमा का उल्लघन कर जाता है तो न्यायकारी भगवान् उससे उस हथियार को, साधन को छीन लेते हैं, और उसे ऐसी योनि देते हैं, जहा उसे उस पाप का अवसर न मिले।

अल्पज्ञ राजा के दण्डविधान में भले ही कोई स्खलन हो सकता है किन्तु सर्वज्ञानविधान भगवान् के व्यवस्थाविधान में स्खलन होने की कोई साभावना नहीं है। अतः जब किसी से कोई साधन छिन जाता है, तो यदि वह विवेकी होता है, तो कहता है—**किं स्विन्नो राजा जगृहे**=अरे राजा ने हमारा क्या लिया है ?

अर्थात् कुछ नहीं लिया है। यह कैसे ? सुनो—

कदस्यातिव्रतं चकृमा को विवेद=कौन जानता है कि किस किस तरह हमने उसके नियम तोडे हैं।

पाप करने के पश्चात् प्रायः मनुष्य अपनी करतूत को भूल जाता है। जब उसका फल मिलने लगता है, तब तिलमिलाता है और भगवान् को उपालम्भ देता है। किन्तु बुद्धिमान् मनुष्य जानता है कि दु.ख पाप का फल है। पाप के बिना दुःख मिल नहीं सकता। जहा दु.ख देखो, समझ लो पाप फल रहा है। अत' वह उपालम्भ न देकर कहता है—

कदस्याति व्रतं चकृमा को विवेद=कौन जानता है कि किस किस तरह हमने उसके नियम तोडे हैं ?

और जो पाप का फल भोगते हुए धर्म्ममार्ग नहीं छोड़ते, धर्म्म पर दृढ धारणा धारे रखते हैं, उन—

श्लोको न यातामपि वाजो अस्ति=विचलित न होने वाले के लिए कीर्त्ति भी है और वाज भी। अथवा विचलित होने वलों की न कीर्त्ति होती है और न जीवन-गति।

अर्थात् केवल उनका यश ही नहीं बढता, वरन उनको सब प्रकार की जीवन सामग्री भी मिलती है। और जो विचलित हो जाते हैं, उनको न यश और न सम्पदा।

जीवन की रात में जिसे तू आ मिले वह भला

ओ३म्। आरे अस्मदमतिमारे अंह आरे विश्वां दुर्मतिं यन्निपासि।
दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने यं देव आ चित्सचसे स्वस्ति ॥ ऋ० ४।११।६

(यत्) जब (निपासि) तू रक्षा करता है तो (अस्मत्) हम से (अमतिम्) अज्ञान को, अकमर्ण्यता को, नास्तिकता को (आरे) दूर करता है (अंहः) पाप को (आरे) दूर करता है और (विश्वाम्) सम्पूर्ण (दुर्मतिम्) दुर्मति को, दुर्बुद्धि को, बुरे विचारों को (आरे) दूर कर देता है। (सहसः+सूनो) बलियों को झुकाने वाले (अग्ने) सर्वाग्रणी प्रभो ! वह (शिवः) भाग्यवान् है (यम्) जिस को तू देव ( ) देवे (दोषा) रात में (स्वस्ति) सुख पूर्वक (आ+सच से) पूर्ण रूप से आ मिलता है।

मनुष्य पाप-प्रवाह में—भयङ्कर प्रलयङ्कर पाप प्रवाह में—जब बहने लगता है, तब उस का कुछ ठिकाना नहीं रहता। आत्मा की भूल से इन्द्रियां विद्रोही हो गईं, आत्मा के वश में न रहीं, वे आत्मा से विमुख हो कर चलने लगीं, आत्मा ने उन से हार मान ली और उन के आधीन हो गया, तभी पाप का सूत्रपात हुआ। वेद में लिखा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥ य० ४०।३

घोर अन्धकार से घिरे आसुरी लोक (योनि, कर्म्मफल भोगने का स्थान) हैं, जो आत्मघाती जन हैं, मर कर के भी वे उन लोकों को प्राप्त करते हैं।

अर्थात् आत्मघाती को मरने के बाद भी और इस जन्म में भी प्रकाश और प्रकाश-साधनों से वञ्चित कर दिया जाता। ऐसे अन्धकार में विलीन मनुष्य के सुकर्म जब जाग खडे हों तो

दोषा शिवः सहसो सूनो अग्ने यं देव आ चित्सचसे स्वस्ति=
हे महाबल अग्रणी। वह भाग्यवान् है, जिस से आप इस अन्धकार में आ मिलते हैं।

एक संकेत और है—

ध्यान रात में करना चाहिए। जब सब ओर सन्नाटा हो। किसी प्रकार का शोर शराबा न हो।

भगवान् रात के समय आ मिले हैं, अकेला देख कर या भटका समझ कर। आते ही भगवान् ने अमति=नास्तिकता दूर कर दी। जब वह आ मिला, तो उस की सत्ता का अपलाप, उस की सत्ता में इनकार कैसा ? सारे पापों का मूल नास्तिक है। यदि हमें भगवान् की सत्ता पर निष्ठा हो उन की न्याय कारिता, कर्म्मफलप्रदातृता पर विश्वास हो, कार्य्यकारण के ध्रुव नियम पर दृढ धारना हो, तो पाप हो ही नहीं सकता। भगवान् की सत्ता का अपलाप, उस की सत्ता पर विश्वास रहते उस की न्यायकारिता पर अनास्था और कार्य्यकारण-सिद्धान्त पर अश्रद्धा हो तो फिर पापपङ्क में धसने में क्या विलम्ब है ? अतः अमति के नाश के साथ भगवान् भक्त की पापभावना का भी अभाव कर देता है। पाप न रहे तो उन के संस्कार से होने वाले बुरे विचारों का रहना तो सम्भव ही नहीं।

इस प्रकार भगवान् रक्षा करते हैं।

महान् सौभाग्य के लिये बल लगा

ओ३म् । अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु ।
स जास्पत्य सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥ ऋ० ५।२८।३

हे (अग्ने) नेत. । (महते) महान् (सौभगाय) सौभाग्य के लिये (शर्ध) बल लगा (तव) तेरी (द्युम्नानि) कीर्त्तिया (उत्तमानि) उत्तम (सन्तु) हों। (जास्पत्यम्) पतिपत्नी के व्यवहार को (सम्) भली प्रकार (सुयमम्) सुनियन्त्रित, सुसयत, उत्तम संयमयुक्त (कृणुष्व) कर और (शत्रूयताम्) शत्रुता करने वालों के (महांसि) बलों को, तेजों को (अभि+तिष्ठ) दबा दे, अपने अधिकार में करले ।

मनुष्य जितने भी कार्य्य करता है, सब में थोड़ा बहुत बल अवश्य लगाना पड़ता है । वेद कहता है जब बल लगाना ही है तो—

अग्ने शर्ध महते सौभगाय=हे ज्ञानी । तू महान सौभाग्य के लिये बल लगा ।

वेद मे एक दूसरे स्थान पर कहा है—**उच्छ्रयस्व महते सौभ गाय** (ऋग्वेद ३।८।२)

महान सौभाग्य के लिये उठ, अथवा उन्नत का आश्रय ले ।

अपने से किसी बडे का सहारा लेने लगा तो किसी महान् आदर्श के लिये लो । जब तू महान् आदर्श को लेकर बल लगाएगा तो—

तव द्युम्नानि उत्तमानिसन्तु=तेरी कीर्तिया उत्तम होंगी ।

सौभाग्यशाली की कीर्त्ति अवश्य ही सुकीर्ति होती है । सौभाग्य-प्राप्ति में एक बडी भारी बाधा है, और वह बहुधा मनुष्य को च्युत कर देती है । वह है विलास । विलास और विनाश का सहवास है । विलास को बुलाओ, विनाश बिन बुलाये आ जायेगा । विलास से सब प्रकार का नाश होता है, रूपनाश, सम्पत्तिनाश, कान्तिनाश कीर्तिनाश आदि । अतः वेद सावधान करता हुआ कहता है—

सं जास्पत्य सुयमा कृणुष्व=दाम्पत्य व्यवहार को सुनियन्त्रित रख ।

विवाह का उद्देश्य सामने रख । विवाह का एक मात्र उद्देश्य सन्तान है । भोग तो उस उद्देश्य का एक साधन है । यदि उद्देश्य पूरा न हो तो साधन दूषित माना जाता है । वेद कह रहा है+दाम्पत्य को दूषित मत करो । मत समझो, विवाह ने तुम्हें भोग का पट्टा दे दिया है । वरन् एक पुनीत, समाज-वर्द्धक कार्य्य के लिये तुम को दम्पती बनाया गया है ।

सचमुच विवाह के सम्बन्ध मे ऐसी पवित्र भावना तथा संयम का उपदेश वेद के समान अन्यत्र कहीं नहीं है ।

गृहस्थ भी एक छोटा मोटा राज्य होता है, इस में अनेक विघ्न बाधाये आती रहती हैं । भगवान् का उपदेश है, इस से उदास मत हो, वरन् उठ और—

शत्रुयतामभि तिष्ठा महांसि=शत्रुओं के तेज को दबा दे ।

उन के तेज तेरे सामने फीके पड जायें । जो विलासी है, वह दूसरों के तेजों का अभिभव क्या करेगा ? संयमी के तेज की जो ज्वाला होती है वह चक्रवर्त्तियो का भी चकित कर देती है । अत. संयमी बन कर शत्रुओ को दबा ।

१५६

स्तोता के लिये यज्ञ करना सरल कर

ओ३म । वधैर्दुःशंसां अप दूढ्यो जहि दूरे वा ये अन्ति वा के चिदत्रिणः ।
अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ ऋ० १।९४।९

(वधैः) वधसाधनों के द्वारा (दुःशसान्) दुष्टवचनों वालों को और (दूढ्यः) दुष्ट विचारों वालों को (अप+जहि) मार दे (वा) और (ये+केचित्) जो कोई (अत्रिण) चटोरे, अथवा खाने वाले (दूरे) दूर (वा) अथवा (अन्ति) समीप हैं, उनको भी मार भगा। (अथ) और (गृणते) स्तुति करने वाले के लिये (यज्ञाय) यज्ञ करना (सुगम्) सरल (कृधि) करदे, हे (अग्ने) नेतः ! (वयम्) हम (तव) तेरे (सख्ये) सख्य में (मा) मत (रिषामः) हिंसित हों।

प्रजा राजा से कह रही है कि राजन्'। आप ऐसी व्यवस्था कीजिये कि जिससे राष्ट्र में दुष्ट आचार विचार वाले जन न रहें। राष्ट्र की शान्ति, समता मिट जाती है यदि राष्ट्र में दुष्ट विचार तथा दुराचार प्रचार पा जायें राज्य में ऐसे कर्मचारी भी हो सकते हैं, जो प्रजा का रक्त निरन्तर चूसा करते हैं, वे चाहे राजा के निकटवर्त्ती हों चाहे दूरस्थ, राजा का परम कर्त्तव्य है कि ऐसे भक्षकों से भरसक प्रजा की रक्षा करे। अन्यथा प्रजा में अशान्ति और क्षोभ बढ कर राज्य का मूल से उन्मूलन हो जाया करता है।

सुराज्य की पहिचान ही यह है कि धार्मिक जन अपने धर्म्म कर्म का पालन किसी प्रतिबन्ध के बिना कर सकें। वेद कहता है—

अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृधि=यज्ञ के लिये कहने वाले के लिये सरल करदे।

अर्थात् यज्ञकारक, यज्ञ प्रचारक का कार्य निर्बाध करदे।

संसार में जितने भी परोपकार के कार्य हैं, वैदिक परिभाषा के अनुसार वे सब यज्ञशब्द के वाच्य हैं। परोपकारी को परोपकार कार्य्य में विघ्न की प्रतीति ही न हो।

मन्त्र के पहले चरण से ऐसी ध्वनि निकलती प्रतीत होती है कि वेद के अनुसार राजा अत्यन्त उच्छृङ्खल होना चाहिये। ऐसे भ्रान्त मनुष्य को मन्त्र का चौथा चरण ध्यान से मनन करना चाहिये—

अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव=हे नेतः ! हम तेरी सखिता में हानि न उठायें।

(क) राजा को सखा कहना राजा और प्रजा के सम्बन्ध को अत्यन्त स्पष्ट कर देता है। सखा सखा में भेद नहीं होता। कहते हैं, मित्र मित्र अभिन्नहृदय होते हैं। अर्थात् राजा और प्रजा का हृदय एक हो। **समाना हृदयानि वः**=तुम सबके हृदय एक से हों, यह उपदेश सबके लिये है।

(ख) मा रिषाम=हम हानि न उठायें। अर्थात् राजा प्रजा का उत्पीडन न करे।

इससे सिद्ध होता है कि वेदोक्त राजा स्वेच्छाचारी नहीं होता। वरन् प्रजा की बात मान कर चलता है।

१६०

धन खोजने वाली बुद्धियों को बढ़ा

ओ३म् । येन वंसाम पृतनासु शर्धतस्तरन्त अर्य आदिश. ।
स त्व नो वर्ध प्रयसा शचीवसो जिन्वा धियो वसुविदः ॥ ऋ० ८।६०।१२

(अर्यः) शत्रु की (आदिशः) आयोजनाओं को (तरन्तः) विफल करते हम (येन) जिसके द्वारा (पृतनासु) युद्धों मे (शर्धत.) ललकारने वालों को (वसाम) वश में कर सकें, (सः+त्वम्) वह तू (नः) हमे (प्रयसा) प्रयास के साथ (वर्ध) बढा और हे (शचीवसो) बुद्धि और शक्ति के धनी। (वसुविदः) धन खोजने वाली (धियः) बुद्धिया (जिन्व) उत्तेजित कर।

जब दो राष्ट्रों मे परस्पर वैर विरोध बढ जाता है, तब वे एक दूसरे को दबाने का उपक्रम करने लगते हैं। उस समय राष्ट्र के उत्साही वीर सैनिक अथवा राष्ट्रवासी जन अपने राष्ट्रपति, सेनापति तथा नेता से जो कुछ कहते हैं, उसका थोडा सा दिग्दर्शन इस मन्त्र मे कराया गया है।

राष्ट्रवासी कह रहे हैं शत्रु सिर पर आ गया है, वह हमें दास बनाने की योजनायें बना रहा है। आप के नेतृत्व में शत्रु की सभी योजनायें, सभी चालें हम विफल कर देंगे। शत्रु हमें ललकार रहा है, उसे अपने जन बल पर, बाहुबल पर अभिमान है किन्तु हमें दृढ विश्वास है कि हम इसमें भी उसे परास्त कर देंगे, हा आप हमारा नेतृत्व करते रहें। सैन्य सचालन एक विशिष्ट जटिल कला है। विविध भावनाओं वाले जनों को एक मन वाला बना कर एक उद्देश्य के लिये अपने प्राण तक देने को तत्पर कर देना खिलवाड़ नहीं है। इसके लिये विशाल बुद्धि, सुपटु चातुर्य, दीर्घदर्शिता आदि अनेक गुणो की अपेक्षा होती है। फ़सादी शत्रु के प्रति राष्ट्रवासियों के भावों का छोटा सा चित्र निम्नलिखित मन्त्र मे है—

'वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
अधमं गमया तमो यो अस्मा अभिदासति ऋ० १।२१।२

हे इन्द्र। तू हत्यारों को मार दे। फ़साद करने वालों को, हमसे युद्ध करने वालों को नीचा कर दे। जो हमें दबाना चाहता है, दास बनाना चाहता है, उसे घोर अन्धकार मे पहुँचा दे।

आलस्य और प्रमाद पराजय के साधन हैं, तू विजय चाहता है तो

स त्वं नो वर्ध प्रयसा शचीवसो=बुद्धि के धनी! तू हमे पुरुषार्थ के साथ आगे बढा।

केवल उजड्डपन से विजय नहीं मिलता। क्षणिक वाह वाह उसे भले ही मिल जाये जो अपने भुजबल के उन्माद मे विचारे बिना शत्रु दल पर टूट पडे, किन्तु स्थायी विजय उसके भाग्य में नहीं होता। ऐसा प्रयास प्राय. सब ओर से निराश जन किया करते हैं। निराशा की दशा में बुद्धि अपने ठिकाने नहीं रहती है। बुद्धि ही वास्तव मे बल है, जैसा कि एक नीतिकार ने कहा है—

बुद्धिर्यस्य बल तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्=बल उसी का है जिसके पास बुद्धि है, बुद्धिरहित मे बल कहा?

सचमुच मूर्ख निर्बल होता है। अतएव सेनानायक बुद्धिमान होना चाहिये। इसी भाव से मन्त्र में सेनानायक को 'शचीवसु'=बुद्धि का धनी कहा है। मूर्ख को नेता नहीं बनाना चाहिये। बुद्धिमान नेता का हित इसी मे है कि उसके अनुयायी भी बुद्धिमान हों। वेद ने कहा ही है—**धियो जिन्व वसुविदः**=धन प्राप्त कराने वाली बुद्धियों को उत्तेजित कर।

नेता बुद्धिमान्, अनुयायी बुद्धिमान, सारा राष्ट्र बुद्धिनिधान्। फिर कहीं से किसी भय की

१६१

तू धन के कुटिलतारहित मार्गों से ले जाता है

ओ३म्। नू नो अग्नेऽवृकेभिः स्वस्ति वेषि रायः पथिभिः पर्ष्यंहः।

ता सूरिभ्यो गृणते रासि सुम्नं मदेम शतहिमाः सुवीराः॥ ऋ. ६।४।८॥

हे (अग्ने) आगे ले जाने वाले! (नु) निस्सन्देह तू (अवृकेभिः) कुटिलतारहित (पथिभिः)- मार्गों से (नः) हमें (स्वस्ति) सुखपूर्वक (रायः) धनों को (वेषि) प्राप्त कराता है और (अंहः) हमारी कुगति, त्रुटि को (पर्षि) पूरा करता है। तू (सूरिभ्यः) विद्वानों से (ता) उन धनों तथा (सुम्नम्) सुख को (गृणते) स्तोता को (रासि) देता है। हम (सुवीराः) उत्तम वीर, श्रेष्ठ वीरों वाले (शतहिमाः) सैकड़ों वर्ष (मदेम) आनन्द मनायें।

वेद सर्वाङ्गपूर्ण धर्म्मग्रन्थ है। समूचे मनुष्यसमाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिये जिन जिन पदार्थों की आवश्यकता है उन सभी पदार्थों की प्राप्ति के साधनों का वर्णन वेद में है। वेद का मुख्य उद्देश्य मानव-जीवन को उत्कर्ष की चरम काष्ठा तक पहुँचा कर मुक्ति दिलाना है, अतः निर्दोष साधनों का ही प्रतिपादन वेद में है। सदोष, छल कपटयुक्त साधनों से वेद दूर रहने का उपदेश करता है।

समाज का व्यवहार चलाने के लिये धन चाहिये। अतः धन कमाने का वेद में उपदेश है—

शतहस्त समाहर (अ. ३।२४।४)=सैंकड़ों हाथों कमा।

सैकड़ों हाथों का यह तात्पर्य्य कदापि नहीं कि मनुष्य अन्याय, अनीति से धन कमाये। वरन् धन कमाने से धर्म को हाथ से नहीं देना चाहिये। इसी भाव से धनाभिलाषी कहता है—

नू नो अग्नेऽवृकेभिः स्वस्ति वेपि रायः पथिभिः पर्ष्यंहः=

हे अग्ने! सचमुच तू हमें अकुटिल मार्गों से सुखपूर्वक धन प्राप्त कराता है और हमारी त्रुटि पूरी करता है।

इसमें अवृकेभि पथिभि. [कुटिलतारहित मार्गों से] पद बहुत ध्यान देते योग्य हैं। धन चाहिये, किन्तु कुटिल उपायों से नहीं। आज ससार धनतृष्णा से पागल हो उठा है। धनार्जन में युक्त अयुक्त का कोई विचार आज निस्सार कहा जाता है। इसी से समस्त जगत् परितप्त है। इसी परिताप को शान्त करने के लिये आज वेद के आदर्शों पर चलने की अत्यधिक आवश्यकता है। आज धन के लोभ के कारण ससार की जातिया भूखे भेड़ियों की भाति एक दूसरे को खाने को दौड़ रही हैं। वेद कहता है. भेड़ियों के मार्ग से मत चलो। तुम मनुष्य हो मनुष्य, इसे मत भूलो।

भेड़िये दल बाध कर शिकार को चलते हैं, उनमें से मार्ग मे कोई मर जाये तो पहले उसे खा लेते हैं फिर आगे चलते हैं। आज का ससार भी जीवनसग्राम मे चलते दुर्बल साथियों—दुर्बल जातियों, निर्बल देशों को—हड़प कर रहा है। वेद कहता है—दुर्बल को खा नहीं, वरन्—पर्ष्यंहः उसकी त्रुटि दूर कर। कितनी उदात्त है वेद की शिक्षा। और इसके विपरीत चलने से कितना क्लेशक्लिष्ट है आज का जगत्। धन हो और मन शान्त न हो, तो वह धन निधन (मृत्यु) भासने लगता है। वेद ने इसलिये कहा कि तू धन और सुम्न=मन की उत्तम अवस्था=सुख भी देता है।

धन और सुख दोनों मिलें तो संपूर्ण आयु मस्ती से बीतेगी—मदेम शतहिमाः सुवीरा.। हम सुवीर सैंकड़ों वर्ष मस्त रहें।

१६२

इसी जन्म में तेरी सेवा करें

ओ३म् । इह त्वा भूर्या चरेदुपत्मन् दोषावस्तर्दीदिवांसमनु द्यून् ।

क्रीडन्तस्त्वा सुमनसः सपेमाभि: द्युम्ना तस्थिवांसो जनानाम् ।।ऋ. ४।४।९।।

मनुष्य (अनु+द्यून्) प्रतिदिन (दोषावस्तः) दिन रात (दीदिवासम्) चमकने वाले (त्वा) तुझ को (इह) यहीं (त्मन्) अपने आत्मा से, सर्वात्मना (भूरि) बहुत बहुत (उप+आ+चरेत्) सेवन करे । हम (जनानाम्) लोगों के (द्युम्रा) धनों, यशों, तेजों को (अभि+तस्थिवासः) दबाते हुए (क्रीडन्तः) खेलते हुए (सुमनसः) उत्तम मन वाले होकर (त्वा) तुझे (सपेम) मिलें, पूजें ।

मनुष्य जन्म के प्रयोजन पर ध्यान देने से एक बात अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होती है कि खाना पीना, सोना, जागना, चलना, बैठना, हर्ष, शोक, प्रसाद, विषाद, भूख, प्यास, मैथुनादि मनुष्यों और पशुओं दोनों म है । किन्तु मनुष्य में एक ऐसी वस्तु है जो पशुपक्षियों मे नहीं है । पशुपक्षी अपनी उन्नति के उपाय करते हुए नहीं दीखते, इसके विपरीत मनुष्य अपनी उन्नति के लिये सदा विचार करता रहता है, केवल इसी जन्म ही के सुख के लिये नहीं, वरन् इस जन्म के बाद की स्थिति को भी उत्कृष्ट बनाने के साधनों की कल्पना करता है । इस ससार में पुत्र, कलत्र, मित्र, माता, पिता, बन्धु बान्धव, धन, धान्य, गृह वास, सपत्ति, राज्य, शासन आदि उसे सुख साधन प्रतीत होते हैं, जब उसे, इन सबके होते भी सुख नहीं मिलता, अथवा इच्छित सुख की अपेक्षा न्यून मिलता है तो वह अकुला जाता है, और वास्तविक सुख की खोज करता है । उसे ज्ञात होता है कि—

वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी । प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्त—।।ऋ.७।८६।१।।

जो इन विशाल द्यावापृथिवी को थाम रखता है, वही इस अति महान् सुख को प्रेरित करता है ।

सुखान्वेषी को सुख के मूल स्रोत का ज्ञान हो गया है । तब उसे उसका सेवन करना चाहिये । इस बात को वेद इन शब्दों में कहता है—

इह त्वा भूर्या चरेदुपत्मन्=इसी जन्म मे मनुष्य सर्वात्मना तेरी बहुत बहुत उपचर्य्या करे ।

यह कार्य ऐसा नहीं कि इसे कल पर छोड़ा जा सके । जाने कल को काल आ जाये । जी जान इस कार्य्य मे लगा देना चाहिये । जैसे किसी ने कहा है—

कार्यं वा साधयेय शरीरं वा पातयेयम्=या कार्य्य सिद्ध करूंगा या शरीर नष्ट करूंगा ।

साराश यह कि मरना या बढ़ना ही मनुष्य के सामने होना चाहिये । अत.

दोषावस्तर्दीदिवासुमनुद्यून्=प्रतिदिन रात प्रभात उस चमकीले की सेवा करे ।

अर्थात् नियमपूर्वक लगातार उसकी आराधना करनी चाहिये । यह नहीं कि एक दिन अर्चा की और दस दिन नागा ही कर दिया । जैसे शरीर पोषण के लिये नित्य और नियमित रूप से निश्चित समय पर भोजन करने से अभीष्ठ सिद्धि होती है, ऐसे ही आत्मपुष्टि के लिये भी नित्य नियमित रूप से निश्चित समय पर भगवदाराधना करनी चाहिये ।

इस प्रकार उसकी अर्चा आराधना प्रतिदिन करने से परमोत्तम लाभ होता है ।

१६३

उठो ऐश्वर्य का भाग देखो

ओ३म्। उत्तिष्ठतावपश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्।

यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रात ममत्तन ॥अ. ७।७२।१

(उत्तिष्ठत) उठो और (इन्द्रस्य) ऐश्वर्य के (ऋत्वियम्) व्यवस्थित (भागम्) भाग को (अवपश्यत) देखो (यदि) यदि वह (श्रान्तम्) पक चुका है तो (जुहोतन) होम दो और (यदि) यदि (अश्रातम्) नहीं पका है तो भी (ममत्तन) मस्त होवो।

वेद में समाज की जो कल्पना है, वह अत्यन्त उदात्त है। वेद आदेश करता है कि समाज समृद्ध, पुष्ट, धनधान्य से भरपूर होना चाहिये। इसीलिये वेद कहता है—उत्तिष्ठत=तुम सब उठो।

यहां 'उत्तिष्ठत' [तू उठ] नहीं कहा। वरन् 'उत्तिष्ठत' [तुम सब उठो] कहा है। समाज में कोई एकाध उन्नत हो, शेष हों अवनत परिस्थिति में, तो समाज अवनत और अशान्त ही रहेगा। अतः 'तुम सब उठो' आदेश हुआ है।, उठ कर क्या करें—

अवपश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्=ऐश्वर्य्य के व्यवस्थित भाग को देखो।

उपनिषत् ने इस पूर्वार्द्ध का सुन्दर शब्दों में अनुवाद किया है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। कठो०

उठो, जागो और श्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त कर होश में आओ।

उपनिषत् ने कहा—'प्राप्य वरान्निबोधत' [श्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त करके होश में आओ] वेद कहता है—'अवपश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्' [ऐश्वर्य्य के व्यवस्थित भाग को देखो]। 'वर पदार्थ' और 'ऐश्वर्य्य के व्यवस्थित भाग' में कोई अन्तर नहीं है। 'अवपश्यत' का अर्थ है—'गहरी दृष्टि से देखो'। 'निबोधत' का अर्थ है—'समझो, होश में आओ।' दोनों के भाव में समानता है।

'उपनिषत्' का 'वर'=श्रेष्ठ पदार्थ बहुत सुन्दर है। किन्तु वेद का 'ऋत्विय भाग'=व्यवस्थित भाग बहुत महत्त्व का है। सृष्टि के पदार्थों में सब का भाग है किसी का थोड़ा, किसी का अधिक। यह थोड़ा या अधिक अन्धाधुन्ध विभाजन पर अवलम्बित नहीं, वरन्, जिसने जैसी कमाई की है। उसके अनुसार व्यवस्थित है। वेद ने इस व्यवस्थित भाग की बात कह कर प्राप्त करने का उपाय निर्देश किया है। अर्थात् जैसे कर्म्म करोगे, सृष्टि के पदार्थ में भला या बुरा, अधिक या अल्प वैसा ही तुम्हारा भाग रहेगा। उसमें घटाबढ़ी करने का अधिकार किसी को नहीं है।

वेद ने, उत्तरार्ध में ऐसी बात कही है जिस पर बलिहार होने को जी चाहता है—

यदि श्रातं जुहोतन=यदि पका है तो होम कर दो। अर्थात् ऐश्वर्य की पराकाष्ठा पर पहुँच कर उसे होम दो—'इदन्न मम' [यह मेरा नहीं] कह कर भगवान् की राह में दे डालो। धन के त्याग में सुख है। संग्रह में दु:ख है। और यद्यश्रात ममत्तन यदि कच्चा हो तो मस्त हो जाओ। कच्चे पर दु:ख मानने का अधिकार नहीं है। पक्के को रखने का अधिकार नहीं, कच्चे पर शोक करने का नहीं। इसे कहते हैं—हानि-लाभ में समता। वेद ऐश्वर्य्य दिला कर भी शान्त रखना चाहता है।

हमें बता, हमारा धन क्या है?

ओ३म्। किं नो अस्य द्रविणं कद्ध रत्नं वि नो वोचो जातवेदश्चिकित्वान्।

गुहाध्वनः परमं यन्नो अस्य रेकु पदं न निदाना अगन्म॥ ऋ. ४।५।१२

हे (जातवेदः) सर्वज्ञ! तू (चिकित्वान्) जानता है, अतः (नः) हमें (वि+वोचः) विशेष रूप से बता कि (अस्य) इसमें से (नः) हमारा (द्रविणम्) धन (किम्) क्या है, और (कत्) कौन सी (है) सच्ची (रत्नम्) मूल्यवती सपत्ति है। और (यत्) जो (नः) हमारे (अस्य) इस (अध्वनः) मार्ग का (परमम्) परम, अत्यन्त (गुहा) गुप्त रहस्य है? ताकि हम (रेकु) शंकायुक्त (पदम्) पद (निदानः) धरते हुए (न) न (अगन्म) जायें।

भक्त देखता है कि धन समझ कर जिन जिन पदार्थों को सग्रह किया था, वें एक एक करके चले जाते हैं। उसे सन्देह हो जाता है कि यह धन है भी? वह व्याकुल होकर कहता है—

वि नो वोचो जातवेदश्चिकित्वान्=हे जातवेद। सर्वज्ञ। तू ज्ञान रखता है, अतः तू हमें स्पष्ट बता, कि

किं नो अस्य द्रविणम्=इसमें से हमारा धन है क्या?

जिससे प्रीति हो, तृप्ति हो, जिससे जीवनयात्रा अनायास निबाही जा सके, उसे धन कहते हैं। जो नित्य नहीं, आगमापायी है, आने जाने वाला है, उससे नित्य की, ध्रुव की तृप्ति कैसे होगी। वेद में आता है—

रत्नं दधाति दाशुषे=दाता के लिये रत्न बनाता है अथवा दाता को रत्न देता है। वह

कद्ध रत्नम्=रत्न कौनसा है?

और साथ ही साफ साफ बताना—

गुहाध्वनः परमं यन्नो अस्य=हमारे इस मार्ग का–जीवनपथ का–परम रहस्य क्या है?

अर्थात् हम जो यह लंबी ससारयात्रा कर रहे हैं, हमें इसका कोई लक्ष्य, कोई उद्देश्य दृष्टि-गोचर नहीं होता। क्या ये ऐसे व्यर्थ ही है? हमारी जीवनयात्रा निरुद्दिष्ट है? अथवा इसका कोई उद्देश्य प्रयोजन-साध्य है? है, तो फिर वह गुप्त है। हमारी आखों से, हमारी बुद्धि से ओझल है। इसे भी तो तू ही बतायेगा। तू चिकित्वान्=जानकर जो ठहरा। तू न बतायेगा तो कहीं हम

रेकु पदं न निदाना अगन्म=सदिग्ध पग धरते न चल पड़ें।

सन्देहास्पद दशा में हमें डर लगता है। तेरे भक्त ने कहा है—

संशयात्मा विनश्यति=सशयालु नष्ट हो जाता है।

सशयग्रस्त रहने से कर्त्तव्य कर्म्म कर ही नहीं पाता। कर्त्तव्य कर्म न करने से भविष्य के नाश में सन्देह ही नही रहता। नाश से बचने के लिये निस्सन्देह होना परम आवश्यक है। अतः परमोपदेशक! इन सब समस्याओं का समाधान तू ही कर, हमें कुछ नहीं सूझ रहा।

१६५

असार निर्बल प्रार्थना

ओ३म् । अनिरेण वचसा फल्ग्वेन प्रतीत्येन कृधुनातृपासः ।

अधा ते अग्ने किमिहा वदन्त्यनायुधासः आसता सचन्ताम् ॥ ऋ० ४।५।१४

(अनिरेण) निर्बल (फल्ग्वेन) फल्गु, असार (प्रतीत्येन) दिखावे के अनिश्चित (कृधना) तुच्छ लघु (वचसा) प्रार्थना-वाक्य से (अतृपासः) स्वय तृप्त न होने वाले (ते) वे, हे (अग्ने) प्रभो । (इह) इस जन्म मे (अध) अब (किम्) क्या (वदन्ति) कहते हैं । (अनायुधासः) आयुधरहित (असता) अभद्र से (आ+सचन्ताम्) युक्त होंगे ।

ससार मे जब किसी को किसी कार्य्य के लिये प्रेरणा की जाती है, यदि वह प्रेरणा सफल न हो, तो कहा जाता है, कि यह प्रेरणा निर्बल थी, इस में सात नहीं था । दूसरे से अपनी बात मनवाने के लिये मनुष्य अपनी वाणी में बल लाने का प्रयत्न करता है । उसकी चेष्टा होती है कि उसके वचनों में ओज हो ताकि सुनने वाला उससे प्रभावित हो जाये और उसके वचन-प्रवाह में बह चले । इसीलिये विशेष विशेष अवसरों पर जब कि जनता को विशेष रूप से उत्तेजित करना अभिप्रेत होता है, विशेष रूप से प्रभावशाली वक्ता आमन्त्रित किये जाते हैं ।

इसी भाति अपेक्षित गुण प्राप्ति के लिये, अपनी त्रुटि के परिहार के लिये आर्त्त और आर्द्र भाव से भगवान् से जो प्रेरणा की जाती है, उसे प्रार्थना कहते हैं । यदि प्रार्थना मे कोई बल न हुआ, हृदय के अन्तरस्थल से यदि उसका स्फुरण नहीं हुआ, तो वह निर्बल रहेगी । निर्बल प्रेरणा जब कि हमारे जैसे सामान्य मनुष्य को नहीं हिलाती, तो उस अत्यन्त अडोल परमात्मा को कैसे हिलायेगी । अत: प्रार्थना ओजस्विनी होनी चाहिये । वह फल्गु न हो, सारहीन, मरियल न हो, अपितु सारयुक्त जीवटवाली हो । वह बाहरी दिखावे की न हो, वह तो अनिश्चित होगी । उस प्रार्थना—वाक्य से स्वय प्रार्थी का स्वान्त शान्त नहीं हो रहा, उस का मन उससे नहीं भरता, अतृप्त रहता है । कहने वाले को ही जब अपने वचनों पर आस्था नहीं, तो सुनने वाले का क्या विश्वास होगा ? ऐसे लोगों की प्रार्थना विफल जाती है ।

ये लोग मानो ऐसे हैं कि लड़ने चले हैं और हाथ मे कोई हथियार, शस्त्र, अस्त्र, लाठी आदि नहीं ले चले । ऐसे योद्धाओं का जो परिणाम होना चाहिये, वही होता है । अर्थात्

अनायुधास आसता सचन्ताम्=हथियारों से खाली अभद्र से सबद्ध हों ।

जिस प्रकार समाज मे उपकरणरहित का निर्वाह कठिन है, वैसे ही परमार्थ-योद्धा का निर्वाह भी कठिन है । परमार्थ के युद्ध में, परमात्मा को वश करने के लिये प्रार्थना आयुध है । इस वास्ते मीमासादि शास्त्र प्रभु के स्तुति प्रार्थनापरक मन्त्रों को शस्त्र कहते हैं । यह शस्त्र तीक्ष्ण होना चाहिये । कुण्ठित शस्त्र से युद्ध नहीं लड़ा जा सकता ।

इस संसार में खाने की सामग्री बहुत है

ओ३म् । द्यामिन्द्रो हरिधायसं पृथिवीं हरिवर्पसम् ।
अधारयद्धरितोर्भूरि भोजनं ययोरन्तर्हरिश्चरत् ॥ ऋ ३।४४।३

(इन्द्रः) अनन्तैश्वर्यवान् भगवान् (द्याम्) द्यौ को (हरिधायसम्) सुवर्ण धाराओं वाली तथा (पृथिवीम्) पृथिवी को (हरिवर्पसम्) हरे और सुनहरे रूपवाली बनाया है उस ने इन (हरितो.) दोनों सुनहरियों के बीच में (भूरि) बहुत (भोजनम्) भोजन (अधारयत्) धर रखा है, (ययोः) जिन द्यावापृथिवी के (अन्तः) मध्य में (हरिः) सूर्य्य (चरत्) विचरता है ।

वेद उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं का भण्डार है । द्यौ में असख्य सूर्य्य, ग्रह, नक्षत्र चमक रहे हैं । उदीयमान सूर्य्य तप्त कुन्दन की भांति दीखता है । सन्ध्यासमय का द्वितीया का चन्द्र आकाश में ऐसा भासता है, मानो कषणोपल-कसौटी पर सुवर्ण रेखा हो । इसी प्रकार ये सभी ज्योतिःपुंज ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो आकाश कसौटी पर सुवर्णधारायें हों, सोने की रेखायें हों ।

इधर पृथिवी पर दृष्टि डालिये । कहीं हरा हरा घास है । कहीं हरे हरे खेत लहलहा रहे हैं । कहीं वृक्ष, गुल्म लतायें फैल रही हैं । कहीं चुनार के विशाल वृक्ष सूर्य्य के प्रकाश को भूमि पर आने से रोक कर हरितता श्यामलता की वृद्धि कर रहे हैं । कहीं ताल है, कहीं हिन्ताल है । देवदारू, चील, कैल आदि नाना वृक्ष पृथिवी का रूप ही हरियाला बना रहे हैं । यह सब भगवान् ने बनाया है ।

सुवर्ण रेखाओं से भर-पूर द्यौ और सुनहरी साड़ी पहने वसुन्धरा के बीच में ही भगवान् ने बहुत भोजन रख दिया है । भोजन के लिये इधर उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है । सूर्य्य भी इन्हीं दोनों में विचरता है ।

वेद एक चोट कर गया है । मनुष्य को अहंकार है, वह नित्य नये नये आविष्कार करता है । इन आविष्कारों का पुरस्कार उसके लिये प्रतिदिन नवीन भोजन का प्रसार है । वेद कहता है तू कहां से लाता है ? भोजन तो भगवान देता है, क्योंकि

अधारयद्धरितोर्भूरि भोजनम् =

उस भगवान् ने द्यौ और पृथिवी में बहुत भोजन धारण कर रखा है ।

तू वहीं से लेता है । समस्त प्राणी अपना भोजन यहीं से ले रहे हैं । अर्थात् हे भोले ! जो वस्तु तुम्हें अनायास मिल सकती है । उसके लिये इतना प्रयास क्यों ? जिसने तुम्हें इस संसार में भेजा है, उसने तुम्हारे भोजन की व्यवस्था बहुत पहले से भूरि मात्रा में कर दी है । उसके लिये तू क्यों खप खप मरता है ।

भोजन की बात जाने दो, भोजननिर्माता तथा जीवनदाता सूर्य्य भी तो इन्हीं के बीच विचरता है । सूर्य्य के विचरने की बात गंभीर है । बहुत उच्च कर्त्तव्य की ओर संकेत है । पाजाओ, तो बहुत अच्छा है ।

सूर्य्य में भण्डार

ओ३म् । यो भोजनं च दयसे च वर्धनमार्द्रादा शुष्कं मधुमद् दुदोहिथ ।
स शेवधिं नि दधिषे विवस्वति विश्वस्यैक ईशिषे सास्युक्थ्यः ॥ ऋ० २।१३।६

(यः जो तू (भोजनम्) भोजन (च) और (वर्धनम्) वृद्धि (च) भी (दयसे) देता है और (आर्द्रात्) गीले से (मधुमत्) मधुर (शुष्कम्) शुष्क (आ+दुदोहिथ) बनाता है । वह तू (विवस्वति) सूर्य्य से (शेवधिम्) कल्याणमय निधि को, भण्डार को (नि+दधिषे) धारण करता है, तू (विश्वस्य) समस्त विश्व का (एकः) अकेला, अद्वितीय (ईशानः) स्वामी है (सः) ऐसा तू (उक्थ्यः) स्तुति योग्य (असि) है ।

भगवान् भोजन=भोग सामग्री देते हैं और साथ ही देते हैं उस के द्वारा वृद्धि । अर्थात् भोजन का प्रयोजन वर्धन है । यदि भोजन से शरीर का वर्धन न हो रहा हो; तो कुशल भिषक् कहता है, यह शरीर रुग्ण है, इसे खाया अङ्ग नहीं लग रहा । भोजन का फलस्वरूप शरीर वर्धन ही अन्न के अङ्ग लगने का प्रमाण है ।

भगवान् की कारीगरी देखो— कि उस ने

आर्द्रादा शुष्कं मधुमद् दुदोहिथ=गीले से मधुमय सूखा दोह डाला ।

दोहने पर दूध निकलता है, वह आर्द्र होता है । किन्तु भगवान् की कुशलता देखो, उस ने उलटा खेल किया है, गीले से सूखा दोहा है । कैसी अद्भुत लीला है ।

वेद वैज्ञानिक ग्रन्थ है इस में पदे पदे विज्ञान के निशान मिलते हैं । यह भी विज्ञान का एक सुन्दर सिद्धान्त है । पृथिवी के चारों ओर जल ही जल है । और पृथिवीतल—स्थल—पर—भी जल बहुल है । यह बता रहा है मानो पृथिवी—सूखी पृथिवी—जल से निकाली गई हो । सन्देह की बात ही नहीं । ऋषि कह गए हैं—

अद्भ्यः पृथिवी=जल से पृथिवी का निर्माण हुआ ।

पृथिवी के मिठास का परिमाण मनुष्य नहीं जान सकता ।

सूर्य्य को आग बरसाने वाला न समझो । इस मधुमई, भोजनभण्डार वरा धरा पर सूर्य्य से जीवन मिलता है । सूर्य्य के कारण वृष्टि होती है । वृक्ष गुल्मलताओं का फलना फूलना सूर्य्य पर अवलम्बित है । सूर्य्य की किरणों में अनेक गुण निहित हैं । इसी वास्ते वेद कहता है—

स शेवधिं निदधिषे विवस्वति=वह सूर्य्य में कल्याण-भण्डार धारण करता है ।

काकु से भोजन के मूल की ओर सङ्केत कर के वास्तविक भोजन—भजन—का 'सास्युक्थ्य' के द्वारा विधान कर दिया है । वह इस सूर्य्यादि का स्वामी अवश्य भजनीय है ।

भगवान् सब से विशाल

ओ३म् । प्राक्तुभ्य इन्द्रः प्रवृधो अहभ्यः प्रान्तरिक्षात्प्र समुद्रस्य धासेः ।

प्र वातस्य प्रथस. प्रज्मो अन्तात्प्र सिन्धुभ्यो रिरिचे प्र क्षितिभ्यः ॥ ऋ० १०।८६।११

(इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर (अक्तुभ्यः) रात्रियों से (प्र) बहुत (रिरिचे) अधिक है, विशाल है, और (वृध') विशालता के कारण (अहभ्यः) दिनो से (प्र) बहुत विशाल है (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (प्र) बहुत विशाल है (समुद्रस्य) समुद्र की (धासे.) धारणशक्ति से, विशालता से (प्र) बहुत अधिक विशाल है (वातस्य) वायु के (प्रथसः) फैलाव से (प्र) अधिक है (ज्मः) पथिवी के (अन्तात्) सिरे से (प्र) परे है (सिन्धुभ्यः) नदियों से, समुद्रों से, बहने वाले तरल Liquid पदार्थों से (प्र) परे है और (क्षितिभ्य) रहने के स्थानों से (प्र+रिरिचे) बहुत अधिक बढा हुआ है ।

माता जिस प्रकार अतीव स्नेह से बालक को सरलता से ज्ञान कराती है, उसी प्रकार वेदमाता भी अत्यन्त सरलता से बालक को बोध कराती है ।

काल बहुत विशाल है । काल की कलना कोई न कर सका । दिन रात में बटा हुआ भी काल अकलनीय ही रहता है । वेद कहता है—

कालो ह भूतं भव्यं च [अ० १६।५४।३ =काल ही भूत और भविष्यत् है ।

जब भूत भविष्य काल हैं । तो कौन कह सकता है कि भूत कितना है ? कौन कहने का साहस कर सकता है कि भविष्यत् कितना है ? वेद कहता है—

प्राक्तुभ्य' इन्द्र' प्र वृधो अहभ्य' =इन्द्र अपनी विशालता के कारण रात दिन से बड़ा है । काल की कलना की कल्पना करते विकलता छा जाती है तो जो काल से विशाल है, उस की कलना कल्पना कैसे हो ? वह काल से विशाल प्रभु अप्रतर्क्यपरिमाण अन्तरिक्ष मे भी विशाल है ।

त्वमस्य पारे रजसो व्योमन [ऋ० १।५२।१२]=
तू इस आकाश लोक से भी परे है अर्थात् आकाश का अवकाश भी तेरे सामने कुशकाश है
न यस्य द्यावा पृथिवी अनुव्यचो न सिन्धवो अन्तमानशुः ॥ [ऋ० १।५२।१४]

द्यौ पृथिवी और अन्तरिक्ष जिसकी व्यापकता=विशालता का अन्त नहीं पा सकते। वायु तो अन्तरिक्ष और पृथिवी के मध्य में बहुत थोड़ा स्थान लेता है, उसका पसारा कितना हो सकता है?

इस मन्त्र का एक भाव और भी है, वह यह कि भगवान् इन सब में रहता हुआ भी इन सब से अतिरिक्त है। रिक्त=परिक्त=अतिरिक्त एक पदार्थ के वाचक हैं। उद्दालक आरुणि के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने बहुत सुन्दरता से इसका विवरण किया है।

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, य पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवी-मन्तरो यमयति, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ (बृहदा० ३।७।३)

जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से भिन्न है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर सा है। जो पृथिवी को भीतर से नियमित करता है, वही तेरा अन्तर्यामी आत्मा अमृत है।

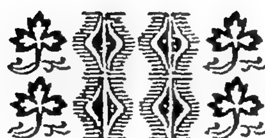
याज्ञवल्क्य जी ने अन्तर्यामी भगवान् को अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ, आदित्य, चन्द्रतारे, आकाश, तम (अन्धकार), तेज, सर्वभूत, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान (आत्मा) और रेत में रहता हुआ और उन सब से अलग बताया है। सब में रहता हुआ सब से न्यारा ये तभी हो सकता है, जब सब में रहकर बाहर भी हो। यजुर्वेद ४०।५ में कहा है—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत=तू (भगवान्) इस सब के भीतर भी है, और बाहर भी।

विशाल संसार की कल्पना मनुष्य की बुद्धि में नहीं आता, तो उससे महान् भगवान् के सम्बन्ध में क्या कहा। सामवेद के शब्दों में इतना ही कहना पर्याप्त है—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः=

यह सब भगवान् की महिमा=महत्त्व द्योतक है, भगवान इससे बहुत महान् है।



बनिये की कमाई चोर डाकू ने खाई

ओ३म् । समीं पणेरजति जोजनं मुषे वि दाशुषे भजति सूनरं वसु ।
दुर्गे चन ध्रियते विश्व आ पुरु जनो यो अस्य तविषीमचुक्रुधत् ॥ ऋ० ५।३४।७

(पणेः) धर्म्मकार्य्य में भी व्यापारबुद्धि रखने वाले बनिये के (भोजनम्) भोजन को (मुषे) चोरी के लिये, चोर के लिये (ईम्) ही (सम्+अजति) गति देता है । (दाशुषे) दानशील को (सूनरम्) उत्तम—नेतृत्वयुक्त (वसु) धन (वि+भगति) विशेष रूप से देता है । (यः) जो (जनः) जन (अस्य) इसकी (तविषीम्) शक्ति को (अचुक्रुधत्) बार बार और अतिशय क्रुद्ध करता है, वह (विश्वः) सारा जन (पुरु) बहुत बुरी तरह (दुर्गे)-दुर्ग, दुर्दशा में (चन) ही (आ+ध्रियते) सब ओर से धारा जाता है, मारा जाता है ।

भगवान् ने तुम्हें भोजन दिया है, उसे बाट कर खाओ । केवल अपना पेट भरना ही खाना नहीं है । वरन् खाने वाला तो वेद के शब्दों में वह है, जो अन्नाभिलाषी को अन्नादि दे । यथा—

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय (ऋ० १०।११७।३)=

वही भोज=खाने वाला है जो अन्नाभिलाषी, अन्नार्थ विचरने वाले दुबले पतले लेने वाले को देता है । वेद बहुत मार्मिक शब्दों में कहता है—

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् । द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम् (ऋ० १०।११७।५)

बलवान् मनुष्य याचक को तृप्त ही करे, और दीर्घ मार्ग को देखे ।

वेद लुका छिपा के कुछ नहीं कहता । सभी बातें खोल कर कहता है, उसने अति दीर्घ मार्ग का भी निर्देश कर दिया है—

ओहि वर्त्तंते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः (ऋ० १०।११७।५)

अरे धन रथ के पहिया के समान एक स दूसरे के पास जाते हुए वर्तते हैं ।

अर्थात् मत समझ कि धनसपत्ति सदा एक के पास रहती है । यह आसन बदलती रहती है । किसी दिन तुम पर भी ऐसे दिन आ सकते हैं । अतः पत्थर-दिल मत बनो ।

जो मनुष्य यह सोचता रहता है—इसे मैं क्यों अन्न दू, इससे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? वही पणि है । और पणि के भोजन की दशा इसी मन्त्र में बतला दी है—

समीं पणेरजति भोजनं मुषे=पणि=बनिये के भोजन की गति चोरी है ।

ऐसे मूर्ख की ताड़ना वेद बहुत कठोर शब्दों में करता है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य । ऋ० १०।११७।६=

वह मूढ व्यर्थ अन्न को प्राप्त करता है । सच कहता हूँ, वह तो उसका वध है ।

यह सर्वथा सत्य है । ऐसे बनिये का धन जब चोर डाकू लेने आयेगा, तो धन के साथ प्राण भी ले जायेगा । भगवान् की विधि देखो, भगवान् महादानी है । जो कजूस है, मानो भगवान् की शक्ति को कुपित कर रहा है । अतःएव वह **दुर्गे चन ध्रियते विश्व आ पुरु**=वह अत्यन्त सकट में पड़ता है । क्योंकि **अपृणन्मर्डितारं न विन्दते (ऋ० १०।११७।१)=**

अदाता सुखदाता को नहीं पाता । उसके सकट में कोई उसका साथ नहीं देता है ।

१७०

रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव

ओ३म् । रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ऋ. ६।४७।१८॥

(रूपरूपम्) प्रत्येक रूप के (प्रतिरूपः) अनुरूप हो रहा है (तत्) वह (रूपम्) रूप (अस्य) इसके (प्रतिचक्षणाय) प्रत्यक्ष दिखलाने के लिये है । (पुरुरूपः) बहुरूपिया (इन्द्रः) इन्द्र (मायाभिः) मायाओं से, बुद्धियों से (ईयते) जाना जाता है (हि) क्योंकि (शता+दश) हजारों (हरयः) हरि, सामर्थ्य (अस्य) इसके, इसमें (युक्ताः) युक्त हैं, लगी हैं ।

अमीवा की सूक्ष्म दशा से लेकर महाबुद्धिसपन्न मनुष्य के शरीर तक में आत्मा रहता है । अमीवा के देह में वह जैसी गति मति और चेष्टा करता है, पिपीलिका के देह में जाकर उसकी स्थिति और भासने लगती है । गज के विशालकाय म जाकर उसकी और ही माया प्रतीत होती है । मनुष्य की शान इन सबसे निराली है । जीव, स्वकर्म्मानुसार जिस शरीर में जाता है, वैसा ही बन जाता है—रूप रूप प्रतिरूपो वभूव=प्रत्येक रूप में उसी के अनुरूप हो जाता है ।

शरीरों के यह भिन्न भिन्न रूप आत्मा के कर्म्मों का फल होने से आत्मा के कहे जाते हैं । और अतएव—तदस्य रूप प्रतिचक्षणाय । उसका यह रूप आत्मा का प्रत्यक्ष कराने के लिये है ।

अनुमान करके ही सन्तुष्ट न हो जाओ, वरन् यत्न करके उस आत्मा को प्रत्यक्ष देखने का यत्न करो । इसी लिये औपनिषद महर्षि कहते हैं—इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयम् (बृहदा. ४।४।१६)=इस देह में रहते हुए ही हम उस तत्त्व को जान सकते हैं । भिन्न भिन्न देहों मे रहता हुआ आत्मा कैसे पहचाना जाये ? वेद कहता है—इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते=

पुरुरूप=बहुरूपिया इन्द्र=आत्मा मायाओं के द्वारा जाना जाता है ।

दर्शन, स्पर्शन आदि विविध चेष्टाए आत्मसत्ता का परिचय देती हैं । जड़ मे स्वत. चेष्टा हो नहीं सकती । विविध शरीरों मे यह जो नानाविध चेष्टा होरही है । यह बताती है कि कोई चेतन है । हर एक चेतनाधिष्ठित की इच्छा वासना भिन्न भिन्न होने से यह भी सिद्ध होता है कि सब मे पृथक् पृथक् चेतन आत्मा है । उपनिषत् में भी कहा है—

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलाय बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ।
स ईयते ऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंस ॥१२॥
स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुते वापि भयानि पश्यन् ॥१३॥ (बृहदा. ४।३)

अविनाशी आत्मा शरीर से निकल कर प्राणद्वारा सूक्ष्म शरीर की रक्षा करता हुआ वहां जाता है जहां इस एकहंस ज्योतिर्मय अविनाशी की कामना होती है । स्वप्न-दशा म जैसे ऊंच नीच दशा को प्राप्त हुआ बहुत से रूप बनाता है, कहीं स्त्रियों के साथ मोज मनाता है, कहीं खाता है और कहीं भयभीत होता है ।

हम भी भयभीत होकर बहुत नहीं बताते । वेद के शब्दों द्वारा इतना कहने मे कोई क्षति नहीं कि—युक्ता ह्यस्य हरयो शतादश=इसे भगा ले जाने वाली, बहका लेजाने वाली हजारों शक्तियां हैं । अत सावधान होजाओ ।

तुझे किसी दाम न त्यागूँ

ओ३म । महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।

न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ।।ऋ. ८।१।५।।

हे (अद्रिवः) सम्पूर्ण भोग सामग्री के प्रदान करने वाले भगवन् ! मैं (त्वाम्) तुझको (महे+शुल्काय चन) बहुत बड़े शुल्क के लिये भी (न+परा+देयाम्) न छोड़ूं । हे (वज्रिवः) वारकशक्तिसपन्न ! (शतामघ) अनन्त धन वाले । (न) न (शताय) सौ के बदले (न) न (सहस्राय) हजार के बदले और (न) न (अयुताय) दस हजार के बदले तुझे त्यागूं ।

जीव की विचित्र दशा है । एक ओर भगवान् है, और दूसरी ओर भोगभरा जहान है । भगवान् दीखता नहीं, भोगों सहित जहान सबके सामने है । ससार की साधारण नीति यही है कि वह अप्रत्यक्ष=परोक्ष के लिये प्रत्यक्ष का त्याग नहीं करते, वरन् प्रत्यक्ष के समक्ष परोक्ष को परोक्ष कर देते हैं । वह तो पहले ही से परोक्ष हो रहा है । यम ने नचिकेता को कहा था—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।२३।।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ।।२५।। (कठो. १)

सौ सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र पौत्र मागले, बहुत से पशु, सुवर्ण, हाथी, घोड़े, भूमि का विशाल ठिकाना और यावदिच्छ चिरजीवन माग ले । रथों समेत, बाजों गाजों वाली ये स्त्रिया हैं । साधारण मनुष्यों को ये नहीं मिल सकतीं । तुझे मैं ये सब देता हूं । इनसे अपनी सेवा शुश्रूषा करा किन्तु मृत्यु के पश्चात् की बातें न पूछ ।

यह मनोविज्ञान का पण्डित है, परोक्ष से हटा कर नचिकेता को प्रत्यक्ष से हटाना चाहता है । बेटे, पाते, हाथी, घोड़े, धनधान्य, नाचना, गाना आदि सभी प्रत्यक्ष हैं । इनमें एक भी परोक्ष नहीं है । यम कहता है, इनको ले ले, किन्तु परोक्ष बात, मरने के पीछे की बात मत पूछ ।

जो आस्तिक है, जिसे ज्ञात है कि भगवान् शतामघ है । वह कहता है—

त्वं विश्वा दधिषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि ।।ऋ. १०।५४।५।।=

तू उन समस्त सुखदायक धनों को धारण करता है जो प्रकट हैं और जो गुप्त हैं ।

जब सारे गुप्त प्रकट सुखदायक पदार्थ भगवान् में हैं । और भगवान् से बढकर कोई दाता भी नहीं, तो फिर क्यों न उसी एक का अवलम्बन किया जाये । इसी भाव से भक्त कहता है—

महे चन त्वामद्रिव परा शुल्काय देयाम् ।

बड़ी से बड़ी सम्पत्ति के लिए भी भगवान् का त्याग न करूं । अर्थात्—

माहं ब्रह्म निराकुर्याम्=मैं ब्रह्म का निराकरण न करूं

जो ब्रह्म का निराकरण करेगा- उस का अपना निराकरण हो जायेगा ।

समस्त ससार का ऐश्वर्य एक ओर, और ईश्वर एक ओर। ससार और उस का ऐश्वर्य क्षणभगुर हैं, किन्तु ईश्वर नित्य है। नित्य के बदले अनित्य कौन ले ? ये ऐश्वर्य आज हैं कल नहीं, किन्तु—

पुरुवसुर्हि मघवन्त्सनादसि (ऋ० ७।३२।२४=

अनन्त धन वाला भगवान् तो सदा से है।

भगवान् को लेने म उस का सनातन धन भी मिल जाएगा। केवल धन के मिलने मे भगवान् का मिलाप सशयास्पद ही रहता है। अत धन की अपेक्षा धन वाले को अपना बनाना कल्याणकारी है। समस्त ससार मिल जाए किन्तु यदि भगवान् न मिला, तो सब व्यर्थ है। यह सब संसार ससाराधार पर वार दो। किन्तु उसे न त्यागो।



तेरे श्रद्धालु को कौन दबा सकता है ?

ओ३म् कस्तमिन्द्र त्वावसुमा मर्त्यो दधर्षति ।

श्रद्धा इत्ते मघवन्पार्य्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ॥ ऋ० ७।३२।१४

हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वावसुम्) तू है धन जिस का ऐसे (तम्) उस को (कः) कौन (मर्त्यः) मनुष्य (आ + दधर्षति) दबा सकता है। हे (मघवन्) पूजित धनवनः भगवन् ! यह (ते) तेरे (पार्य्ये पार उतारने वाले (दिवि) ज्ञान प्रकाश पर (श्रद्धा) श्रद्धा (इत्) ही है कि (वाजी) ज्ञानी (वाजम्) ज्ञान, अन्न बल (सिषासति) बाटना चाहता है ।

धनी अल्पधन या निर्धन को दबाता है। धनमद बड़ा भयङ्कर है। राज्य शक्ति भी धन बल पर अवलम्बित है। अतः धन में बडा बल है, बल के कारण उन्माद हो जाना अस्वाभाविक नहीं। बलोन्माद में आ कर मनुष्य अपने हीनों का तिरस्कार कर बैठता है। किन्तु जिस का धन भगवान् हो, उस का तिरस्कार कोई कैसे करे ? भगवान् तो सब से बलवान् है। सब से महान् बलवान् जिस का धन आ बना हो, किस को निर्धन ने निमन्त्रण दिया है, जो उस के तिरस्कार करने का विचार भी करे।

भगवान् की तारक शक्ति पर भरोसा रख कर ज्ञानी मनुष्य दानी बन गया है। भगवान् का भरोसा रख कर कहता है—

तव प्रणीती हर्यश्व सूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता (ऋ० ७।३२।१५)

हे भगवन् तेरे नेतृत्व में हम सम्पूर्ण दुरितों दुरवस्थाओं को पार कर जायेंगे ।

अतः सासारिक सुखों की प्राप्ति तथा ससार-सागर से पार उतरने के लिए उस का सहारा लेना चाहिए। सारे उसी का आश्रय चाहते हैं।

तवाय विश्वः पुरुहूत पार्थिवोऽवस्युर्नाम भिक्षते ॥ (ऋ० ७।३२।१७)

हे महती कीर्त्ति वाले ! यह सारा ससार रक्षा की इच्छा से तेरे नाम की भिक्षा मागता है। तेरा नाम मिल जाय तो और क्या ? सारा ससार जिस को मागता हो, सम्पूर्ण विश्व जिस के द्वार का भिखारी हो, वह जिस का धन हो, वह किसी से डरे तो क्यों डरे ? मानो, भगवान् के भिखारी को भगवान् से मागने के लिए जाना तो भगवान् के भक्त के पास ही होगा। दाता वाला भिखारी से क्यों दबे, क्यों डरे ? महात्माओं के योगियों के ओज का, तेज का कारण स्पष्ट है। जो अदम्य ओजस्वी, प्रचण्ड, तेजस्वी बनना चाहे, वह भगवान् को अपनाये, भगवान् को अपना धन बनाये।



कहां भगवान्? किसने उसे देखा?

ओ३म्। प्र सु स्तोम भरत वाजयन्तः इन्द्राय सत्य यदि सत्यमस्ति।

नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभिष्टवाम ॥ ऋ० ८।१००।३

ओ३म्। अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना।

ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥ ८।१००।४

(यदि) यदि (सत्यम्) सचमुच (अस्ति) भगवान है तो (वाजयन्तः) ज्ञानाभिलाषी, बलाभिलाषी होते हुए तुम उस (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (सत्यम्) सच्चा (स्तोमम) स्तोत्र (प्र) अत्यन्त (सु) उत्तमरीति से (भरत) धारण करो। (नेमः+त्वः+उ+आह) कोई एक तो कहता है—'(इन्द्रः) इन्द्र (न+अस्ति+इति) नहीं है। (ईम) उसको (कः) किसने (ददर्श) देखा है (कम्) किस की (अभि+स्तवाम) हम स्तुति करें।

भगवान् इसका समाधान करते हैं—हे (जरितः) स्तोत। (अयम+अस्मि) यह मैं हूँ, (मा) मुझे (इह) यहीं (पश्य) देख। मैं (मह्ना) महत्त्व के कारण (विश्वा) सम्पूर्ण (जातानि) उत्पन्न पदार्थों को (अभि+अस्मि) अभिभूत करता हू। (ऋतस्य) ऋत के (प्रदिशः) उपदेशक (मे) मेरी (वर्धयन्ति) बड़ाई करते हैं। मैं (आदर्दिरः) विदीर्ण करने वाला, विनाश करने वाला (भुवना) समारों को (दर्दरीमि) पुनः पुनः विनाश करता हू।

यदि तुम्हें भगवान् पर आस्था है, तो उसकी सच्ची, हृदय के अन्तस्तल से निकली हुई स्तुति करो। तुम्हारी स्तुति से भगवान् को कोई लाभ नहीं, तुम्हें ही लाभ है। किन्तु किसी ने सशय डाल दिया कि क्या परमेश्वर परमेश्वर चिल्ला रहे हो, वह है ही नहीं। जब वह है ही नहीं तो

सकभिष्टवाम्=किसकी स्तुति करें।

उसे को ददर्श=किसने देखा है।

लाखों इन्द्रियागोचर पदार्थों को मान कर दिन रात अपना कार्य चलाने वाला कहता है!

को ददर्श कमभिष्टवाम=उसे किसने देखा है? किसकी स्तुति करें?

योग के विघ्नों में 'सशय' बड़ा भारी विघ्न है। जैसा कि योगसूत्र है—

व्याधिस्त्यानसशय . . . (१।) व्याधि=रोग, स्त्यान=मानसिक, सशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति=योगसाधनों में प्रीति का न होना, भ्रान्तिदर्शन, योगभूमिका प्राप्त न होना, चित्त की चञ्चलता ये योग के विघ्न हैं। सशय में पड़ कर अपनी पूजापद्धति को तिलाजलि देने को भक्त तय्यार हुआ कि आत्मा के अन्दर बैठा आत्मा का आत्मा, अन्तरात्मा परमात्मा कहता है—

अयमस्मि जरितः=भक्त। यह मैं हूँ।

तू मुझे खोजता है, देख नहीं पाता है। मत इधर उधर भटक। वरन्

पश्यमेह्=मुझे यहीं देख।

अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। मैं तो तेरा अन्तर्यामी आत्मा हूं। तेरे आत्मा के अन्दर बैठा हूँ। बाहर की ओर से आख मूंद, अन्दर की खोल। फिर तू मुझे अपने मे देखेगा। मेरा सामर्थ्य जानना चाहता है। मैंने

विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना=अपने बलसामर्थ्य से समस्त ससार को दबा रखा है।

समस्त जगत मेरे सकेत पर चलता है। तू चाहे मेरी पूजा कर या न कर किन्तु

ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्ति=ऋतके=अबाध्य सृष्टिनियम के उपदेशक मेरी बड़ाई करते हैं।

मूर्ख भले ही भगवान् का चिन्तन स्मरण ध्यान न करें, किन्तु जो कार्य्य कारण रूप ऋत के प्रचारक हैं, वे देखते हैं कि कारण के विना कार्य नहीं हो सकता। कारणों में यदि कर्त्ता न हो, तो कार्य्य की उत्पत्ति किसी भाति नहीं हो सकती। छोटा सा पदार्थ चेतन के विना नहीं बन सकता तो इतना महान् जहान् चेतनवान् के विना कैसे बन सकता है। इस ऋत को समझ कर वे तो भगवान् की पूजा करते हैं और लोगों से भी कहते हैं—

प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत (ऋ.८।८९।३)=तुम अपने बडे इन्द्र की वेद से पूजा करो।

भगवान् की शक्ति—उत्पादक शक्ति—प्रत्यक्ष नहीं है। उसका अनुमान से ज्ञान होता है। पालनी शक्ति भी व्यक्त नहीं है। उसका भान भी अनुमान प्रमाण कराता है। विनाश जब देखते हैं तो चुपचाप किसी महती शक्ति की भक्ति करने पर तत्पर हो जाते हैं।

भगवान् का आदेश है—

आदर्दिरो भुवना दर्दरीमि—मैं प्रलयङ्कर बार बार ससार का सहार करता हूं।

सहार देख कर डर कर यदि सहारक के पास मनुष्य जायेगा, तो उसे पालक के रूप मे पायेगा। लौकिक सहारक और उसमें यह महान् अन्तर है। लौकिक सहारक सहार ही करने पर तत्पर है। जलप्लावन के कारण ग्राम नगर डूब रहे हैं। उसके पास कोई जाये तो वह उसे भी बहा ले जाए। किसी कारण जगल में आग लग गई है। उसमें जो जायेगा, जल जायेगा, जलेगा यदि नहीं तो झुलस अवश्य जायेगा। संसार सहारक भगवान् के पास जाने पर उसका प्यार पाएगा। सहार को प्यार मे परिवर्त्तित पायेगा। उस का सहार निर्माण के लिये है।

१७४

तेरे नाम को कहता (जपता) हूं

ओ३म् । न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान् ।
सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि ॥ ऋ० ७।२२।५

(ते) तेरी (गिरः) वाणियों को (अपि) भी (न) नहीं (मृष्ये) मसलता हू तिरस्कृत करता हूँ और (विद्वान्) जान बूझकर (तुरस्य) शीघ्रकारी (असुर्यस्य) तुझ जीवनाधार की (सु+स्तुतिम्) उत्तम स्तुति को भी नहीं छोड़ता हूं, वरन् (सदा) सदा (ते) तेरे (स्वयशः) अपने यश वाले अपूर्वकीर्त्तिशाली (नाम) नाम को (वि+वक्मि) विशेष रूप से कहता हूं, जपता हूं ।

प्रभो ! मैं सच कहता हू । मुझे तुझसे बड़ी प्रीति है । मैं माता पिता बन्धु बान्धव पुत्र मित्र कलत्रादि की बात तो अनेक बार टाल देता हूं, सुनी अनसुनी कर देता हूं । किन्तु तेरी वाणी सुनने को तो लालायित रहता हू । तेरी बात सुनने को मेरा मन सदा तत्पर रहता है, तेरी बात सुनने, जानने को उसमे प्रबल तरङ्गें उठा करती हैं । मेरे कान सदा सावधान रहते हैं । प्रभो । पितः ! गुरो ! तेरे वचन सुनने का सौभाग्य मैं क्यों हाथ से जाने देने लगा ? मेरे आत्मा के आत्मन् ! अन्तरात्मन् परमात्मन् ! तुझ से क्या कहूं ? तुझ से छिपा ही क्या है ? तू तो सब कुछ जानता है । मैं तो इतना कह सकता हू—

न ते गिरो अपि मृष्ये=तेरी वाणियों का मैं तिरस्कार न करूँगा ।

उन्हें प्यार करूगा । उनका भरपूर सत्कार करूंगा । नाथ । उनके अनुसार विचार करूंगा, उनके अनुसार आचार- व्यवहार करूगा, उनका और उनके अनुसार प्रचार करूंगा ।

नाथाधिनाथ । मैं समझ चुका हूं तू अत्यन्त शीघ्रकारी है, पल में प्रलय करदे सकता है । जगत् का जीवन तुझ पर ही अवलम्बित है । किसमें सामर्थ्य है कि तेरे गुणगण की गणना कर सके । अगणित और अगण्य तेरे गुण, और मैं नगण्य करूं गणना । प्रभो । मुझ में यह सामर्थ्य कहां ? तो भी तेरी स्तुति मैं करता ही हू । वही की तू पालनहार है, सिरजनहार है ।

हो सकता है प्रभो, अज्ञान के कारण, प्रमाद के वश, तेरे आदेश को न सुनूं, या सुनकर न समझूं । सभव है तेरे स्तवन में स्खलन हो जाता हो । हूं तो अन्तत अल्पज्ञ ही । अल्पज्ञता मे अनेक बाधायें आती हैं । इसके कारण मे अनेक बार ठोकर खा चुका । जाने, अभी कितनी बार इसके हाथों और मार खाता हूं । इससे बचने के लिये मैं तेरा आदेश सुनने को उत्सुक रहता हूं अत

सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि=सदा तेरा अनुपम कीर्त्तिशाली नाम कहता रहता हूं ।

मैं तो निपट अज्ञान हूं । तेरी महिमा क्या जान पाऊं, किन्तु

मनीषी हवते त्वामित् (ऋ० ७।२२।६=महाबुद्धिमान् भी तुझे ही पुकारता है ।

अत भगवान्

श्रुधी हवं विपिपानस्य (ऋ० ७।२२।४)

अत्यन्त प्याने की पुकार सुन ।

तू न सुनेगा, तो नाथ कौन सुनेगा । सुन या न सुन, मैं तो

सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि=सदा तेरा अनुपम कीर्त्तिशाली नाम जपता रहता हूं ।

सामूहिक पूजा विधान

ओ३म् । सहस्र साकमर्चत परिष्टोभत विंशतिः ।
शतैनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ऋ० १।८०।९

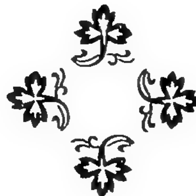
(सहस्रम्) हजारों (साकम्) इकट्ठे, एक साथ (अर्चत) पूजा करो, (विंशतिः) बीसियों एकत्र होकर (परि-स्तोभत) चारों ओर स्तुतिगान करो। और (ब्रह्मोद्यतम्) ब्रह्मचर्चायुक्त (स्वराज्यम्) स्वराज्य का (अनु+अर्चन्) योग्य सत्कार करते हुए (शता) सैंकड़ों (इन्द्राय) ऐश्वर्य्य के लिये (एनम्) इसको (अनोनवु.) प्रणाम करते हैं ।

पूजा दो प्रकार की होती है—एक वैयक्तिक, दूसरी सामूहिक=वैयक्तिक पूजा एकान्य स्थान में होती है। सब चिन्तायें हटाकर प्रातः साय भगवान् की आराधना करना, उसके आगे निष्कपट भाव से अपनी दुर्बलतायें, त्रुटिया कहना, उससे उनके अपाकरण के लिये बल मागना, प्राणायाम, धारणा, ध्यान समाधि का अनुष्ठान, ईश्वरप्रणिधान आदि सब वैयक्तिक पूजायें हैं। वैयक्तिक पूजा से पूजा करने वाले व्यक्ति का सस्कार होता है, उसके मन और आत्मा का परिष्कार होता है । इस प्रकार से सस्कृत तथा परिष्कृत मनुष्य समाज- सेवा के लिये तय्यार होता है ।

जिस प्रकार व्यक्ति के सस्कार तथा परिष्कार के लिये वैयक्तिक पूजा—स्तुति प्रार्थना उपानसा—अर्चना की आवश्कता है, वैसे ही समाज के उद्धार के लिये, समाज के सुधार के लिये सामूहिक प्रार्थना-पूजा अनिवार्य्य है। सामूहिक पूजा से समूह मे बल आता है। सारे समाज का मनएक करने का, विचार आचार एक करने का यह सर्वोत्कृष्ट साधन है ।

जैसे एक व्यक्ति-आस्तिक श्रद्धायुक्त व्यक्ति-पूजा के समय साफ़ सुथरे उज्वल वस्त्र पहनता है, उसी भाति सामूहिक पूजा के समय सब के वस्त्र उजले हों, साफ़ सुथरे और धुले हों । सब के मन में उमग हो। सब एक स्वर होकर जब ससार में आन्दोलन उठाते हैं, तो कुठार-कठोर सरकार भी मान जाती है। यदि हजारों एक मन से, एक स्वर से करुणावरुणालय के आगे अपना मनोभाव रखेंगे, तो वह अवश्य उसे पूरा करेगा। उसका तो स्वभाव ही है अपने भक्तों की कमनीय कामनाओं को सतत पूरा करना। अतः वह स्वय आदेश करता है—

सहस्र साकमर्चत=हजारों इकट्ठे मिलकर पूजा करो।।
इससे स्वराज्य-ब्रह्मोद्यत स्वराज्य-का सत्कार होगा ।



१७६

सोमवालो ! हिंसा मत करो

ओ३म् । मा स्रेधत सोमिनो दक्षता महे कृणुध्वं राय आ तुजे ।
तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति न देवासः कवत्नवे ॥ ऋ० ७।३२।६

हे (सोमिन.) सोम वालो। (मा) मत (स्रेधत) हिंसा करो । (महे) महत्त्व के लिए (दक्षत) उत्साहित होओ । (आतुजे) सर्वविध बल के लिये (राये) धन के लिये (कृणुध्वम्) उद्योग करो। क्योंकि (तरणिः) विपत्तियो को पार करने वाला, रक्षक ही (जयति) जीतता है और (क्षेति) वास करता और (पुष्यत्ति) पुष्ट होता है । (देवः) विद्वान् लोग अथवा प्राकृति शक्तिया (कवत्नवे) कुत्सित आचार व्यवहार के लिये (न) नहीं होते ।

यद्यपि वेद में राजा के कर्त्तव्यों में अन्यायी, आततायी अत्याचारी मनुष्यों को मृत्युदण्ड देने तक का विधान है, तथापि अहिंसा वेद का एक प्रधान विषय है । 'मा स्रेधत' [=मत हिंसा करो] यह स्पष्ट आदेश है । उत्तरार्ध में इसका हेतु दिया है—

तरणिरिज्जयति=रक्षक ही जीतता है। मनुष्य विजय पाने के लिये हिंसा करता हैं, मारकाट करता है किन्तु उससे उसे अक्षय विजय आज तक नहीं मिला। इतिहास में उन महापुरुषों के नाम आदर सत्कार से स्मरण किये जाते है जिन्होंने प्राणियों की रक्षा की, रक्षा का उपदेश किया । उनके नाम लोगों की जिह्वा और हृदय मे रहते हैं। मारकाट करने वालों के नाम इतिहास के पन्नों में भले ही अकित हों, किन्तु लोगों की दिल की दीवाल पर उन्हें कोई न लिख सका। ससार कसाई का आदर नहीं करता, वरन् उस भक्त का आदर करता है जो प्रातः घर से निकर कर मूक प्राणियों को अन्न देने जाता है । हिंसा से महत्त्व नहीं मिलता । तुम दक्षता महे महत्त्व के लिसे उत्साह करो । तुम अपने उत्साह को मारकाट में व्यय न करो, वरन् इस उत्साह के द्वारा महत्त्व प्राप्त करो । सामान्य ससार शरीर को ही सब कुछ समझता है । शरीर के सुख देने वाले उपकरणों में धन प्रधान है अत. कृणुध्व राय आतुजे=धन और सर्वविध बल की प्राप्ति के लिये उद्योग करो। उद्योगेनैव सिद्धयन्ति कार्य्याणि न मनोरथै उद्योग से ही कार्य्य सिद्ध होते हैं न कि केवल मनोरथों से । आज तक मनोरथ-लड्डुओं से किसी का पेट भरना तो दूर रहा जीभ भी मिठी नहीं हुई। अतः उद्योग करो । उद्योग का फल धन और बल होना चाहिये, उसका परिणाम महत्त्व होना चहिये।वह लोकरक्षा से प्राप्त होगा । अर्थात् अपने धन, तन को जनरजन में लगा दो। तरणिरित्सिषासति वाजं पुरंध्या युजा (ऋ० ७।३२।२०)=रक्षक ही विशाल बुद्धियोग के कारण ज्ञान और बल का दान करना चाहता है। उसे ज्ञात है कि दान से इसका नास नहीं होता । अत. तरणि जहा विजय प्राप्त करता है, वहीं साथ ही क्षेति पुष्यति=रहता और फलता फूलता भी वही है । विजय के साथ समृद्धि, फलना फूलना तो अनुषङ्गिक है हिंसा को निन्दित मान कर वेद कहता है न देवा. कवत्नवे=देव कुत्सित आचार व्यवहार के लिये नहीं। अर्थात हिंसादि कुकर्म्म करने वाले को दैवी सपत्ति नहीं मिल सकती।

महान् ने महान् जहान् बनाया

ओ३म् । य. पुष्पिणीश्च प्रस्वश्च धर्मणाधि दाने व्यवनीरधारयः ।
यश्चासमा अजनो दिद्युतो दिव उरुरूर्वा अभितः सास्युकथ्यः ॥ ऋ० २।१३।७

(यः) जिसने (धर्म्मणा) अपनी धारक शक्ति से (पुष्पिणी.) फूल वाली (च) तथा (प्रस्वः) उत्तम फलों वाली (च) भी (अवनीः) भूमिया (दाने) देने के निमित्त (अधि-वि-अधारयः) अधिकार पूर्वक विशेष रूप से बनाई हैं (च) और (यः) जिस (उरुः) महान् ने (दिवः) द्यौः, आदिम् प्रकाशमय पिंड, हिरण्यगर्भ से (असमा) विषम, अनुपम (दिद्युत.] चमकने वाले (ऊर्वान्) महान् से महान् जहानों को (अभितः) सब ओर (अजनः बनाया) है (स.) ऐसा तू (उक्थ्यः) प्रशसनीय (असि) है ।

प्रश्न होता है किसी की स्तुति प्रार्थना उपासना क्यों करें ? सब के मन में उठने वाले इस प्रश्न का इस मन्त्रमें समाधान सा है ।

ससार में कार्य्यकारण का अबाध्य नियम कार्य्य करता दीख रहा है । छोटी सी सूई को भी कर्त्ता के बिना बना हुआ मानने को कोई तय्यार नहीं होता । किन्तु इस संसार के लिए उसे किसी कर्त्ता की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । वेद अपनी भावुक मोहक शैली से समझाता हुआ कहता है । देख, भोले मनुष्य । देख । सावधानता से देख ! इस रग बिरंगी भूमि को देख । कहीं बेल बूटे हैं । कहीं फूलों की क्यारियां लगी हैं, कहीं फलदार वृक्ष झूम रहे हैं । इन सब को किसने बनाया ?

खेत में किसान ने लगाया किन्तु वन में किसने सजाया ? किसान ने भी वन देख कर ही खेत बनाया था । फिर देख, इस भूमि को भी तो कोई धारण कर रहा है । वन, पर्वत सभी भूमि पर हैं किन्तु भूमि किस पर है ? भूमि को कौन धार रहा है ?

अच्छा । और देख, आकाश की ओर दृष्टि डाल । ये जो झिलमिल करते दीख रहे हैं, इन्हें किसने उत्पन्न किया । कोई बड़ा है, कोई छोटा है । ज्योतिषी बतलाते हैं, ये झिलमिल करने वाले इतने छोटे नहीं हैं जितने दीखते हैं । इनमें कोई कोई तो इतना बड़ा है जिस में पच्चास लाख सूर्य्य समा जाये । सूर्य्य भी छोटा नहीं है । वही खोजी कहते हैं, हमारी इस विशाल भूमि ससागरा धरा जैसी तेरह लाख भूमिया सूर्य्य में समा सकती हैं । अरे ! इतने विशाल तेजःपुंजों को किसने उत्पन्न किया ?

जिसने इतने महान् दीप्तिमान् बनाये, वह अवश्य महान् है । कारण-कार्य्य के नियम का अपलाप किया नहीं जा सकता । कर्त्ता के विना ससार मे कोई वस्तु बनती नहीं, तो इतने महान् पदार्थों का बनाने वाला अवश्य होना चाहिये । इतने महान पदार्थों को बनाने तथा पालने के लिये अवश्य महती शक्ति चाहिये । अतः शक्ति की कामना वाले उसकी पूजा करें, अर्चा करें ।

वेद कहता है—

सास्युकथ्यः=वही तू पूज्य है ।

उसने सभी ओर रचना की है । अर्थात् सभी ओर वह है । जिधर चाहो उधर ही उसे पाओ ।

१७८

कैसा सोम कूटें

ओ३म् । न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न वोचाम मा सुनोतेति सोमम् ।
यो मे पृणाद्यो ददद्यो निबोधाद्यो मा सुन्वन्तमुप गोभिरायत ॥ऋ. ७।२०।७

(न) न (मा) मुझको (तमन्) तमकाता है (न) न (श्रमत्) थकाता है (उत) और (न) न (तन्द्रत्) अलसाता है, अतः हम (न) नहीं कहते कि (सोमम्) सोम को (मा) मत (सुनोत+इति) कूटो। (यः) जो (मे) मुझे (पृणात्) तृप्त करता है (यः) जो मुझे (ददत्) देता है (यः) जो (निबोधात्) जगाता है, सावधान करता है (यः) जो (मा) मुझ (सुन्वन्तम्+उप) सोम कूटने वाले के पास (गोभिः) गौओं के साथ (आयत्) प्राप्त होता है।

सोमपान कर ले।

न।

क्यों ?

न मा तमत्=मुझे तमकाता नहीं, मुझ में तेजी नहीं लाता। कहते हैं, सोमपान में तमक आती है, मुझ में नहीं आती। अतः मैं न पिऊंगा।

पी ले। सोमरस निष्पादन में बड़ा परिश्रम हुआ है।

न श्रमत्=मुझे तो नहीं थकाया।

पीले, मस्ती देता है।

नोत तन्द्रत्=मुझे मस्ती तो क्या, तन्द्रा भी नहीं देता। मेरा देह तो जरा भी नहीं अलसाया।

तो फिर क्या सोमरस न निकाला करें ?

न वोचाम मा सुनोतेति सोमम्

हम यह भी नहीं कहते कि सोमरस न निकालो। तुम्हें सुख देता है तुम रस निकालो, पिओ।

तुम कुछ करोगे या नहीं ?

यो मे पृणात्=जो मुझे तृप्त करदे, उसकी मुझे चाह है।

सोमरस तृप्त तो करता है

किन्तु **यो ददत्** जो मुझे कुछ दे भी।

मस्ती देगा।

यो निबोधात्=जो मुझे जगाये। प्रमाद आलस्य के वश हुआ उन्मत्त तो मैं पहले ही बहुत हूँ मुझे तो कोई जगाये। सोने से मैं ऊब गया।

फिर तुम क्या करना चाहते हो ?

मैं भी सोम कूटूंगा। सोमरस तय्यार करूंगा।

क्यों ? कैसा ?

यो मा सुन्वन्तमुप गोभिरायत्=मैं सोम कूटूं, और वह मेरे पास गौएं लेकर आये।

यह क्या कह रहे हो ?

रूप दोहने वाली, शब्दक्षीर देने वाली, स्पर्श स्वाद देने वाली, सुगन्धित क्षीर देने वाली गौएं चाहियें।

बस। इतना ही। तो तुम कायाकल्प करना चाहते हो। सोमलता से यह हो सकता है।

यह तो कूटने, रस निकालने पीने के पश्चात् होगा। मुझे तो सोम कूटते समय ही मिलना चाहिये। कहो पहचाना, मेरा सोम। मेरा सोम जगाता है, तुम्हारा सुलाता है। तुम्हारा सोम कायाकल्प करता है, मेरा बुद्धि कायाकल्प=बुद्धि की नवीनता करता है।

तो फिर हम सोम कूटना बन्द कर दें।

न भाई, **नवोचाम** हम ऐसा नहीं कहते।

क्यों ?

महाँ असुन्वतो वधः (ऋ. ८।६२।१२)

सोम न कूटने वाले को महाहत्या लगती है।

और ?

भूरि ज्योतींषि सुन्वतः (ऋ. ८।६२।१२)

सोम निष्पादन करने को महान् प्रकाश मिलते हैं। मुझे प्रकाश चाहिये।

तू तो गौएं माग रहा था, अब प्रकाश की कामना करने लगा।

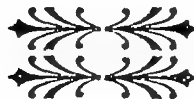
गौ और ज्योति एक है।

कैसे ?

वेद ने ही बतलाया--

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवाम् (ऋ. १०।४४।१०)

गौओं के द्वारा दुर्गति और अकर्मण्यता को तर जायें। यह काम तेरी गौ से न होगा, मेरी ज्ञान-गौ, प्रकाश गौ ही पार उतारेगी। वही दुर्गति की, अमति=नास्तिकता की दुर्दशा दिखलायेगी, और उस से भगायेगी।



मेरी बुद्धि कर्मशील हो

ओ३म्। किमङ्ग त्वा मघवन्भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वाशृणोमि।

अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥ऋ. १०।४२।३

हे (अङ्ग) प्यारे। लोग (त्वा) तुझे (किम्) क्यों (भोजम्) सब को भोजन देने वाला (आहुः) कहते हैं। (मा) मुझ को (शिशीहि) शीघ्रतायुक्त कर। मैं (त्वा) तुझ को (शिशयम्) शीघ्रकारी (शृणोमि) सुनता हूं। (मम) मेरी (धी) बुद्धि (अप्नस्वती) कर्मशीला हो। हे (शक्र) शक्तिमन्! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्। (वसुविदम) धन प्राप्त कराने वाला (भगन्) भाग्य (नः) हमें (आ+भर) दे।

प्रभो! समस्त आस्तिक तुझे पालक कहते हैं? क्यों वे ऐसा कहते हैं? मैं तो भूखा मर रहा हूँ। तू किसकी पालना करता है? सब की पालना करता है। तो मुझे क्यों नहीं पालता? मुझे क्या भूखा मरने दे रहा है? तुझे मुझ पर दया क्यों नहीं आती?

प्रभो! शिशयं त्वा शृणोमि मैं तुझे शीघ्रकारी सुनता हूँ। किन्तु मैं तो आलसी हूँ। दीर्घसूत्री हूं। तुझे पल में प्रलय करना आता। मुझे युग बीत जाते हैं। तेरे धाम से जब से वापस आया, जाने कितने युग बीते कितने कल्प गये, किन्तु मैं वापस न आ सका। ज्ञात नहीं, उस सड़क पर भी पड़ा हूं या नहीं। दयालो! शिशीहि मा=मुझे तेज कर दे। तू शीघ्रकारी है, शीघ्रकारिता तुझ से ही मागूंगा और किसी से क्यों मागूं?

तू ने मुझे बुद्धि दी। मैं उससे कुछ कर न पाया। अब उससे करना चाहता हूँ। अत

अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र=

शक्तिमन् भगवन्! आशुकारिन्! शीघ्रता कीजिये। मेरी बुद्धि को कर्म्म से युक्त कीजिये। सुनता हूं, तुझे कर्म्म प्यारे हैं। अत: मेरी बुद्धि में कर्मण्यता आवे। किन्तु कर्म्म विकर्म्म का बोध तू ही करायेगा, तो कुछ बनेगा। मैं कहीं विकर्म्म ही न कर दूं। उलटा कर्म्म करके तेरे कोप का, तेरी उपेक्षा का भाजन न बनूं।

भगवन! तू धनवान् है। मुझे धन चाहिये, किन्तु तू ने

धन न स्पन्द्रं बहुलम (१०।४२।४)=[अत्यन्त चञ्चल धन की भांति] कह कर मुझे धन से डरा दिया है।

परन्तु फिर भी धन की चाह नहीं मिटा। अत. भगवन! मघवन!

वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः=धन दिलाने वाला भग=भाग्य हमें दे।

मुझ अकेले को नहीं, सब को। प्रभो, तू भक्तों का कल्याणकारी है अत

कृधि धियं जरित्रे वाजरत्नाम (ऋ. १०।४२।७)=

भक्त के प्रति वाजरत्ना=ज्ञानधन मन बना। भक्त को तू ज्ञान धन दे। हम सब को यही धन चाहिये। दे धनी! दे। देकर भी तेरा निधि भरा ही रहना है। अतः दे।

भगवान् के प्यारे

ओ३म् । न तं जिनन्ति बहवो न दभ्रा उर्वस्मा अदितिः शर्म यसत् ।

प्रियः सुकृत्प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी ॥ऋ. ४।२५।५

(न) न (तम्) उसको (बहवः) बहुत लोग (जिनन्ति) हानि पहुँचा सकते और (न) न (दभ्राः) थोडे । (अदितिः) अदिति माता (अस्मै) इसको (उरु) बड़ा (शर्म) ठिकाना (यसत्) देती है । (सुकृत्) सुकर्म्म करने वाला (इन्द्रे) भगवान् के प्रति (प्रियः) प्यारा होता है (मनायु॰) मननशील, विचारवान् (प्रियः) प्यारा होता है (सुप्रावीः) उत्तम रीति से रक्षा करने वाला (प्रिय॰) प्यारा होता है और (सोमी) सोम वाला (अस्य) इसका (प्रियः) प्यारा होता है ।

इस मन्त्र में भगवान् के प्यारों के कुछ चिह्न बताये हैं जो बहुत ही मनन करने योग्य हैं । वे चिह्न ये हैं—

१ सुकृत्=उत्तम कर्म्म करने वाला । भगवान् स्वय **स्वपाः**=सुकर्म्मा है । **समानशीलव्यसनेषु सख्यम्**=जिन पर एक सी विपत्ति हो अथवा जिनका शील एक सा हो, उनमें परस्पर सखित्व=मैत्री हो सकती है । जब भगवान् स्वय **स्वपाः**=सुकर्म्मा है, तो उसकी अकर्म्मा=निठल्ले या दुष्कर्म्मा से प्रीति कैसे हो सकती है ? दुष्कृतों की भगवान् से मैत्री हो नहीं सकती । भगवान् की मैत्री के लिये ऋतगामी होना चाहिये और

ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः (ऋ. १०।७३।६)=दुष्कम्मकारी लोग ऋत के मार्ग पर नहीं चलते ।

ऋत पर चलना सुकर्म्म है । अतः सुकर्म्मा भगवान् का प्यारा होता है ।

मनुष्य भगवान् से प्यार करता है ताकि वह उसे प्यार करे । वेद रीति बता रहा है जिस से वह भगवान् का प्यारा बन जाये, और भगवान् उससे प्यार करने लग जाये ।

२. मनायु—भगवान् का निरन्तर मनन करता हो । मन्द मूढमति भगवान् का प्यारा नहीं हो सकता । उसे प्रीति की रीति का प्रतीति ही नहीं आती । वह क्या जाने प्रेम-पन्थ ?

मनन श्रवण के पश्चात् ही हो सकता है मनन श्रवण के बिना हो ही नहीं सकता । श्रवण के विना किसका मनन करेगा ? भगवान् की कीर्त्ति सुन कर मनन करने से आचरण की, धारणा की प्रेरणा होती है । तात्पर्य्य यह की मनायु होने के लिये शुश्रूषु होना अनिवार्य्य है । भगवान् के गुणगण सदा सुनना, सुन कर मनन करना अर्थात् उनका अपने जीवन मे कैसा उपयोग करना होता है, उसके पश्चात् धारण= निदीध्यासन होता है ।

अर्थात् भगवान् का प्रीतिपात्र बनने के लिये मनुष्य को श्रवण मनन निदिध्यासन का अनुष्ठान करना चाहिये ।

३. सुप्रावी—श्रवण मनन से ज्ञात हुआ कि भगवान् सब की रक्षा करता है । और प्रेमपूर्वक रक्षा करता है । भगवान् का प्यार चाहने वाले को भगवान् की प्रजा का प्रेमी, रक्षक बनना होगा । भगवत्प्रजा को अपनी उदरदरी की पूर्त्ति के लिये विदीर्ण करने वाला भक्षक भगवान् का प्रेम प्राप्त ही

नहीं कर सकता। अत. मनुष्य को यत्न कर के प्राणिरक्षा का प्रेमपूर्ण कार्य्य करते रहना चाहिए। तात्पर्य यह निकला कि प्रभु भक्त को अहिंसक बन कर मनसा, वचसा, वपुषा सब से मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए।

४. सोमी=सोमवाला। जिस के पास कोई पदार्थ हो किन्तु वह न उस का उपभोग करे और न उपयोग करे, तो उस के पास उस वस्तु की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं। यदि कोई सोम रखता हुआ भी दूसरों को सोम नहीं देता, तो उस के सोमी होने का कोई प्रमाण नहीं। स्वयं शान्ति हो दूसरों को शान्त कर सके, वही सोमी। सोमी बनने के लिये सुकृत, मनायु तथा सुप्रावी होना अत्यन्त अपेक्षित है। सब से प्रीति किये=बिना=सुप्रावी हुए बिना शान्ति मिल ही नहीं सकती। वैर विरोध करने से मन अशान्त, आत्मा उद्भ्रान्त रहता है। सब से प्रीति की भावना मनन के बिना असम्भव है। संसार के व्यवहार पर जब मनुष्य विचार करता है तो उसे अनुभव होता है कि वैर विरोध का फल वैर विरोध है। अतः वह **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**=अपने को बुरे लगने वाले व्यवहार दूसरों के साथ नहीं करता। सब को आत्मवत् समझने लगता है यही मनन की भावना उसे सुप्रावी बना देती है और मनुष्य करने के पूर्व, अतः आत्मवत् सब को समझने की अवस्था से उत्तम कर्म करने लगता है। जो इन साधनों से सम्पन्न हो लेता है, वह अवश्य सोमी हो जाता है।

भगवान् की प्रीतिप्राप्ति के लिये न्यून से न्यून यह चार गुण अवश्य चाहियें।

जिस में यह चार गुण हों उस को कोई नहीं हानि पहुँचा सकता। चाहे कितनी संख्या में हानिकारक लोग क्यों न हों! सब से बड़ी बात यह कि

उर्वस्मा अदिति शर्म यंसत्

अदिति=माता जगन्माता ऐसे प्रेमी को विशाल ठिकाना देती है।



तेरे कान सुनते हैं

ओ३म् । उत त्वावधिरंवयं श्रुत्कर्णं सन्तमूतये ।
दूरादिह हवामहे ॥ ॥ ऋ० ८।४५।१७

(उत) और (वयम्) हम (ऊतये) रक्षा के लिये (अवधिरम्) अवधिर (श्रत्कर्णम्+सन्तम्) श्रवणकरणयुक्त होते हुए (त्वा) तुझको (दूरात्) दूर से (इह) यहा, अपने पास (हवामहे) बुलाते हैं ।

परम देव ! परमात्मन् । मैं दुःखी हूँ। सब को अपना दुःख सुनाया। सुना था, दूसरों को दुःख सुनाने से दुःखभार लघु हो जाता है, हलका हो जाता है, घट जाता है, बट जाता है। परन्तु मेरा अनुभव विपरीत निकला। न मेरा दुःख घटा और न बटा, न हलका हुआ। उलटा यह भारी होगाया, बढ गया। ऐसा प्रतीत होता है, मेरी करुण कहानी किसी ने सुनी ही नहीं। या वे बधिर होंगे या वे अश्रुत्कर्ण। अन्यथा वे मेरी क्यों न सुनते।

दुःखभञ्जन। हमने सुना है तू अवधिर है=बहिरा नहीं है। तेरे कान सुनते हैं। बिना कान के तू सुनता है। हम तुझ से दूर हैं। बहुत दूर हैं।

वि मे पुरुत्रा पतयन्ति कामाः (ऋ. ३।५५।४)=
मुझे कामनाएं अनेक स्थानों में गिरा रही हैं।

तुझ से दूर ले जा रही हैं। उन से मैं व्याकुल हो उठा हूं। कल पाने के लिए जो कल सोची थी, वह विकलता कलित करने लगी है। ससार की ज्वालामाला से मैं घिर गया हू। काम, क्रोध, लोभ, माह मद, अहङ्कार मुझे मार रहे हैं। इन से मुझे निस्तार नहीं दीखता। किधर जाऊ? कैस छुटकारा पाऊ? अनन्यगतिक हो कर तेरी शरण में आना चाहता हूं। मैं जहा हू, वहीं
दूरादिह हवामहे=दूर से ही तुझे यहा हम बुलाते हैं।

ससार का सताया मैं अकेला नहीं, हम बहुत से हैं। अकेले की यदि तू नहीं सुनता ता बहुता की सुन। प्रभो **त्व मघवन श्रृणु यस्ते वष्टि ववच्चि तत्** (ऋ० ८।४५।६)=
उस की तो, पूजित धनवन् सुन, जो तुझे चाहता है, कुछ कहना चाहता है।

प्रभो। हम किस लिये पुकारते हैं? **ऊतये**=रक्षा के लिये। तेरे बिना और **मर्डिता** सुखदाता नहीं है।

प्रभो। हम अरक्षित हैं। नाना राक्षसों ने हमें घेर रखा है। तू वृत्रघ्न है मोहवारक है। अहिहा है=पापमारक है, अतः **भेवरापिर्नो अन्तमः** (ऋ० ८।४५।१८)=हमारा अन्तम=सर्वोत्कृष्ट बन्धु बन।

सब बन्धुओं का सम्बन्ध स्वार्थमय है, तेरा प्रेम निस्वार्थ है। प्रभो! तू सच मान। हम सब **उश्मसि त्वा सधस्थ आ** [ऋ. ८।४५।२०) तुझे एक ठिकाने में चाहते हैं।

सुनी हमारी कामना। तेरे साथ रहना चाहते हैं। प्रभो! रख ले अपने साथ। तेरा कुछ न बिगडेगा, किन्तु हमारा बहुत कुछ सवर जाएगा।

१८२

शरीरत्याग से रक्षा

ओ३म् तस्मिन्नरो विह्वयन्ते समीके रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत त्राम ।
मिथो यत्त्यागमुभयासो अग्मन्नरस्तोकस्य तनयस्य सातौ ॥ ऋ० ४।२४।३॥

(तन्वः) शरीरों को (रिरिक्वासः) निरन्तर रिक्त करते हुए (नरः) मनुष्य (तम्+इत्) उसी को (समीके) जीवन संग्राम में (विह्वयन्ते) विशेष रूप से बुलाते हैं और (त्राम+कृण्वत्) रक्षा करते हैं। (तोकस्ये +तनयस्य) बालबच्चों के (सातौ) प्राप्ति के निमित्त (उभयासः) दोनों प्रकार के मनुष्य (यत्) यतः (मिथः) परस्पर (त्यागम्) त्याग को प्राप्त होते हैं।

संसार में जब मनुष्य सब ओर से निराश और हताश हो जाता है, तब उसे अनन्यशरण, अशरणशरण, शरण्यों के शरण्य, दुःखविशरण सुखकरण भगवान् का स्मरण आता है और वह उस की शरण में जाता है ।

ससार में यदि झगडे न हों, एक का दूसरा वैरी न हो, तो कदाचित् कोई भी किसी को अपना सहायक न बनाए । जब कोई बाधा विघ्न है ही नहीं, अपनी निश्चित धारणा में विधारणा या विदारणा की कोई सम्भावना नहीं, तब क्यों किसी से सहायतार्थ प्रार्थना की जाये? किन्तु ससार में युद्ध है। एक दूसरे का विरोध है। विरोधी एक दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयत्न में लगे हैं, इस का नाम है युद्ध, सग्राम ।

ऐसा सग्राम तो मनुष्य का जीवन भी है। इन्द्रिय और देह मानो आत्मा को अपने अधीन करने म लगे हैं। प्रचेता. आत्मा समझने लगा है, देह और इन्द्रिया मेरे लिये हैं। इन्हें मेरे निर्देशानुसार चलना चाहिए। दैव भाव आसुर भावों को कुचलना चाहते हैं, आसुर दैवों को मसलना चाहते हैं। जाने दो इस दैवासुर सग्राम को। मनुष्य को अपना जीवन बनाये रखने के लिए प्रकृति से कितना युद्ध करना पड़ता है।

युद्ध के लिये सहायक चाहियें। भगवान् ही सब से महान् सहायक है। अत —
तस्मिन्नरो विह्वयन्ते समीके=सभी नायक जीवन सग्राम में उसे पुकारते हैं।
नेता ही क्यों, वरन्—

इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोऽवसितास इन्द्रम् ।
इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते ॥ ऋ० ४।२५।८ ॥

उत्तम अधम और मध्यम इन्द्र को बुलाते हैं। चलने वाले या चढ़ाई करने वाले इन्द्र को बुलाते हैं। निराश हताश इन्द्र को बुलाते हैं। नष्ट होते हुए इन्द्र को बुलाते हैं लड़ाके, युद्ध करने वाले इन्द्र को पुकारते हैं। वाज के अभिलाषी=ज्ञान, अन्न, धन, जन, बल के अभिलाषी इन्द्र को बुलाते हैं।

आशावादी, निराशावादी, नाशोन्मुख, युद्धतत्पर, ज्ञान-प्रवण ध्याननिमग्न, उत्तम, अधम, मध्यम सभी भगवान् का आह्वान कर रहे हैं। यहां आकर सभी समान हो जाते हैं। इस के द्वार पर सभी याचक हैं। याचक याचक ही है। भगवान् के द्वार पर आते हुए—**रिरिक्वांसस्तन्वः अग्मनन्**=शरीरों को खाली कर के पहुँचे हैं। खाली हाथ जायेंगे तो कुछ पायेंगे। रिक्त शरीर जाकर बता रहे हैं कि कहीं से कुछ नहीं मिला। तू हमारी झोली भरदे, तेरे द्वार से कोई खाली नहीं लौटता।

युद्ध में योद्धा कवच धारण करके जाता है। शत्रु के अस्त्र शस्त्र से उसे वह कवच बहुत कुछ बचाता है। योद्धा जब इस के द्वार पर मांगने जाता है तब तनूत्राण=कवच उतार कर जाता है, क्योंकि वह उसे ही—**तन्वः कृण्वत त्राम्**=शरीर का रक्षक-तनूत्राण-कवच-बनाता है। उस सरकार के दरबार में त्याग की भेंट लेकर जाना होता है—**मिथो यत्त्यागमुभयासो अग्मन्**=दोनों मिल कर त्याग को प्राप्त होते हैं। तभी तो ऋषियों ने कहा—**त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः**। (उपनिषत्) कईयों ने त्याग से मोक्ष पाया। स्वयं भगवान् ने कहा है—**यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्** (य०) त्याग के द्वारा त्याग समर्थ होवे, सफल होवे। लोग त्याग कर के उस के राग गाते रहते हैं। परिचित अपरिचित सभी को अपने उस त्यागाभास का आभास दिलाते रहते हैं। त्यागियों के शिरोमणि भगवान् का आदेश है, त्याग का भी त्याग करो, तभी सफलता मिलेगी। भगवद्भक्त कह गए हैं— **धर्म्मः क्षरति कीर्त्तनात्**=चर्चा करने से पुण्य कर्म का नाश होता है। कस्तूरी का परिचय सुगन्धित से होना चाहिये, न कि गान्धिक उस का बखान करे।

भगवान् के दरबार में जाते हुये अहंता, ममता, अहङ्कार का त्याग तो अवश्य ही करना होता है। अहङ्कार को साथ ले जा कर वहां से विफल मनोरथ आना पड़ता है।



१८३

प्राप्तव्य की प्राप्ति का प्रकार

ओ३म्। यत्सानोः सानुमारुहद्भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति युथेन वृष्णिरेजति ॥ऋ. १।१०।२॥

(यत्) जब (सानोः) एक शिखर से (सानुम्) दूसरे शिखर को (आ अरुहत्) चढाई करता है और (भूरि) बहुत (कर्त्वम्) करने योग्य अवशिष्ट कर्त्तव्य को (अस्पष्ट) देख पाता है। (तत्) तब (इन्द्रः) आत्मा (अर्थम्) अर्थ को, अभिप्राय को, प्राप्तव्य को (चेतति) जान पाता है, समझता है, और (यूथेन) यूथ के साथ (वृष्णिः) बरसने बरसाने वाला होकर [धर्म्ममेघ समाधि से सपन्न होकर] (एजति) पुरुषार्थ करता है।

जिन्होंने कभी पर्वत की पैदल यात्रा की हो, वे इस मन्त्र मे वर्णित वस्तु का आस्वाद ले सकते हैं। मनुष्य समझता है, यही सामने वाला शिखर है; इस पर चढ गये, तो बस मैदान मार लिया। जब उसपर चढ़ जाते हैं, तब सामने एक और उच्चतर शिखर दृष्टिगोचर हो रहा होता है। उस समय उसे अपने अगले कर्त्तव्य का भान होता है—

भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्=भूरि कर्त्तव्य को स्पष्ट देखता है।

सच पूछो, पिछला किया भूल जाता है। अगला कर्त्तव्य उसके मस्तिष्क पर छा जाता है।

जीवन का सारा व्यवहार इसका प्रमाण है। दिन प्रतिदिन नए नए कर्त्तव्य सामने आते हैं। एक कर्त्तव्य अगले कर्त्तव्य की सूचना सी देता है, तब कहना पडता है कि—

तदिन्द्रो अर्थं चेतति=आत्मा को तभी जीवन सग्राम का अर्थ सूझता है।

विश्रम के अभिलाषी को संग्राम का सामना करना पड जाता है, तब क्या वह हिम्मत हार जाता है? नहीं। वरन् वह भगवान् से कहता है—

संचोदय चित्रमर्वाग्राध इन्द्र वरेण्यम् [ऋ. १।६।५]

प्रभो! हमारी हिम्मत बढा, आगे जाने का साहस दे। आगे तो अद्भुत श्रेष्ठ धन है।

और पुनः कहता है—

ब्रह्म च नो वसो सचेन्द्र यज्ञं च वर्धय ॥ [ऋ. १।१०।४]

सब को वास देनेहारे! हमारी विनती को स्वीकार कर और अज्ञानवारक प्रभो! हमारे यज्ञ को बढा।

उसे ज्ञात है कि भगवान् उनकी सहायता करता है जो स्वय अपनी सहायता करते हैं। इस भाव से वह समाधिसाधन मे लगता है। उसके लिये एक एक शिखर को चढ कर पार करता है। आसन प्राणायाम से प्रत्याहार, प्रत्याहार को पार कर धारणा में धरना लगाता है। धारणा के धरना मे उसे ध्यान आता है, ध्यान समाधि तक पहुँचता है। आसन जय पर प्राण शान्त होने लगते हैं, अर्थात् आसन शिखर से प्राणायाम की चोटी दीखती है। प्राणायाम-चोटी से प्रत्याहार का शिखर, और इसी प्रकार ज्यों ज्यों वह ऊपर चढता है, त्यों त्यों उसे अगली भूमिया दिखाई देती हैं—यह है—

यत्सानोः सानुमारुहद्भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।

मूलाधार से प्राण चला ऊपर को चला। एक चक्र मे अटका, उसे पार किया अगले का ज्ञान हुआ। ब्रह्मरन्ध्र पर पहुच कर प्राप्तव्य का पता लगा।

इस प्रकार अभ्यास करते करते धर्म्ममेघ समाधि की सिद्धि होती है। उस धर्म्ममेघ समाधि मे सपन्न होकर साधक पुरुषार्थ करता है।

तू कामनाओं का दाता है

ओ३म् । अच्छा च त्वैना नमसा वदामसि किं मुहुश्चिद्वि दीधयः ।

सन्ति कामासो हरिवो ददिष्ट्व स्मो वयं सन्ति नो धियः ॥ऋ. ८।२१।६

(अच्छ) अच्छा, (च) तो हम (त्वा) तुझ को (एना+नमसा) इस नमस्कार से (वदामसि) कहते हैं (किम्) क्यों (मुहुः+चित्) बार बार सा तू (विधयः) विचार करता है। (हरिवः) पापहरण वाले। हमारी (कामासः) अभिलाषायें (सन्ति) है और (त्वम्) तू (ददि) दाता है। इधर (वयम्) हम (स्मः) हैं और (सन्ति) है (नः) हमारी (धियः) बुद्धिया, क्रियायें तथा धारणाशक्तिया।

भगवन्। तेरे पास हम आये हैं। रिक्तहस्त आये हैं। तुझसे बात करने का क्या अधिकार। प्रभो।

अभि त्वामिन्द्र नोनुमः (ऋ ८।२१।५=हम झुक झुक कर बार बार तुझे नमस्कार करते हैं।

और दीनबन्धो।

वय हि त्वा बन्धुमन्तमबन्धवो विप्रास इन्द्र येमिम (ऋ ८।२१।४)

हम बन्धुरहित हैं, अबन्धुओं के बन्धु तुझको हम अपनाते हैं।

अतः-हम इस नये सबन्ध को सामने रखकर

त्वैना नमसा वदामसि=इस नमस्कार द्वारा तुझ से बोलते हैं।

इस नमस्कार से हमें तुझसे बोलने का, अपनी व्यथा कथा सुनाने का अधिकार मिल जाता है।

प्रभो। क्या सोचने हो? मुझ में अहङ्कार है। न, मेरे स्वामिन्। नमस्कार से मैंने अहकार को मार दिया है। नम्र होकर तेरे दरबार में आया हूँ।

क्यों आया हू?

अन्तर्यामिन्। तू **विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्** है=सारे विचारों आचारों का जानने हारा है। तुझसे मेरा क्या छिपा है फिर भी निवेदन करता हूँ—

सन्ति कामासः हरिव =पापहारक प्यारे। हम कामनायें हैं। इच्छायें हैं। और ददिष्ट्वम् तू दाता है।

याचक दाता के पास न जाये, तो कहा जाये? प्रभो। तू ने ही कहा है—

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्व (ऋ १०।११७।४)=

वह मित्र नहीं जो साथ रहने वाले, अन्न मागने वाले मित्र को नहीं देता है।

सखे। मैं तेरे साथ रहता हू। ऐसा साथ कि जिसे तू कभी भी नहीं छोड़ सकता। प्रभो। साहस है, तो छोड़ के दिखा। फिर तू क्यों नहीं देता। दाताः। अपने विरुद को, कीर्त्ति को सार्थक कर। तेरी शोभा इसी में है कि याचक की झोली भर दे। क्या तेरे द्वार से लौट जाए? तू ने ही कहा है—कि जो नहीं देता उसके

अपास्मात्प्रेयात् (ऋ. १०।११७।४)=यहा से भाग जाए।

परन्तु मैं कहा जाऊ ? किधर जाऊ । तू कहता है

न तदको अस्ति (ऋ १०।११७।४)= अदाता का घर घर नहीं है।

निस्सन्देह यह बात सत्य है कि अदाता का घर घर नहीं है किन्तु तुम चाहे मुझे दो या न दो मेरे तो तुम ही घर हो। अपना घर छोड़ कर कहा जाऊ ? कहते हो कि

(पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् (ऋ १०।११७।४)=किसी और दाता की खोज करे।

मै और को क्यों खोजूं, क्यों चाहूं। तुम जैसा कोई दाता हो भी ! मेरे लिये ही नहीं, समस्त जगत् का तू ही दाता है। और फिर

भद्रा इन्द्रस्य रातयः (ऋ०)= तेरे दान भले हैं।

दूसरे के दानों का ज्ञान नहीं। जाने रोटी माङ्गने पर सोटी=पत्थर ही दे मारे। तू किसी भी अवस्था में अनिष्ट नही कर सकता। अतः नाथ तुझे छोड़ कर हम कहीं नहीं जाते। यहीं बैठे हैं।

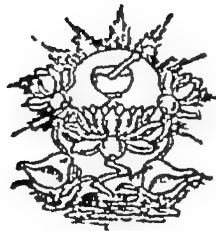
स्मो वयं सन्ति नो धियः=यह हम हैं और ये हैं हमारी बुद्धिया, कृतिया।

तू हमारे कर्मों के अनुसार ही दे। हम इसे भी तेरा दान समझते हैं। तू न दे तो हमारा क्या मान ? किन्तु तेरे द्वार पर धरना देने का अधिकार हम नहीं छोड़ सकते। अतः निश्चय कर लिया है कि या तो तुझ से लेके जायेंगे, या अपने प्राण तुझे दे जायेंगे। दोनों अवस्थाओं में हमें लाभ ही लाभ है, अतः

पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्टया सहस्रमयुतमाददत् (ऋ. ८।२१।१८)

हजारों लाखों देता हुआ प्रभो। बादल की भाति वृष्टि के साथ गर्ज।

महादानी। गर्ज गर्ज। बरस बरस ! भिगो दे हमें। तर कर दे। कहीं से भी सूखा न रहने दे। तू भूरिदाश्रुतः तू बड़ा दाता प्रसिद्ध है।



१८५

तेरे धन का अन्त नहीं

ओ३म् । नहि ते शूर राधेसोऽन्त विन्दामि सत्रा ।
दशस्या नो मघवन् नू चिदद्रवो धियो वाजेभिराविथ ॥ (ऋ. ८।४६।११)

हे (शूर) अज्ञान-तिमिर को नाश करने वाले महाबल ! प्रबलों से प्रबल ! निर्बलों के बल ! (सत्रा) सचमुच (ते) तेरे (राधसः) दान का, ऐश्वर्य का (अन्तम्) अन्त, पार (नहि) नहीं (विन्दामि) प्राप्त करता हूं । हे (मघवन्) पूजित-धनवन् ! धनियों के भी धनिन् । (तू+चित्) शीघ्र ही (नः) हमें (दशस्य) दे । (अद्रिवः) करुणार्द्र दयालो ! हमारी (धियः) बुद्धियों को क्रियाओं को (वाजेभिः) ज्ञानों से (आविथ) प्रसन्न कर, विमल कर ।

प्रभो ! तू अनन्त है । तेरा बल अनन्त है । तेरा ज्ञान अनन्त है । तेरा दान अनन्त है, तेरा धन अनन्त है , मैं सान्त, मेरी क्रिया सान्त, मेरी युक्ति सान्त, शक्ति सान्त । अतः

नहि ते शूर राधसोऽन्तं विन्दामि सत्रा=सचमुच शूर, ! तेरे धन का, दान का अनन्त नहीं पाता हूं ।

अनन्तकाल से तू देता आ रहा है, और सब को देता आ रहा है किन्तु तेरे धन की समाप्ति का कोई चिन्ह ही नहीं दीखता ।

त्वां हि सत्यमद्रिवो विद्म दातारमिषाम् । विद्म दातारं रयीणाम् ॥ ऋ. ८ ।४६।२=

दयालो ! तुझे ही हम अन्नों का सच्चा दाता मानते हैं और तुझे धनों का दाता जानते हैं ।

अन्न खाने वालों की हम तो गिनती कर नहीं सकते । हमारी दृष्टि में तो अनन्त हैं । प्राणियों की लाखों योनिया हैं । एक एक योनियों के करोड़ों, अरबों खरबों जीव हैं ।

उन के अन्न का=भोग का सामान भी होगा अनन्त । अवश्य ही अनन्त । तो प्रभो ! तू अनन्त धन वाला ही सब को देता है अतः

दशस्या नो मघवन् नू चित्=हमे पूजितधनेश्वर परमेश्वर । शीघ्र दे ।

तेरे पास अनन्त धन है, हम तो थोडा सा ही मागते हैं । दे । दात । दे । क्या देर है ? क्या विलम्ब कर रहे हो ? .

तेरे विलम्ब करने से हमारा अशान्त स्वान्त और अधिक अशान्त और दुर्दान्त हुआ जाता है मेरे परमेश्वर ।

ददी रेक्णस्तन्वे ददिर्वसु ददिर्वाजेषु पुरुहूत वाजिनम् । ऋ ८ । ४६ । १५=

तू शरीर के धन देता है वास देता है । तू ज्ञान के निमित्त, बड़ी कीर्त्ति वाले ! ज्ञानी दे देता है ।

सब कुछ देने वाले ! दे । शरीर देने वाले । शारीरिक धन दे । बुद्धि देने वाले । बुद्धिधन दे ।

तमिन्द्र दानमीमहे शवसानमभीर्वम् । ईशानं राय ईमहे ॥ ऋ. ८ । ४६। ६=

हम तो, परमेश्वर । तुझे दान में माङ्गते हैं । तू बल वाला है, तू भय दूर करने वाला है । अतः हम तुझ धनेश्वर को चाहते हैं ।

धन को, जन को, निधन के वश होते देखा है, विनष्ट होते देखा है । इस से भय लगा रहता है कि यह धन अवश्य नष्ट हो जाएगा । तू निर्भयपद है । अतः भवभयहारिन ! मङ्गलकारिन ! धन नहीं चाहिए । हमें तू चाहिए । धनों का स्वामी चाहिए । धनों का दाता चाहिए प्रभो । हमारी ऐसी बुद्धि सदा स्थिर रहे अतः

धियो वाजेभिराविथ=हमारी बुद्धियों को ज्ञानों से निर्मल कर ।

ऐसा ज्ञान दे, ऐसा दान दे कि हमारी बुद्धि निर्मल रहे, निर्भय रहे, निःशङ्क रहे।

प्रभेगं दुर्मतीनामन्द्र शविष्ठाभर रयिमस्यमभ्यं युजम्। ऋ ८। ४६। १०=

हे बलेश्वर परमेश्वर! हमें सदा हमारे साथ रहने वाला, दुर्बुद्धियों का नाशक धन दे।

प्रभो! धन पाकर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, बुद्धि की समता खो बैठता है, अज्ञानी सा बन जाता है। और कभी कभी अभिमान अहङ्कार ज्ञानी की बुद्धि में भी विकार ला देता है। अतः हे अनन्तज्ञान! हमें बुद्धिशोधक, दुष्टबुद्धिनाशक, विमल प्रकाशक, अज्ञाननिरासक, कुज्ञान-विनाशक ज्ञान का दान दे। किन्तु प्रभो! इतनी कृपा अवश्य कीजियो कि

मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान् कदाचन दभन्। ऋ १। ८४। २०=

हे धनेश्वर परमेश्वर, मत तेरे धन और दान और मत तेरे रक्षा-विधान हमें कभी दबायें।

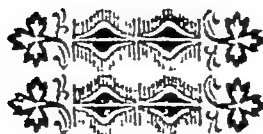
तेरी रक्षा में हम सदा फलते फूलते रहें। तेरे दान के निदान से हम सदा सम्मान पाते रहें। अर्थात् तेरी विभूति पाकर तेरे आज्ञा में वर्तमान रहें। तेरे नियमों का उल्लंघन कभी न करें। अल्पज्ञता के कारण हम से यह भूल न हो जाए।

एक बात कहूं। प्रभो। तेरे सिखाये, परमपुनीत पदों में कहता हूँ—

त्वं विश्वा दधिषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि।
काममिन्मे मघवन्मा वितारीस्त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता॥ऋ १०।५४।५

जो धन प्रकट हैं और जो गुप्त हैं, उन सब को तू धारण करता है, और वे सारे सुखदायक हैं। प्रभो मेरी कामना को मत टालियो। परमेश्वर! तू ही आज्ञाता=बताने वाला तथा मेरी कामना को पूर्ण रूप से जानने वाला तथा तू ही दाता है।

मेरी ठीक ठीक कामना क्या है? इसे भी तो तू ही जानता है, और तू ही दाता है। अतः अपना काम कर। आनन्द पाना मेरा ध्येय है, किन्तु क्या आनन्द है क्या आनन्द है, इसकी पूरी क्या, सच पूछे तो, अधूरी पहचान भी मुझे नहीं है। अनेक बार मीठा समझ कर कड़वे को निगल चुका हूं और विकल हो चुका हू। इससे भयभीत हो गया हूं। आनन्द की लालसा निरन्तर है, और उधर नैसर्गिक अज्ञान भी ज्ञान का गाहक बना हुआ है। अतः सर्वज्ञाननिधान! तुझ से विनती है, प्रार्थना है, अभ्यर्थना है कि मेरी उचित कामना को तू ही पूरा कर।



दुःस्वप्न से बचने का उपाय

ओ३म् । पर्य्यावर्त्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।

ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ अ० ७।१००।१

(दुष्वप्न्यात्) बुरे स्वप्न के कारण होने वाले (पापात्) पाप से (पर्य्यावर्त्ते) लौटता हूँ (स्वप्न्यात्) स्वप्न के कारण होने वाले (अभूत्याः) अभूति से, अनैश्वर्य से (पर्य्यावर्त्ते) लौट आता हूं। (अहम्) मैं (ब्रह्म) ब्रह्म को (अन्तरम्) बीच में, या व्यवधान, रुकावट (कृण्वे) करता हूं। इससे (स्वप्नमुखाः) स्वप्नप्रधान (शुचः) शोकों को (परा+कृण्वे) दूर करता हूं।

दुष्वप्न=दु.स्वप्न=बुरा स्वप्न नाम ही बता रहा है कि यह बुरा है। बुरे का त्यागना ही भलाई है। फिर दुस्वप्न के कारण कई पाप भी हो जाते हैं। इसे समझने की आवश्यकता है।

स्वप्न-और जागरित दशा का भेद समझ लेने से सरलता होगी। जागरित दशा में आत्मा के लिये अन्तःकरण इन्द्रिया सभी कार्य्य कर रहे होते हैं। स्वप्न उस अवस्था का नाम है जब शरीर और वाह्य इन्द्रिया श्रान्त और विश्रान्त हो रही हैं। किन्तु मन कार्य्य कर रहा है। दार्शनिक लोग बतलाते हैं। आत्मा और इन्द्रियों के बीच में मन बिचौलिये का कार्य्य करता है, अर्थात् इन्द्रिया रूपादि के विषयक जो ज्ञान लाती है, वह मन के समर्पण करती हैं, और मन उसके पीछे आत्मा को देता है। इसी कारण एक समय में एक ही विषय का ज्ञान हो पाता है, क्योंकि मन एक समय मे एक ही इन्द्रिय से सयुक्त हो सकता है।

इससे परिणाम यह निकला, कि चाहे अन्दर की ओर से बाहर आत्मा के भाव प्रकट होने हों और चाहे बाहर से भीतर को ज्ञान जा रहा हो, मन के पास तो इन्द्रिया का दिया हुआ ही अनुव्यवसाय है। अर्थात् स्वप्न दशा में भला बुरा जो कुछ भी मन मनन करता है, वह जागरित दशा के अनुभव का कभी क्रमबद्ध, कभी क्रमविहीन और कभी सर्वथा क्रमविरुद्ध आभास हैं। वेद इसका सकेत करता है—

यदाशसा निःशसाभिशसो पारिम जाग्रतो यत्स्वपन्त. (ऋ० १०।१६४।३)=

जो हत्यायें हम जाग्रत हो करते हैं, वही स्वप्न दशा मे।

वेद के मतानुसार दुःस्वप्न मृतात्मा को आते हैं। जिस का आत्मा जीता है, पाप से मरा नहीं, उसका—

भद्रं वै वरं वृणते भद्र युञ्जन्ति दक्षिणम्।

भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः ॥ ऋ० १०।१६४।२

जीते हुए का मन भले वर मागता है, भले उत्साह से युक्त होता है। और बहुधा विवस्वान के प्रति भला ज्ञान करता है।

अर्थात् भले आत्मा का मन दुःस्वप्न देख ही नहीं सकता। जब वह बुराई करता नहीं, किसी

की बुराई चाहता नहीं, सब के लिये भली कामना करता है, तो उसे दुःस्वप्न क्यों आयें ?

दूसरे शब्दों में बुरे स्वप्नों से बचने का उपाय भद्र विचार और भद्र आचार है। भगवान् से बढ़कर भद्र कौन है ? अत. कहा है—

ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः=मैं ब्रह्म को अन्दर करता हूँ उससे स्वप्न आदि शोक दूर होते हैं।

अनुभविशिरोमणि साक्षात्कृतधर्म्मं आप्तवर्य्य ऋषि नें उपदेश किया है—

"जितेन्द्रिय बनने के अभिलाषी को रात दिन प्रणव [ओम्] का जाप करना चाहिये। रात को यदि जाप करते हुए आलस्य बहुत बढ जाये तो दो घण्टा भर गाढ निद्रा लेकर उठ बैठे और प्रणव पवित्र [ओम्] का जाप करना आरभ कर दे। बहुत सोने से स्वप्न अधिक आने लगते हैं, ये जितेन्द्रिय जन के लिये अनिष्ट है।"

"जब शय्याशायी होने लगो तो प्रणव पवित्र [ओम्] का जप किया करो। जब तक नींद न आये पाठ करते रहो। यहां तक कि उसी नामस्मरण मे सो जाओ। इससे उत्तमोत्तम लाभ होते हैं। वासनामय देह बदल जाता है।" (अध्यात्मप्रसाद)

परमात्मा का चिन्तन करने से सब सब दुरितों का क्षय हो जाता है।

एक बात का ध्यान कर लेना चाहिये, स्वप्न होता तो मिथ्या है किन्तु जागरित दशा के संस्कारों का खेल होता है। तभी वेद कहता है—

> यत्स्वप्ने अन्नमश्नाति न प्रातरधिगम्यते।
> सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद्दृश्यते दिवा ॥ अ० ७।१०१।१

स्वप्न में जो अन्न मैं खाता हूँ, प्रातः वह प्राप्त नहीं होता। वह सब मेरे लिये कल्याणकारी हो क्योंकि वह दिन में नहीं दीखता।

अर्थात् मन का यह सारा खेल है। तभी यजुर्वेद मे प्रार्थना है—

तन्मे मन. शिवसंकल्पमस्तु (य० ३४।१-६)=मेरा मन भले सकल्पों वाला हो।

ब्रह्म को हृदय में धारण करो, मन के सकल्प स्वतः शिव हो जायेंगे।



आततायी का वध

**ओ३म् । इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रिय मायया शाशदानम्।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ अ० ८।४।२४**

हे (इन्द्र) अन्यायनाशक राजन् । (मायया) चालाकी से (शाशदानम्) पीड़ा पहुँचाने वाले (यातुधानम्) आततायी (पुमासम्+उत+स्त्रियम्) पुरुष और स्त्री को (जहि) मार दे (मूरदेवाः) हिंसा ही है आराध्य जिनका ऐसे (विग्रीवासः) ग्रीवारहित होकर (ऋदन्तु) नष्ट हों। (मा) मत (ते) वे (उच्चरन्तम्) उदय होते (सूर्यम्) सूर्य्य को (दृशन्) देखें।

इस मन्त्र मे राजा को एक ऐसा आदेश है कि कदाचित् साधारण लोग जिसे जानकर काप उठें, किन्तु राजा का काम है राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना तथा उसे स्थिर रखना। वह शान्ति नहीं, जिससे राज्य की श्रीवृद्धि न होकर प्रतिदिन ह्रास होता जाये, शान्ति और व्यवस्था का परिणाम धनधान्य की वृद्धि, स्वास्थ्य की वृद्धि, कला और विज्ञान की वृद्धि होना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब राजा सब कार्य्य छोड़ कर राजकार्य्यों को लगन से करे। वेदानुयायी ऋषियों ने तो राजकार्य्य ही राजा का सन्ध्योपासना कर्म माना है। यथा—

"[राजा] सर्वदा राजकार्य्य मे प्रवृत्त रहे अर्थात् यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है जो रात दिन राजकार्य्य में प्रवृत्त रहना और कोई राज काम बिगड़ने न देना।" (स० प्र० २५२ श० स०)

यदि राज्य में ऐसे लोग उत्पन्न हो जायें जो लोगो के घरों को आग लगा दें, लोगों के सस्य जला दें, स्त्रियों और बालकादिकों को व्यर्थ ही पीड़ा दें और राजा उन्हें दण्ड न दे तो सभी के प्राण सशय में रहने लग जायें, सभी प्रकार के कार्य्य व्यवहार व्यापार बन्द हो जाय, खेती न हो सके, कला-कौशल शिल्प आदि सभी नष्ट हो जायें। और सभव है कि कोई अन्य साहसी राजा आक्रमण करके राष्ट्र को पराधीन कर दे। अतः राजा का कार्य्य—मुख्य कार्य्य—ऐसे आततायी—यातुधान—लोगों को वध करके राज्य में शान्ति स्थापित करना है। अथर्ववेद ८।४।२१ में स्पष्ट कहा है—

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्याविवासताम्=

राजा लोगों की जीवन सामग्री के नाशक तथा लोगों को बेघर करने यातुधानों=आततायियों का सर्वथा नाशक होता है।

आर्य्य धर्म्म में स्त्री को अवध्य माना है किन्तु यदि वह यातुधान हो, आततायी हो तो राजा का कर्त्तव्य है कि उसे मार दे। यही वेद कहता है—

इन्द्र जहि पुमास यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानम्=

हे राजन्। छल कपट से हिंसा करने वाले आततायी पुरुष और स्त्री को मार दे।

स्त्री तभी तक अवध्य है जब तक वह स्त्री-मर्यादा का पालन करती है, जब वह आततायी हो जाती है, तो अपनी अवध्यता खो बैठती है।

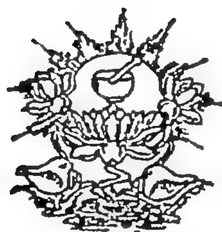
मनु महाराज ने इस मन्त्र का, मानों निम्न श्लोकों में आशय ही वर्णन किया है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ ८।३५०
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥ ८।३५१

चाहे गुरु हो, चाहे पुत्रादि बालक हों चाहे पितादि वृद्ध और चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता क्यों न हो, जो धर्म्म छोड़ कर, अधर्म्मरत हो कर, अपराध के बिना हत्यादि करने वाला आततायी है उस को बिना विचारे मार डाले, अर्थात् मार कर पीछे विचार करे। आततायी को मारने में मारने वाले को पाप नहीं होता, चाहे प्रकट मारे चाहे गुप्त मारे। वह क्रोध को क्रोध का प्राप्त होना है।

वेद ऐसे आततायियों=यातुधानों के बहुत विरुद्ध है, अतः इनको विग्रीव=ग्रीवारहित करने का आदेश करता है।

इतनी बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यह राजा का कर्त्तव्य है। वही निर्णय कर सकता है कि कौन आततायी है और कौन नहीं। यदि प्रत्येक मनुष्य ही यह निर्णय करे तो फिर व्यवस्था ही न रह सकेगी इसी लिये समाजव्यवस्था एवं राज्यस्थापना की जाती है।



विद्वानों से सहायता

ओ३म्। ये स्था मनोर्यज्ञियास्ते शृणोतन यद्वो देवा ईमहे तद्धातन।

जैत्रं क्रतुं रयिमद्वीरवद्यशस्तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे।

तुम (ये) जो (मनोः) ज्ञान के, मनुष्य के (यज्ञियाः) याज्ञिक (स्थ) हो, (ते) वे तुम (शृणोतन) सुनो। हे (देवाः) विद्वानो! (यत्) जो (वः) आप से, हम (ईमहे) मागते हैं (तत्) वह (जैत्रम्+क्रतुम्) विजयशील कर्म्म, (रयिमत्) धनसपन्न (वीरवत्) वीरों से भरपूर (यशः) यश (दधातन) तुम दो। हम (अद्य) आज ही (देवानाम्) विद्वानों की (अव.) रक्षा, प्रीति, सहायता (वृणीमहे) वरण करते हैं।

इस मन्त्र में देवों=विद्वानों की (अवः) रक्षा, सहायता, प्रीति की प्राप्ति की कामना की गई है। विद्वान् ही अविद्वान् को मार्ग बता सकते हैं। किन्तु कौन से विद्वान् ? इसके सम्बन्ध में यह मन्त्र कहता है—

ये स्था मनोर्यज्ञियास्ते शृणोतन=जो मनु=मनन, ज्ञान तथा मनुष्य के याज्ञिक हो, मनोविज्ञान के पण्डित हो वे तुम सुनो।

सुनाना चाहता है उत्तर में कुछ सुनने के लिये, तो क्या हर किसी के आगे अपने मन की व्यथा रख दे। नहीं, कदापि नहीं। जैसे दान देने के समय पात्रापात्र का विचार किया जाता है और जैसे विवेकशील धार्मिक मनुष्य दान लेते समय भी विचार करते हैं कि इस दाता का धन शुद्ध है या नहीं, ऐसे जब बुद्धिमान् अपने मन की पीड़ा किसी को सुनाना चाहे अथवा किसी से सहायता लेना चाहे तो उसे इस बात का अवश्य विचार करना चाहिये कि जिसे मैं सुनाने लगा हूँ, उसे सुनाना भी चाहिये या नहीं। वेद के मत से जिन्हें सुनाना चाहते हो वे मनोर्यज्ञिया.=मनोविज्ञानी होने चाहियें। निरन्तर जो मनन और चिन्तन रूपी यज्ञ का अनुष्ठान करते रहते हैं, जो मनुष्य यज्ञ के याज्ञय हैं, जो मनुष्यनिर्माण कला में प्रवीण हैं, जा मनुष्यनिर्माण के अनुष्ठान में ससक्त रहते हैं। ऋग्वेद १०।३६।१३ में मानों इन्हीं यज्ञिय महापुरुषों का कुछ विवरण सा है—

ये सवितुः सत्यसवस्य विश्वे मित्रस्य व्रते वरुणस्य देवाः=

जो सभी देव सत्ययज्ञ वाले जगदुत्पादक सर्वस्नेही नियन्ता के नियम में रहते हैं।

अर्थात् प्रभु के आदेश और नियमों को आदर्श मान कर तदनुसार अपना आचार बनाते और विचार व्यवहार सुधारते हैं, वे दिव्यगुणसपन्न महात्मा यज्ञिय हैं।

ऐसे महात्माओं से जो मागा जायेगा, वह अवश्य प्राप्त होगा। क्या मागना चाहिये—

१. **जैत्र क्रतु**—जयशील कर्म्म। उनसे ऐसी शिक्षा लो कि आपके कर्म्म सभी सफल हो, कोई भी क्रिया निष्फल न हो. सर्वत्र विजय ही विजय हो।

२. **रयिमान् वीरवान् यश**—कीर्त्ति हो। धन के कारण कीर्ति हो सकती है। वह तभी सभव है यदि धनवान् दान दे। अन्यथा अराति=अदानी होने के कारण अपकीर्त्ति होगी। सन्तान के कारण भी नाम हुआ करता है, किन्तु यदि सन्तान अयोग्य हो, कुव्यसनी हो, अनाचारी हो तो नाम के स्थान में कुनाम, यश के स्थान में अपयश मिलता है। वीर सन्तान से कुल का नाम उज्वल होता है। धर्म्मवीर कर्म्मवीर, दानवीर युद्धवीर, उपकारवीर, दयावीर आदि वीर कई प्रकार के होते हैं। ऋग्वेद १०।३६।११ में इसी लिये कहा है—

महदद्य महतामा वृणीमहेऽवो देवानाम्=आज हम महान् देवों का महान् रक्षण, प्रेम, साथ चाहते हैं।

क्यों?

यथा वसु वीरजाम नशाम है=ताकि वीरों को उत्पन्न करने वाले धन को हम प्राप्त कर सकें।

वेद में प्रायः जहा कहीं धन की कामना है, वहा साथ में कोई न कोई ऐसी बात कह दी गई है, जिससे वह कामना चमत्कृत हो जाती है। कहा है—

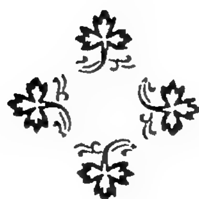
यद्वो देवा ईमहे तद्धातन=हे देवो। जो तुमसे हम मागते हैं, वह दे दो।

इससे कहीं यह न समझ लो कि स्वय हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहो और विद्वान् ही सब कुछ करें। नहीं ऐसी बात नहीं है। ऋग्वेद १०।३६।१३ में इस देने के रहस्य को भी स्पष्ट कर दिया है—

ते सौभग वीरवद्गोमदप्नो दधातन द्रविण चित्रमस्मे=

वे हमें सुभगयुक्त, वीरसमवेत, गवादिसमेत, धनसाधन, अद्भुत कर्म्म दें।

कर्म देने का अर्थ है कर्म्म करने की युक्ति सिखाना। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस सारे सूक्त में जिस किसी पदार्थ की कामना की गई है, वह वास्तव में उस कामना के साधक कर्म की कामना है। अर्थात् पुरुषार्थ की कामना है। यही विद्वानों का 'अवः' है।



जगदुत्पादक सब कुछ दे

ओ३म् सविता पश्चात्तात्सविता पुरतात्सवितोत्तरात्तात्सविताधरात्तात् ।

सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासता दीर्घमायुः ॥ ऋ. १०।३६।१४

(सविता) जगदुत्पादक परमेश्वर (पश्चात्तात्) पीछे से है। (सविता) जगदुत्पादक परमेश्वर (पुरस्तात्) सामने से है। (सविता) जगदुत्पादक परमेश्वर (उत्तरात्तात्) ऊपर है। (सविता) जगदुत्पादक परमेश्वर (अधरात्तात्) नीचे है। (सविता) जगदुत्पादक, जगत् का शासक, शुभप्रेरक कृपालु परमेश्वर (नः) हमें (सर्वतातिम्) सब पदार्थ, सभी प्रकार का विस्तार (सुवतु) देवे। (सविता) महादाता जगद्विधाता (नः) हमें (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु, जीवन (रासताम्) देवें।

जिस सूक्त का यह मन्त्र है, उसमें चौदह मन्त्र हैं, प्रथम और अन्त के दो को छोड़कर शेष ग्यारह मन्त्रों की टेक है—

तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे=हम आज देवों का वह प्रसिद्ध अवस्=रक्षण, प्रेम, साह्य, चुनते हैं। कहीं लोगों को भ्रम न हो जाये, इस वास्ते इस चौदहवें मन्त्र में स्पष्ट कह दिया—

सविता न सुवता सर्वतातिम्=सर्व प्रकार का विस्तार जगत्कार ही हमें दे।

अर्थात् हम किसी से नहीं मांगते, हम उसी से सब कुछ मांगते हैं, जो सब का उत्पादक है। उस की 'सर्वताति'=सब कुछ देने की शक्ति प्रदर्शन के लिये उसकी सर्वत्र विमानता का बखान करने के लिये कहता है—

सविता पश्चात्तात्सविता पुरस्तात्सवितोत्तरात्तात्सविताधरात्तात्=

भगवान् आगे पीछे ऊपर नीचे सभी जगह है।

अतः हम कहीं हों, वह हमें अवश्य देगा।

संक्षेप से इस सूक्त में की कामनाओं का निर्देश करते हैं।

१. पहले मन्त्र में सभी प्राकृत शक्तियों का आह्वान है।

२. मा दुर्विदत्रा निर्ऋतिर्न ईशत=हम पर दुष्टज्ञानमयी पापवासना शासन न करे।

३. स्वर्वज्ज्योतिरवृक नशीमहि=हम आनन्दमय सरल प्रकाश को प्राप्त करें।

४. आदित्यं शर्म्म मरुतामशीमहि=हम याज्ञिकों के अखण्ड कल्याण को प्राप्त करें।

५. सुप्रकेत जीवसे मन्म धीमहि=हम जीने के उत्तम सकेतयुक्त मननसाधन का चिन्तन करें, धारण करें।

६. दिविस्पृश यज्ञमस्माकमश्विना जीराध्वरं कृणुतं सुम्नमिष्टये। प्राचीनरश्मिमाहुतं घृतेन
अश्वि=प्राण अपान हमारे यज्ञ को दिविस्पृग्=आकाश तक पहुंचने वाला [परमात्मा से मिलाने वाले], जीवों का घात न करने वाला, अभीष्ट सिद्धि के लिये सुखकारी, उन्नत प्रकाशवान् तथा प्रकाश से आहुत करें।

७. रायस्पोषं सौश्रवसाय धीमहि=हम धनवृद्धि को उत्तम कीर्त्ति के लिये धारण करें।

८. सुरश्मिं सोममिन्द्रियं यमीमहि=उत्तम रश्मियुक्त [श्रेष्ठ मन से युक्त शान्तिदायक इन्द्रियों] को हम संयत करें।

९. ब्रह्मद्विषो विश्वगेनो भरेरत=ब्रह्मद्वेषी, ज्ञान के बैरी, धर्म्म के विरोधी, परमात्मा के वैर अपराध को पूरी तरह भरें।

१०. जैत्रं क्रतुं रयिमद्वीरवद्यशः=विजयी कर्म, धनजन युक्त यश प्राप्त करें

११. वसु वीरजातं नशामहै=हम वीरोत्पादक धन प्राप्त करें।

१२. श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि=भगवान् की श्रेष्ठ प्रेरणा में रहें।

इन कामनाओं पर ध्यान दीजिये। इनमें एक विशेष योजना है। पाप से रहित होने की कामना से आरम्भ करके 'भगवान् की श्रेष्ठ प्रेरणा में रहने' की भव्य भावना पर अवसान है। और इसी कारण अन्त से सब कामनाओं की पूर्त्ति की आशा की है।

प्रश्न होता है कि 'देवों की अवः' की कामना क्यों? इसका समाधान यह है कि वे भगवान् के मार्ग पर चल कर अभीष्ट सिद्ध कर चुके हैं। जिस मार्ग से प्रभु के प्यारे चलते हैं, उसी मार्ग पर चलना चाहिये। मनु जी भी कहते हैं—

तेन यायात्सतां मार्गेण तेन गच्छन्न रिष्यति=
मनुष्य सत्पुरुषों के मार्ग पर चले, उस पर चलने से वह हानि नहीं उठाता।
भगवान् को प्राप्त करने से पूर्व भगवत्प्रेमियों की प्रीति प्राप्त करनी ही पड़ती है। अत. कहा—
तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे=देवों की उस रक्षा प्रीति को हम आज ही चाहते हैं चुनते हैं।



विद्वानों की महिमा

ओ३म्। क्रतूयन्ति क्रतवी हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्या दिशः।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु अधि मे कामा अयंसत ॥ ऋ० १०।६४।२

(क्रतवः) क्रतुशील=कर्म्मशील महात्मा (क्रतूयन्ति) कर्म्म करते हैं (हृत्सु) हृदयों में (धीतयः) ध्यान धरते हैं (वेना.) महाबुद्धिमान् कान्तिमान् (वेनन्ति) बुद्धि-कान्ति का आचरण करते हैं (आ+दिशः) आदेश करने वालों को (पतयन्ति) गिराते हैं। (एभ्यः) इनसे (अन्यः) भिन्न दूसरा कोई (मर्डिता) सुखदाता (न) नहीं (विद्यते) है। अतः (मे) मेरे (कामाः) मनोरथ (देवेषु+अधि) देवों में ही (अयसत) रुके हैं, नियन्त्रित हैं।

इस मन्त्र में अत्यन्त संक्षेप से विद्वानों का महत्त्व बताया गया है—

१. **क्रतूयान्ति क्रतवाः**=वे क्रतु होते हैं, और कर्म्मशील होते हैं, और कर्म्म करना ही पसन्द करते हैं। विद्वान के सबन्ध में मुण्डको १०।३।१।४ में कहा है—

विजानत् विद्वान् भवति नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

समझदार विद्वान् बहुत नहीं बोलता, आत्मा में ही खेलता और आत्मा ही से प्रति करता है। और यह ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ **क्रियावान्** होता है।

अर्थात् विद्वान् लिये क्रिया=कर्म्म अत्यन्त आवश्यक है। जब ब्रह्मज्ञानियों में उत्तम विज्ञानी विद्वान् क्रियावान् होता है तो साधारण जनों को तो अवश्य ही क्रियामय होना चाहिये। वेद में भी इसी आशय से कहा है—**ते हि देवस्य सवितुः सवीमनि क्रतु सचन्ते सचितः सचेतसः** (ऋ. १०।६४।७)=

वे समझ बूझवाले सुचेत मनुष्य सविता परमात्मा के निर्देश में रहते हुए कर्म्म का सेवन करते हैं। विद्वान का आदर्श भगवान् है, जब वह सतत क्रियाशील है तो उसका अनुकरण करने के अभिलाषी कैसे अकर्म्म रह सकते हैं? अकर्म्म को वेद में दस्यु कहा है। भगवान् के विज्ञानी विद्वान् दस्यु नहीं बनेंगे।

२. **हृत्सु धीतयः**। दिलों में ध्यान धरते हैं। अर्थात् धारणा ध्यान का अभ्यास करते हैं। केवल कर्म्मठ ही नहीं होते, वरन् मनन भी करते हैं।

३. **वेनन्ति वेनाः**। उन के आचारों से बुद्धि और कान्ति की स्पष्ट झलक आती है। उनके सारे कर्म्म ज्ञान और बुद्धि का परिचय देते हैं, इसके कारण उन में विशेष कान्ति झलकती है।

४. **पतयत्यादिशः**—अन्यायी आदेश कर्त्ताओं को गिरा देते हैं। कर्म्म, ज्ञान और बुद्धि का फल है सदसद्विवेक, न्याय-अन्याय का ज्ञान। विद्वान् भरसक अन्याय अत्याचार का विरोध करते हैं।

५. **न मार्डिता विद्यते अन्य एभ्यः**—इन के बिना अन्य कोई मनुष्य सुखदाता नहीं है। जो कर्म्मठ, ज्ञानी और बुद्धिमान् हैं साथ ही अन्याय के विरोधी हैं। उन से बढ़कर और कौन मनुष्यजाती का हितकारी हो सकता है? विद्वनों की सदा कामना रहती है—

सदा देवास इलया सचेमहिं (ऋ १०।६४।११) हम विद्वान सदा ज्ञान और वाणी से युक्त रहें। अर्थात् हम सदा वाणी का प्रयोग अपने ज्ञान के अनुसार करें। कैसी कमनीय कामना है? विद्वानों के इन गुणों से मोहित होने के कारण **देवेष्वधि मे कामा अयंतस**= देवों में मेरे मनोरथ रुके हैं। अर्थात् मैं भी देव=विद्वान् बनना चाहता हू।

उत्तम उपदेशक पाप से बचाएं

ओ३म्। अवन्तु: न पितर: सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा।
रथं न दुर्गाद्वसव: सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्त्तन ॥ ऋ. १।१०६।३

(सुप्रवाचना.) उत्तम प्रवाचन करने वाले=पढ़ाने और उपदेश करने वाले (पितर:) पितर=ज्ञानी गुरु (उत) और (देवपुत्रे) दिव्य सन्तान वाली (ऋतावृधा) ऋत से बढ़ने वाली (देवी) दिव्य-गुणयुक्त, या व्यवहारसाधिका माता और पिता (न:) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें कार्य्य सिद्धि करें, हमें तृप्त करें। हे (सुदानव:) उत्तम दानी (वसव.) वसुओ ! (दुर्गात रथं न) बुरे मार्ग से रथ की भांति (विश्वस्मात) संपूर्ण (अंहस.) पाप से (न:) हमें (नि:+पिपर्तन) सर्वथा बचाओ।

अज्ञान के कारण ही मनुष्य की पाप कर्म्म में प्रवृत्ति होती है। माता पिता गुरु पाप से बचा सकते हैं। बाल्यावस्था में बालक माता और पिता के पास रहता है. माता पिता के आचारों व्यवहारों और संस्कारों का बालक पर प्रभूत प्रभाव पड़ता है। उठना, चलना, फिरना, बोलना, अङ्गसंचालन आदि समस्त क्रियाओं में माता पिता के व्यवहारों की छाप होती है। माता पिता चाहें तो बालक को शुद्ध संस्कार डाल कर, अपने आचार व्यवहार से उसे दिव्यगुण संपन्न महात्मा बना दें, और चाहें, तो उसे जन समाज का विनाशकारी बना दें। मनुष्य की भलाई बुराई का मूल साधारणतया उनके माता पिता में खोजना चाहिये। इस आयु में पड़े संस्कार प्रायः अमिट से होते हैं। इसके बाद आचार्य्य का स्थान है। आचार्य्य का अर्थ है—आचारं ग्राहयति=जो आचार सिखलाये, सो आचार्य्य। यदि आचार्य्य योग्य हो, तो वह कायापलट देता है, माता पिता के डाले संस्कारों को उलट देता है।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि माता पिता के कुसंस्कारों को या बालक के जन्मगत दुष्टसंस्कारों को हटाने के स्थान में आचार्य्य ने उनको पुष्ट किया है, और बालक युवक या प्रौढ़ होकर दुर्दान्त हो गया है. और पतन की चरम सीमा तक पहुंच गया है कि उसे किसी महात्मा के दिव्य उपदेश सुनने का सुअवसर मिलता है। उस जीवन पलटने वाले उपदेश से उसके जीवन में सहसा एक आश्चर्यजनक विस्मयकारक परिवर्तन आ उपस्थित होता है, और जो कल पाप पंक में लतपथ था आज प्रायश्चित्त के पावन अश्रुजल से अपना सारा मल प्रक्षालन कर उज्ज्वल, विमल बन गया है। नया जीवन देने के कारण वे महात्मा सचमुच पिता कहलाने के अधिकारी हैं। ऐसे नव जीवन दाता महात्माओं को इस मन्त्र में 'पितर' कहा गया है और कामना की गई है—

अवन्तु न: पितर: सुप्रवाचना =सुप्रवाचन पिता हमारी रक्षा करें।

ऐसे महापुरुष सचमुच पितर हैं।

यहा 'पितर:' शब्द का विशेषण 'सुप्रवाचना' ध्यान देने योग्य है। सुप्रवाचनः का अर्थ है उत्तम वाचने वाले, उत्तम उपदेश और अध्यापन करने वाले, **Good speakers. Good lecturers.**

रस्सी की भांति पाप को मुझ से शिथिल कर

ओ३म्। वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य।

मा तन्तुश्छेदि वयतो धिय मे मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः ॥ऋ. २।२८ ५॥

(मत्) मुझ से (रशनाम्+इव) रस्सी की भांति (आगः) पाप-भावना को (वि+श्रथाय) शिथिल करदे। हे (वरुण) वरणीय भगवान्। (ते) तेरे (ऋतस्य) ऋत की (खाम्) डोरी को (ऋध्याम) हम बढायें। (मे) मुझ (धियम्) बुद्धि, ज्ञान, ध्यान का (वयतः) ताना बाना बुनने वाले का (तन्तुः) जीवनतन्तु (मा) मत (छेदि) टूटे। और (अपस') मेरे कार्य्य—उद्देश्य की (मात्रा) मात्रा (ऋतोः) ऋतु से, समय से (पुरः) पूर्व (मा) मत (शारि) फूटे।

पापतापनाशक प्रभो! मैं तेरी शरण में आया हूँ। पाप-वासना की ज्वाला में जल रहा हूं। प्रभो! तू ही इनको शान्त कर। नाथ। मेरे पाप की डोरी लम्बी है और इसने मुझे कस के जकड़ रखा है। मेरी आप से विनती है—

विमच्छ्रथाय रशनामिवागः=मुझ से रस्सी की भांति पाप की वासना ढीली कर।

प्रभो। पाप से ही मैं छुटकारा नहीं माग रहा, मैं तो पाप के मूल-वासना-की वास से त्राण चाहता हूँ। अतः कृपा कर। कृपालो। मैंने सुना है कि—

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जन यस्तुभ्य दाशान्न तन्महो अश्नवत् ॥ऋ २।२३।४—

जो अपना आपा तेरे अर्पण कर देता है, उसे तू उत्तम रीति से चलाता है, उस जन की रक्षा करता है और उसको पाप नहीं व्यापता। और—

न तमहो न दुरित कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः।

विश्वा इदस्माद्ध्वरसो वि बाधसे य सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ॥ऋ २।२३।५॥=

हे महान् रक्षक! बड़ों के भी पालक प्रभो! तू उत्तम रक्षक जिसकी रक्षा करता है, उसको कहीं से भी पाप और दुर्गति प्राप्त नहीं होती। समाज-शत्रु और द्विजिह्व भी उसे दुःख नहीं दे पाते हैं। इससे सभी पीड़ाओं को तू दूर भगाता है।

अपना आपा जिसने तुझे सौंप दिया, उसकी रक्षा तो तू स्वय ही करेगा। मैं भी अपना आप तुझे सौंपता हू। ले ले।

विपत्तारक। दु खों से छूटने तथा तेरी रक्षा का पात्र बनने के लिये—

ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य=वरुण हम तेरे ऋत की डोरी को बढायें।

तेरे बताये नियम के अनुसार चलें। उसके अनुसार चलते हुए—

मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे=

तदनुसार ज्ञान कर्म्म का ताना बाना बुनते तनते मेरी जीवन की तन्तु बीच में न कट जाये।

मैं अपना उद्देश्य इसी जन्म में पूरा कर जाऊँ।

मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः=मेरे कर्म्म की मात्रा समय से पूर्व न टूटे।

अर्थात् मैं अपने कर्त्तव्य कर्म्मों की इतिश्री करके ही जाऊँ। यह तभी सम्भव हो सकता है कि मुझे पाप की उलझन से छुटकारा मिल चुका हो। अतः भव-भयभजन, कष्टनिकन्दन—

दामेव वत्साद्वि मुमुरध्यहः (ऋ. २।२८।६)=बच्चे से (बछड़े से) रस्सी की भाति पाप को छुड़ा।

क्योंकि

नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे (ऋ. २।२८।६)=तुझसे दूर रह कर तो मैं आख भी नहीं झपका सकता।

अतः पिता! पाप छुड़ा और अपने पास बसा।



वरुण ! तुझे नमस्कार

ओ३म् । नमः पुरा ते वरुणोत नूनमुतापरं तुविजात ब्रवाम ।
त्वे हि कं पर्वते न श्रितान्यप्रच्युतानि दूळभव्रतानि ।।ऋ. २।२८।८।।

हे (वरुण) वरणीय स्वीकरणीय वरेश्वर परमेश्वर । (पुरा) पहले भी (ते) तुझे (नमः) नमस्कार हमने किया (उत) और (नूनम्) अब भी करते हैं । हे (तुविजात) महाशक्ते । बल में प्रसिद्ध परमसिद्ध ! (उत) और (अपरम्) आगे को (ब्रवाम) करते रहें । हे (दूलभ) दुर्लभ ! (पर्वत+न) पर्वत के समान (त्वे+हि) तुझ ही में (अप्रच्युतानि) च्युत न होने वाले, न टूटने वाले (व्रतानि) व्रत, नियम (कम्) अनायास (श्रितानि) आश्रित हैं, रहते हैं ।

स्तुति-मिष से मनुष्य मानो प्रतिज्ञा कर रहा है कि मैं सदा तुझे नमस्कार करता रहूं । पहले भी करता रहा हूँ, अब भी करता हूं, आगे भी करता रहूंगा । भगवान् को कोई वस्तु हम दे नहीं सकते ! एक इस कारण से कि उसे किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है । दूसरे इस हेतु से कि हमारे पास जो कुछ भी है, सभी उसी का दिया हुआ है । अतः नमस्कार के सिवा हमारे पास और देने को, अर्पण करने को कुछ भी नहीं रहता । वेद में इसी कारण बार बार नमस्कार करने की चर्चा आती है ।

भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम (य. ४०।१६)=हम तुझे बहुत बहुत नमस्कार वचन कहें ।
हुवे देवं सवितारं नमोभिः (ऋ २।३८।६)=मैं नमस्कारों द्वारा जगदुत्पादक प्रभु को बुलाता हूं ।

अस्मै बहूनामवमाय सख्ये यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः ।
स सानु मार्ज्मि दिधिषामि बिल्मैर्दधाम्यन्नैः परि वन्द ऋग्भिः ।।ऋ. २।३५।१२।।=

हम इस अनेकों के रक्षक मित्र का यज्ञों, नमस्कार और हवियों से सत्कार करते हैं । मैं शिखर को शुद्ध करता हू, प्रकाशों के द्वारा बार बार धारण करता हूं । अन्नादि के द्वार रखता हूँ । और ऋचाओं=मन्त्रों के द्वारा पूर्णतया वन्दना करता हूं ।

सचमुच भगवान् **नमसोपसद्य** =नमस्कार से प्राप्त हो सकता है । उसकी समता जब किसी भांति भी कोई नहीं कर सकता, तो सिवा झुकने के और उपाय भी क्या रह जाता है ? किन्तु नमस्कार का यह भाव नहीं है कि बस हाथ जोड़ कर बैठे रहे, वरन् अपना आचार भी उत्तम बनाना होगा । यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि हमारे नमस्कार आदि से पसीज कर भगवान् अपने विधानों को नहीं तोड़ता ।

त्वे हि कं पर्वते न श्रितान्यप्रच्युतानि दूलभ व्रतानि—
हे दुर्लभ प्रभो ! पर्वत में की भांति तुझ में ही अटूट नियम अनायास रहते हैं ।

काव्यमयी रीति से प्रभु के नियमों की अटलता समझाई गई है । वेद में स्पष्टतया भी भगवान् के नियमों की अबाध्यमानता का बखान है—

अदब्धा वरुणस्य व्रतानि (ऋ.)—वरुण के नियम अटल हैं ।

अतः नमस्कार के साथ विचार और आचार वा सुधार भी आवश्यक है । नमस्कार का अर्थ है, कि जब भगवान् के विधान अबाध्यमान जान लिये, तब अभिमान छोड़ कर नम्रता से उनके अनुसार चलना चाहिये । दूसरे शब्दों में कहें, तो आत्मसमर्पण करने का आदेश वेद ने दिया है ।

१६६

विष्णु के परमपद में अमृत का कूप

ओ३म्। तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।

उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥ ऋ० १।१५४।५

(अस्य) इस सर्वव्यापक के (तत्) उस (प्रियम्) प्रिय, अभीष्ट (पाथः) अन्न को मैं (अभि+अश्याम्) सर्वथा खाऊं (देवयवः) भगवद्भक्त भगवान् के अभिलाषी (नरः) मनुष्य (यत्र) जिसमें (मदन्ति) आनन्दित होते हैं, मस्त होते हैं। (हि) सचमुच (सः) मनुष्य (उरुक्रमस्य) महापराक्रमी, विशाल सृष्टि के रचयिता का (इत्था) इसी भांति (बन्धुः) बन्धु हो सकता है। (विष्णोः) विष्णु के (परमे) परम (पदे) पद में (मध्वः) मधु का, अमृत का (उत्सः) कूप, स्रोत है।

एक आस्तिक जब भगवत्प्रेमियों, भगवान् के भक्तों को आनन्दविभोर देखता है, तो उसे विचार आता है कि ये लोग कैसे मस्त हैं? मैं भी उस मस्ती को प्राप्त करूं। जो अन्न इन्होंने खाया है। मैं भी खाऊं—**तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति**=

जिसके कारण से देवभक्त मनुष्य आनन्दित होते हैं, मैं भी उस प्रिय अन्न को खाऊं।

इन्हें वह अन्न कहां से मिला? भगवान् से। क्योंकि

विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः प्रिया धामान्यमृत दधानः॥ ऋ० ३।५५।१०=

रक्षक भगवान् उस सर्वश्रेष्ठ अन्न, और प्रिय स्थानों की रक्षा करता है और अमृत=मुक्ति देता है।

चूंकि इस प्रिय परम पाथ की रक्षा भगवान् करता है, अतः

सचेतसो अभ्यर्चन्त्यत्र (ऋ० १०।१।३)=समझदार लोग इसके लिये भगवान की अर्चा=पूजा करते हैं।

जो यह भली भांति समझ ले कि भगवान् ही उस परम प्रिय अन्न का रक्षक है, और वह भगवान् की आराधना में लग जाये तो

उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था=

वह सचमुच महापराक्रमेश्वर सर्वव्यापक भगवान् का बन्धु बन जाता है।

विष्णु का बन्धु बनने से उसे भी आनन्द मिलने लगता है क्योंकि

विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः=विष्णु के परम पद में अमृत का कूप है।

इसी लिये—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥ ऋ० १।२२।२०=

ज्ञानी जन विष्णु के उस परम पद को आकाश में फैले प्रकाश की भांति सदा देखते हैं। देख कर ही न रह जाते, वरन्

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्॥ ऋ० १।२२।२१

स्तुतिकुशल, जागरूक, सावधान बुद्धिमान् विद्वान उसको [अपने हृदय में] सदा प्रदीप्त करते हैं, जो विष्णु का परम पद है। अर्थात् पहले उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं, और फिर उसको हृदय में स्थान देते हैं। प्रभो! हमें भी अपना परमपद दिखला। हमें भी उस अमृत-कूप का मधुर जल पिला।

इसके रहस्य को तू ही जानता है

ओ३म् । परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति ।

उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से ॥ ऋ० ७।६६।१

हे (वृधान) सब से महान् । तू (मात्रया) परिमाण और (तन्वा) विस्तार से (परः) परे है [अर्थात् तेरा परिमाण और विस्तार अपार है] (विद्म) हम जानते हैं कि (पृथिव्याः) पृथिवी से अतिरिक्त (ते) वे (उभे) दोनों (रजसी) लोक—अन्तरिक्ष और द्यौलोक (ते) तेरे (महित्वम्) महत्व को, महिमा को (न) नहीं (अश्नुवन्ति) प्राप्त कर सकते । हे (विष्णो) सर्वव्यापक (देव) परमेश्वर । (परम्) परन्तु (त्वम्) तू (अस्य) इसके रहस्य को (वित्से) प्राप्त है, जानता है ।

सर्वाधार के विस्तार का पार कौन पा सकता है । समस्त ससार उसके सामने असार है । ससार में जितने भी पदार्थ हैं, चाहे वह महान् हों चाहे क्षुद्र, सभी के विस्तार का पार है, सभी के परिमाण का प्रमाण है, माप तोल है, किन्तु भगवान्

परो मात्रया तन्वा=माप और विस्तार से परे है ।

यतः तू विस्तार और माप से पार है । अतः

न ते महित्वमश्नुवन्ति=तेरे महिमा को नहीं पा सकते ।

जड़ में ज्ञान नहीं, अतः उसे तो भगवान् का ज्ञान ही नहीं हो सकता । परतन्त्र होने के कारण वह समीप है । समीप से असीम की कल्पना नहीं की जा सकती । जीव चेतन होता हुआ अल्पज्ञ है, अतः वह भी पार नहीं पा सकता । अगले मन्त्र में बहुत स्पष्ट शब्दों में इस अपार विस्तार का कथन किया है—

न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप । ऋ० ७।६६।२

हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! न कोई उत्पन्न [अर्थात् भूतकाल में] और न उत्पद्यमान और उत्पत्स्यमान [वर्तमान और भविष्यत्काल में] तेरी महिमा के परले अन्त को पा सका, पा सकता और पा सकेगा ।

न पहले किसी ने भगवान् की महिमा का सार जाना, और न आगे उसको कोई जान सकेगा ।

निस्सन्देह द्यौ बहुत विस्तीर्ण है, अन्तरिक्ष=आकाश का बहुत विशाल अवकाश है, पृथिवी भी पर्य्याप्त प्रथित है किन्तु वे भी तेरे महत्त्व को नहीं पा सकते । यत.

व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः । ऋ० ७।६६।३

हे विष्णो । तू इन लोकों को थाम कर रखता है और पृथिवी को तो मानों चारों ओर किरणों से घेर रखा है ।

अर्थात् पृथिवी इन सब में छोटी है । उसे तो प्रकाश-किरण ही घेर लेते हैं । इन विशाल लोकों को जो धारण कर रहा है, अवश्य ही वह इन सबसे महान् है । यतः वह इनको धारण कर रहा है, थाम रहा है, प्रकाश से व्याप रहा है, सर्वव्यापक है, अत.

त्व परमस्य वित्से=तू इस ससार के सार को जानता है ।

१६८

भगवन् ! मुझे आस्तिक बना

ओ३म्। इन्द्र मृळ मह्यं जीवातुमिच्छ चोदय धियमयसो न धाराम्।
यत्किं चाहं त्वायुरिदं वदामि तज्जुषस्व कृधि मा देववन्तम्॥ऋ० ६।४७।१०

हे (इन्द्र) परमेश्वर। (मृळ) कृपा कर (मह्यम्) मेरे लिये (जीवातुम्) जीना (इच्छ) चाह। मेरी (धियम्) बुद्धि को (अयसः+धाराम्+न) लोहे की धार की भांति (चोदय) प्रेरणा कर। (त्वायुः) तेरा अभिलाषी (अहम्) मैं (इदम्) यह (यत्+किं+च) जो कुछ (वदामि) कहता हूं (तत्) उसे (जुषस्व) प्रेमपूर्वक स्वीकार कर और (मा) मुझ को (देववन्तम्) भगवान् वाला, आस्तिक (कृधि) बना।

हे विश्वेश्वर। अखिलेश्वर। परेश्वर। मदेश्वर। परात्पर। परमेश्वर। आप परम दयालु हो, करुणामृतवारिधि हो। यह विशाल संसार आप की दया तथा कृपा का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जीवनदातः! जगद्विधातः। कर्मफल-प्रदातः। धातः आप महादानी हो, आप के दान की महिमा कौन वर्णन कर सकता है। सचमुच **'भद्रा इन्द्रस्य रातयः'** 'आप महान् भगवान् के दान उत्तम हैं,' हितकारी हैं। प्रियतम! स्नेहमय प्रभो। आप की तो मार में भी प्यार निहित रहता है।

ज्ञान के भण्डार। आपने अपनी स्वाभाविक दया से सर्गारंभ में मनुष्य को मार्ग दिखाने के लिये, बुद्धि को सहयोग देने के, आंख के लिये सूर्य्यसमान, वेदज्ञान दिया। जिससे जीवों का कल्याण हुआ, होता है और होता रहेगा। कृपासागर! मुझ पर कृपा कीजिये, करुणामृत की वृष्टि कीजिये। संसार के विषयविष से तड़प रहे प्राणियों पर अपनी विषापहारी भारी कृपावृष्टि कीजिये। ताकि तेरी कृपामयी छत्रछाया में रहता हुआ मैं जीऊं। प्रभो! यह जीवन जीवन नहीं है, जिसमें तेरी सुमति न हो। कृपालो!

'प्र णो नय प्रतरं वस्यो अच्छ (ऋ. ६।४७।७)=तू हमें भली भांति दीर्घ जीवन प्राप्त करा।

पूजनीय। मेरी जीने की इच्छा है। मृत्यु को मुझ से परे भगा। जीता हुआ ही तो तेरी पूजा कर सकूंगा। तेरी आराधना के विना मेरे कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। महात्मा जन तुझे दुष्पार कहते हैं, किन्तु प्रभो, मेरी विनती है कि

भवा सुपारो अतिपारयो नः (ऋ ६।४७।७)=तू सुपार बन जा और हमें पार लगादे।

भवसागर के भयङ्कर प्रवाह में पड़ कर प्रभो हमें कुछ भी नहीं सूझ रहा। बुद्धि कुण्ठित हो रही है, कार्य्य-अकार्य्य का विवेक नष्ट सा होता जा रहा है, अतः विवेक प्रदात।

चोदय धियो अयसो न धाराम्=मेरी बुद्धि शस्त्र की धार की भांति तीक्ष्ण कर दे।

प्रभो! यह सूक्ष्म विषय के तल तक पहुंचने वाली हो। और सदा मेरी तुझ में प्रीति बढ़ाने वाली हो।

प्रभो! सब संसार देख लिया, इसमें सार नहीं है। तू सार है, सारवान् है। मुझे सार को अपनाने की, धारने की बुद्धि दे।

यत्किंच त्वायुरिदं वदामि तज्जुषस्व कृधि मा देववन्तम्

भगवन्! यह जो मैं तुझ से निवेदन कर रहा, इसे कृपया प्रीतिपूर्वक स्वीकार कीजिये और मुझे आस्तिक बना दीजिये।

और--**आरे अमतिम्**=प्रभो! मुझ से नास्तिकता दूर हो।

परमेश्वर! कृपा करके तू

प्राणः पुरएतेव पश्य (ऋ. ६।४७।७)=तू हम पर ऐसी कृपा दृष्टि कर, जैसे नेता अपने अनुयायिओं पर करता है।

मुझे कोई युक्ति नहीं आती, कोई नीति नहीं आती। तू ही मेरे लिये

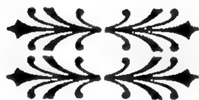
भवा सुनीतिरुत वामनीतिः (ऋ. ६।४७।७)=

तू ही मेरे लिये उत्तम नीति और सुन्दर कमनीय नीति है। जिधर तू चलाये, उधर ही जाऊं।

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम (ऋ. ६।४७।१३)=

तुझ पूज्य की सुमति तथा कल्याण सौहार्द में हम रहें।

कृपा कर प्रभो! इन्द्र मृळ। **धियो यो नः प्रचोदयात्**।



१६६

हम कल्याणकारी निर्दोष मार्ग पर चलें

ओ३म् । अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेहसम् ।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥ ऋ ६ । ५१ । १६

हम (स्वस्तिगाम्) सुख पूर्वक ले जाने वाले (अनेहसम्) निर्दोष (पन्थाम्) मार्ग को (अपि) ही (अगन्महि) प्राप्त करें, चलें (येन) जिस से मनुष्य (विश्वाः) सम्पूर्ण (द्विषः) द्वेष भावों को (परि+वृणक्ति) सर्वथा त्याग देता है और (वसु) धन (विन्दते) प्राप्त करता है ।

हे पथिकृत् ! मार्ग-निदर्शक ! पथ-प्रदर्शक ! संसारारण्य में आकर हम मार्ग भूल गये । किधर जायें और किधर न जायें । हे गुरो ! यहां मार्ग बताने वाला भी कोई नहीं है, किस से पूछें ? क्या भटक भटक कर सिर पटक पटक कर मर जायें ? प्रभो ! अन्त में भी तू ही मार्ग दिखलायेगा और संसार-जंगल से पार लगायेगा, तो अभी से ही क्यों न ऐसी कृपा करता ? प्रभो ! अभी से, अभी से, कृपया

सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति । य एवेदमिति ब्रवत् (ऋ ६ । ५४ । १)

ऐसे विद्वान् से मिला, जो स्पष्ट उपदेश करता हो और भगवान् ! 'यह ऐसा है' इस प्रकार जो कह सकता हो ।

अस्पष्ट, सन्दिग्ध बात करने वाले से हमें दूर हटा । उसे भी कल्याण मार्ग दिखा । जिसे स्वयं संशय है, कर्तव्य अकर्तव्य का निश्चय नहीं है, वह दूसरों को निर्भर होकर कैसे बता सकता है । अतः हमें तो अग्ने ! प्रभो ! असन्दिग्ध, संशय-शून्य विद्वान् से मिला, ताकि

अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेहसम्=हम सुखपूर्वक ले जाने वाले, निष्पाप मार्ग पर ही चलें ।

पथ-प्रदर्शक प्रभो ! यह तभी हो सकता है, जब तू या तेरा कोई प्यारा मार्ग दिखलायें । प्रियतम ! हमें तो तेरे प्यारों की भी पहचान नहीं है । तेरे प्यार को पायें, अतः प्रभो ! तू ही कृपा कर ।

परमात्मन् ! दुर्गुणनाशकारिन् ! कुकामकुलोभनिवारक ! भद्रकारक ! हमें ऐसे मार्ग पर चला, जिस पर चलकर मनुष्य

विश्वा परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु=संपूर्ण द्वेष भावनाओं को त्याग देता है और धन पाता है ॥

मैं किसी से द्वेष न करूं । मुझ से कोई वैर-विरोध न करे ! सब प्रीतिपूर्वक यथायोग्य धर्मानुसार व्यवहार करूं और सब मुझ से स्नेह से, प्रीति से प्यार से व्यवहार करें । भगवन् द्वेष रूपी डाकू हमारे प्रेमधन का अपहरण कर रहा है । इसे हमारे हृदयमन्दिर से बाहर करने का बल दे जिससे हम धन की रक्षा कर सकें और तेरा प्रीतिरूप धन प्राप्त कर सकें ।

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु (अ १६।१५।६)=सभी दिशायें मेरी मित्र हों ।

कहीं भी कोई मेरा वैरी न हो, अप्रीति करने वाला न हो । सब के सब सब से प्रीति करने वाले हों । और हम सब

तस्य ते शर्मन्नुपसद्यमाने राया मदेम तन्वा तना च । ऋ ६ । ५६ । १३= तुझ ऐसे कृपालु के कल्याणशरण प्राप्त होने पर धनधान्य, तन सन्तान से आनन्दित हों ।

पुष्टिदात: !

न रिष्येम कदाचन (ऋ ६ । ५४ । ६)= हम कभी पीड़ित न हों ।

जो तुम्हारे भले के लिये देता है, वह अपना घर बनाता है

ओ३म् । प्र स क्षयं तिरते वि महीरिषो यो वो वराय दाशति ।
प्र प्रजाभिर्जायते धर्म्मणस्पर्यरिष्टः सर्व एधते ॥ ऋ० ८।२७।१६

(स.) वह अपना (क्षयम्) घर, निवासस्थान (प्र+तिरते) बढ़ाता है। और (महीः) बहुत (इषः) अन्न (वि) बांटता है (य.) जो (वः) तुम्हारे (वराय) भले के लिये (दाशति) देता है वह (प्रजाभिः) सन्तानों के द्वारा (प्र+जायते) समृद्ध होता है और (अरिष्टः) अहिंसित होता हुआ (सर्वः) सब तरह (धर्म्मणः+परि) धर्म्म के कारण (एधते) बढ़ता है। अथवा

(स.) वह (क्षयम्) विनाश को (प्र+तिरते) अच्छी तरह पार कर जाता है (यः) जो (वः) तुममें से (वराय) श्रेष्ठ के लिये (महीः+इषः) महती इच्छायें, या बहुत अन्न (वि+दाशति) देता है वह सन्तानों के साथ समृद्ध होता है और दुःख रहित होकर धर्म्म के कारण सब तरह समृद्ध होता है।

इस मन्त्र मे दान देने की प्रेरणा के साथ पात्रपात्र-विचार का सकेत भी है। दान अवश्य देना चाहिये। भगवान् ने हमे दिया है, हम भी आगे दें, तो यह भगवान् के आराधने का सरल सा उपाय बन जाता है। वेद कहता है—

जहि न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः (ऋ. ६।५१।१४)=

बनिये के समान जो अकेला खाने वाला है, उसको मार डाल, क्योंकि वह भेड़िया है।

अकेले खाने वाले के लिये भय मुख बायें सामने खड़ा है। अत वेद कहता है—

प्र स क्षयं तिरते ··दाशति

वह तो विनाश को लाघ जाता है, जो श्रेष्ठ मनुष्य को दान देता है

ससार में अन्नदान की समता कोई नहीं कर सकता। वर, वस्त्र, सवारी के बिना तो जीवनयात्रा चल जाती है किन्तु अन्न के बिना बड़ा सकट आता है। **अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः**=अन्न तो प्राणियों का प्राण है। जीवनधारियों का जीवनाधार है। अतः अन्नदान मानो जीवनदान है। जीवनदान के समान कोई दान हो ही कैसे सकता है? इसी कारण यहा भी

महीरिषो दाशति=[बहुत अन्न ˙ देता है] कहा है। इष्=अन्न के साथ 'महीः' विशेषण बहुत गभीर भाव का आवेदक है। हमने इसका अनुवाद 'बहुत' किया है। किन्तु इससे भाव पूर्णतया व्यक्त नहीं होता। इसका अर्थ 'पूज्य' कर दिया जाये तो कुछ कुछ भावव्यक्ति में स्पष्टता हो जाती है। जीवनरक्षण के साधन यदि पूज्य नहीं, तो फिर ससार में कोई भी पूज्य नहीं। भगवान् भी तो इसी कारण पूज्य है कि वह जीवनरक्षणसाधन प्रदान करता है। अत. अन्न अवश्य पूज्य है। पूज्य पदार्थ दान करने वाला सब विपत्तियों और कष्टों को पार कर जाता है, मानो वह अपने लिये विशाल घर बना रहा है। अन्नदान बड़ा धर्म्म है। धर्म्म का फल वृद्धि है—

धर्म्मणस्पर्यरिष्टः सर्व एधते=

धर्म्म के कारण, किसी प्रकार की हानि न उठाता हुआ, सब प्रकार से बढ़ता है।

गृहस्थ के लिये वृद्धि का प्रमाण धनधान्य और सन्तान की वृद्धि है, अतः वेद कहता है—

प्र प्रजाभिर्जायते=सन्तान के कारण समृद्धिमान् होता है।

दानयुक्त न्याय स्नेह और लोकसंग्रह वाला युद्ध के बिना प्राप्तव्य को पाता है

ओ३म्। ऋते स विन्दते युधः सुगेभिर्यात्यध्वनः।
अर्यमा मित्रो वरुणः सरातयो यं त्रायन्ते सजोषसः॥ ऋ. ८।२७।१७॥
ओ३म्। अज्रे चिदस्मै कृणुथा न्यंचनं दुर्गे चिदा सुसरणम्।
एषा चिदस्मादशनिः परो नु सास्रेधन्ती विनश्यतु॥ ऋ० ८।२७।१८॥

(यम) जिस की (सरातयः) दानयुक्त (अर्यमा) न्याय, समादार (मित्रः) स्नेह और (वरुणः) लोकसग्रह, अपनाने का भाव (सजोषसः) प्रीतिपूर्वक रक्षा करते हैं। वह (युधः+ ऋते) युद्ध के बिना (विन्दते) प्राप्तव्य) प्राप्त कर लेता है और (सुगेभिः) सुखपूर्वक (अध्वनः) अपने मार्गों पर (याति) चलता है। (अस्मै) इस के लिये (अज्रे) सपाट स्थान में (न्यचनम्) ढलवान् (कृणुथ) कर देते हैं (दुर्गे+चित्) दुर्गम स्थल में भी (आ) सब ओर (सुसरणम्) सरलता से चलने का स्थान बना देते हैं। (एषा) यह (सा) वह (अशनिः) वज्र समान विपत्ति (चित्) भी (अस्रेधन्ती) दुःख न देती हुई (नु) शीघ्र ही (अस्मात्) इस से (परः) परे हो कर (वि+नश्यतु) नष्ट हो जाये।

जिस की यह इच्छा हो कि वह अनायास ही अपने इच्छित पदार्थों की प्राप्ति कर सके, उसे चाहिये कि उसे अर्यमा, मित्र और वरुण देवों को=दिव्य भावों को अपनाये। जिस मनुष्य ने अर्यमा देव, न्यायरूपी दिव्य भाव को, आदरणीयों के आदर भाव को अपनाया हो, जगत् में उस का अवश्य मान होता है। लोग उस के लिये मार्ग छोड़ देते हैं। मित्र भाव तो अतीव आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न करता है। योगी लोग मैत्री को चित्तशुद्धि के लिये एक आवश्यक साधन मानते हैं। मैत्री का एक अङ्ग अहिंसा है, उस के परिपाक से तो वैर त्याग देते हैं। यथा—

अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्यागः (यो. द.)=

अहिंसा का परिपाक होने पर अहिंसक के प्रति वैर छोड़ देते हैं और उस के साथ वैरी परस्पर का वैर त्याग देते हैं। ऐसे स्नेही के लिये जगत् में कोई बाधा नहीं रह सकती।

न्याय और आदरणीयों के आदर करने से अन्यायपीड़ितों और आदरणीयों से प्रीति होती है। प्रीति की भावना बढ कर बन्धुता का रूप धारण कर लेती है। अत मित्र के बाद वरुण=अपनाने का भाव आता है। जिसे लोगों को वरण करने, चुनकर अपना बनाने की कला आती है। उस का कोई वैरी विरोधी हो ही नहीं सकता। इन भावों के साथ यदि प्रीतिपूर्वक दान का सम्मिश्रण हो तो इन गुणों वाला—

ऋते स विन्दते युधः सुगेभिर्यात्यध्वनः=
विना युद्धों के वह प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेता है और सरलता से अपने मार्गों पर चलता है।
इसी मन्त्र के भाव को ऋ १।४१।१ में काकु से यों वर्णन किया गया है—



यज्ञ=समाज को उन्नत करो

ओ३म् मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपर्णीं कृणुध्वम् ।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्रणयता सखायः ॥ ऋ० १०।१०१।२ ॥

(मन्द्रा) मधुर कर्म (कृणुध्वम्) करो (धिय,) बुद्धियों का (आ) सब ओर (तनुध्वम् विस्तार करो (नावम्) नौका को (अरित्रपर्णीम्) चप्पुओं से सुरक्षित (कृणुध्वम्) करो । (आयुधा) आयुध हथियार (इष्कृणुध्वम्) परिष्कृत करो, सजाओ (अरम्) पूरी तय्यारी (कृणुध्वम्) और (यज्ञम्) सङ्गठन यज्ञ को, (सखाय,) समान विचार वाले हो कर (प्राञ्चम्) प्रोन्नत (प्र+णयत) करो ।

इस मन्त्र में सङ्गठन को उन्नत करने के कुछ साधन कहे गए हैं, जो मनन और आचरण करने योग्य हैं । जिन पर आचरण करने से समाज अवश्य उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है ।

१. **मन्द्रा कृणुध्वम्**=मधुर कर्म्म करो । समाज-सगठन के अर्थ हैं अनेकों मनुष्यों को जिन का ध्येय एक हो, एकत्रित करना । कटुता से, कठोरता से विवश हो कर, भले ही समय यापन करने के लिए कोई किसी सङ्गठन मे आ मिले, किन्तु समय मिलने पर अवश्य ही वह इस का विरोध करेगा । अत. समाज-सङ्गठन के लिए उत्सुक मनुष्यों को अवश्य मधुर कर्म्म करने चाहियें । यजुर्वेद में कहा गया है—

अक्रन् कर्म कर्मकृत. सह वाचा मयोभुवा=कर्म्मशील लोग सुखदायिनी वाणी के साथ कर्म्म करते हैं ।

अर्थात् कर्म्मविज्ञान के ज्ञानी अपने किसी भी कर्म्म में कटुता कठोरता नहीं आने देते । वरन् सदा मधुरता का प्रयोग करते हैं । वाणी का माधुर्य्य अत्यन्त अद्भुत चमत्कार दिखाता है ।

२ **धिय आ तनुध्वम्**=बुद्धियों का विस्तार करो ।

बुद्धि के बिना तो कोई कार्य्य हो नहीं सकता । बुद्धिहीन मनुष्य अनेक सङ्कटों में फंसा रहता है । जितनी बुद्धि की न्यूनता उतनी अधिक पराधीनता । जितनी बुद्धि विशाल, उतनी परतन्त्रता न्यून नीतिकार बुद्धि को बल बतलाते हैं—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्=जिस के पास बुद्धि है, उसी के पास शक्ति है । बुद्धिहीन के पास शक्ति कहां ?

अत. वेद मे आदेश है—

मनीषिणः प्र भरध्वं मनीषाम् (ऋ० १०।१११।१) बुद्धिमानो । बुद्धि को खूब बढ़ाओ ।

और अत एव आर्यों के जप मन्त्र—गायत्री मन्त्र मे आता है—**धियो यो न. प्रचोदयात्**= भगवान् हमारी बुद्धियों को शुभ प्रेरणा दे ।

३. **नावमरित्रपर्णीं कृणुध्वम्**—नौका को चप्पुओं से सुरक्षित करो ।

नौका चलाने के लिये चप्पु चाहियें । चप्पुओं के बिना नौका चलाना भय को आमन्त्रण देना है जैसे नौका के चलाने के लिये चप्पु आवश्यक हैं । ऐसे समाज को सामाजिक शत्रुओं से बचाने के लिये पारस्परिक सहयोग की नितान्त आवश्यक है ।

समाजरूपी नौका के लिये समान विचार, समान उच्चार, समान आचार, समान लक्ष मुख्य चाप्पू हैं। अतः इन का सदा सग्रह रखना चाहिये।

४. आयुधम् इष्कृणुध्वम्=हथियार सजाओ। कुण्ठित जीर्ण हथियारों से नहीं लड़ा जा सकता। अतः साधन सामग्री पूरी तरह परिष्कृत रखनी चाहिये।

५ अर कृणुध्वम्=तय्यार करो।

मनुष्य के पास ज्ञान कर्म्म. क्रियाकुशलता और बुद्धिविशालता-हो तो समाजरूप नौका ठीक चल सकेगी, फिर सारे शस्त्रास्त्र प्राप्त करने सरल होंगे। तय्यारी में किसी प्रकार की बाधा न होगी। वेद कहता है। इस तय्यारी के साथ तुम—

प्राञ्चं यज्ञं प्रणयता सखायाः=तुम सब एक विचार वाले होकर इस यज्ञ को=सङ्गठन को ऊंचा ले जाओ।

समाजोन्नति के लिये विचारों की एकता की अत्यन्त आवश्यकता है, इस के बिना सगठन हो नहीं सकता। इसी वास्ते १०।१०१।१ में कहा है—

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः समानमिग्निमिन्ध्व बह्व सनीळाः—

तुम जब जागो, एक मन और एक आचार वाले हो कर, एक ठिकाना बना कर तुम बहुत से हो कर एक ही आग जलाओ।

अर्थात् तुम्हारा सङ्गठन एक हो। सङ्गठन की एकता बनाये रखने के लिये सावधान रहने, एक मन तथा एक विचार और एक उद्देश्य रखने की भारी आवश्यकता है।

इन सकेतों के अनुसार किया गया समाज विधान कभी दुर्बल नहीं होता।



२०३

घोड़ों को प्रसन्न करो और इष्ट जीतो

ओ३म्। प्रीणीताश्वान् हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्रकोशं सिंचता नृपाणम् ॥ ऋ० १०।१०१।७

(अश्वान्) घोड़ों को (प्रीणीत) प्रसन्न रखो और (हितम्) हित को (जयाथ) विजय करो (रथम्) रथ को (स्वस्तिवाहम्+इत्) कल्याणकारी ही (कृणुध्वम्) बनाओ। (द्रोणाहावम्) द्रोणाहाव (अवतम्) रक्षासाधन (अश्मचक्रम्) आग्नेय पदार्थसमूह को (असत्रकोशम्) कवच-कोश को तथा (नृपाणम्) नृपाण=जनरक्षा के साधन को (सिंचत) उत्तेजित करो।

इस मन्त्र में विजय-साधनों का निर्देश बहुत संक्षेप से किन्तु बलपूर्ण शब्दों में किया गया है।

विजय प्राप्त करना चाहते हो तो

प्रीणीताश्वान्=घोड़ों को प्रसन्न करो, तृप्त करो। अश्व का अर्थ केवल साधारण घोड़े ही नहीं हैं। वरन्—

अश्नुते अध्वानम्=जो मार्ग को व्याप्त करे। अर्थात् उद्देश्य-सिद्धि के सकल साधनों को वैदिक परिभाषा में अश्व कहते हैं। घोड़े, विद्युत्, रथ आदि सभी पदार्थ अश्व हैं। भूखा घोड़ा रथ में नहीं जोड़ा जा सकता। रथ भी चालक उपकरणों के बिना कार्य्य नहीं दे सकता। उसमें भी उचित उपकरण लगाने होंगे। इसी भाव से वेद ने कहा—

प्रीणीताश्वान् हितं जयाथ=अश्वों को तृप्त रखो और हित को विजय करो।

प्रीणीताश्वान् का ही आशय अधिक स्पष्ट शब्दों में कहने के लिये कहा है—

स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्=रथ को सुखधारी ही बनाओ।

अर्थात् युद्धोपकरण ऐसे हों जिनसे अन्त में स्वस्ति=Sound situation उत्पन्न हो।

राज्यशक्ति का मूल=अवत प्रजा है। वह ऐसा कूप है जहां से निरन्तर धनजल, जनजल निकलता रहता है। मूल-रक्षा साधन भी वही प्रजा है। अतः उसे सदा उत्तेजित रखो, ताकि धनजल और जनबल सदा मिलता रहे। ऐसा कोई उपद्रव न होने देना चाहिये, जिससे प्रजा अवत सूख जाये। यदि कभी उसे सींचने की आवश्यकता पड़े, तो उसमें संकोच नहीं करना चाहिये।

'अश्म' विद्युत् के बने शस्त्रों को कहते हैं। अश्मचक्र=वैद्युत-आयुध समूह को उत्तेजित रखो। शत्रु भी आयुधसपन्न होगा, अतः अपने योधाओं की रक्षा के साधन=नृपाण जो कवच आदि हैं उनको भी ठीक रखो, तभी कार्य्यसिद्धि होगी।

व्रज = युद्धशिविर रचाओ

ओ३म् । व्रज कृणुध्व स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्व बहुला पृथूनि ।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ॥ ऋ० १०।१०१।८

(व्रजम्) समुदाय का, शिविर को (कृणुध्वम्) बनाओ (सः+हि) वही (वः) तुम्हारा (नृपाणः) जनरक्षणसाधन है । (बहुला) बहुत से (पृथूनि) विशाल, भारी (वर्म) कवचों को (सीव्यध्वम्) जोड़ो, सियो । (अधृष्टाः) किसी से न दबाये जा सकने वाले (आयसीः) लोहमय (पुरः) नगर, दुर्ग (कृणुध्वम्) बनाओ । (व) तुम्हारा (चमसम्) भोजनपात्र (मा) मत (सुस्रोत्) चूए । (तम्) उसको (दृंहत) दृढ करो ।

पिछले मन्त्र में 'नृपाण' को उत्तेजित करने का आदेश है । इस मन्त्र में 'नृपाण' का तात्पर्य बताया है । नृपाण व्रज है । अतः कहा—

व्रज कृणुध्व स हि वो नृपाणः=

व्रज बनाओ । बाड़ा बनाओ । समुदाय बनाओ छावनी सजाओ, वही तुम्हारा नृपाण है । व्रज का एक अर्थ है जनमत **Public opinion** अर्थात् सब से पूर्व जनमत को अपने पक्ष में करो । वास्तविक नृपाण तो वही है । शेष तो उसके उपकरण हैं । बड़े बड़े और असख्य वर्म सिलाओ । वर्म का अर्थ केवल तनूत्राण=कवच ही नहीं है । समस्त युद्धसाधनों को वैदिक परिभाषा वर्म्म कहते हैं । उनमें कवच भी सम्मिलित है ।

इसमें दो ऐसे साधनों का उल्लेख है जिनके विना कोई युद्ध सफलता में जीता नहीं जा सकता, वे हैं—

१ पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टाः=नगरों को, दुर्गों को लोहमय तथा अधृष्ट बनाओ ।

युद्धसमय में ऐसा न हो कि शत्रु तुम्हारे नगरों पर आक्रमण करके उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दे । इसके लिये प्रबन्ध करना चाहिये । उनकी रचना ऐसी होनी चाहिये, कि अस्त्रों शस्त्रो का वार उस पर बेकार जाये । तथा उसके अन्दर बसने वाले ऐसे वीर, दुर्दान्त हों कि शत्रु आक्रमण का साहस ही न करें ।

२ मा वः सुस्रोच्चमस दृंहता तम्=तुम्हारा भोजनसाधन न चूने लगे, उसे दृढ करो ।

युद्ध के दिनों प्रजा का एक पर्याप्त भाग युद्ध में भाग ले रहा होता है । उससे भोजन व्यय बढ जाता है । उधर कृषि आदि करने वालों की न्यूनता हो जाने से अन्न की उपज बहुत घट जाती है । व्यय अधिक, आय न्यून होने से भोजन भण्डार के समाप्त हो जाने का भय होता है । भोजन के अभाव में सेना लड़ नहीं सकती । और सामान्य प्रजा में भोजन के अभाव से अशान्ति और उपद्रव खडे हो जाते हैं । इससे जीत हार में परिणत हो जाती है । अतः वेद का आदेश है—

मा वः सुस्रोच्चमसा दृंहतोतम्=तुम्हारा भोजन साधन न्यून न होने पाये, उसे दृढ करो ।

२०५

देवों की इच्छा का विघात नहीं होता

ओ३म्। यथा वशन्ति देवास्तथेदसत्तदेषां नकिरा मिनत्।

अरावा चन मर्त्यः॥ऋ. ८।२८।४

(देवाः) देव, निष्काम महात्मा (यथा) जैसा (वशन्ति) चाहते हैं, (तद्) वह (तथा+इत्) वैसे ही (असत्) होता है। (नकिः) नहीं कोई (एषाम्) इनका (आ+मिनत्) विघात कर सकता, (चन) चाहे वह (अरावा) विरोधी (मर्त्यः) मनुष्य हो।

देव=दिव्यगुण युक्त। दिव्य का अर्थ है जिसे चाहते तो सब हों किन्तु प्राप्त सब को न हो सके। अर्थात् असाधारण लोकोत्तर गुणों वाले पदार्थों की देव संज्ञा है। अथवा यास्काचार्य्य जी के अनुसार—

देवो दानाद्, द्योतनाद् दीपनाद् वा (निरुक्त)=जो दान करे, चमके, चमकावे, वह देव।

दाता, प्रकाशमान और प्रकाशक पदार्थ देव हैं। ये जड़ चेतन सभी हो सकते हैं। सूर्य्य प्रकाश तथा जीवन देता है; स्वयं प्रकाशमान है, अन्यों का प्रकाशक भी है, अतः वह देव है। एक ज्ञानी जो ज्ञानदान के आवश्यक कार्य में लगा है, वह भी देव है।

इस मन्त्र में देव से दिव्यगुण वाले चेतन मनुष्य अभिप्रेत हैं। क्योंकि—

यथा वशन्ति देवाः [जैसे देव चाहते हैं] कहा गया है। चाहना=इच्छा चेतन का धर्म्म है। अचेतन में इच्छा होती ही नहीं। अतः यह इच्छा करने वाले चेतन ही हैं।

वैसे भी देव शब्द का एक अर्थ 'विजिगीषु' [विजय की इच्छा-वाला] होता है। इच्छा के साथ थोड़ा बहुत ज्ञान भी होता है। अतः ब्राह्मणों में "विद्वांसो हि देवाः" कहा गया है।

दिव्यगुणकर्म्मस्वभाव वाला जो चाहे उसके होने में कोई आश्चर्य नहीं है। अतः कहा है—

यथा वशन्ति देवास्तथेदसत् जैसे देव चाहते हैं, वैसे ही हो जाता है।

देवों का एक प्रधान गुण ऋत=सत्य आचरण है। योगदर्शन के भाष्य में सत्यवादी की महिमा बतलाते हुए कहा गया है—**अमोघास्य वाग् भवति**=इसकी वाणी निष्फल नहीं होती है। अर्थात् सत्यवादी योगी जो कुछ कहता है, वह होकर रहता है। वेद इतना ही नहीं कहता। वरन् इससे भी अधिक कहता है—

तदेषां नकिरा मिनत्, अरावा चन मर्त्यः=

उनकी उस इच्छा का विघात कोई नहीं कर सकता, चाहे वह उनका विरोधी भी हो।

वेद में अनेक स्थानों पर वर्णित है कि देवों के व्रत को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। सचमुच सत्यव्रत देवों के कर्म्म में कोई भी बाधा नहीं डाल सकता।

कल्याणाभिलाषी अपने कर्म्म से बोले

ओ३म् । परि चिन्मर्त्तो द्रविणं ममन्यादृतस्य पथा नमसा विवासेत् ।
उत स्वेन क्रतुना सवदेत श्रेयांस दक्ष मनसा जगृभ्यात् ॥ऋ० १०।३१।२

(मर्त्तः) मनुष्य (परि+चित्) सभी ओर (द्रविणम्) धन को (ममन्यात्) माने (ऋतस्य) ऋत के (पथा) मार्ग से=(नमसा) विनय से (आ-विवासेत्) सेवा करें। (उत) और (स्वेन) अपने (क्रतुना) कर्म्म से (स वदेत) बोले, अथवा उससे मेल रखे। और (मनसा) मन से (श्रेयासम्) कल्याणमय (दक्षम्) उत्साह को (जगृभ्यात्) ग्रहण करे।

धनाभिलाषी मनुष्य के लिये इस मन्त्र में कुछ सकेत है जिन पर आचरण करने से अवश्य अभीष्ट सिद्धि होती है—

१ **परिचिन्मर्त्तो द्रविण ममन्यात्**=मनुष्य सभी ओर धन को माने । धन किसी एक कोने में नहीं धरा है। मिट्टी में धन है, पानी में धन है, आग में धन है, पवन में धन है । भूतल पर धन है, भूगर्भ में धन है, समुद्र में धन है, अन्तरिक्ष में धन है । भगवान् ने इन सब पदार्थों को धनसंपन्न बनाया है। हा धन के प्राप्त करने के लिये कुछ नियम हैं।

२ **ऋतस्य पथा नमसा विवासेत्**=ऋत के मार्ग में नम्र होकर सेवा करे।

पहला साधन है कि सृष्टि नियम का पालन करे । कल्पना करो कोई मनुष्य जल से धन लेना चाहता है। उसे जल की रचना, जल मे अग्नि आदि का प्रभाव जानना होगा । कोई जल को पर्वत में बर्फ के रूप में जमा देख कर बरफ बना कर धन कमाता है । कोई घर में उबलते जल के पात्र पर पड़े ढकने को जल के वाष्प के बल से हिलता डुलता देख कर जल से वाष्प बना कर उससे यान और कारखाने चलाने का काम लेता है । कोई घने बादलों के समय बिजली की चमक देख जल से कलबल द्वारा बिजली उत्पन्न कर धनी बनता है । नदियों को चलता देख कोई नहरें खोद कर व ऊषर भूमि को उर्वरा बना कर धनी बनता है।

तात्पर्य यह की धन सब स्थानों पर है, केवल ऋत का अनुसरण करने की आवश्यकता है फिर धन ही धन सर्वत्र देखिये। समस्त आधुनिक पदार्थ विद्या का आधार ऋतज्ञान है।

३. **उत स्वेन क्रतुना सवदेत**=अपने कर्म्म से सवाद करे।

जितना कोई कर्म्म करेगा, उसी के अनुसार उसे फल मिलेगा। अतः मनुष्य को धन की तुलना अपने कर्म्म से करनी चाहिये ।

दूसरी बात यह है कि मनुष्य बढचढ कर बातें बनाया करते हैं। वेद कहता है कि

उत स्वेन क्रतुना सवदेत=मनुष्य अपने कर्म्म द्वारा बोले।

भाव यह है कि केवल ऋत ज्ञान ही पर्य्याप्त नहीं है वरन् ऋत के अनुसार अपना क्रतु=कर्म्म भी होना चाहिए।

संसार के सभी धर्मग्रन्थ कहे जाने वालों में वेद ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो केवल विश्वास=ईमान=Faith को मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं मानता, प्रत्युत उस के साथ कर्म्म पर बहुत बल देता है। यजु. ४०।२ मन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध है—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेत् च्छत समाः=मनुष्य संपूर्ण आयु कर्म्म करता हुआ ही जीने की अभिलाषा करे।

कर्म्म न करने वाले को वेद दस्यु=डाकू कहता है। यथा—**अकर्म्मा दस्युः**=कर्म्म नकरने वाला दस्यु है।

दस्यु को वेद में दण्डनीय कहा गया है।

मनुष्य को अपनी योग्यता और गुणावली के बखान करने की आवश्यकता नहीं, वरन् उस के गुण का विज्ञापन उसके कर्म होने चाहियें। उसकी कथनी की पुष्टि करनी से होनी चाहिये। कथनी और करनी में विरोध न होना चाहिये।

४. **श्रेयांसं दक्ष मनसा जगृभ्यात्**=कल्याणमय उत्साह को मन से पकडे।

मन के सबन्ध मे यजुर्वेद (३४।३) में कहा है—

यस्मान्न ऋते किंचनक्रियते कर्म=

जिस के विना कोई कार्य्य नहीं किया जा सकता।

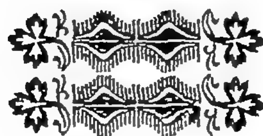
यदि मन में कर्म्म के लिये उत्साह न होगा, प्रथम तो वह हो ही न सकेगा। यदि कथञ्चित् हो भी जाये, तो उत्तमता से नहीं होगा। अतः आदेश है—

श्रेयांस दक्ष मनसा जगृभ्यात्=कल्याणकारी उत्साह को मन से करे।

दक्ष=उत्साह हत्या चोरी आदि के लिये भी हो सकता है। वेद ने इसी लिये 'दक्षम्' का विशेषण 'श्रेयासम्' [मगलमय, कल्याणकारी] का प्रयोग किया है। अर्थात् अभद्र, अमगल उत्साह नहीं होना चाहिये। इसी लिये यजुर्वेद (३४।१-६) में कहा है कि—

तन्मे मनः शिवसकल्पमस्तु=मेरा मन शुभ सकल्पों वाला हो

मन का दक्ष सकल्प है। दक्ष श्रेयान हो, सकल्प शिव हो।



भगवान् के सख्य का फल

ओ३म् । शास इत्था महा अस्यमित्रखादो अद्भुतः ।

न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन ॥ ऋ० १०।१५२।१

प्रभो ! तू (शासः) अनुशासन करने वाला है और (इत्था) इसी कारण (महान्+असि) तू महान् है, (अमित्रखादः) वैर-विरोध-विनाशक और (अद्भुतः) अद्भुत=विचित्र है। [तू ऐसा है कि] (यस्य) जिसका (सखा) सखा, मित्र (न) नहीं (हन्यते) मारा जाता और (न) न ही (कदाचन) कभी (जीयते) हानि उठाता है, या पराजित होता है।

भगवान् सचमुच बड़ा शासक और अनुशासक है। वेद में कहा है।

इन्द्र ईशान ओजसा (ऋ० ८।४०।५)=भगवान् अपने स्वाभाविक बल के कारण ईशान=शासक है।

उतो पतिर्य उच्यते कृष्टीनामेक इद्वशी (ऋ० ८।१३।९)=

जो अकेला ही सम्पूर्ण प्रजाओं का स्वामी तथा वशी=नियन्त्रण में रखने वाला कहा जाता है।

सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य के कल्याण के लिये भगवान् वेद प्रदान करता है। इसी कारण योगी जन उसे

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालनावच्छेदात् । यो० द०)=

आदिम ऋषियों का गुरु मानते हैं। सचमुच वह गुरुओं का गुरु है।

राजा का, शासक का, शासन शरीर पर होता है किन्तु गुरु का शासन आत्मा मन हृदय बुद्धि सभी पर होता है। भगवान् की महत्ता के कारणों में एक यह भी कारण है कि भगवान् अनुशासक है, गुरु है—

शास इत्था महां असि=तू अनुशासक है, अतः महान् है।

अनुशासक का अर्थ अनुकूल उपदेशक है। भगवान् जीवके कल्याण के लिए केवल सृष्टि के आरम्भ में वेद-ज्ञान देकर शान्त नहीं होजाता, वरन् सदा हित का उपदेशक करता रहता है। मनुष्य जब कभी बुरा कार्य करने का विचार करता है। भगवान् उसको वारण देते हैं। यह और बात है कि बहुधा जीव उस को अनसुनाकर देता है। किन्तु भगवान् उसे अवश्य सावधान करते हैं।

भगवान् के कृपापात्र के शत्रु स्वय नष्ट हो जाते हैं। मानों उनको भगवान् ने खदेड़ दिया हो। अतः भगवान् अमित्रखाद=शत्रुओं को खदेड़ने वाला है। चूंकि भगवान् भक्त के शत्रुओं के साथ आकर युद्ध करता नहीं दिखता, किन्तु भक्त के शत्रुओं में दिन प्रतिदिन न्यूनता आ रही होती है, इस लिए भगवान् अद्भुत अमित्रखाद सिद्ध होता है। भगवान् की महिमा का एक प्रबल कारण और बताया है—

न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचिन=उसका सखा न मारा जाता और न कभी पराजित होता है।

भगवान् वैसे तो सब का सखा है किन्तु 'भवन्ति मर्त्येषु पक्षपाताः' [भक्तों के प्रति प्रेम हो ही जाता है] के अनुसार भगवान् भक्तों का विशेष सखा है। जैसा कि वेद में कहा है—

इन्द्रो मुनीना सखा=परमेश्वर मुनियों=भगवद्भक्तों का सखा है।

मित्र की स्थूल पहचान यह है कि वह मित्र को सकट से बचाता है। वेद में कहा गया है—

सखा सखायमुतरद्विषूचो: (ऋ० ७।१८।६)=मित्र मित्र को विपत्ति से बचाता है।

मृत्यु और पराजय [बल की हानि, धन की हानि, जन की हानि, तन की हानि, मन की हानि, सभी पराजय के अन्तर्गत हैं क्योंकि ससार-सग्राम में इनकी न्यूनता से पराजय हुआ करता है] ये दोनों भारी आपत्तियां हैं। भगवान् का मित्र इनके पास मे नहीं फसता —

न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन

आत्मा अमर है, उसकी मृत्यु नहीं होती। शरीर से आत्मा के वियोग का नाम मृत्यु है। अज्ञान के कारण आत्मा शरीर को अपना आपा मान बैठा है। शरीर के विनाश को आत्मा का नाश समझ बैठा है, अतः शरीर में किसी प्रकार के उपद्रव को देख कर वह आत्मनाश को सनिहित देखता है। प्रभु का सखा बनने से उसे अपने अविनाशी स्वरूप का ज्ञान होता है और वह अपने को अमर मान कर मृत्यु से निर्भय होता है। इस वास्ते कहा—

न यस्य हन्यते सखा।

इसी शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान होने पर, आत्मा के अविनाशी ज्ञात होने पर, शरीर-नाश से, शरीर के विकृत होने से वह आत्मा का नाश और विकार नहीं मानता। अत कहा—

न जीयते कदाचन

यह स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् स्वाभाविक मित्र है। हमने उसकी उपेक्षा कर रखी है, वह हमारी उपेक्षा कभी नहीं करता। एक बार हम उस की ओर बढ़ने की चेष्टा करें तो फिर ज्ञात हो कि वह हमारा स्वागत कैसे करता है। ससारिक मित्र तो रूठता भी है और कभी कोई कोई सदा के लिए सग भी त्याग देता है। किन्तु भगवान भगवान् न कभी रूठता और न कभी सग त्यागता है। इस भेद को जान कर मनुष्य को सच्चे मित्र से मित्रता गाढ़नी चाहिये



विना कूटे सोम भी मस्त नहीं करता

ओ३म्। न सोम इन्द्रमसुतो ममाद नाब्रह्माणो मघवान सुतासः।

तस्मा उक्थं जनये यज्जुजोषन्नृवन्नवीयः शृणवद्यथा नः॥ ऋ० ७।२६।१

(असुत॰) न कूटा हुआ = निष्पादित न किया हुआ (सोमः) सोम (इन्द्रम्) इन्द्र को (न) नहीं (ममाद) मस्त करता है। और (न) न ही (अब्रह्माण॰) ब्रह्मरहित (सुतासः) निष्पादित सोम (मघवानम्) मघवा को, इन्द्र को मस्त करते हैं। अतः (तस्मै) उसके प्रति (उक्थम्) स्तुति-वचन (जनये) प्रकट करता है (यत्) जिस को वह (नृवत्) मनुष्य की भाति (जुजोषत्) पसन्द करे, और (यथा जिस प्रकार वह (नः) हमारे (नवीयः) नवीनतर, अथवा नमस्कारपूर्ण वचन को (शृणवत्) सुने।

सोम के सबन्ध मे वर्णन आता है कि वह मस्त करता है, ऋ० ९।१।१ मे सोम की धारा को अत्यन्त मस्ती देने वाली कहा गया है—

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया=

हे सोम। सब से स्वादिष्ठ, और सब से अधिक मस्ती देने वाली धारा के द्वारा पवित्र कर।

ऋ० ९।१६ मे कहा है कि **मदेषु सर्वधा असि**=मदो मे सब को धारण करता है। सोम को वेद मे '**देवेभ्यः उत्तमं हवि**' (ऋ)=[देवों के लिये सब से श्रेष्ठ देय पदार्थ] कहा है। इस लिये

त्वा देवासो अमृताय क पपुः ऋ० ९।१०६।८)=देव सोम को जीवन के लिये सुखपूर्वक पीते हैं।

इन्द्र=जीव को यह अत्यन्त प्रिय है। इसके पीने से उसमे शक्ति आती है—

यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायते (ऋ० ९।१०८।२)=जिसको पीकर इन्द्र बलशाली हो जाता है।

आत्मा को यह पवित्र करता है। किन्तु जब तक यह सुत हो, निष्पादित हो, कूटपीट कर रस निकाला गया हो। यथा—

इन्द्राय पवते सुत॰ (ऋ० ९।६।७)=सुत होकर, कूटा पीटा जाकर यह इन्द्र के लिये पवित्रकारक बनता है।

इसके कूटने पीटने मे थोडा सा रहस्य है—

स मृज्यते सुकर्म्मभिर्देवो देवेभ्य॰ सुत (ऋ० ९।९९।७)=

सुकर्म्म और सुकर्म्मा जन इसको पवित्र कर सकते हैं, यह देव देवों से देवों के लिए सुत=निष्पादित हुआ है।

अर्थात् सर्व साधारण आत्मा सोम के अधिकारी नहीं हैं। उसका पान करने के लिये उत्तम

कर्म करने चाहियें, यह देव है। देवों से यह तय्यार किया जाता है और देवों के लिये तय्यार किया जाता है। सोमपान के लिये देवभावों का सपादन करना आवश्यक है। यह उत्तम हवि है, यह जीवन को सुखमय बना देता है, आत्मा से शक्ति का सचार करता है, और इसे पवित्र करता है। किन्तु तभी, जब 'सुता हो, कूटा पीटा गया हो।

सार यह कि सोम का उपयोग लेने से इसे 'सुत' अवश्य बनाना है। अन्यथा यह जीव को आनन्दित नहीं कर सकता—

न सोम इन्द्रमसुतो ममाद =विना सुत किये=विना कूटे पीटे सोम इन्द्र को मस्त नहीं कर सकता।

इस बात को समझने के लिये प्राकृत पदार्थों को ही ले लीजिये। मूल प्रकृति की अवस्था में वे जीव का कोई उपयोग सिद्ध नहीं करते। विकृति अवस्था में जीव के काम आते हैं। वृक्ष उगते हैं। उनका उपयोग लेने के लिये उन्हें काटना पड़ता है, फल भी तोड़ कर उपयोग में लाये जाते हैं। अन्न बोया जाता है, पक्व होने पर उसे कितने रूपों में परिवर्त्तन करके उपयोग के योग्य बनाया जाता है। प्रत्येक पदार्थ को कार्य्य में लाने से पूर्व उसमें परिवर्त्तन करना अनिवार्य सा है।

सुत कर लिया, कूट पीट लिया, किन्तु साथ में ज्ञान न था, तब भी

नाब्रह्माणो मघवनं सुतासः=

ब्रह्मरहित=ज्ञानरहित=स्तुति रहित भी कुटे पिटे सोम इन्द्र को मस्त नहीं करते।

अर्थात् कर्म्म के साथ ज्ञानपूर्वक स्तुतिवचन अवश्य होना चाहिये। जो केवल कर्म्म करता है, और उसके साथ भगवान् की आराधना स्तुति उपासनानहीं करता, उसे मस्ती कहा?

वरन्

उक्थउक्थे सोम इन्द्र ममाद (ऋ० ७।२६।२)

भगवान् के प्रत्येक स्तुतिवचन में सोम=इन्द्र को मस्त करता है। और

नीथेनीथे मघवानं सुतासः (ऋ० ७।२६।२)

प्रत्येक नीति में निष्पादित सोम इन्द्र को मस्त करता है।

जिस कर्म्म में ब्रह्म=युक्ति=नीति=नीथ न हो, वह तो निष्फल है

जब स्तुति वचनों के साथ ही सोम इन्द्र को मस्ती देता है तो मैं

तस्मा उक्थ जनये=उसके लिये उक्थ=स्तुति वचन प्रकट करता हू।

क्यों कि

नाब्रह्मा यज्ञ ऋधग् जोषति त्वे (ऋ० १०।१०५।८)=ज्ञानरहित यज्ञ तुझ मे तनिक प्रीति उत्पन्न नहीं करता।

अत ब्रह्मयुक्त सोमसवन होना चाहिये। ज्ञान और कर्म्म दोनों का समुच्चय होने से जगत् का कल्याण है। आत्मा के यह दोनों पक्ष हैं। एक से विहीन पक्षी जैसे नहीं उड़ सकता, वैसे ही ज्ञान अथवा कर्म किसी एक से विहीन मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता।

वेद ने किसी उच्च सोम का सकेत किया है, उसे प्राप्त करो, कूटो, पीटो, छानो, पियो, मस्ती प्राप्तकर बलशाली होकर सुखमय जीवन का उपयोग करो।

पापादि नशोपाय

ओ३म्। ईजे यज्ञेभिः शशमे शमीभिर्ऋधद्वारायाग्नये ददाश।
एवा चन तं यशसामजुष्टिर्नांहो मर्तं नशते न प्रदृप्तिः ॥ऋ० ६।३।२

जो (यज्ञेभिः) यज्ञों से (ईजे) यज्ञ करता है (शमीभिः) शान्ति की क्रियाओं से (शशमे) शान्त होता है (ऋधद्वाराय) संपन्न करने वाले सर्वश्रेष्ठ (अग्नये) अग्रणी ज्ञानी को (ददाश) दान देता है (एवा+चन) इस प्रकार के (तम्) उस (मर्त्तम्) मनुष्य को (न) न तो (यशसाम्) यशों की (अजुष्टिः) अप्रीति, असेवा, अभाव, और (न) ना ही (अहः) कुटिलता, दोष, पाप और (न) ना ही (प्रदीप्तिः) दर्प=घमण्ड=अहंकार (नशते) प्राप्त होता है।

पाप-नाश के कुछ एक उपाय इस मन्त्र में उल्लिखित हुए हैं। सब से पहला है--

(१) **ईजे यज्ञेभिः**=यज्ञों के द्वारा यज्ञ करता है।

यज्ञ का अर्थ है देवपूजा, सगतिकरण और दान। जो विद्वानों और भगवान् का सत्कार और आराधन करता है, जो भले पुरुषों की सगति करता है, जो दान देता है, उससे पापलेश भी नहीं होना चाहिये। यज्ञ का वेद में बहुत माहात्म्य है—

यस्ते यज्ञेन समिधा य उक्थेभिरर्केभिः सूनो सहसो ददाशत्।
स मर्त्येष्वमृत. प्रचेता राया द्युम्नेन श्रवसा विभाति ॥ ऋ० ६।५।५

जो यज्ञ के द्वारा, समिधा के द्वारा=ज्ञानदीप्ति के द्वारा उत्तम वचनों के द्वारा, तथा आराधनाओं के द्वारा, हे बलियों को झुका देने वाले! तेरे प्रकाश प्राप्त करने के लिये देता है, वह प्रचेता उत्तम ज्ञानी मानों मृतकों में अमृत है, वह धन, कान्ति से तथा यश से विशेष चमकता है।

धन, यश, तेज सभी पुण्य के फल हैं। पापी को यह सामग्री कहा मिल सकती है? यज्ञ द्वारा दान देने से यह सब मिलती है। मूल में **ईजे यज्ञेभिः** [यज्ञों के द्वारा यज्ञ करता है] पाठ है, केवल ईजे नहीं है। 'यज्ञेभिः' साथ लगाने का भाव यह है कि यज्ञ यज्ञ की भावना से किया जाये, आडम्बर और दिखावे के भाव से नहीं। तभी यजुर्वेद में आदेश है—**यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्** यज्ञ यज्ञ से सफल हो।

त्याग का भी त्याग आर्य्य जीवन का चरम ध्येय है—शान्ति की परम अवस्था है।
तभी वेद में कहा—**तव क्रतुभिरमृतत्वमायन्** (ऋ० ६।७।४)=
तेरे यज्ञों से महात्मा मोक्ष प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार के याज्ञिक, शान्त तथा दाता महापुरुष की अकीर्त्ति नही होती। क्योंकि वह कोई निन्दित या निन्दनीय कार्य्य करता ही नहीं। न उसे पाप-भावना घेरती है। यज्ञों में तो वाणी भी देवी=वैष्णवी बोलनी होती है। पाप के विचार से यज्ञ का सहार हो जाता है। पाप का मूल अभिमान है, निरन्तर आत्मसमर्पण करने, भगवद्गुण चिन्तन करने मे अपनी अल्पता का भान होने के कारण उसमें अभिमान भी प्रवेश नहीं करता।

२१०

विद्वान् सर्वत्र पूज्यते

ओ३म्। सूरो न यस्य दृशतिररेपा भीमा यदेति शुचतस्त आ धीः।
हेषस्वतः शुरुधो नायमक्तोः कुत्राचिद्रण्वो वसतिर्वनेजाः॥ऋ. ६।३।३॥

(यस्य) जिसका (दृशतिः) दर्शन, ज्ञान (सूरो न) सूर्य की भांति (अरेपाः) निर्दोष तथा (भीमा) प्रचण्ड है (यत्) जिसको (ते) तुझ (शुचतः) पवित्र का, प्रकाशमय का (धीः) ज्ञान (आ+एति) भली प्रकार प्राप्त होता है, उस (शुरुधः+न) बलवान् के समान (हेषस्वतः) गर्जना करने वाले का (अक्तोः) रात्रि में (कुत्राचित्) किसी भी (वनेजा+अय+वसतिः) वन स्थान में यह निवास (रण्वः) रमणीय हो जाता है।

एक आर्य्यधर्म=वैदिक धर्म ही ऐसा है, जो ज्ञान के प्रसार से घबराता नहीं, वरन् ज्ञान के प्रसार के साथ अनायास अपना प्रचार मानता है। इसी कारण वेद में ज्ञान की महिमा का बखान बहुत है। वेद ज्ञान-प्रसार को प्रत्येक का कर्त्तव्य मानता है—

केतु कृण्वन्नकेतवे=अज्ञानी को ज्ञान दान दो।

ज्ञानी का मान स्वाभाविक है। हां, ज्ञान ज्ञान में अन्तर है। वेद विमल ज्ञान का आदर करता है। तभी कहा—

सूरो न यस्य दृशतिररेपा भीमा=जिसका ज्ञान सूर्य्य की भांति निर्दोष और प्रचण्ड है।

भ्रम, विपर्य्यय और विकल्प, संशय, वितर्क आदि ज्ञान के दोष हैं। ज्ञान इन दोषों से शून्य होना चाहिये। ज्ञान निश्चयात्मक होना चाहिये।

इस प्रकार का जिसको ज्ञान होता है उसको भगवान् का ज्ञान मिला करता है—**यदेति शुचतस्त आ धीः**—जिसको तुझ प्रकाशस्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

टिमटिमाते झिलमिलाते प्रकाश से दिल भले ही बहल जाये किन्तु कोई कार्य्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार हल्के ज्ञान से किसी का मनोविनोद हो जाये तो हो जाये, किन्तु आत्मा और बुद्धि का परिष्कार नहीं हो सकता। जैसे सूर्य्य के प्रचण्ड प्रकाश में प्राणी अनायास अपना काम चला लेते हैं, ऐसे ही प्रचण्ड ज्ञान सभी शंकाओं का समाधान करता है। इस प्रकार के प्रचण्ड ज्ञानी के लिये कहीं भी विदेश नहीं होता, जहां रात्रि पड़ जाये, वहीं—**रण्वः वसतिर्वनेजा**—वन भी रमणीय धाम हो जाता है।

कदाचित् इसी का भाव लेकर किसी कवि ने कहा है—

स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते

राजा की अपने राज्य में पूजा होती है किन्तु विद्वान् सभी जगह पूजा प्रतिष्ठा पाता है।

तप का महत्त्व

ओ३म् । इन्द्रावरुणा यदृषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं श्रुतमदत्तमग्रे ।

यानि स्थानान्यसृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानास्तपसाभ्यपश्यम् ॥ऋ. ८।५९।६॥

हे (इन्द्रावरुणा) आत्मन् तथा हे परमात्मन् । तुम दोनों ने (ऋषिभ्यः) ऋषियों को (यत्) जो (मनीषाम्) मननशक्ति, (वाचः) वाणियां (मतिम्) बुद्धि और (श्रुतम्) ज्ञान (अग्रे) पहले (अदत्तम्) दिया, और (यज्ञम्) यज्ञ का (तन्वानाः) विस्तार करते हुए (धीराः) ध्यानियों ने (यानि) जिन (स्थानानि) स्थानों को (असृजन्त) बनाया, उन सब को मैं (तपसा) तप के द्वारा (अभि+अपश्यम) सम्मुख देखता हूं ।

इस मन्त्र में तप की महिमा बतायी गयी है । प्रसंग में दो बातें और भी कह दी गई हैं—१ ऋषियों को मनीषा, वाणी, मति तथा श्रुत=ज्ञान इन्द्र और वरुण से मिलता है । ज्ञान का आदि मूल भगवान् ही है, यह पहले बताया जा चुका है । किन्तु यदि आत्मा अपरिष्कृत हो, प्रभुदत्त ज्ञान धारण करने के योग्य न हो, तो वह ज्ञान लेगा ही कैसे ? अतः आत्मा और परमात्मा दोनों मिल कर ज्ञान देते हैं । और भी, ज्ञान का आदि मूल अर्थात् प्रथम गुरु निस्सन्देह परमेश्वर है किन्तु पश्चात् तो गुरु शिष्य-परम्परा से ज्ञानधारा चलती है । भगवान् के साथ ज्ञानवान् गुरु यदि उपदेश देने वाला न हो, तब भी ज्ञान् की प्राप्ति लगभग असम्भव है ॥ २ यज्ञ-परायण ध्यानी अपने लिये विशेष स्थान बनाते हैं । सचमुच परोपकार में तत्पर ध्यान-निमग्न महात्माओं का इस लोक और परलोक में विशेष स्थान है ।

किन्तु तप की महिमा इतनी बड़ी है कि उसके द्वारा तपस्वी इन सब पदार्थों का साक्षात्कार कर लेता है । अतः उपनिषदों में 'तपो ब्रह्म' [तप ब्रह्म है] और 'तपसा विजिज्ञासस्व' [तप से जानने की इच्छा कर] आदि तपोविधायक वाक्य अनेक बार आते हैं । वेद में भी तप करने का आदेश है, जैसे—

तपा तपिष्ठ तपसा तपस्वान् (ऋ. ६।५।४)=हे तपिष्ठ । तप से तपस्वी हो और तप करो ।

तप करने के लिये भी तप चाहिये । अतपस्वी=अधीर तनुष्य तप नहीं कर सकता । इसी वास्ते वेद ने तप का आदेश करते 'तपिष्ठ=अत्यन्त तपस्वी' सम्बोधन का प्रयोग किया है ।

मनु महाराज तप न करने वाले की दुर्गति का वर्णन कर के उसे दान का पात्र भी नहीं मानते । यथा;—

अतपास्त्वधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।

अम्भस्यश्मप्लवेनैव सह तेनैव मज्जति ॥४।१९०॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवन्त्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥४।१९३॥

अतपस्वी, वेद न पढने वाले तथा दान लेने में तत्पर ब्राह्मण जल में पत्थर की नौका के समान, उसके साथ ही डूब मरते हैं। क्योंकि न्याय से कमाया हुआ धन इनको देने पर दाता के लिये अनर्थकारी होता है, और लेने वाले का परलोक बिगाड़ देता है।

अर्थात् अतपस्वी भवसागर में डूब मरता है। मनु महाराज तो तप को ब्राह्मण का कल्याणकारी मानते हैं—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयस्करं परम् ॥१२।१०४॥=

तप और विद्या ब्राह्मण के अत्यन्त कल्याणकारक हैं।

कल्याणकारक का संग्रह करना चाहिये। किन्तु सावधान—न विस्मयेत्तपसा (म. ४।२३६) तप के कारण अभिमान न करे। क्योंकि तपः क्षरति विस्मयात् (म. ४।२३७) अहंकार से तप का संहार होता है।

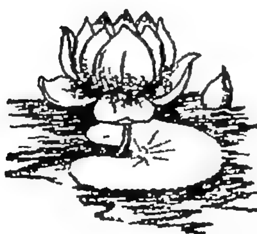
तप के सम्बन्ध में ऋ. ९।८३।१ में कहा गया है—

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते=उस सुख को अतपस्वी नहीं प्राप्त करता।

अर्थात् सुख चाहे इस लोक का हो अथवा परलोक का, तप के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। जो तपस्वी हैं, वह इस का पूर्णतया उपभोग करते हैं जैसा कि उसी मन्त्र में कहा है—

शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत=तप से पक कर उस आनन्द का धारण करते हुए, दूसरों को प्राप्त कराते हुए उस का पूर्णतया उपभोग करते हैं।

अग्निसंयोग से अग्नि के गुण आते हैं। तपोऽग्नि में तपाने से परिपक्व होकर उन गुणों को केवल धारण ही नहीं करता। वरन् दूसरों को भी देता है। युक्ति से तपस्वी की पहचान वेद ने बता दी है। तपस्वी तप के फल व रों को भी देता है।



विवाह की प्रशंसा

ओ३म। तदिन्मे छन्त्सद् वपुषो वपुष्टरं पुत्रो यज्जानं पित्रोरधीयति।
जाया पतिं वहति वग्नुना सुमत्पुंसः इद्भद्रो वहतुः परिष्कृत ॥ ऋ० १०।३२।३

(तत्) वह (मे) मुझे (वपुष) सौन्दर्य से (इत्) भी (वपुष्टरम्) अधिक सुन्दर (छन्त्सत्) भाता है (यत्) जो (पुत्रः) पुत्र (पित्रोः) मा बाप के (जानम्) जनन कर्म को (अधीयति) उत्साह से स्मरण करता है [अर्थात् सन्तानतन्तु बनाये रखना चाहता है] स्त्री (पतिम्) पति को (वहति) धारती है, विवाहती है (वग्नुना) आनन्द से (पुंसः) पुरुष का (इत्) भी (सुमत्) अत्यन्त (भद्रः) बढ़िया (वहतुः) विवाह (परिष्कृत) सपन्न हो जाता है।

मानो यह एक सद्गृहस्थ की भावना है। विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तान है। गृहस्थ को पहली प्रसन्नता तब होती है जब उसके सन्तान उत्पन्न होती है दूसरी प्रसन्नता उसे तब होती है जब पुत्र मा बाप से अपना विवाह कराने के लिये निवेदन करता है। वेद कहता है पुत्र का इस अवस्था को प्राप्त होना

तदिन्मे छन्त्सद्वपुषोवपुष्टरम्=मुझे सुन्दरता की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर लगता है।

कोई काव्यरसिक ही इसका रस ले सकता है। अर्थात् गृहस्थ होना सुन्दरता की पराकाष्ठा है। इससे अधिक गार्हस्थ्य की प्रशसा और क्या हो सकती है।

गृहस्थधर्म्म की प्रशसा के साथ दो निर्देश इसमें मनन और धारण करने योग्य हैं—

१ पुत्रो यज्जानं पित्रोरधीयति—बताता है कि माता पिता बलात्कार से सन्तान का विवाह न कर दें, वरन जब सन्तान माता पिता के जननकर्म्म का स्मरण करें। आचार्य्य समावर्त्तन करते हुए उपदेश देते हैं—

प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी. (तै उ)=सन्तान के क्रम को न तोड़ना।

जिसकी शिक्षा दीक्षा विधि से हुई है, ब्रह्मचर्यभंग के कारण जिसमें विषय वासना का उद्दाम झंझावात न खड़ा हो गया, वह तो तभी विवाह की उत्कण्ठा करेगा, जब वह अपने तथा पत्नी के पालने मे समर्थ होगा। क्योंकि विवाह मे एक प्रतिज्ञा करनी पड़ती है—

ममेयमस्तु पोष्या (अ० १४।५२)=आज से यह वधू मेरी पोष्या होगी। अर्थात् मैं इसकी पालना करूंगा।

जिसके पास अपने खाने को नहीं, वह दूसरों का पालन कैसे करेगा? अत विवाह का ठीक समय वह है जब गृहस्थी चलाने के लिये अपेक्षित सामग्री के साथ विवाह के लिये उत्कण्ठा भी हो।

२. पुरुष का बढ़िया विवाह तभी होता है जब

जाया पतिं वहति=पत्नी पति को विवाहती है।

अर्थात् विवाह में वरण का अधिकार कन्या का है। जाने। आज लोग इसे क्यों भूल गये?

विश्व कल्याण कामना

ओ३म् । स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्य. ।

विश्व सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ऋ० १।३१।४

(न.) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) कल्याण हो। (गोभ्यः) गौओं के लिये (जगते) समस्त जगत् के लिये तथा (पुरुषेभ्य) पुरुषों के लिये (स्वस्ति) भला हो। (नः) हमारे लिये (विश्वम्) सभी कुछ (सुभूतम्) उत्तम स्थिति वाला तथा (सुविदत्रम्) उत्तम प्राप्ति वाला (अस्तु) हो। हम (ज्योक्+एव) चिरकाल तक ही (सूर्य्यम्) सूर्य्य को (दृशेम) देखें।

सभी मनुष्यों को सब की कल्याणकामना करनी चाहिये। उसमें भी सबसे प्रथम माता पिता की कल्याण कामना करनी चाहिये। माता पिता की कल्याणकामना का संस्कार आर्य्यशास्त्रों में बहुत गहरा है। माता पिता सन्तान के लालन पालन में जो कष्ट उठाते हैं, उसकी निष्कृति कौन दे सकता है? कौन उसका बदला चुका सकता है? अपने क्रुद्ध पिता से **'मृत्यवे त्वा परिददामि'** [तुझे मृत्यु के हवाले करता हूं] वचन सुनकर जब नचिकेता यम के द्वार पर पहुँचता है। और तीन दिन रात उसके द्वार पर भूखा प्यासा रहने के कारण यम अपने सन्तोष के लिये उसे तीन अभीष्ट वर देने को तत्पर होता है तो नचिकेता ने सबसे पहला वर अपने पिता के कल्याण के लिये मांगता है—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो।

त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥ कठो १।१०

हे मृत्यो। मैं तीन वरों में से पहला वर यह मांगता हूं कि मेरे पिता गौतम जी शान्तसंकल्प [चिन्ता-शून्य] प्रसन्न मन तथा क्रोधरहित होवें, और आपके पास से लौट जाने पर मुझको प्रसन्नता से बुलायें।

पिता ने क्रोध में पुत्र को मौत के हवाले करने की बात कही थी, और अब उसे अपनी बात पर चिन्ता हो रही थी। सुपुत्र नचिकेता सबसे पूर्व अपने पिता की निश्चिन्तता चाहता है। माता पिता का महत्व तो इसी से समझ में आ सकता है कि आर्यों के नित्य अवश्यकर्त्तव्य पांच महायज्ञों में एक 'पितृयज्ञ' भी है। माता पिता के कल्याण की कामना पर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेनी चाहिये, वरन् प्रतिदिन उनकी सेवा भी करनी चाहिये, इसके लिये ही पितृयज्ञ के विधान की व्यवस्था है।

माता पिता के कल्याण की कामना के साथ गौओं के मंगल का आदेश है। गौ से दूध दही घृत आदि मिलते हैं, गौ से कृषि होती है, गौ की सन्तान शकट खींचती है। मनुष्य के जीवन की समृद्धि तथा सम्पन्नता में गौ का बड़ा हाथ है। एक एक पदार्थ का नाम न लेकर कहा—

जगते पुरुषेभ्यः=जगत् के लिये तथा जगद्धितैषी पुरुषों के लिये कल्याण हो। जगत का कल्याण या तो भगवान् करते हैं या भगवद्भक्त जगत के हितैषी महात्मा। परमात्मा पर कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती, वह सब का कल्याण करता है, किन्तु जगत में रहने वाले जीवों का जीवन तो सदा भयापन्न रहता है, अतः लोकोपकारक महापुरुषों के कल्याण की कामना की गई है।

सबके लिये सब कुछ सुखदायी हो। मानो इसी मन्त्र का आशय किसी ने इस श्लोक में कहा है—

सर्वे भवन्तु सौख्याढ्याः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत॥

सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी भलाई के दर्शन करें जिससे कोई भी दुःखी न हो।

राजा का चुनाव

ओ३म् । त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पच देवीः ।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥ अ. ३।४।२

हे राजत्वाभिलाषिन् । (विशः) प्रजायें (राज्याय) राजकार्य्य के लिये (त्वाम्) तुझे (वृणताम्) चुनें, स्वीकार करें तथा (इमाः) यह (पच) पाचों (देवीः) दिव्यगुणयुक्त (प्रदिशः) प्रदिशायें (त्वाम्) तुझ को ही चुनें। चुना जाने पर (राष्ट्रस्य) राष्ट्र के (वर्ष्मन्) श्रेष्ठ (ककुदि) कुहान, सिंहासन पर (श्रयस्व) आश्रय ले, बैठ, (ततः) उसके बाद (उग्रः) तेजस्वी होकर (नः) हमारे लिये (वसूनि) धनों का (विभज) विभाग कर।

आज के ससार को अभिमान है कि वह राजा का चुनाव करता है। यद्यपि ससार का बहुत बड़ा भाग इससे वञ्चित है। इतनी बात अवश्य है कि समस्त ससार अपना शासक चुनने का अधिकार प्राप्त करने मे लालायित हो रहा है। यह लालसा राजनिर्वाचनलालसा—राजनिर्वाचन की उत्कृष्टता की सूचक है।

पश्चिम तथा उसके चेले को भ्रम है कि वह राजनिर्वाचन की पद्धति उसकी चलाई हुई है। ससार का सब से पुराना ग्रन्थ वेद इसका आविष्कारक तथा प्रचारक है। देखिये, राजा होने के इच्छुक को वेद कहता है—

त्वा विशो वृणता राज्याय=राज्यकार्य के लिये प्रजायें तुझे चुनें।

अ० ३ ४. १ मे कहा है—

सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु=सारी प्रदिशायें, हे राजन् । तुझे चाहें।

प्रदिशा का अर्थ दिशाओं विदिशाओं में रहने वाली प्रजायें हैं। अथर्व ३. २ ७ में तो राजा बनाने वालों का उल्लेख है—

ये राजानो राजकृत सूतग्रामण्यश्च ये=

ये सामन्तराजा [सरदार, जागीरदार] तथा सूत, नम्बरदार आदि राजा के बनाने वाले हैं। इससे प्रतीत होता है कि राजा के चुनने में सरदारों, जागीरदारों, सूतों, नम्बरदारों का मत लेना चाहिये।

प्रकृत मन्त्र के अन्तिम चरण मे एक ऐसी बात कही है, जो सर्वथा क्रान्तिकारी है। यदि ससार आज उस पर आचरण करे, तो सारे दुःख दूर हो जायें। राजा को चुनकर प्रजा कहती है—**ततो न उग्रो विभजा वसूनि** तू तेजस्वी होकर हमारे लिये धन का विभाग कर।

यह वचन वैयक्तिक सपत्ति के स्थान में सामाजिक या राष्ट्रीय सपत्ति का समर्थन कर रहा है। जब सपत्ति किसी एक व्यक्ति की न होकर समूचे राष्ट्र की मानी जाये, तभी राजा से उस संपत्ति के विभाजन की बात कही जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि राजा देखे कि उसके राज्य मे कोई भूखा तो नहीं, नगा तो नहीं। खानपान पहरान तथा ज्ञान का सब के लिये विधान तथा सामान होना चाहिये।

पृथिवी-धारक

ओ३म्। सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुलोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ अ० १२।१।१

(सत्यम्) सत्य (बृहत्) महत्त्वाकाङ्क्षा, बड़ाई (ऋतम्) नियमपालन, न्याययुक्त व्यवहार (उग्रम्) उग्रता, तेजस्विता (दीक्षा) दीक्षा (तपः) तपस्या, तितिक्षा (ब्रह्म) ब्रह्मचर्य्य, आत्मज्ञान (भूतस्य) अतीत की (भव्यस्य) भावी की (पत्नी) पालन करने वाली, रक्षिका (पृथिवी) पृथिवी (नः) हमारे लिये (उरु) विस्तृत (लोकम्) स्थान (कृणोतु) करे।

मातृभूमि की स्वतन्त्रता को स्थिर रखने के लिये जो गुण अत्यन्त आवश्यक हैं, जिनके बिना राष्ट्र का स्वातन्त्र्य संकट में पड़ सकता है, उनका इस मन्त्र में उल्लेख है—

१. सत्य=अटल सचाई। जो लोग स्वदेश के प्रति सच्ची भावना से व्यवहार नहीं करते, वे स्वदेश से धोखा कर के इसे अधोगति के गहरे गर्त्त (गढे) में गिराते हैं। अतः स्वराज्य रक्षकों को स्वदेश के प्रति निष्कपट सत्य का व्यवहार करना चाहिये। वेद में दूसरे स्थान पर कहा है—

सत्येनोत्तभिता भूमिः (अ० १४।१।१)=भूमि सत्य के सहारे रुकी है।

वेद के इस निर्देश पर ध्यान दो और फिर वेद की महिमा को हृदयगम करो। वेद राष्ट्र-व्यवहार में सत्य को सब से प्रथम स्थान दे रहा है। वेद की दृष्टि में सत्य सब से ऊंचा है। हमारे धर्म्मशास्त्रों में भी सत्य सबसे बड़ा धर्म्म माना गया है। यथा मनु जी कहते हैं—

नहि सत्यात्परो धर्म्मः=सत्य से बढ कर कोई धर्म्म नहीं है।

२ बृहत्=महत्त्वाकाङ्क्षा=बड़प्पन। जो लोग देश की स्वतन्त्रता के लिये यत्न करते हैं, यदि उन के भाव क्षुद्र हों, आकाङ्क्षायें तुच्छ हों, आशायें नीच हों, तो उनमें स्वतन्त्रता के लिये वास्तविक प्रेम हो ही नहीं सकता। वे स्वतन्त्रता के लिये किसी प्रकार का त्याग नहीं कर सकते। अतः स्वदेश का स्वातन्त्र्य चाहने वालों के भाव उच्च हों, उन में महान् बनने की स्वाभाविक उमंग हो।

३ ऋत=न्याययुक्त व्यवहार या नियम पालन। स्वतन्त्रता के लिये उद्विग्न हुई जनता जहां विदेशी शासकों के रचे शोषक विधानों के विरुद्ध उठ खड़ी होती है, वहां उतावली होकर अपने बनाये नियमों को भी पैरों तले रौंद डालती है। परिणाम यह होता है कि अराजकता फैल जाती है। उस अराजकता के समय उन्मत्त हुई प्रजा न्याय, अन्याय, उचित, अनुचित, धर्म्म, अधर्म्म किसी बात का विचार नहीं करती। उस समय उसके हाथों अकथनीय अत्याचार होने लगते हैं। उस का फल अत्यन्त अनिष्ठ होता है। अत्यन्त परिश्रम तथा तितिक्षा से प्राप्त स्वतन्त्रता उस समय डावाडोल दशा में दीखने लगती है। अतः उस परिस्थिति में बचने के लिये ऋत का आचरण नितान्त आवश्यक है। वेद तो है ही ऋत का प्रचारक। वेद कहता है—

ऋतस्य देवा अनुव्रता गुः ॥ऋ० १।६५।२=

दैवी शक्तियां ऋत के व्रत के अनुकूल चलती हैं।

ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ॥ ऋ० ४।२३।१०=

ये विशाल द्यौ और पृथिवी ऋत के लिये हैं। अर्थात् ऋत के नियमों से चल रही हैं।

४. उग्र=उग्रता=तेजस्विता। स्वतन्त्रता संघर्ष में कभी कभी ऐसे कार्य्य भी करने पड़ जाते हैं, जो साधारण स्थिति में कदाचित् किसी को भी पसन्द न हों। ऐसे समय में भीरु और कायर जन धैर्य्य छोड़ बैठते हैं। उन्हें व्यामोह घेर लेता है, फलतः जीत हार में परिणत होने लगती है। प्रत्येक बात का अपना अवसर होता है, वह अवसर तेजस्विता का है, अतः उस समय तेजस्विता=उग्रता को अपनाना चाहिये।

५. दीक्षा=दृढसंकल्प। एक मनुष्य सत्यप्रेमी भी है, महत्त्वाभिलाषी भी है, ऋत का अनुसरण करने को भी तत्पर है। तेजस्वी भी है किन्तु उसके संकल्प में कल्प नहीं, बल नहीं। किसी काम के लिये दृढ संकल्प नहीं कर सकता। वह इन सब गुणों से संपन्न होता हुआ भी अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अतः ऊपर कहे गुणों के साथ अपने कार्य्य में सिद्धि प्राप्त करने का संकल्प भी दृढ होना आवश्यक है। दीक्षा का वेद में बहुत महत्त्व माना गया है—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ॥अ० १८।४१।१

आनन्द प्राप्ति के रहस्य को जानने वाले ज्ञानी जन कल्याण की कामना से पहले तप और दीक्षा का सेवन करते हैं।

६. तप=तपस्या=तितिक्षा। कार्य्य सिद्धि होने से पूर्व अनेक बार विघ्न आते हैं। कई बार स्पष्ट असफलता सामने मुख खोले खड़ी दीखती है। कहावत भी है—'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' भले कार्य्यों में बहुत विघ्न होते हैं। उन विघ्नों को, तथा भूख प्यास, सरदी गरमी, सुख दुःख आदि की परवा न करके लक्ष्य की सिद्धि के लिये सब कुछ करना होता है। इसे तप कहते हैं। तप के सम्बन्ध में हम इसी ग्रन्थ में अन्यत्र लिख चुके हैं।

७. ब्रह्म=ब्रह्मचर्य्य तथा आत्मज्ञान। स्वतन्त्रता प्राप्ति के अभिलाषी को इसका विशेष रूप से पालन करना चाहिये। स्वतन्त्रतापहारक लोगों के पास स्वतन्त्रताभिलाषियों को पतित करने के अनेक साधन होते हैं। मनुष्य में अनेक दुर्बलतायें होती हैं किन्तु यह दुर्बलता बड़ी भयङ्कर है, बड़े बड़े वीर इस प्रलोभन में फंस जाते हैं। पुरुष को गिराने के लिये स्त्री और स्त्री को गिराने के लिये पुरुष अमोघ हथियार माने जाते हैं। तभी तो यम ने नचिकेता को परीक्षा लेने की भावना से कहा था—

इमाः रामाः सरथाः सतूर्य्याः ॥ कठो०=

बाजों गाजों तथा रथों के साथ ये स्त्रियां ले लो।

वेद कहता है, राष्ट्ररक्षक को इस विषय में अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। ब्रह्मचर्य्य रूपी मणि की रक्षा सर्वथा करनी चाहिये। अन्यथा प्राप्त स्वतन्त्रता का भी विलास से नाश हो जायेगा। ब्रह्मचर्य्य-पालन राजा के लिये भी कर्त्तव्य है। यथा—

ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ॥ अ० ११।५।१७=

ब्रह्मचर्य्य तप से राजा राष्ट्र की विशेष रक्षा करता है।

राष्ट्र संवर्धक लोग आस्तिक हों। नास्तिक लम्पट, प्रथम तो सफलता ही नहीं प्राप्त कर सकते, यदि सफल हो भी जायें, तो उनकी वह सफलता चिरस्थायिनी नहीं हो सकती। आस्तिकता तथा सदा-

चार से आत्मज्ञान=अपनी शक्ति का भान होता है। कार्य्य सिद्धि के लिये अपेक्षित शक्ति तथा साधनों का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। जो अपने बल सामर्थ्य का प्रमाण जाने बिना किसी गुरुतर कार्य्य में प्रवृत्त होता है, वह बहुधा असफल रहता है उस के मनोरथ मनोरथ ही रह जाते हैं। अतः ब्रह्म अपनी शक्ति का ज्ञान भी राष्ट्ररक्षा के लिये अत्यन्त प्रयोजनीय है।

८ यज्ञ=दान, सगतिकरण तथा देव पूजा। देश हितैषी, कलाकोविदद् महापुरुषो के साथ सदा मेल जोल रखने से देश हित के नये नये भाव तथा उत्तमोत्तम उत्तेजनाएँ मिलती रहती हैं। जिस देश में देवपूजा=विद्वानो का सत्कार नहीं होता, वहा सदा दुःख दारिद्र्य बने रहते हैं, क्योंकि यथेष्ट आदर न होने के कारण वे विद्वान् या तो दूसरे देशों में चले जाते हैं। या विद्या-व्यवसाय छोड कर किसी अन्य व्यापार व्यवहार में लग जाते हैं। यज्ञ शब्द बहुत व्यापक अर्थों का सूचक है। स्वार्थत्याग, पीड़ितों, दुखियो के दुःख दूर करना, योग्य पदार्थ का योग्य स्थान में उपयोग करना, परहित-चिन्तन, राष्ट्रहित के लिये अखिल सामग्री का सञ्चयन आदि लोकोपकारक कार्य्य यज्ञ शब्द में सनिविष्ट हैं।

यजुर्वेद के १८ वें अध्याय के पहले २८ मन्त्रों में मनुष्य जीवनोपयोगी सभी पदार्थों की गणना की है, और प्रत्येक मन्त्र के अन्त मे कहा है—

यज्ञेन कल्पन्ताम्=ये सब यज्ञ से समर्थ हों।

अर्थात् यज्ञ इन का धारक है।

ससार का इतिहास इस बात का साक्ष्य दे रहा है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने तथा उसे बनाये रखने के लिये इन गुणो की सदा आवश्यकता रही है।

उत्तरार्ध मे एक अनुपम सत्य का निरूपण हैं। मातृभूमि हमारे अतीत गौरव का एक विशाल भाण्डागार है, हमारी भविष्यत् की आशायें भी इसी में निहित हैं। अतीत गौरव की गाथा किस प्रकार मातृभूमि में निहित है, यह वेद ही के शब्दो में सुनिये—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यावर्त्तयन्॥ अ. १२।१।५

जिस से हमारे पुरातन पुरखाओ ने विविध पराक्रम किये और जिस मे देवो ने=धर्म्मात्माओं ने पापियों को हराया।

अपने पूर्वजनो के इतिहास की गौरव गाथा की स्मृति मनुष्य मे अभूतपूर्व उत्साह उत्पन्न कर देती है।

जिस राष्ट्र मे उपर्युक्त गुण हैं, उस राष्ट्र के वासियों को स्वदेश तथा परदेश मे स्थानादि की कहीं भी तङ्गी नहीं होती। पराधीन देश के वासियों को स्वदेश मे ही स्थान नहीं मिलता, परदेश में तो मिलना ही क्या है।*



* मातृभूमि की महिमा जानने के लिये लेखक की 'वैदिक स्वदेशभक्ति' पुस्तक पढ़नी चाहिये। और इस मन्त्र की विस्तार पूर्वक व्याख्या 'राष्ट्ररक्षा के वैदिक साधन' ग्रन्थ में देखिए।

पत्नी की कमाई खाने का निषेध

ओ३म् । अश्लीला तनूभवति रुशति पापयामुया ।
पतिर्यद् वध्वो वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥ अ० १४।१।२७

(रुशती) चमक दमक वाला (तनूः) तन (अमुया) इस (पापया) पापवृत्ति से (अश्लीला) शोभा-रहित, अश्लील, गन्दा (भवति) हो जाता है, (यत्) यदि (पतिः) पति (वध्वः) वधू के, पत्नी के (वाससः) कपड़े से (स्वम्) अपना (अङ्गम्) अङ्ग, शरीर (अभ्यूर्णुते) ढकता है ।

काव्य में कहीं अभिधावृत्ति होती है, कहीं लक्षणा, और कहीं व्यञ्जना । शब्द को उस के मुख्य, प्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना अभिधावृत्ति से कार्य्य लेना है । मुख्य अर्थ का बाध होने पर तत्सम्बन्धी अर्थ का ग्रहण लक्षणा कराती है । जैसे किसी ने कहा—नदी में कुटिया है । नदी प्रवाह का नाम है । प्रवाह में कुटिया ठहर नहीं सकती । अत. नदी का अर्थ नदीतीर या नदी के भीतर का टापू लेना पड़ता है । इस के अतिरिक्त व्यञ्जना वृत्ति होती है । वह अतीव विलक्षण है । उदाहरण से समझने में सुविधा होगी । किसी ने कहा— चार बज गए । सुन ने वालों में किसी कार्यालय के कर्मचारी,-भ्रमणशील आदि कई महानुभाव हैं । कार्यालय का कर्मचारी सुन कर घर जाने की तय्यारी करता है । सैलानी सैर को चल देता है । इत्यादि इत्यादि 'चार बज गए' वाक्य का अर्थ न तो 'घर जाओ' है और ना ही सैर को जाओ ।' किन्तु सुन कर ऐसा आचरण हुआ है । सुनने वालों को इन अर्थों का बोध कैसे हुआ ? वाक्यार्थनिष्णात पण्डित जन कहते हैं कि ये अर्थ व्यञ्जना वृत्ति का चमत्कार है ।

इस मन्त्र में भी व्यञ्जना वृत्ति से काम लिया गया है । व्यञ्जना से मन्त्र यह कहना चाहता है कि पुरुष को अपनी पत्नी की कमाई नहीं खानी चाहिये । इस का प्रमाण भी है—

अ० १४।१।५२ में कहा है—

ममेयमस्तु पोष्या मह्य त्वादाद् बृहस्पतिः=

यह वधू मेरी पोष्या=पालनीय है । भगवान् ने तुझे मेरे प्रति दिया है ।

इस का भाव यह है कि विवाह के समय वर प्रतिज्ञा कर रहा है कि मैं जिस का पाणिग्रहण कर रहा हूँ, उस के पालन-पोषण का सब भार मैं अङ्गीकार करता हूं । सब के सामने प्रतिज्ञा कर के उस से पीछे हटना सचमुच भद्दा लगता है स्त्री की कमाई पर निर्वाह करना केवल अपनी प्रतिज्ञा से पीछे हटना ही नहीं, वरन् उस के विपरीत आचरण करना है । यह तो अत्यन्त भद्दा है । क्योंकि अब पत्नी-पोष्या न रह कर पोषिका बन गई है । और पति-पोषक न हो कर पोष्य हो गया है ।

जैसे कोई पुरुष स्त्रीयों के वस्त्र पहन ले, स्त्री की कमाई पर निर्वाह करना भी वैसा ही है ।

२१७

एक समय में एक पति और एक पत्नी

ओ३म् । इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे दमे ॥ ऋ० १०।८५।४२

हे दम्पति । पतिपत्नि ! तुम दोनों (इह+एव) यहा ही (स्तम्) रहो (मा) मत (वियौष्टम) वियुक्त होवो । (पुत्रै) पुत्रों और (नप्तृभिः) पोतों नातियो के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुये (स्वे) अपने (दमे) घर में (मोदमानौ) आनन्दित होवे हुए (विश्वम्) पूरी (आयुः) आयु (व्यश्नुतम्) भोगो ।

वैदिक धर्म्म मे पतिव्रत धर्म्म तथा पत्नीव्रत धर्म्म पर बहुत बल दिया गया है । वेद मे विवाह का प्रयोजन सन्तान-उत्पादन है न कि भोग विलास । जैसा कि अ० १४।२।७१ मे पतिपत्नी दोनों कहते हैं—

प्रजाया जनयावहै=आओ । हम दोनों मिल कर सन्तान उत्पन्न करें ।

इस अ० १४।२।७१ की मानो व्याख्या करते हुए पारस्कर ऋषि लिखते हैं—

तावेव विवहावहै, सहरेतो दधावहै प्रजा जनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून् । (१।६)

=ऐसे हम दोनों विवाह करें, वीर्य्याधान करें, सन्तान उत्पन्न करें और बहुत से पुत्रों को प्राप्त करें।

सन्तान-उत्पत्ति के लिये सयम मुख्य है । उसके लिए पति पत्नी दोनो को कुछ नियम पालन करने पड़ते हैं । सन्तान अपनी अपेक्षा उत्कृष्ट हो, इसके लिये सयम अनिवार्य्य है, उस सयम के लिये पतिव्रत तथा पत्नीव्रत दोनो आवश्यक हैं । अतः वेद मे आदेश हुआ है—

इहैव स्तं . . . । तुम दोनो यहा रहो ।

यदि एक समय मे एक से अधिक पति या पत्नी का विधान होता । तो 'स्तम' द्विवचन न होकर 'स्त' बहुवचन होता ।

चिरकाल तक यदि पति को प्रवास से रहना हो, तो पत्नी को साथ ले जाये, अर्थात् यथासभव दोनों इकट्ठे रहें । वेद का स्पष्ट आदेश है—मा वि यौष्टम्=तुम एक दूसरे से वियुक्त न हो ।

एक दूसरे से पृथक् होने से प्रीति मे त्रुटि हो सकती है । पति पत्नी मे परस्पर प्रेम न हो, तो सन्तान अच्छी नहीं होती, जैसा कि मनु जी ने लिखा है—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्य कल्याण तत्र वै ध्रुवम ॥३।६०
यदि हि स्त्री न रोचेतपुमांस न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पु सः प्रजन न प्रवर्त्तते ॥ ३।६१

जिस कुल मे पत्नी से पति और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है उसी कुल मे सौभाग्य और ऐश्वर्य्य अवश्य निवास करता है । यदि स्त्री पति से प्रीति नहीं करती और पुरुष को प्रसन्न नहीं करती तो पुरुष का सन्तान-जनन कार्य्य नहीं चल सकता । इसी वास्ते वेद का आदेश है कि—

चक्रवाकेव दम्पती [अ. १४। २।६४]

पति पत्नी दोनों चकवा चकवी की भांति परस्पर प्रीति करने वाले हों ।

यह तभी हो सकता है जब एक समय मे एक स्त्री का एक पति तथा एक पुरुष की एक ही स्त्री हो ।

२१८

राष्ट्र के लिये

ओ३म्। येन देवं सवितारं परि देवा अधारयन्।

तेनेम ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन ॥ अ० १६।२४।१

हे (ब्रह्मणस्पते) महाज्ञानिन्। (देवाः) निष्काम महात्मा (येन) जिसके द्वारा (सवितारम्) सविता=सर्वोत्पादक (देवम्) भगवान् को (परि+अधारयन्) सब प्रकार धारण करते हैं, (तेन) उसी के द्वारा तुम सब लोग (इमम्) इसको (राष्ट्राय) राष्ट्र के लिये (धत्तन) धारण करो।

कोई सज्जन अपना जन धन राष्ट्र को अर्पण करने की भावना से राष्ट्र रक्षक के पास आया है और कह रहा है—इम . . . ...**परि राष्ट्राय धत्तन**=इसे राष्ट्र के लिये धारण करो।

कई लागों का विचार है, वेद मे राष्ट्रनिर्माण की कल्पना है ही नहीं। ऐसा कहने वाले वेद को देखे बिना ऐसा कहते हैं। वेद में राष्ट्रकल्पना है, और वह अत्यन्त उदात्त और ऊचे दर्जे की है। यजुर्वेद के दशम अध्याय के-पहले चार मन्त्रों में तो राष्ट्र की मानो मुहारनी ही है। य० २२।२२ मे राष्ट्र में क्या क्या हाना चाहिये, इसका संक्षिप्त किन्तु प्राञ्जल वर्णन है। अथर्ववेद के १२वे काण्ड का पहला सूक्त (वर्ग) समस्त मातृभूमि विषयक है। ऋग्वेद का १।८० सूक्त स्वराज्य परक है। इन मन्त्रा म जो विचार-तत्त्व हैं, वे इतने गम्भीर और विमल भावों से भरे हैं कि उनके अनुसार आचरण मानवसमाज के सभी दु खों को मिटा दे सकता है।

वे सदा उत्तम राष्ट्र की भावना का प्रचारक है। यथा

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे (अ० १२।१।८

वह हमरी भूमि मातृभूमि उत्तम राष्ट्र में [उत्तम राष्ट्र के निमित्त] कान्ति और शक्ति धारण करे।

वेद काव्य है, अत. कविता की भाषा मे उपदेश करता है। देशवासियों के स्थान में भूमि-मातृ-भूमि से कान्ति और शक्ति धारण करने की कामना की गई है। उस कान्ति और शक्ति के धारण का प्रयोजन उत्तम राष्ट्र है।

राष्ट्र धारण करने के लिये बहुत बड़ा सामर्थ्य चाहिये। उस सामर्थ्य की चर्चा मन्त्र के पूर्वार्द्ध मे है—

येन देव सवितार परि देवा अधारयन्=

देव=निष्काम ज्ञानी जिस सामर्थ्य से सविता देव को धारण करते हैं।

देव को अदेव नहीं धारण कर सकता। देव को धारण करने के लिये देव बनना पड़ता है।

राष्ट्र धारण करने के लिये भी उतना सामर्थ्य चाहिये, जितना भगवान् के धारण करने के लिये। स्वार्थत्याग से ऊपर उठ कर सर्वहितसाधन के भाव से प्रेरित होकर जो जन राष्ट्रकार्य्य करते हैं, वही राष्ट्र धारण कर सकते हैं। इसी वास्ते कहा—

तेनेमं . **धारय**=उसी सामर्थ्य से इसे राष्ट्र के लिये धारण कर।

अर्थात् मनुष्य के धन, जन, तन का उपयोग राष्ट्र के लिये होना चाहिये।

२१६

सब पशुओं की रक्षा

ओ३म्। ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति।
पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते न. पशुषु जाग्रति ॥अ० १६।४८।५

(ये) जो (रात्रिम्) रात्रि के समय (अनुतिष्ठन्ति) अनुष्ठान करते हैं (च) और (ये) जो (भूतेषु) भूतों के, पदार्थमात्र के विषय में (जाग्रति) जागते हैं, सावधान रहते हैं (ये) जो (सर्वान्) सभी (पशून्) पशुओं की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं, (ते) वे (न.) हमारे (आत्मसु) आत्माओं में (जाग्रती) जागते हैं, सावधान हैं और (ते) वे ही (नः) हमारे (पशुषु) पशुओं म (जाग्रति) जागते हैं, सावधान हैं।

इस मन्त्र में कई उपदेश हैं--

१. **ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति**—जो रात्रि को बनाते हैं अथवा जो रात्रि के समय अनुष्ठान करते हैं। श्लेषालङ्कार के द्वारा वेद ने दो बातें एक ही वाक्य में कह दी हैं। रात्रि का एक अर्थ रात, और दूसरा अर्थ है रमणसामग्री। जो रात्रि को=रमणसामग्री को बनाते हैं, अर्थात् जो ससार की सुखसमृद्धि में वृद्धि के साधनों को प्रस्तुत करते हैं। और 'जो रात्रि के समय अनुष्ठान करते हैं।' एकान्त समय मे भगवान् की आराधन और धर्मार्थ का चिन्तन करते हैं। भाव यह कि मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह ससार को अधिक सुखी बनाने का निरन्तर यत्न करे तथा एकान्त समय मे भगवद्भक्ति, आत्मचिन्तन, धर्म्मार्थ-विचार किया करे।

२ **ये च भूतेषु जाग्रति**—जो भूतों मे जागते रहते हैं। अर्थात् जिन्हे पदार्थों के गुण-धर्म्मों का ज्ञान है। यह सारा ससार मनुष्य के लिये है, उसे यदि ससारस्थ पदार्थों के गुणों, धर्म्मों का ज्ञान न हो तो वह उनसे उपयोग कैसे लेगा? प्रत्येक पदार्थ से योग्य उपयोग लेने के लिये यह ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

३. **पशून् सर्वान् ये रक्षन्ति**—जो सभी पशुओं की रक्षा करते हैं। इस निर्देश पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। पशुभक्षकों को इस का मनन करना चाहिये। रक्षा करना है, तो सभी रक्षा के अधिकारी हैं। अ० १६।५०।३ मे कहा है—**रात्रिंरात्रिमरिष्यन्तस्तरेम तन्वा वयम्**=

हम किसी भी रात्रि म हिंसा न करते हुए इसी शरीर से तर जायें।

दूसरे शरीर की प्रतीक्षा न करनी पडे, अतः इसी शरीर मे अहिंसादि सद्गुणों का अनुष्ठान करें। इसी तत्त्व को सामने रखते हुए पूर्वोक्त बातों का गभीर-आशय इस भाति है। (१) एकान्त समय मे प्रभुभक्ति करनी चाहिये। उसके लिये। (२ सब भूतों मे सावधान रहना चाहिये, अर्थात्

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत.। तत्र को मोहः क. शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (य० ४०।७)

जिस समय ज्ञानी की दृष्टि मे सभी प्राणी आत्मसमान हो गये उस समय समदर्शी को क्या शोक? और क्या मोह? सब को अपने समान मानना चाहिये। उसका आचरण द्वारा प्रमाण देने के लिये ३ सब पशुओं की रक्षा करनी चाहिये। अर्थात् किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिये। यज्ञप्रधान कहे जाने वाले यजुर्वेद के पहले मन्त्र मे भी **'यजमानस्य पशून् पाहि'** [यजमान के पशुओं की रक्षा कर] प्रार्थना है। जो इन गुणों मे सपन्न हैं, सचमुच वे सभी के आत्माओं मे जागते हैं, वे उन्हे कोई पीड़ा नहीं देते हैं, वे सभी के पशुओं के विषय मे भी सावधान हैं। ऐसा नहीं कि अपनों की रक्षा और परायों की हिंसा। नहीं, सब की रक्षा। अ० १७।४ मे प्रार्थना है--

प्रियः पशूनां भूयासम—पशुओं का प्यारा बनूं। पशुओं का हिंसक उनका प्रिय कैसे बन सकता है?

२२०

अपनी शक्ति

ओ३म । अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्र
मयुतो मे प्राणो ऽ युतो मेपानोयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥१॥

ओ३म । देवस्य त्वा सवितु प्रसवे—
ऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्या प्रसूत आरभे ॥२॥ अ. १६।५१॥

(अहम्) मैं (अयुतः) हजारों शक्तियों से सपन्न हूं । (मे) मेरा (आत्मा) आत्मा, देह, मन (अयुतः) अयुत है (मे) मेरा (चक्षुः) चक्षु (अयुतम्) अयुत है (मे) मेरा (श्रोत्रम्) कान (अयुतम्) अयुत है (मे) मेरा (प्राणः) प्राण (अयुतः) अयुत है (मे) मेरा (अपान.) अपान (अयुतः) अयुत है (मे) मेरा (व्यान') व्यान (अयुतः) अयुत है । और (अहम्) मैं (सर्वः) सपूर्ण ही (अयुतः) अयुत हूँ । (त्वा) तुझ (सवितुः) शुभप्रेरक (देवस्य) प्रभु की (सवे) प्रेरणा मे (अश्विनोः) अश्वियों की, प्राण अपान की (बाहुभ्याम्) धारक मारक शक्तियों के साथ तथा (पूष्णः) पोषक तत्त्व के (हस्ताभ्याम्) पुष्टि तथा घृति रूप हाथों से (प्रसूतः) प्रेरित हुआ (आ रमे) कार्य्य आरम्भ करता हूं ।

आत्मा की शक्ति का निरूपण है । आत्मा की शक्ति समझने के लिये ससार पर दृष्टि डालिये , सूर्य्य से कितनी गरमी है साढ़े नौ करोड़ मील दूर रहते भी वह पृथिवी को झुलस डालता है । जल का बल देखिये, जगल में आग लगी है । मनुष्य अपनी अशक्ति का विचार कर निराधार सा हो जाता है किन्तु ऊपर से होती है वृष्टि, दावाग्नि शान्त हो जाता है । वायु के सामर्थ्य का क्या कहना, पल भर मे जाने कितना अनर्थ कर देता है । विद्युत् का प्रताप देखिये, चमकती है, तो देखने वालो की आखें चौंधिया जाती हैं । यदि कहीं गिरती है, तो उस भस्म कर देती है । इसी प्रकार अन्य प्राकृतिक शक्तियों का विचार कर लीजिये । इसके साथ मानव-आत्मा का माहात्म्य देखिये । सूर्य्य से बचने के लिये इसने आतप सान्त Sun-Proof साधन निर्माण कर लिये । बिना अग्नि जलाये सूर्य्य स अपना भोजन बनवाता है । जिस जल मे दावानल को अवल करने का बल है, उस जल को, कल बना मनुष्य नल मे ले आया है । और आग जगल के जगल भस्मसात् कर देती है, वही मनुष्य का भोजन पकाती है, 'कपड़ा बुनती है, चक्की पीसती है,, और जाने कितनी सेवायें मनुष्य की करती है । विद्युत् को तार मे बाध कर मनुष्य समुद्र पार सदेश भेजता है, घरों मे प्रकाश कराता है । इससे दूरस्थ के गाने सुनता है । सभी जीवनोपयोगी कार्य्य इसी से लेता है । ये सारे बलवान् भूत मनुष्य के आज्ञावशवर्त्ती दास बने हुए हैं । यह सब कैसे हो पाता है ? इन सब का विधाता मनुष्य है । अत: कहता है—

अयुतोऽहमयुतो म आत्मा मै हजारो शक्तियो वाला हू, मेरा आत्मा भी अयुत है ।

इतने महनीय कार्य्य किसी तुच्छ से नहीं हो सकते ? आत्मा के सभी प्रमुख करणों में भी

आत्मा की शक्ति है अत. उन मे भी अयुत सामर्थ्य है। अ. ७।११५।३ में कहा है—

एकशत लक्ष्म्यो मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोधि जाताः
तासां पापिष्ठा निरितः प्रहिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदः नियच्छ ॥

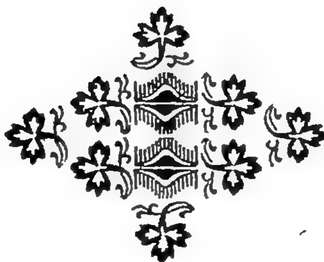
जन्म से ही शरीर के साथ ही मनुष्य की सैकड़ों लक्ष्मियां उत्पन्न होती हैं। उन में से अत्यन्त बुरी को यहां से दूर करते हैं। हे सर्वज्ञ। भली हमें दें।

मनुष्य में स्वभाव से अतुल सामर्थ्य है। उस का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

अ. १७।३० मे प्रार्थना की है—**सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम्।** मुझ में हजारों प्राण उद्योग करें।

अपान-व्यान आदि प्राण के ही भेद हैं। जीवनी शक्ति की प्रबलता की कामना है।

इतना सामर्थ्य पाकर मनुष्य उद्धत न हो जाए, घमण्ड न करने लग जाए। अतः अपने विपुल बल का अनुभव करता हुआ भी कहता है—**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे···आरभे।** सर्वप्रेरक भगवान् के आज्ञा विधान में रहता हुआ कार्य करूं। सब से प्रबल आत्मा परमात्मा के आगे निर्बल है। अत इतना बल रखता हुआ भी उस के विधान का मान करने को उद्यत हुआ है। सच पूछो तो आत्मा के बल का मूल भी भगवान् है। भगवान् आत्मा को शरीर न दे तो यह अपने बल का चमत्कार भी न दिखा सके। अत. तत्वज्ञानी बल बल के मूलोद्गम भगवान् के साथ सम्बन्ध बनाए रखते हैं।



२२१

अकेला जाना होता है

ओ३म् । यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्ति धीरः ।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान् स्वप्न मिमानो असुरस्य योनौ ॥ ॥ ऋ० १०।५६।१ ॥

हे ज्ञानिन् । (यमस्य) नियन्त्रणकर्त्ता न्यायकारी भगवान् के (लोकात्+अधि) लोक से, प्रकाश से (आ + बभूविथ) तू समर्थ हुआ है, तू (धीरः) होकर (मर्त्यान्) मनुष्यों को, मरणधर्म्माओं को (प्रमदा) मस्ती से (प्र+युनक्ति) युक्त करता है । तू (विद्वान्) विद्वान् (असुरस्य) असुर= प्राणप्रद के (योनौ) ठिकाने में (स्वप्नम् +मिमान·) सपने लेता हुआ (सरथम्) रमणसाधनों=कृतकर्मों की वासनाओं के साथ (एकाकिना) अकेला ही यासि जाता है ।

इस मन्त्र में मार्मिक बातें कही गई हैं—

१. मनुष्य को बताया गया है तू कहा से आया है ? **यमस्य लोकादध्या बभूविथ**=तू तो न्यायकारी भगवान् के लोक से आया है । अर्थात् इस जन्म-मरण के प्रवाह में पड़ने से पूर्व तू ब्रह्मलोक=मुक्ति में था ।

२. **प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्ति धीरः**=यदि तू धीर हो जाये तो मनुष्यों को आनन्द सम्पन्न कर सके । अर्थात् मनुष्य का एक कार्य यह भी है कि वह दूसरों को सुखी करे । दूसरों को सुखी करने के लिये बहुत बड़ा धैर्य्य चाहिए । अधीर, चञ्चल, चपल मनुष्यों में दूसरों को शान्त करने का साहस कहा ?

३ मनुष्य का यह जीवन एक विशाल स्वप्न है । स्वप्न लेता लेता तू यहा से अकेला चला जायेगा । भले मनुष्य ! कुछ करेगा भी. अथवा केवल स्वप्न लेता रहेगा, कल्पनायें करता रहेगा । स्वप्न की दशा थका देती है, अत· इस से ऊपर उठ । स्वप्न हटने पर स्वप्नदृष्ट कोई भी पदार्थ दीखता नहीं । कार्य्य में परिणत न हुई कल्पना स्वप्न समान मिथ्या है ।

ये तेरी कल्पनायें यहीं रह जायेंगी, तू अकेला जायेगा, साथ होगी तेरी वासनायें ।

एकाकिना सरथं यासि विद्वान्

मनु महाराज ने इसी का भाव लेकर कहा है—

एक प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ ४।२४० ॥

प्राणी अकेला उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है । अकेला ही सत्कर्म्मों का फल भोगता है । और अकेला ही बुरे कर्म्मों का ।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठत· ।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवल ॥४।२४१॥

परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, न कलत्र और न कोई सम्बन्धी सहायता दे सकते हैं । केवल धर्म्म साथ जाता है । -

वेद ने जिसे रथ=रमणसाधन कहा है, मनु ने उसे धर्म्म कहा है ।

सावधान ! मनुष्य ! सावधान ! यह सब सामान यहीं धरा रह जायगा ।

२२२

पत्नीसमेत यज्ञ

ओ३म् । यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥
ओ३म् । ये देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया येभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम् ।
इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम् ॥अ. १६।५८।५६॥

मैं (यज्ञस्य) यज्ञ को (प्रभृतिः) उत्तम पालक होकर (चक्षुः) नेत्र (च) और (मुखम्) मुख को (वाचा) वाणी के साथ (श्रोत्रेण) कान के साथ तथा (मनसा) मन के साथ (जुहोमि) हवन करता हूं। (विश्वकर्मणा) जगद्विधाता विश्वकर्त्ता प्रभु के द्वारा (विततम्) रचे, फैलाये (इमम) इस (यज्ञम) को (देवाः) देव=दिव्यगुणसम्पन्न महामनुष्य (सुमनस्यमानाः) उत्तम मन से युक्त होते हुए (यन्तु) प्राप्त हो जायें । (ये) जो (देवानाम्) विद्वानों के ऋत्विजः ऋत्विक् हैं (च) और (ये) जो स्वयं (यज्ञिया) यज्ञ में पूज्य अर्थात् यज्ञयोग्य हैं, जिनके लिये (हव्यम्) हव्य, हविः, हवन करने का सामान, भोजन-सामग्री (भागधेयम्) भाग (क्रियते) दिया जाता है, (यावन्तः) जितने भी (देवाः) देव हैं वे सब (पत्नीभिः+सह) पत्नियों के साथ (इमं+यज्ञम्) इस यज्ञ में (एत्य) आकर (तविषा) शक्ति से (मादयन्ताम्) मस्त हों, आनन्दित हों ।

यज्ञ में वेद मन्त्रों का प्रयोग होता है, जैसा कि वेद का आदेश है—

उप प्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये (ऋ १।७४।१)=

यज्ञ का सम्पादन करते हुए हम ज्ञानवान् भगवान् के प्रति मन्त्र बोलें ।

जब वेद का प्रचार न रहा, तो कुछ वेदानभिज्ञ लोगों ने स्त्रियों के लिये वेद पढ़ना वर्जित ठहरा दिया । और चूंकि यज्ञ समन्त्रक होते हैं, अतः उन से यज्ञाधिकार भी छीन लिया जो सर्वथा वेद-विरुद्ध है । वेद में स्पष्ट आदेश है—

इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य

इस यज्ञ में पत्नियों समेत आकर ।

ऋ ८।३१।५ में भी कहा है—

या दम्पती समनसा सुनुत.=

जो दम्पती=पति पत्नी एक मन से यज्ञ करते हैं ।

इन स्पष्ट वचनों के होते हुए स्त्रियों से वेदाधिकार तथा यज्ञाधिकार का अपहार करना स्पष्ट अत्याचार है ।

भगवान् के रचे यज्ञ=संसार को देखो, इसमें सभी—स्त्री पुरुष, द्विज शूद्र—सम्मिलित हैं, तो मनुष्य के रचे यज्ञ में स्त्री=मनुष्य की माता को सम्मिलित न होने देना घोर अनाचार है । इस यज्ञ की रक्षा करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है । इसमें उसे अपनी संपूर्ण इन्द्रियों को, अर्थात् उनके विषयों को, होम करना होगा । तभी इसमें देव आयेंगे ।

२२३

युद्ध जीतो

ओ३म् । तेषा सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत संनह्यध्व मित्रा देवजना यूयम् ।
इमं संग्रामं सजित्य यथालोक वितिष्ठध्वम ॥ अ० ११।९।२६

(तेषाम्) उन (सर्वेपाम्) सब के (ईशाना) शासक होते हुए (उत्तिष्ठत) तुम सब उठ खडे होवो । (यूयम्) तुम सब (मित्राः) एक दूसरे से स्नेह करने वाले (देवजनाः) देवजन, विजयाभिलाषी लोग (सनह्यध्वम्) [शस्त्रों से अपने को] तय्यार करो, [हथियार] बाधो । (इमम्) इस (सग्रामम्) सग्राम को (सजित्य) भली भाति जीत कर (यथालोकम्) अपने अपने ठिकानों पर (वितिष्ठध्वम्) स्थित होवो ।

आर्य्य भाव देव=विजयी हैं । वेद में स्थान स्थान पर जय प्राप्त करने का आदेश है । पुरोहित अपने यजमान क्षत्रियों से कह रहा है—प्रेता जयता नरः उग्रा वः सन्तु बाहव. । (अ० ३।१९।७)=

हे अग्रगामी वीरो ! चढाई करो, और विजय प्राप्त करो, तुम्हारे भुज उग्र हों ।

इस मन्त्र में भी जीतने का उपदेश है । जीतने से पहले की तय्यारी का भी सकेत है ।

१. उत्तिष्ठत—उठो । पडे मत रहो । उठने के भाव को अ० १०.९।३ मे स्पष्ट किया है—

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसदानाभ्याम् । अमित्राणा सेना अभिधत्तमर्बुदे ॥

तुम दोनों [सेनापति तथा सेना] उठो । और वर पकड़ आरभ करो । शत्रु की सारी सेना को बाध डालो । युद्ध मे ढीली ढाली नीति से सफलता नहीं मिला करती ।

२ सनह्यध्वम्—तैयारी करो, शस्त्रास्त्र से सुसज्जित हो जाओ । अ० ११।१०।१ मे कहा है—

सनह्यध्वमुदाराः केतुभि सह=उदार होकर अपने झण्डा के साथ तय्यार हो ।

झण्डा ले चलने का भाव है युद्ध के लिये सज्जित होना । तुम्हारी तय्यारी, शस्त्रास्त्र, युद्धोत्साह देख कर शत्रु स विजन्ताम (अ० ११।९।१७) घबरा उठे । और तू उनको उद्वेपय (अ० ११।९।१२) कपा, और भियाऽमित्रान्त्ससृजः (अ० ११।९।११) शत्रुओं को भयभीत कर दे ।

३ मित्रा.—तुम्हारी सेना के सैनिक और सेनापति तुम सभी परस्पर प्रीतियुक्त होकर तय्यारी करो । जिस सेना में फूट होगी, पारस्परिक स्नेह न होगा, उसका पराजित होना, हारना निश्चित है । अतः विजयाभिलाषियों मे पारस्परिक प्रीति का होना अत्यन्त प्रयोजनीय है ।

४ देवा.—देव के अनेक अर्थों मे से एक अर्थ है विजिगीषु=विजयाभिलाषी । चढाई करने वालों को देव बन कर जाना चाहिये । यदि अपने अन्दर सदिग्ध भावना हो अथवा पराजय का भय हो, तो पराजय अवश्यभावी है । अत विजय के भावों से हृदय भरपूर होना चाहिये—

सर्पा इतरजना रक्षास्यमित्राननु धावत (अ० ११।१०।१)

ये शत्रु सर्प हैं, इतरजन हैं, इन वैरी राक्षसों के पीछे दौड़ो और इन्हें पवित्र करो । अर्थात् युद्ध का धर्मयुद्ध बनाओ । सग्राम जीतने का परिणाम यह हो कि

अमित्राणा शचीपतिर्मामीषा मोचि कश्चन (अ० ११।९।२०)

सेनापति उन शत्रुओं में से किसी को न छोडे । शत्रुरहित होकर, सग्राम जीत कर

यथालोक वितिष्ठध्वम=यथास्थान स्थित होवो ।

२२४

नौ द्वारों वाला पुण्डरीक (कमल)

ओ३म् । पुण्डरीक नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ।।अ० १०।८।४३

(त्रिभि.) तीन (गुणेभिः) गुणों से (आवृतम्) ढका हुआ (नवद्वारम्) नौ द्वारों वाला (पुण्ड-रीकम्) कमल है। (तस्मिन्) उसमें (यद्) जो (आत्मन्वत्) आत्मा वाला (यक्षम्) पूजनीय है। (ब्रह्मविद) ब्रह्मवेत्ता (तत्) उसको (वै) ही (विदु.) जानते हैं, प्राप्त करते हैं।

मानस कमल को यहा एक गृह से उपमा दी है, तभी तो पुण्डरीकं नवद्वारं कहा है। उपनिषत् में इस 'नवद्वार' विशेषण के कारण पुण्डरीक के साथ 'वेश्म' शब्द जोड़ दिया गया है, ताकि सन्देह ही न रहे। यथा—अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीक वेश्म (छा. ८।१।१)

इस ब्रह्मपुर में छोटा सा कमल समान जो मकान है। वह कमल-समान मकान 'त्रिभिर्गुणैरावृतम्' तीन गुणों से घिरा है। सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों ने मन को घेर रखा है। और वह नवद्वारं= नौ दरवाजों वाला है। 'इस नगरी के नौ दरवाजे' प्रसिद्ध हैं।

तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्=
उस कमल समान मकान में आत्मा-सहित यक्ष=पूजनीय रहता है। उपनिषत् मे कहा—
तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् (छा० ८।१।१
उसके भीतर जो है, उसकी खोज करनी चाहिये। वेद कहता है, उसमें 'आत्मन्वान् यक्ष' है। वेद का आशय यह है कि हृदय मन्दिर में आत्मा परमात्मा दोनों रहते हैं। उपनिषदों मे भी अनेक स्थानों पर 'गुहांप्रविष्टौ'=[हृदय-गुफा मे प्रविष्ट हुए दोनों] शब्दों से यह अर्थ प्रतिध्वनित हुआ है।
अ० १०।२।३१-३२ में यही बात एक दूसरे प्रसग मे कही है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या।
तस्या हिरण्यय कोश स्वर्गो ज्योतिषावृत ।।
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ।।

देवों की न जीती जा सकने वाली नगरी के आठचक्र तथा नौ द्वार हैं। उस नगरी मे प्रकाश से घिरा हुआ सुवर्णमय आनन्द तक ले जाने वाला कोष है। उस तीन अरों वाले, तीन के सहारे रहने वाले सुवर्णमय कोश में आत्मन्वान् जो यक्ष है, ब्रह्मवेत्ता उसे ही प्राप्त करते हैं।

मूलाधिष्ठान से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक इस शरीर मे आठ चक्र हैं। उत्थान के समय प्राण कभी-कभी इनमें रुका करता है। आख कानादि नौ द्वार प्रसिद्ध हैं। इस शरीर मे हिरण्यय कोश है। इसे मानस मन्दिर कह लीजिये। दहर पुण्डरीक वेश्म कह लीजिये। सत्व रजस् और तमस् इनके तीन अरे हैं। उस मानस मन्दिर में आत्मा परमात्मा का वास है, अत. वह प्रकाशमय है। आनन्दमय परमात्मा का वासस्थान होने से वह स्वर्ग=स्वर्+ग=आनन्द तक ले जाने वाला है। ब्रह्मवेत्ता लोग उसी यक्ष को पाते हैं।

२२५

यज्ञ में आने का प्रयोजन

ओ३म् । ऋतवीतय आगत सत्यधर्माणो अध्वरम् ।

अग्ने' पिबत जिह्वया ॥ ऋ० ५।५१।२

हे (सत्यधर्माणः) सत्यधर्मियो ! (ऋतवीतये) ऋत के मनन के लिये (अध्वरम्) यज्ञ को (आगत) आओ । और (जिह्वया) जिह्वा से (अग्ने.) अग्नि का (पिबत) पान करो. अथवा (अग्नेः) अग्नि की (जिह्वया) जिह्वा द्वारा (पिबत) पान करो ।

वैदिकधर्म यज्ञप्रधान धर्म है । 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' [जीवन यज्ञ से सफल हो] वाक्य यजुर्वेद में कई बार आया है । यज्ञ के अध्वर, मख आदि कई नाम हैं । यहां 'अध्वर' शब्द का प्रयोग हुआ है । 'अध्वर' शब्द के सम्बन्ध में थोड़ा सा ज्ञान लेने से मन्त्र का भाव समझने में आसानी होगी । अध्वर पर लिखते हुए यास्काचार्य जी लिखते हैं—'ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः' (नि.) अध्वर=दो शब्द हैं—अ (न)+ ध्वर । ध्वर का अर्थ है हिंसा ; अध्वर का अर्थ है—न हिंसा=अहिंसा ।

भाव यह हुआ कि अध्वर उन कर्मों का नाम है, जिनमें हिंसा न हो, अथवा हिंसा का निषेध किया जाता हो । यज्ञ में हिंसा करने वालों का खण्डन तो इसी 'अध्वर' शब्द से ही हो जाता है । अध्वर का एक दूसरा अर्थ भी है—अध्व+र=मार्ग देना, मार्ग दिखलाना । यज्ञ शब्द का एक अर्थ है संगतिकरण=सत्संगति । उस अर्थ को अध्वर=मार्ग दिखलाना के साथ मिलायें तो अध्वर=यज्ञ का थोड़ा सा भाव स्पष्ट हो जाता है ।

अध्वर में=सत्संग में आने का प्रयोजन बतलाया—ऋतवीतये=ऋत के मनन के लिये । सत्संग के बिना ऋत का ज्ञान हो ही नहीं सकता । पाठशाला, विद्यालय आदि में ज्ञान सत्संग करना है । वहां विद्यार्थी गुरु की संगति करता है । पुस्तक पढ़ते हुए उस पुस्तक के लेखक का संग हो रहा है । ऋतवीति ऋत का मनन ही है जैसा कि ऋ. ६।८७।३३ में लिखा है—ऋतस्य योनिं ब्रह्मणा मर्नीषाम्=

ऋत की योनि ब्रह्म=ज्ञान का मनन है । ऋत के मनन का उद्देश्य मनन ही होना चाहिये=

ऋतमृताय पर्वते सुमेधा. (ऋ० ६।८७।२३) महाबुद्धिमान् ऋत के लिये ऋत को पवित्र करता है । ऋत के लिये, ऋतानुसार आचरण करने के लिये । क्योंकि यदि ऋत के अनुसार आचरण न हुआ तो कल्याण न होगा—

ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः (ऋ० ६।७३।६) दुराचारी ऋत का मार्ग पार नहीं कर पाते । जो ऋतानुसारी नहीं है, वह दुराचारी है । अतः ऋत के मनन के साथ ऋत का धारण=आचरण भी आवश्यक है । ऋतधीति कौन कर सकते हैं ? इसका समाधान है कि सत्यधर्माणः, सत्यधर्मा, सत्यवादी । वेद ने कहा भी तो है—ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति (ऋ)

ऋत का मनन पापों को नष्ट कर देता है । अर्थात् ऋत मनन से निष्पाप होकर सत्याचरण सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है । ऋत का पान अग्नि की=ज्ञान की जुबान से करना चाहिये । उसमें बहुत स्वाद होता है—ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियम् (ऋ.६।७५।२)

ऋत की जिह्वा अभीष्ट स्वाद देती है ।

२२६

षड्रिपुदमन

ओ३म। उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृशदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥ अ. ८।४।२२

(उलूकयातुम्) उल्लू की चाल को (शुशुलूकयातुम्) भेड़िये की चाल को (श्वयातुम्) कुत्ते की चाल को (उत) और (कोकयातुम्) चिड़िया की चाल को (सुपर्णयातुम्) गरुड़ की चाल को (उत) और गिद्ध की चाल को (जहि) नाश कर, त्याग दे। हे (इन्द्र) ऐश्वर्याभिलाषिन् आत्मन्! (रक्ष·) (दृशदा+इव+प्र+मृण) मानो पत्थर से, पत्थर-समान कठोर साधन से मसल दे।

योगी जन कामक्रोधादि विकारों को पशुपक्षियों से उपमा देते हैं। उनका यह व्यवहार इस मन्त्र पर है।

उलूक=उल्लू अन्धकार से प्रसन्न होता है। अन्धकार और मोह एक वस्तु हैं। मूढजन मोह के कारण उसमें निमग्न रहना पसन्द करता है। उलूकयातु का सीधा सादा अर्थ हुआ मोह। मोह सब से बुरा है। वात्स्यायन ऋषि ने लिखा है—मोहः पापीयान्=मोह सब से बुरा है, राग द्वेषादि इसी से होते हैं।

शुशुलूक=भेड़िया। मोह से राग द्वेष उत्पन्न होता है। क्रूर होता है, बहुत द्वेषी होता है। इसका भाव हुआ द्वेष की भावना। द्वेषी मनुष्य को क्रोध की मात्रा बहुत होती है। श्वान्=कुत्ते में स्वजातिद्रोह तथा चाटुकारिता बहुत अधिक मात्रा में होती है। स्वजातिद्रोह तो द्वेष का एक रूप मत्सर=जलन के कारण होता है। दूसरे की उन्नति न सहना मत्सर होता है और चाटुकारिता लोभ से होती है। लोभ राग के कारण हुआ करता है। श्वयातु का अभिप्राय हुआ—मत्सरयुक्त लोभ। लोभवृत्ति की जब पूर्त्ति नहीं होती तो मत्सर और क्रोध उत्पन्न होते हैं। कोक=चिड़ा। चिड़ा कामातुर होता है कोक का अर्थ हंस भी होता है। हंस भी बहुत कामी प्रसिद्ध है। कोकयातु का अर्थ हुआ कामवासना।

सुपर्ण=सुन्दर परों वाला गरुड़। गरुड़ पक्षी को अपने सौन्दर्य का बहुत अभिमान होता है। इसका भाव हुआ--अहंकार-वृत्ति=मद।

गृध्र=गिद्ध। गिद्ध बहुत लालची होता है। गृध्रयातुम् का भाव हुआ लोभवृत्ति।

वेद ने इन सब का एक नाम रक्ष=राक्षस रखा है। अर्थात मोह, क्रोध मत्सर काम मद और लोभ। राक्षस या रक्षस् शब्द का अर्थ है--जिससे अपनी रक्षा की जाए। मोह आदि आत्मा के शत्रु हैं, इन्हें मार देना चाहिये। जिसे आध्यात्मिक या लौकिक किसी भी प्रकार के ऐश्वर्य की कामना हो, वह इन छहों को मसल दे। मोह आदि में से एक एक ही बहुत प्रबल एवं प्रचण्ड होता है। यदि किसी पर ये छहों एक साथ आक्रमण कर दें, तो उसकी क्या अवस्था होगी? अत· मनुष्य को सदा सावधान रहना चाहिये। और इनको नष्ट करना चाहिए---

प्रत्यक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तोऽभिजहि रक्षस· पर्वतेन। अ· ८।४।१६=

आगे से, पीछे से, नीचे से, ऊपर से, सब ओर से राक्षसों को वज्र से मार दे।

अर्थात् दुर्वृत्तियों का सर्वथा सफाया कर दे।

२२७

सभा

ओ३म्। विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥ अ० ७।१२।२.

हे (सभे) सभे। (ते) तेरा (नाम) नाम (विद्म) हम जानते हैं। (वै) सचमुच तू (नरिष्टा) मानवहितकारिणी (नाम) प्रसिद्ध (असि) है। (ये) जो (के+च) कोई-(ते) तेरे (सभासद् हों (ते) वे (मे) मेरे लिये (सवाचसः) वाणीयुक्त, बोलने वाले (सन्तु) हों।

सभा, समाज, सगठन बना कर कार्य्य साधना नया आयोजन नहीं है। यह अत्यन्त पुराना है, उतना पुराना, जब से कि इस ससार की रगस्थली पर मनुष्य आया। उसे यह बोध भगवान् ने कराया।

जिस सघ या व्यक्ति ने अपने प्रतिनिधि चुन कर सभा में भेजे हैं, वह मानो कह रहा है—

विद्म ते सभे नाम=हे सभा। हम तेरा नाम (यश) जानते हैं।

सभा मे बैठने योग्य को 'सभ्य' कहते हैं, 'सभ्य' के चालचलन को 'सभ्यता' कहते हैं। तनिक ध्यान दीजिये, तो स्पष्ट भान हो जायेगा कि सभ्यता सगठन के बिना नहीं हो सकती। सभा का एक अर्थ है प्रकाशयुक्त। अर्थात् सभा एक ऐसे जनसमुदाय को कहते हैं जिसमें सब मिल कर ज्ञानपूर्वक और ज्ञानरक्षक कार्य करते हैं, छिप कर अन्धकार में कार्य्य नहीं करते। इसीलिये आगे कहा है—**नरिष्टा नाम वा असि**= तू सचमुच नरहितकारिणी है।

इस छोटे से मन्त्रखण्ड मे सभा का उद्देश्य बता दिया गया है। यदि सभा से जनहित न हो, तो वह सभा नहीं है, उसे तोड़ देना चाहिये। उत्तरार्ध में सभासदों के कर्तव्य बताये गये हैं—

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः=जो कोई तेरे सभासद् हों, वे मेरे लिये बोलने वाले हों।

यदि कोई सभासद् सभा में जाकर चुप रहता है, बोलता नहीं, वह वेद विरुद्ध आचरण करता है। मनु जी ने कहा है—**सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्य वा समजसम** (८।१३)=

सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिये। प्रवेश करने पर युक्त=उचित बोलना चाहिये। अन्यथा—

अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्विषी॥ (८।१३)=

न बोलता हुआ अथवा उलटा बोलता हुआ मनुष्य पापी होता है।

जो ढोंगी सभा में बैठ कर **Neutral** पक्षरहित होने का दम्भ करते हैं, वे अवश्य पापी हैं, क्योंकि उन्होंने अपना अथवा निर्वाचकों का पक्ष न बता कर अन्याय और विश्वासघात किया है। उन्हें चाहिये कि— **'सभा न प्रवेष्टव्या'** वे सभा में ही न जायें।

जो इस प्रकार के पक्षहीन दम्भी हैं। मनु जी उनके सम्बन्ध मे कहते हैं—

यत्र धर्मो ह्यधर्म्मेण सत्य यत्रानृतेन च। हन्यते प्रेक्षमाणाना हतास्तत्र सभासदः (८।१४)

जिस सभा में सभासदों के देखते देखते अधर्म से धर्म और झूठ से सच मारा जाता है, उस सभा के सभासद् मरे हुए हैं। अत वेदभक्त सभासद् कहता है—

चारु वदानि पितरः सगतेषु (अ० ७।१२।१)

हे पूज्यो पितरो, **City fathers**। संगतों में=सभाओं में मै सुन्दर बोलूं।

२२८

विद्वानों का यज्ञ

ओ३म् । मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गोभिरगैः पुरुधायजन्त ।

य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ अ० ७।५।५

(मुग्धा.) मोह लेने वाले (देवा.) विद्वान् (उत) या तो (शुना+यजन्त) ज्ञानदाता भगवान् का यजन करते हैं (उत) अथवा (गोभि.+अगै.) वाणी के विविध अंगों से (पुरुधा) अनेक प्रकार या बहुधा (यजन्त) यज्ञ करते हैं । (य.) जो (इमम्) इस यज्ञ को (मनसा) मन से (चिकेत) जानता है, उसके सम्बन्ध में तू (नः) हमें (प्र+वोचः) भली भांति कह । (तम्) उसके सम्बन्ध में (इह-इह) अभी अभी (ब्रवः) तू बोल ।

ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अर्क, अश्वमेध, ज्योतिष्टोम आदि अनेक प्रकार के यज्ञ हैं । सब में भिन्न भिन्न प्रकार की सामग्री का प्रयोग होता है । राजसूय आदि यज्ञ प्राय. सभी सकाम कर्म हैं । जैसा कि लिखा है—

राजा राजसूयेन यजेत स्वराज्यकामः=

स्वराज्य का अभिलाषी राजसूय यज्ञ करे ।

किन्तु विद्वान् जिन्होंने सब कुछ जान लिया है, जिन्हें संसार की असारता का बोध हो चुका है, ऐसे—

मुग्धा यजन्त=

मोह लेने वाले विद्वान् भगवान् का यज्ञ करते हैं ।

सचमुच जो संसार की असारता के कारण इससे ऊपर उठ गये हैं, उनमें कोई विशेष चमत्कार होता है । दूसरों को वह अपने वश में कर लेते हैं । इनके इस गुण का हेतु है भगवद्भजन तथा भगवद्वाणी प्रवचन । भगवान् का ध्यान तथा भगवान् का व्याख्यान इनका प्रधान कार्य्य होता है ।

ऋग्वेद में कहा भी है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्=

विद्वान् यज्ञ=स्वाध्याय और प्रवचन के द्वारा भगवान् का यजन करते हैं, उनके यही कार्य्य मुख्य धर्म्म हैं ।

यज्ञद्वारा यज्ञपुरुष=पूज्य भगवान् की पूजा सरल नहीं, वरन् कठिन है । अग्निहोत्र आदि में घृत, तण्डुल समिधा सामग्री आदि से काम चल जाता है किन्तु इसमें अपना आप देना होता है ।

यत्पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।

अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ अ० ७।५।४=

विद्वान् लोग जो पुरुषरूप हवि के द्वारा यज्ञ करते हैं, इसी कारण से वह यज्ञ उस से अधिक ओजस्वी है, जो विहव्य=विविध प्रकार की हवन सामग्री से किया जाता है ।

निस्सन्देह आत्मयाजी महात्मा घृतादि लेकर नहीं बैठते, किन्तु वे तो उस यज्ञाग्नि=ब्रह्माग्नि में अपना आप होम कर रहे होते हैं । इसके बतलाने वाला विरला ही कोई मिलता है ।

२२६

स्वर्ग

ओ३म् । यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
अश्लोणा अंगैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ अ० ३।१२०।३

(यत्र) जिस अवस्था में (सुहार्दः) पवित्र हृदय वाले, पुनीत विचार वाले (सुकृतः) अच्छे आचार वाले सज्जन (स्वायाः) अपने (तन्वः) शरीर का (रोगम्) रोग (विहाय) छोड़कर अर्थात् पूर्णतया नीरोग होकर (अंगैः+अश्लोणाः) अङ्ग-भङ्ग रहित अर्थात् पूर्णाङ्गावयवयुक्त शरीर वाले तथा (अह्रुतः) शरीर, आत्मा तथा मन की कुटिलता से विरहित हुए (मदन्ति) आनन्दित रहते हैं (तत्रस्वर्गे) उस स्वर्ग में हम (पितरौ) माता पिता (च) और (पुत्रान्) पुत्रों=सन्तान को (पश्येम) देखें। अर्थात् हमारे माता पिता तथा सन्तान सदा सुखी रहें।

अनेक लोगों की यह धारणा है कि स्वर्ग किसी एक स्थान का नाम है, जहां मरने के पीछे सुकृति लोग जाकर रहते हैं। वेद का स्वर्ग इससे भिन्न है, वहां जीते जीते जाना होता है। उस स्वर्ग का निरूपण होता है। देखिये—

यत्रा सुहार्दः··· मदन्ति=

जहां पवित्र हृदय वाले आनन्दित होते हैं।

अपवित्र हृदय वाले को आनन्द मिल ही नहीं सकता। वह तो चिन्ता-चिता की आग में जलता रहता है।

सुकृतो मदन्ति—सुकर्मा=भले कर्म करने वाले जहां सुख पाते हैं। उत्तम आचार शुद्ध व्यवहार वाले ही सुख पाते हैं।

विहाय रोगं तन्वा स्वायाः=अपने शरीर का रोग छोड़ कर। वैद्य कहते हैं—शरीरं व्याधि-मन्दिरम्=शरीर रोग का घर है। जिसके शरीर में किसी प्रकार का रोग न हो, उससे बढ़ कर संसार में—साधारण लोगों की दृष्टि में—और कौन सुखी हो सकता है?

केवल रोगरहित ही न हो, अपितु—

अश्लोणा अंगैरह्रुताः=अङ्ग भङ्ग रहित तथा शारीरिक, आत्मिक, मानसिक कुटिलता से रहित हो।

जिस भाग्यशाली को यह अवस्था प्राप्त हो, वह स्वर्ग में रहता है।

तत्र स्वर्गे पश्येम पितरौ च पुत्रान्=

उस स्वर्ग में माता पिता तथा पुत्रों को देखें।

यह वाक्य स्पष्ट ही इस लोक में गृहस्थ को ही स्वर्ग बता रहा है।

२३०

सांमनस्य

(मन की एकता)

ओ३म् ।सं वः पृच्यन्तां तन्व. स मनांसि समु व्रता ।
स वोऽय ब्रह्मणस्पतिर्भगग. स वो अजीगमत् ॥ अ. ६।७४।१

(व,) तुम्हारे (तन्वः) शरीर (स+पृच्यन्ताम्) समता से मिले रहें और (मनांसि) तुम्हारे मन, विचार (सम्) एक समान हों, और तुम्हारे (व्रता) व्रत, आचार (उ) भी (सम्) समान हों। (अयम्) यह (ब्रह्मणस्पतिः) वेदपति (व') तुम्हें (सम्+अजीगमत्) एक समान प्राप्त हो (भगः) ऐश्वर्य (वः) तुम्हें (सम्) एक सा प्राप्त हो।

शरीर, मन=विचार, व्रत=आचार एक सा हो तो मनुष्य जाति ज्ञान तथा धन से एक सी समृद्ध हो। वेद इस एकता का उपाय भी बतलाता है—

सज्ञपन वो मनसः संज्ञपन हृद' ।
अथो भगस्य यच्छ्रान्त तेन सज्ञपयामि वः ॥ अ० ६।७४।२

तुम्हारे मन का सज्ञपन=एक समान बोधन हो, तुम्हारे हृदय का एक समान बोधन हो। और ऐश्वर्य के लिये जो श्रम है उसमे तुम्हें एकसमान बोधन करता हूँ।

यहा एक सूक्ष्म सूचना है। मन और हृदय एक ही बोध से बोधित हों। ऐश्वर्य के लिये परिश्रम करना पड़ता है। जब तक हृदय और मन का समीकरण नहीं होता, तब तक अपने शरीर में भी समता नहीं हो सकती। अर्थात समाज मे समता लाने के लिये पहले अपने हृदय और मन में समता स्थापित करनी चाहिये। अपने अन्दर समता करने वाला ही सफलता प्राप्त कर सकता है—

अहृणीयमान' इमान् जनान् समनसस्कृधीह। (अ० ६।७४।३)=

कुटिलतारहित होकर यहा ही इन लोगो को समान मन वाले कर।

अर्थात् दूसरे को अपने साथ मिलाने से पूर्व अपने छलछिद्र दूर करने होंगे। यदि स्वय कुटिलता का त्याग न किया जा सके तो दूसरों से मेल कैसे होगा?

कुटिलता ज्ञान से दूर होगी। अत पहले मन और हृदय को ज्ञान से सस्कृत करना चाहिये। मन तथा हृदय का ससकार समान रूप से करना उचित है। ऐसा न हो कि दोनों का विषम सस्कार हो। मन का अधिक परिष्कार हो और हृदय का उससे कम, तो सूक्ष्म तथा ललित भावों का पूर्ण विकास न हो सकेगा। यदि हृदय की अपेक्षा मन साधन पर कम ध्यान दिया जायेगा, तो सूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन न हो सकेगा। अत मन तथा हृदय का समान परिष्कार करना चाहिये।

मन और हृदय के परिष्कार के समान शरीर-सभार का यत्न भी होना चाहिये। तभी मानव समाज की उन्नति होगी।

ब्राह्मण अवध्य है

ओ३म । तद् वै राष्ट्रं स्रवति नाव भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ अ० ५।१६।८

(इव) जैसे (उदकम्) जल (भिन्नाम्) टूटी हुई (नावम्) नौका को डुबा देता है, वैसे (वै) सचमुच (तत्) वह (राष्ट्रम्) राष्ट्र (स्रवति) बह जाता है, नष्ट हो जाता है (यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्रह्माणम्) ब्रह्मवेत्ता को (हिंसन्ति) मारते हैं, (तद्) वह ब्रह्महत्याकर्म (दुच्छुना) दुर्गति से (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (हन्ति) मार देता है ।

इस मन्त्र मे ब्राह्मण की हत्या का कुफल वर्णन किया गया है। बतलाया है कि जैसे नौका में छिद्र हो जाये और उसमें जल आने लगे और निकालने का कोई उपाय न किया जाये तो नौका डूब जाती है, ऐसे ही जिस राष्ट्र मे ब्राह्मण की हिंसा होती है, वह देश भी नष्ट हो जाता है, डूब जाता है । क्योंकि वह ब्रह्महत्या लौट कर राष्ट्र का मार देती है ।

सचमुच यह अद्भुत बात है । ब्राह्मण की हत्या का निषेध वेद मे अन्यत्र भी है । यथा—

१. यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य (अ० ५।१८।४)=
वह घोला हुआ विष पिता है, जो ब्राह्मण को अन्न हीं मानता है ।

२ न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव (अ० ५।१८।६)=
प्रिय शरीर की आग के समान ब्राह्मण की हत्या नहीं करनी चाहिये ।

३. यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् (अ० ५।१८।१३=
जो देवबन्धु ब्राह्मण को मारता है, वह पितृयाण=खानदान चलाने की अवस्था को भी नहीं प्राप्त करता ।

इन निर्देशों से स्पष्ट सिद्ध है कि ब्राह्मण की हत्या नहीं करनी चाहिये। किन्तु ब्राह्मण है कौन ! साधारणत. लोगों की धारणा है कि कुलविशेष मे उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण है । इस धारणा के निर्मूल होने का प्रमाण लोकव्यवहार है, अनेक ब्राह्मण-नामधारी मनुष्यों की हत्या चोर डाकुओं द्वारा अथवा राजा की आज्ञा से होती है किन्तु उस राष्ट्र का कुछ भी नहीं बिगड़ता । इससे प्रतीत होता है कि वेद मे ब्राह्मण शब्द का अभिप्राय कुछ और ही है । अ० ५।१८।१३ मे 'ब्राह्मण' का विशेषण 'देवबन्धु' आया है। उससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण देवबन्धु होना चाहिये । किसी कुल विशेष मे उत्पन्न होने से देवबन्धु नहीं बनता, वरन् जो देव का बन्धु बनेगा । वह देवबन्धु होगा । प्रतिदिन भगवान् से प्रार्थना करते हुए हम कहते हैं—

स नो बन्धुर्जनिता—(य० ३२।१०)=
वह परमेश्वर हमारा बन्धु तथा उत्पादक है ।

जो मनुष्य सचमुच परमेश्वर का बन्धु बन जाता है, उस से सबन्ध स्थापित कर लेता है, वह सच्चा देवबन्धु है । इसी प्रकार ब्राह्मण शब्द का अर्थ है—जो ब्रह्म का हो । दोनों का अर्थ एक है । अर्थात् ब्राह्मण देवभक्त का नाम है ।

ब्रह्मभक्त वही हो सकता है, जो परमेश्वर की भांति समाज के उपकार मे तत्पर रहता हो ।

लोकोपकारी देशबन्धु देवबन्धु की हत्या तो सचमुच राष्ट्र मे विप्लव उत्पन्न कर देती है । उसकी हत्या से राष्ट्र की नौका डूबने मे कोई सन्देह नहीं रहता ।

जिस ग्राम में मैं जाता हूं वहां से पिशाच नष्ट

ओ३म् । न पिशाचैः सशक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभि: ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ।। अ० ४।३६।७

मै (पिशाचै) पिशाचों के साथ (न) नहीं (स + शक्नोमि) एकता कर सकता, (न) ना ही (स्तेनै:) चोरों के साथ और (न) ना ही (वनर्गुभि:) बनैले डाकुओं या हिंसकों के साथ । (यम्) जिस (ग्रामम्) ग्राम मे (अहम्) आविशे, प्रवेश करता हूं, अथवा जोश भरता हूँ, (पिशाचाः) पिशाच (तस्मात्) उस से (नश्यन्ति) नष्ट हो जाते हैं ।

'पिशाच' शब्द का अर्थ है मासाहारी । जो लोग जनता को डरा, धमका कर उनका सर्वस्व हरण कर लेते हैं, वे पिशाच हैं । मन्त्र में पिशाच, स्तेन तथा वनर्गु तीन का वर्णन है । स्तेन का अर्थ है चोर, वनर्गु का अर्थ है वन में रहने वाले, असभ्य, दस्यु डाकू । ये दोनो पतित मनुष्य हैं, दोनों ही जन धन का अपहरण करते रहते हैं, अत: पिशाच भी कोई इन जैसा होना चाहिये । मन्त्र के शब्द विन्यास से ऐसा प्रतीत होता है कि पिशाच वे लोग हैं, जो जनता के बीच रहते उनका लोहू पीते रहते हैं ।

एक तेजस्वी नायक कहता है कि मैं इनके साथ एक स्थान पर अथवा एकमत होकर नहीं रह सकता । तो क्या वहा से वह भाग जाता है । नहीं, वरन् वह उत्साह से कहता है—

पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे=

पिशाच वहा से भाग जाते हैं, जिस ग्राम को मै जोश से भर देता हू ।

अर्थात् यदि जनता में साहस और उत्साह हो, और उनके उत्साह को तीव्र करने वाला कोई नेता मिल जावे, तो ऐसे पिशाचों का सफाया हो जाता है ।

पिशाच-नाश का अर्थ है, पिशाचपन का त्याग । जैसे—

य ग्राममाविशत् इदमुग्रो सहो मम । पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ।। अ० ४।३७।८)

जिस ग्राम वा जनसमुदाय मे मेरा यह तीव्र बल घुसता है, पिशाच उससे भाग जाते हैं, वे पाप को जानते भी नहीं ।

पापी के प्राण लेने से उसका कल्याण नहीं जितना उससे पापवासना छुड़ाने से । पिशाचों के भागने के साथ **'न पापमुप जानते'** [पाप को नहीं जानते, नहीं पहचानते] विशेष विचारने के योग्य है । यही पिशाचों का नाश है कि जो उनका भाव बदल कर उन्हे पाप से अपरिचित=असम्बद्ध कर देना है ।

वीर सुभारक ही कह सकता है—

तपनो अस्मि पिशाचाना व्याघ्रो गोमतामिव ।
श्वान: सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दते न्यञ्चनम् (अ० ४।३७।६)

जैसे गौओं वाले के लिये व्याघ्र=बाघ होता है, वैसे ही मै पिशाचों को तपाने वाला हूँ । सिंह को देख कर कुत्तों की भाति वे भी गति ठिकाना प्राप्त नहीं करते ।

कुत्ता गली में आते जाते को देख कर भूकता रहता है किन्तु सिंह को देख कर वह ग्रामसिंह मौन होकर दुम हिलाने लगता है, ऐसे ही पिशाच जनता को सताता, डराता, धमकाता रहता है, किन्तु किसी सिंहमान वीर सुभारक के आने पर वह सीधा हो जाता है ।

भगवान् सर्वज्ञ

ओ३म् । यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ अ० ४।१६।२

(य.) जो (तिष्ठति) गति नहीं करता है, और जो (चरति) गति करता है (च) और (यः) जो (वञ्चति) ठगी करता है, और (य.) जो (निलायम्) छिप कर (प्रतङ्कम्) आतङ्क, भय का (चरति) प्रचार, सचार करता है, (द्वौ) दो मनुष्य (निषद्य) बैठ कर (यत्) जो (मन्त्रयेते) गुप्त मन्त्रणा करते हैं, (राजा) राजा (वरुणः) वरुण, अन्तर्यामी भगवान् (तृतीय) तीसरा होकर (तत्) उसको (वेद) जानता है ।

पापवासना से प्रेरित होकर मनुष्य नानाविध पाप करता है । कोई कहीं न जाकर, और कोई कहीं जाकर पाप करता है । कोई ठगी करता है, कोई लोगों में भय, आतक का सचार करता है, कहीं दो जने गुप्त स्थान में बैठ कर कोई गुप्त मन्त्रणा कर रहे होते हैं, और समझते हैं हमें कोई नहीं देख रहा, हमारी बात हमारे सिवा कोई नहीं सुन रहा । वेद ऐसों को सावधान करता हुआ कहता है—

राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः=

भगवान् उनके बीच तीसरा होकर उन्हें जान रहा है ।

अर्थात भगवान् अन्तर्यामी तथा सर्वज्ञ है । उसकी दृष्टि से कोई नहीं बच सकता—

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञ. (अ० ४।१६।४)=

चाहे जो द्यौ से भी परे चला जाये वह राजा वरुण से नहीं छूट सकता है ।

क्योंकि

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।
सख्याता अस्य निमिषो जनानाम्—(अ० ४।१६।५)

जो कुछ इस त्रिलोकी मे है, राजा वरुण उस सब को विशेष रूप से देखता है, लोगों के निमेष तक ता इसके गिने हुए हैं ।

ससार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जो अन्तर्यामी भगवान् से छिपा हो, उसको सभी प्रत्यक्ष हैं । लोगों के=जीवों के निमेषोन्मेष तक उसके गिने हैं । अर्थात् ससार के प्राणी जीव परिसख्यात हैं । भले ही मनुष्य की गिनती मे उनकी सख्या परे हो, किन्तु उस सर्वज्ञ के सामने यह सख्या परिमित है ।

तभी तो

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति (अ० ४।१६।१)=

इन सब का अधिष्ठाता मानो समीप से देख रहा है ।

जो दूर हो ही आत्मा के अन्दर, वह तो पास मे ही देखेगा । भगवान् सर्वत्र विराजमान, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी तथा सर्वाधिष्ठाता है । उससे कोई कहीं छिप नहीं सकता ।

२३४

क्रमिक उन्नति

ओ३म् । पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ अ. ४।१४।३

(अहम्) मैं (पृथिव्याः) पृथिवी के (पृष्ठात्) पृष्ठ से [ऊपर उठकर] (अन्तरिक्षम्) अन्तरि को (आ—अरुहम्) चढ़ा हूँ । (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (दिवम्) द्यौ को (आ—अरुहम) आरूढ हु हूँ (नाकस्य) दुःखरहित (दिवः) द्यौ के (पृष्ठात्) पृष्ठ से (अहम्) मैं (स्वः=ज्योतिः) आनन्दमय प्रका को (अगाम्) प्राप्त हुआ हूँ ।

इस मन्त्र में साधक की क्रमिक आध्यात्मिक उन्नति की चर्चा है । निम्न से उच्च, उच्च से उच्चत उच्चतर से और उच्चतर और अन्त में उच्चतम दशा की प्राप्ति का यहां निदर्शन कराया गया है ।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, नाक द्यौ, स्वर्ज्योति—ये गुह्य परिभाषायें हैं । स्थूल देह को पृथिवी कहते है आरम्भ में प्राकृत मनुष्य इस स्थूल शरीर को ही सब कुछ समझता है । श्रवण से उसे भान होता है कि इस ऊपर एक और शरीर है, जो इसका अपेक्षा सूक्ष्म है । उसका चिन्तन करते करते वह इनसे पृथक् प्रकाशम आत्मा का भान करता है । आत्मदर्शन के अनन्तर उसे परमात्मप्राप्ति होता है । सूक्ष्म और कारण शरीर यहां अन्तरिक्ष कहा गया है, आत्मा को 'नाक द्यौ' कहा है, आत्मा में प्रकाश है, साथ ही सुख भोगने की नैसगि लालसा है । उससे उत्कृष्ट परमात्मा है जो आनन्दमय ज्योति है ।

'पृथिवी' * स्थूल देह को कहते हैं । जब निद्रा आ घेरती है, और शरीर निश्चेष्ट हो जाता है स्व आते रहते हैं पण्डित जन बतलाते हैं कि ये स्वप्न मन की सत्ता का प्रमाण हैं । जब स्वप्न आने बन्द होव गहरी निद्रा आती है जिससे जागकर मनुष्य कहता है, मैं ऐसा सोया, कि मुझे कुछ पता न लगा । यह 'कुछ प न लगा' यह पता किसको लगा । ज्ञानी जन कहते हैं कि यह आत्मा है । देह का अपेक्षा मन सूक्ष्म, मन का अपेक्ष आत्मा सूक्ष्म है । आत्मा देह और मन दोनों पर शासन करता है । आत्मा की चेष्टा से ही यह दोनों सचेष्ट है द्यौ के आलोक से ही पृथिवी और अन्तरिक्ष आलोकित होते हैं । शरीर त्यागने में विवश हुआ आत स्वर्ज्योति परमात्मा की सत्ता का अनुभव करता है । उसे प्राप्त करके और कुछ प्राप्तव्य शेष नहीं रहता । द्यौ ऊपर उठकर स्वर्ज्योति की प्राप्ति मुक्ति है—

दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ अ. ४।१४।२

द्यौ के पालक स्वः=आनन्द को प्राप्त करके देवों के साथ=मुक्तों के साथ मिल बैठो । देवों के सा मिल बैठने के लिये 'स्वः' प्राप्त करना ही होगा । स्वः' को प्राप्त करने का मार्ग सीधा है—

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ अ. ४।१४।४

जो उत्तम ज्ञानी 'विश्वतोधार' यज्ञ का विस्तार करते हैं, वे 'स्वः' को प्राप्त करने के लिये अन्य कि साधन की अपेक्षा नहीं करते । पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ तक वे वैसे ही चढ़ जाते हैं । सामने बिठाकर समझा योग्य बात का इतना उल्लेख भी बहुत है ।

---

*'पृथिवी' का अर्थ शरीर भी है, इसके लिये लेखक की योगोपनिषद देखिये ।

दान दिलाओ

ओ३म्। वाजस्य नु प्रसवे स बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छ॥ अ. ३।२०।८

हम (च) और (इमा) ये (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक लोकान्तर भी (अन्तः) बीच में (वाजस्य) अन्न, धन, ज्ञान के (नु) ही (प्रसवे) उत्पादन के लिये (सं+बभूविम) समर्थ हुए हैं इकट्ठे हुए हैं। (प्रजानन्) ज्ञानी (अदित्सन्तम्) न देने की इच्छा वाले से (उत) भी (दापयतु) दिलाये, हे ज्ञायिन्! (नः) हमें (सर्ववीरम्) सभी वीरों से युक्त (रयिम्) धन (नियच्छ) दे, दिला।

हम और यह सारा संसार एक ही कार्य्य के लिये उत्पन्न हुए हैं—

वाजस्य नु प्रसवे स बभूविम=हम वाज के ही उत्पन्न करने के लिये उत्पन्न हुए हैं।

हमें यदि वाज=ज्ञान, अन्न, धन न मिलेगा, तो इहलोक तथा परलोक में हमारा किसी प्रकार भी निर्वाह नहीं हो सकेगा। अन्न, धन के विना यह लोक तो चल ही नहीं सकता। शरीररक्षा के लिये, जीवनयात्रा चलाने के लिये अन्न-धन की अत्यन्त आवश्यकता है। किन्तु अन्न-धन का अर्जन ज्ञान के विना नहीं हो सकता। अत हमारी इहलोकयात्रा के निर्विघ्न निर्वाह के लिये सब से प्रथम ज्ञान की आवश्यकता है, परलोक में सद्गति=सद्गति होगी ही तभी जब इहलोक में हम सम्यग् ज्ञान, यथार्थ विद्या प्राप्त कर ली जाये।

अकेले हम—शरीरधारी प्राणी हों और यह विश्वब्रह्माड न हो, तब अन्न धन का अर्जन कहा से हो? अत हमारे साथ इनका होना भी आवश्यक है। हा, हम धन अन्न आदि लेने वाले, और ये देने वाले।

जब अन्न-धन इतने आवश्यक हैं, तो इसके लिये यत्न भी करना चाहिये। अत. कामना है

उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन=

न देने वाले को भी देने की प्रेरणा कर।
अर्थात दे और दिला।

इसीलिये अ० ३।२०।५ मे प्रार्थना की है—

हे देव। न हमें धन दान देने की प्रेरणा कर।

केवल लेने ही न रहे, वरन दें भी। ऐसी प्रवृत्ति होनी चाहिये।

उपनिषद मे तभी कहा है—

त्वं नो देव दासवे रयिं दानाय चोदय=

श्रद्धया देयम। अश्रद्धया देयम। श्रिया देयम। ह्रिया देयम। भिया देयम। संविदा देयम। (तै उ १।११।३)

श्रद्धा से देना चाहिये। अश्रद्धा से देना चाहिये। शोभा से देना चाहिये। लज्जा मे देना चाहिये। भय मे देना चाहिये। संवित=पात्रापात्र के विचार से देना चाहिये।

दुःखी मन से पुकारता हूं

ओ३म् । इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि ।

वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्ष यो अस्माक मन इदं हिनस्ति ॥ ऋ० २।१२।३॥

हे (सोमप) सोमरक्षक (इन्द्र) परमेश्वर ! (यत्) जो कुछ (त्वा) तुझ को (शोचता) दुःख भरे (हृदा) हृदय से (जोहवीमि) कहता हूँ, पुकारता हू, (इदम्) इस को (शृणुहि) तू सुन । (कुलिशेन+वृक्षम्+इव) वज्र या कुठार से वृक्ष की भांति (तम्) उस को (वृश्चामि) काटता हू, (यः) जो (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस (मनः) मन को, विचार को (हिनस्ति) मारता है ।

ससार-अङ्गार के ताप से तपे हुए की पुकार है । ससार में सुख की कामना से आया जन सुख न पाकर रो उठता है । कहीं से सहारा न पाकर वह अगतिकगति, अशरण-शरण, दुःखविशरण, चिन्ताहरण शमभरण की शरण में जाता है और रोकर कहता है—

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्वा हृदा शोचता जोहवीमि

सोम रक्षक ईश्वर ! सुन ! जो कुछ मैं चिन्तातुर हृदय से तुझे कहता हू ।

ससार में उस की पुकार किसी ने नहीं सुनी । अब वह आशुत्कर्ण के पास अपनी पुकार सुनाना चाहता है । ससार के व्यवहार से वह डरा हुआ है, उसे सन्देह होता है कि कहीं इस दरबार में भी पुकार बेकार न जाए अतः अतीव कारुणिक स्वर में कहता है—

इदमिन्द्र · · · जोहवीमि ।

दुःखी की पुकार मे सार होता है, अत कहता है—मै शोकाकुल हृदय से यह कहता हूँ ।

सब मनुष्यों को सब कुछ सिखाने वाले की चातुरी देखो कि 'क्या कहना है' इसे नहीं बताया । बताने का ढङ्ग, सुनाने का साधन समझा दिया । किन्तु क्या सुनाना—यह न बताना उचित भी था । 'भिन्नरुचिर्हि लोकः, मुडे मुडे मतिर्भिन्ना' प्रत्येक की रुची प्रवृत्ति मे भेद होता है । किसी के मस्तिष्क मे कोई विचार है, किसी के कोई । अपनी अपनी गाथा आप ही कहनी चाहिए ।

भगवान् के पास जाने वालो को जगत् में रोकने वाले असख्य हैं । भक्त तपा बैठा है, इन विघ्नकारियों के कारण वह अपने अन्दर इतनी गरमी का अनुभव करता है कि उस के विचार मे

त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने (अ ३।१०।१)=

उस के तपने पर इस ससार मे सभी तप जायेंगे ।

आह ! कितना जोश है ! इस जोश में अपने विघ्नकारी को मारने पर उतारू हुआ कहता है—

वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्ष य अस्माक मन इद हिनस्ति

जो हमारे इस विचार को मारता है, उस को मै ऐसे काटता हू जैसे कुल्हाडे मे वृक्ष को ।

भगवद्भक्ति के भावों के विरोधी सब से अधिक अपनी ही सासारिक वासनाएं हैं अतः उन का उच्छेद करना आवश्यक है ।

सचमुच तीव्र और सच्ची पुकार पहाड़ को हिला देती है ।

२३६

इन्द्र श्रेष्ठ धन दे

ओ३म्। इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥ ऋ. २।२१।६

हे (इन्द्र) अखिलैश्वर्य्यसम्पन्न परमेश्वर। (अस्मे) हमारे लिये (श्रेष्ठानि) श्रेष्ठ (द्रविणानि) धनों को (धेहि) दे। (दक्षस्य) उत्साह के, चतुरता के, सत्कर्म के (चित्तिम्) ज्ञान को, (सुभगत्वम्) सौभाग्य को, (रयीणां+पोषम्) धनों की पुष्टि को (तनूनाम्+अरिष्टम्) शरीर की हानि के अभाव को=नीरोगता को (वाचः+स्वाद्मानम्) वाणी के स्वाद को (अह्नाम्+सुदिनत्वम्) दिनों को, सुदिनत्व को तू हमें दे।

ध्यान से देखो तो इस मन्त्र में सभी आवश्यक भद्र श्रेष्ठ पदार्थों की प्रार्थना ईश्वर से कर दी गई है—

दक्षस्य चित्तिम्—उत्साह, सत्कर्म का ज्ञान। जीवन में सफलता के लिये सब से पूर्व कर्तव्य-कर्म्म का ज्ञान होना चाहिये और उस कर्म्म के करने के लिये भरपूर उत्साह भी होना चाहिये। कोरे ज्ञान से कभी सफलता प्राप्त नहीं होती। ना ही ढीले ढाले बेढंगे, आस्थारहित भाव से किया कर्म्म सफल होता है। अतः सब से प्रथम उत्साहपूर्ण सुकर्म्म का ज्ञान और अनुष्ठान होना चाहिये।

२. सुभगत्व=सौभाग्य। सारे साधन हों और भाग अच्छा न हो, तो महान् प्रतिबन्ध खड़ा हो जाता है। किन्तु सौभाग्य दौर्भाग्य का मिलना मनुष्य के अपने अधीन है। इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये ही भगवान् ने पहले 'दक्ष की चित्ति' का विधान किया। अर्थात् भाग्य कर्म्मानुसार ही बनेगा। पिछले में परिवर्तन नहीं हो सकता। आगे को भाग्य अच्छा बने, इसके लिये कर्म्म करने की आवश्यकता है। इसी भाव से योगिराज पतंजलि जी ने **हेयं दुःखमनागतम्॥ यो. द. २।** कहा।

पूर्वकर्म का फल स्वरूप दुःख भोगना ही पड़ेगा, जो वर्त्तमान में फलोन्मुख है, वह फल देकर ही हटेगा। भविष्यत् दुःख से बचे रहें, इसके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

भाग्य कर्म्माधीन है, यह सर्वथा निश्चित है।

३. **पोषं रयीणाम्**—धन की पुष्टि। सांसारिक जीवन में धन की आवश्यकता का अपलाप नहीं किया जा सकता है। वेद में प्रार्थना भी है—

वयं स्याम पतयो रयीणाम्। ऋ. १०।१२१।१०=हम धनों के स्वामी होवें।

दूसरे स्थान पर कहा है—

वस्वी ते अग्ने सन्दृष्टिरिषयते मर्त्याय। ऋ. ६।१६।२५=

हे अग्ने! धनाभिलाषी मनुष्य के लिए। तेरी सन्दृष्टि वस्वी=धनदात्री हो।

कर्म और भाग्य, पुरुषार्थ और प्रारब्ध मिल कर धनवृद्धि के साधन देते हैं।

४. **अरिष्टिं तनूनाम्**=शरीर की अक्षति।

वैद्य कहते हैं—

शरीरं धर्म्मसाधनम्=शरीर धर्म्म का साधन है।

अतः शरीर सदा नीरोग रहे, बलवान् रहे। वेद में कहा है—

अश्मा भवतु नस्तनूः। ६।७५।१२=हमारा शरीर वज्र समान हो।

५-स्वाद्मान वाचःवाणी का मिठास। वाणी आग और जल दोनों का कार्य्य करती है। सन्तप्त हृदयों को मधुरभाषी उपदेशकुशल अपने वाक्कौशल से शान्त करके उन का ताप मिटा देता है। और इसी वाणी से झगड़े भी होते हैं तलवार का घाव भर जाता है किन्तु—

वाक्क्षत न प्ररोहति=वाणी की चोट नहीं भरती।

अतः वाणी का सम्भाल कर प्रयोग करना चाहिए। सन्ध्या मे **ओं स्वः पुनातु कण्ठे** का मनन करो।

६. **सुदिनत्वमह्नाम्**=दिन अच्छे बीतें।

किसी कवि ने कहा—

वेदशास्त्रविचारेण कालो गच्छति धीमताम्। व्यसनेन तु मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥

बुद्धिमानों का समय वेदो और शास्त्रों के विचार मे व्यय होता है, किन्तु मूर्खों का व्यसन, निद्रा और कलह से बीतता है।

भले कर्म्म करेंगे, तो भले दिन बनेंगे। ये छः श्रेष्ठ धन हैं। यजुर्वेद मे श्रेष्ठ धन का एक लक्षण लिखा है, वह बहुत सुन्दर है—

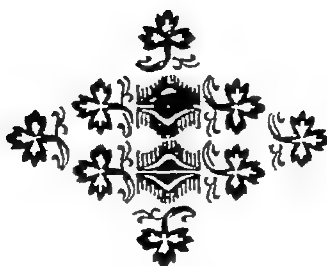
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूना देव राधो जनानाम्। य. १५।३४=

लोगों के लिये उत्तम ब्रह्मा-युक्त और उत्तम शान्ति देने-वाला यज्ञ ही धनों मे से दिव्य धन है।

ब्रह्मा के ऊपर यज्ञ का निर्भर है। यज्ञ का फल उत्तम शान्ति—मृत्यु समान शान्ति नहीं—है। यह यदि मिल जाये तो फिर क्या कहना है सामवेद में भी कहा है—

श पद मघ रयीषिणे=शान्ति ही धनाभिलाषी के लिये प्राप्त करने योग्य धन है।

जिस के पास यह नहीं, वह या निर्धन है, या निधन-अवस्था मे है।



विचित्र धन दे

ओ३म् । सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र ।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः ऋ० १०।४७।३

हे (इन्द्र) धनेश्वर परमेश्वर । तू (अस्मभ्यम्) हमें (सुब्रह्माणम्) उत्तमज्ञानप्रदाता (देववन्तम्) देवों वाला, (दिव्यगुणों वाला (बृहन्तम्) बड़ा, (उरुम्) विशाल (गभीरम्) गम्भीर (पृथुबुध्नम्) बड़े आश्रय वाला (श्रुतऋषिम्) ऋषियों का भी श्रवणीय (उग्रम्) तेजस्वी (अभिमातिषाहम्) अभिमान को दबाने वाला (चित्रम्) विचित्र (वृषणम्) सुख वर्षक (रयिम्) धन (दाः) दे

शास्त्रों का रहस्य समझने की एक युक्ति है, कि भिन्न भिन्न स्थलों में पढ़े वाक्यों को मिला कर, एक वाक्यता के द्वारा उन का समन्वय किया जाये । उदाहरणार्थ—वेद में आता है–**वयं स्याम पतयो रयीणाम्**=हम धनों के स्वामी होवें । अब धन से क्या अभिप्राय है, वेद किस प्रकार के धन को धन कहता है, इस का थोड़ा सा निर्देश इस से पूर्व के प्रवचन में आ चुका है । उस को विचारपूर्वक पढ़ने और मनन करने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेद का वास्तविक अभिप्राय किसी उच्च धन की प्राप्ति कराने का है । इस मन्त्र को लीजिये । इस में प्रार्थना है– **अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः**

हमें विचित्र [चित्त को लुभाने वाला], सुखकारक धन दे । वह कैसा हो, इस के लिये मन्त्र में दिये अन्य विशेषणों पर ध्यान देने की आवश्यकता है ।

१. **सुब्रह्माणम्**=उत्तम-ज्ञान-प्रदाता । ब्रह्म शब्द के निम्नलिखित प्रसिद्ध अर्थ हैं—परमेश्वर (तथा-जीव और प्रकृति) वेद ज्ञान, धन, अन्न, स्तोत्र, तप । धन ऐसा होना चाहिये जिस से परमेश्वर की प्राप्ति उत्तमता से हो सके । जिस से उत्तम उत्तम ज्ञान संगृहीत किये जा सकें, जिस की उत्तम प्रशंसा हो, जिस से उत्तम तप की प्राप्ति हो । क्या ऐसा धन केवल प्राकृत धन हो सकता है ?

२. **देववन्तम्** = देववाला=दिव्य गुणों वाला । अथवा देव वाला । देववाला का सीधा अर्थ है, परमेश्वरपरायण करने वाला । अर्थात् धन ऐसा न हो, जिसे प्राप्त करके परमेश्वर ही विस्मृत हो जाय वरन् वह आस्तिकता के भावों की वृद्धि करने वाला हो ।

३ ४ **बृहन्तम्+उरुम्**=बड़ा और विशाल । थोड़े से कार्य्य नहीं चल सकता । **नाल्पे सुखमस्ति** (छा०) थोड़े में सुख नहीं होता है ।

५. **गभीरम्**=गम्भीर । ज्ञान भी गम्भीर कहलाता है । भाव भी गम्भीर होते हैं । स्वभाव भी गम्भीर होता है । किन्तु धन गम्भीर नहीं सुना परन्तु वेद कह रहा है । **य एव लोके, त एव वेदे** । (जो लोक में हैं, वही वेद में है) इस सिद्धान्तानुसार यह धन भावात्मक या ज्ञानात्मक ही होना चाहिये ।

६ **पृथुबुध्नम्**=महान् आश्रय वाला । प्राकृत धन का आश्रय मूल विशाल नहीं होता ।

७ **श्रुतऋषिम्**=ऋषियों का भी श्रवणीय । ऋषि लोग तो कहते हैं–**कि तेन धनेनाहं कुर्यां येनाहं नामृतास्याम्**=जिस से मुक्ति न मिले, ऐसे धन को मैं क्या करूं । अतः मानना चाहिये, कि यह धन कोई और ही धन है । ८ **उग्रम्**=तेजस्वितापूर्ण । प्रकृति धन के धनी तो प्रायः भीरु, तेजोहीन देखे जाते हैं ।

९ **अभिमातिषाहम्**=अभिमाननाशक । प्रकृति धन तो अभिमान उत्पन्न करता है ।

ऐसा चित्र=चित्त को लुभाने वाला सुख देने वाला धन वैदिक चाहता है । और कहता है—

यत्त्वा यामि दद्धि तन्न (ऋ० १०।४७।१०) प्रभो । जो तुझ से मांगू वह हमें दे ।

मेरे भजन मेरे दूत हैं

ओ३म् । वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः ।
हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः ॥ ऋ० १०।४७।७

(सुमतीः + इयानाः) उत्तम बुद्धियों को प्राप्त करने वाले (हृदिस्पृशः) हृदयस्पर्शी (मनसा + वच्यमाना) मन से कहे जाते हुए, दिल से निकले हुए, अथवा मन से उच्चारे जाते हुए (वनीवान) अतिशय भक्ति से भरपूर (स्तोमाः) स्तुतिसमूह (मम) मेरे (दूतासः) दूत बन कर (इन्द्रम्) इन्द्र के पास (चरन्ति) जाते हैं । प्रभो ! तू (अस्मभ्यम्) हमें (चित्रम्) मनोमोहक (वृषणम्) धर्म्मयुक्त (रयिम्) धन (दाः) दे ।

भावुक भक्त के मन में भगवान् तक अपना सन्देश भेजने की बात आई है । उसने भगवान् से सुना है—

मामार्यान्ति कृतेन कर्त्वेन च (ऋ०-१०।४८।३) =

मेरे पास कृत और करिष्यमाण के द्वारा आते हैं ।

अर्थात् लोगों के किये कर्म्मों का फल भोगने के लिये तथा आगे करिष्यमाण कर्म्मों से होने वाले सुख की अभिलाषा से मेरे पास आते हैं ।

अतः अब वह भगवान् के पास करिष्यमाण द्वारा जाना चाहता है । उससे पहले दूत भेजता है । **स्तोम**=भगवद्भक्तिभरे भजन इसके दूत हैं । दूत के लिये नीतिकारों ने लिखा है कि बुद्धिमान् हो ताकि अपनी बात भली प्रकार समझा सके, और दूसरे की बात समझ सके । भक्त के दूत भी **सुमतिरियानाः**= उत्तम ज्ञान कराने वाले हैं । अर्थात् भगवद्भक्ति के स्तोम बुद्धि पूर्वक रचे गये हैं । भगवान का भजन करते समय सुमति से काम लेना चाहिये ।

प्रभु की स्तुति के वाक्य तोता-रटन्त न हों, वरन् वे **मनसा वच्यमानाः**=मन से बोले गए हों, दिल से निकले हों और साथ ही **हृदीस्पृशः**=हृदय को स्पर्श करने वाले हों, दिल हिला देने वाले हों । नीतिकार कहते हैं दूत नम्र होना चाहिए । भक्त के दूत भी **वनीवान**=अतिशय भक्ति भावों से भरपूर हैं । दूत का औद्धत्य कार्य्य बिगाड़ दिया करता है । इसी प्रकार भगवान् के पास स्तुति—दूत भी नम्रता से प्रणत हैं ।

भगवान के पास तुम्हारा सन्देश लेकर और कोई व्यक्ति नहीं जा सकता । यदि अन्य कोई जा सकता है, तो तुम भी जा सकते हो । यदि फिर भी आग्रह है कि दूत ही भेजने हैं, तो भगवद्भजनों को दूत बनाओ और उन दूतों में ये सारे लक्षण होने चाहियें । तुम्हारे दूत तुम्हारा सन्देश देते हैं—

'अस्मभ्य चित्र वृषणं रयिन्दा ।'

हमें मनोमोहक* धर्म्मयुक्त धन दो । भगवान कह चुके हैं—

अहं भूमिमददामार्याय (ऋ० ४।२६।२)

मैं आर्य्य को भूमि देता हूँ । भगवान् से धन लेना है, तो आर्य्य बनो । आर्य्य का लक्षण वेद में **यजमान**=परोपकार परायण किया गया है । आर्य्य बनो सब भूमि तुम्हारी है

---

* मनु० ८।१६ में धर्म्म को 'वृष' कहा है, वृषो हि भगवानधर्म्मः भगवान् धर्म्म वृष है । अतः हमने यहां 'वृषणम्' का अर्थ 'धर्म्मयुक्त' किया है ।

हम विजयघोष करते हैं

ओ३म् । एको बहुनामसि मन्य ईडिता विश विश युद्धाय स शिशाधि ।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वय द्युमत घोष विजयाय कृण्मसि ॥ अ० ४।३१।४

हे (मन्यो) मननशील, शत्रु पर क्रोध करने वाले विजीगीषो । तू (एक) अकेला (बहुनाम्) बहुतो का (ईडिता) सत्कार करने वाला (असि) है। तू (अकृत्तरुक्) क्षति न उठाता हुआ (विश–विशम्) समस्त प्रजाओ को (युद्धाय) युद्ध के लिये (स+शिशाधि) भली भाति उत्तेजित कर और हम (त्वया+युजा) तुझ युक्त के साथ (द्युमन्तम्) तेजस्वी (घोषम्) घोष, घोषणा (कृण्मसि) करते हैं।

युद्धविद्याविशारद विचारशील सेनापति को उत्साहित करते हुए कहा जा रहा है कि—

एको बहूनामसि मन्य ईडिता =

हे मन्यो । तू अकेला ही बहुतो की पूजा करने वाला है।

युद्ध केवल सैनिको या अस्त्रशस्त्रों से ही नही लड़ा जाता है। युद्ध मे विजय का निर्भर बहुत कुछ सेनासञ्चालन पर है । यदि सेनासञ्चालन बुद्धिपूर्वक किया जाय तो विजय अवश्यभावी है। सञ्चालक को यहा 'मन्यु' कहा गया है। 'मन्यु' शब्द का मूल अर्थ है—मनन करना, विचार और साथ ही अभिमानपूर्वक क्रोध । जिस सेनासञ्चालक म मनन और विचार नहीं है, वह शत्रु की चाल और नीति को न समझ सकने के कारण अवश्य पराजित होगा। और यदि उस म अभिमानपूर्वक शत्रु के प्रति क्रोध न हो, तो वह क्या लडेगा और क्या लड़ायेगा ?

किन्तु अकेला मननकर्ता क्रोधयुक्त सेनासञ्चालक कुछ नही कर सकता, यदि राष्ट्र से उसे अपेक्षित जन और धन की सहायता न मिले । और यह तब ही मिल सकती है जब कि प्रजा मे विजय के लिये वैसा ही उत्साह हो अत सेनापति को कहा गया है—

विशविशं युद्धाय स शिशाधि =

प्रजामात्र को युद्ध के लिए एकसमान उत्तेजित कर ।

प्रजा यदि युद्ध के लिये पूर्णतया उत्तेजित और उत्साहित हो तो फिर जयघोष करने मे देर नहीं लगानी चाहिये। अत कहा—

त्वया युजा वय द्युमन्त घोष विजयाय कृण्मसि =

तुझ से युक्त हो कर हम तेजस्वी विजय-घोष करते हैं।

सेनापति मननशील है, राष्ट्र उत्साहित है, सेना का पूर्ण सहयोग है, फिर विजयघोष करने मे कोई क्षति नहीं है।

(य० १७।४२ मे) मानो विजयघोष की सामग्री का निर्देश किया है—

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वना मामकाना मनासि
उद् वृत्रहन वाजिना वजिनान्युद्रथाना जयता यन्तु घोषा ॥

हे मघवन । हथियारों को तीक्ष्ण कर और मेरे उत्तम शक्तिसम्पन्नों के मनों को हर्षित और उत्साहित कर। शत्रुनाशक । वाजियो घोडो=युद्धोपकरणो के वेगो को उग्र कर। तब जीतते हुए रथों के घोष होंगे । इस सामग्री के बिना विजय-घोषणा विडम्बना-मात्र होती है।

ब्रह्मद्वेषी को द्यौ भी सन्तप्त करता है

ओ३म् । अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम् ।

तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसन्तपाति ॥ अ. २।१२।६

हे (मरुत॰) मरुतो । (य॰) जो (नः) हमें (इव) मानो (अति) उल्लघन कर के, तिरस्कार करके (मन्यते) अभिमान करता है । (वा) अथवा (यः) जो (क्रियमाणम्) किये जाते हुए (ब्रह्म) वेदस्तोत्र की (निन्दिषत्) निन्दा करता है (तस्मै) उसके प्रति (वृजिनानि) वर्जित (तपूंषि) सताप (सन्तु) होवें । (ब्रह्मद्विषम्) ब्रह्मद्वेषी को तो (द्यौः) द्यौ भी (अभि+सन्तपाति) सब ओर से सन्तप्त करती है ।

मनुष्य को अनुचित अभिमान से बचना चाहिये । ससार में एक से एक बढ कर गुणवान् हैं । कोई किसी गुण का गुणी है, तो कोई किसी का । किस गुण को हीन कहा जाये, और किसे महिमा में महान् माना जाये ? गुण को गुण मान कर उसका सर्वत्र मान्य करने में कल्याण है । यह तत्त्व हृदय में पैठ जाये तो फिर क्यों कोई अभिमान करे, और दूसरों को तिरस्कार करे, उसे सर्वत्र गुणगण दृष्टिगोचर होंगे । किन्तु जो इस तत्त्वज्ञान से विमुख होकर अभिमान करे और साथ ही ज्ञान की निन्दा करे । सचमुच अभिमानी ज्ञानविहीन हो जाता है । उसके ज्ञान पर अभिमान काला आवरण डाल देता है, इस कारण वह ज्ञान की निन्दा करने लगता है । अभिमानी ज्ञाननिन्दक को वेद ब्रह्मद्वेषी मान कर कहता है--

तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभि सतपति=

उसके प्रति वर्जित सन्ताप हों । ब्रह्मद्वेषी को तो द्यौ भी सब ओर से सन्तप्त करता है ।

मनुष्य को यदि सचमुच अपनी भूल पर सन्ताप हो तो उसका प्रताप फिर उज्ज्वल होने लगता है । अपराध के बिना सन्ताप वर्जित वस्तु है, अतः 'तपूंषि' के साथ 'वृजिनानि' विशेषण दिया ।

दिन के समय प्रायः सभी को सूर्य्य ताप देता है किन्तु रात्रि को चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है । चन्द्रमा रात्रि को न भी हो, तब भी दिन की अपेक्षा ताप बहुत कम होता है । किन्तु ब्रह्मद्वेषी की व्याकुलता इतनी बढ जाती है कि उसे रात्रि को भी चैन नहीं पडती । मानो द्यौ उसे सब ओर से ताप दे रहा है ।

तात्पर्य्य यह कि वेदनिन्दक, ज्ञानद्रोही, परमात्मविमुख को शान्ति नहीं मिलती ।

ब्रह्मद्वेषी के प्रति, प्रत्युत, वेद अप्रीति करने को कहता है

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥ ऋ. ७।१०४।२=

मांसाहारी, घोरदर्शी, सर्वभक्षी ब्रह्मद्वेषी के प्रति निरन्तर अप्रीति करो ।

अर्थात् अपने आप को इन दुर्गुणों से बचा कर रखो । जब मनुष्य ज्ञान से द्वेष करने लगता है, तब उसका आचार शिथिल पड़ जाता है । उसमें दुर्व्यसन डेरा जमा लेते हैं ।

प्रभो अपना खज़ाना खोल

ओ३म् । महान्त कोशमुदचा नि षिञ्च स्यन्दन्ता कुल्या विषिताः पुरस्तात् ।

घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः ॥ ऋ० ५।८३।८

हे सब को तृप्त करने वाले प्रभो । (महान्तम्) महान् (कोशम्) खजाने को (उदच) खोल, और (नि+सिञ्च) निरन्तर सींच । (पुरस्तात्) सामने से (विषिताः) खुली हुई (कुल्याः) नालिया, नहरें (स्यन्दन्ताम्) बह निकलें । (घृतेन) जल से (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी को, त्रिलोकी को (व्युन्धि) गीला कर, ताकि (अघ्न्याभ्य) गौओं के लिये, अहिंसनीयों के लिये (सुप्राणम्) उत्तम और श्रेष्ठ पान (भवतु) होवे ।

यह अन्योक्ति है । प्रत्यक्ष रूप से यह अभ्यर्थना पर्जन्य=बादल से की गई है, और परोक्ष में परमात्मा से । भगवान् को बादल मान कर भक्त कहता है—

महान्त कोशमुदचा निषिंच=अपना बड़ा खजाना खोल और हमें सींच ।

सूखे को, मरुभूमि का बादल का जल ही सींच सकता है । अतः उस बादलों के बादल से कहा गया है—प्रभो ! अपना खजाना खोल । हम तेरे प्रेमवारि के बिना सर्वथा मरुस्थली हो गए हैं । तू हम पर बरस, खूब बरस । भक्त स्वार्थी नहीं है, अतः कहता है—

घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि=जल से त्रिलोकी को गीला कर ।

मुझे—अकेले को—नहीं, वरन् सभी को गीला कर ।

वेद मे दूसरे स्थान पर बडे सरलभाव मे कहा है—

इदं वच. पर्जन्याय स्वराजे हृदो अस्त्वन्तर तज्जुजोषत् ।

मयोभुवो वृष्टय सन्त्वस्ये सुपिप्पला ओषधिर्देवगोपाः ॥ (ऋ० ७।१०१।५)

स्वत. प्रकाश पर्जन्य के प्रति यह मेरे हृदय के भीतर का वचन हो, वह इसे प्रेम से स्वीकार करे । 'सुखकारी वृष्टिया हों, और देवरक्षित ओषधिया हमारे लिये उत्तम फल देने वाली हों ।'

काला बादल न बात सुनता है और न 'स्वराट्=स्वतः प्रकाश है, न ही वह हृदय की बात सुनता है । हृदय की बात कौन कहे वह तो वाणी की बात भी नहीं सुन पाता, वह अचेतन है । हृदय की बात सुनने वाला कोई और है वही 'धर्ममेघ' बरसाता है । तभी तो उस पर्जन्य से कहा है—

अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाभ्योऽविदो मनीषाम (ऋ. ५।८३।१०)

खाने के ओषधिया=शाकपातादि उत्पन्न करता है । और प्रजाओ को मनीषाम्=बुद्धि=मनन शक्ति देता है ।

मननशक्ति बादल नहीं देता, वरन धर्ममेघ बरसाने वाला पर्जन्य ही यह बल देता है । जब यह जल का खजाना खोलता है, सभी रसत्र भीग जाते हैं ।

यज्ञ में मन्त्र बोलें

ओ३म्। उप प्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये।
आरे अस्मे च शृण्वते॥ यजु० ३।११

(अध्वरम्) यज्ञ के (उप-प्रयन्तः) समीप जाते हुए हम (आरे+च) दूर से भी (अस्मे) हमें (शृण्वते) सुनने वाले (अग्नये) अग्नि=सब की उन्नति करने वाले भगवान् के प्रति (मन्त्रम्) मन्त्र (वोचेम्) बोलें।

भगवान् की आराधना कैसे करनी चाहिये, इसका आभास इस मन्त्र में है।

भगवान् की आराधना के लिये सब से प्रथम उसके गुणज्ञान की आवश्यकता है। भगवान् का यथार्थ गुणज्ञान भगवान् के अतिरिक्त और कौन करा सकता है? भगवान् जीवों के उद्धारार्थ, जीवों के भोग और मोक्ष के सकल साधनों का उपदेश सृष्टि के आरंभ में वेद के रूप में देता है।

भगवान् की आराधना का एक साधन यज्ञ भी है, जैसा कि वेद में लिखा है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (य० ३१।१६)=

विद्वान् लोग यज्ञ के द्वारा पूजनीय भगवान् की पूजा करते हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यज्ञ भी पूजन का अन्यतम साधन है। ब्राह्मण ग्रन्थों में आता है कि यज्ञ में मानुषी वाणी का व्यवहार नहीं करना चाहिये, प्रत्युत वैष्णवी=विष्णु=परमेश्वर से प्रदत्त वाणी का व्यवहार करना चाहिये। यही बात मन्त्र में कही है—

उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये=

सर्वाग्रणी भगवान के प्रति, यज्ञ को प्राप्त करते हुए मन्त्र= वेदमन्त्र बोलें।

यज्ञ शब्द से ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ आदि सभी यज्ञ अभिप्रेत हैं। अतः सन्ध्यादि सभी यज्ञों में मन्त्रों से ही कार्य्य करना चाहिये। ऋ० ५।४५।४ में इस बात को और प्रकार से कहा है—

सूक्तेभिर्वो वचोभिर्देवजुष्टैरिन्द्राग्न्वग्नी अवसे हुवध्यै।
उक्थेभिर्हि ष्मा कवयः सुयज्ञा आविवासन्तो मरुतो यजन्ति॥

हे मरुतो! मैं तुम्हें तथा इन्द्र और अग्नि को अपनी रक्षा के निमित्त प्रभुप्रीति साधक सूक्त=मन्त्र समूह-वचनों से पुकारता हूं। क्योंकि उत्तम यज्ञों वाले कवि जन उत्तम वेद मन्त्रों के द्वारा सेवा करते हुए यज्ञ करते हैं।

वेद में अनेक स्थलों पर ऐसे निर्देश हैं कि हम अपनी पूजा आराधना वेद मन्त्रों द्वारा करें।

प्रकृत मन्त्र में अग्नि का एक विशेषण दिया है—

आरे अस्मे च शृण्वते=दूर से भी हमारी बात सुनने वाला, अथवा हमारी तथा दूरस्थों की सुनने वाला। इस विशेषण से स्पष्ट हो गया कि यहां अग्नि का अर्थ जड़ भौतिक अग्नि नहीं, वरन् सुनने की शक्ति से सम्पन्न कोई चेतन है।

हमें अबाध शरण दो

ओ३म्। सुगो हि वो अर्यमन्मित्र पन्था अनृक्षरो वरुण साधुरस्ति।
तेनादित्या अधि वोचता नो यच्छता दुष्परिहन्तु शर्म्म ॥ ऋ. २।२७।६

हे (अर्यमन्) न्यायनिष्ठ भाव। हे (मित्र) स्नेह। हे (वरुण) लोकसग्रह। (हि) सचमुच (वः) तुम्हारा (पन्थाः) मार्ग (सुगः) सुगम (अनृक्षरः) कण्टकादिरहित तथा (साधुः) उत्तम (अस्ति) है। हे (आदित्या) आदित्यो=न्यायादि अखण्डनीय भावो। (तेन) उस मार्ग से (नः) हमें (अधि+वोचत) लक्ष्य पूर्वक बतलाओ, और (न.) हमें (दुष्परिहरन्तु) न हटाया जा सकने वाला (शर्म्म) शर्म्म, कल्याण, अथवा शरण (यच्छत) दो।

ससार-पथ अनेक विघ्न बाधाओं से व्यस्त तथा लथपथ होने के कारण अत्यन्त विषम हो रहा है। ईर्ष्या द्वेष, राग, मत्सर, क्रोध, लोभ आदि के कारण यहा घातपात, असत्य, चोरी, डाका, व्यभिचार, अहकार, अशुचिता, असन्तोष, विलास, मिथ्या, प्रलाप, नास्तिकता आदि नाना पाप भावनाओं का साम्राज्य हो रहा है। परिस्थिति के वशीभूत होकर, अथवा अल्पज्ञता आदि किन्हीं अन्य कारण से परिचलित होकर मनुष्य इनसे अभिभूत अवश्य हो जाता है, किन्तु मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति इधर नहीं है। ऋषि कहते हैं—"मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य के निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है।" अत. सत्यज्ञान होने पर वह सत्य की ओर ही प्रवृत्त होता है। सत्य ज्ञान होने पर उसे द्वेष मत्सर आदि दुर्गुणों से ग्लानि होती है, और वह अपने हृदय का सूक्ष्म, ललित उत्तम भावनाओं को जगाता है और कहता है—सुगो हि वो पन्था साधुरस्ति।

तुम्हारा मार्ग सुगम, बाधारहित तथा प्रशस्त है।

निस्सन्देह न्यायनिष्ठा, मैत्री भावना तथा लोक सग्रह की चेष्टा मनुष्य के हृदय का मल धो डालते हैं। जिस मार्ग से मन की शुद्धि हो, हृदय विमल हो, उस मार्ग के साधु होने मे सन्देह ही क्या? जब मनुष्य ने मैत्री-भावना का परिपाक कर लिया तब उसका विरोध न होने से उसका मार्ग सचमुच अनृक्षर=कण्टकरहित हो गया। जब मार्ग मे कोई बाधा ही न हो, तब वह अवश्य=सुग=सुगम होता है। वेद मे अनेक स्थानों पर मित्र वरुण तथा अर्यमा भावों को आदित्य कहा गया है। आदित्य का लक्षण वेद में इस प्रकार किया गया है—

आदित्यासः शुचयो धारपूता अवृजिना अनवद्या अरिष्टा. ॥ ऋ. २।२७।२॥

पवित्र धारा मे पवित्र करने वाले, निर्दोष, अनिन्द्य, और अहिंसक आदित्य होते हैं।

सचमुच ऐसों का मार्ग सुगम होता है। इनकी शरण भी अवश्य दुष्परिहर होती है।

आदित्यों का मार्ग किनके लिये हितकारी होता है। इसका उत्तर ऋ. १।४१।४॥ मे इस प्रकार दिया है—

सुग पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋत यते।

हे आदित्यो। ऋतगामी के लिये मार्ग सरल और बाधारहित होता है।

उत्तम भावों की प्राप्ति के लिये ऋतज्ञान तथा ऋतानुसार आचरण आवश्यक है।

अभय ज्योति प्राप्त करूं

ओ३म् । न दक्षिणा विचिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा ।

पाक्या चिद्वसवो धीर्य्याचिद्युष्मानीतो अभय ज्योतिरश्याम् ॥ ऋ. २।२७।११

हे (आदित्याः) आदित्यो । (न) न (दक्षिणा) दाहिना (विचिकिते) पहचानता हूं । (न) न (सव्या) बाया, (न) ना ही (प्राचीनम्) सामने का (उत) और (न) ना ही (पश्चा) पीछे का (विचिकिते) विशेष जानकार हूं । हे (वसवः) बसाने वालों । मैं (पाक्या+चित्) परिपक्व और (धीर्य्या+चित्) धैर्यशालिनी बुद्धि के द्वारा (युष्मानीतः) तुम ले जाया जाता हुआ (अभयम्) भयरहित (ज्योतिः) प्रकाश को (अश्याम) प्राप्त करूं ।

किसी से जब कुछ लेना हो, और विशेष कर मार्ग-जीवनयात्रा-मार्ग का ज्ञान लेना हो, तो अत्यन्त विनम्र होकर पूछना चाहिये । इसी भाव से जिज्ञासु आदित्यों की शरण में आकर कहता है—

न दक्षिणा ...नोत पश्चा । मुझे दाया, बाया, आगा, पीछा कुछ नहीं सूझता । अर्थात मैं दिग्विमूढ हूं । मुझे मार्ग नहीं सूझता । मैं अन्धकार में फंस गया हूँ । मैंने अपनी परिपक्व तथा धृतिमति बुद्धि से निश्चय किया है कि आपकी शरण में रहना ठीक है । मुझे विश्वास है कि—

युष्मानीतो अभय ज्योतिरश्याम=तुम्हें आगे रख कर मैं अभय प्रकाश को प्राप्त कर सकूंगा ।

तुम्हारे सम्बन्ध में मैंने सुना है—

त्रीरोचना दिव्या धारयन्त हिरण्ययाः शुचयो धारपूताः ।

अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय ॥ ऋ २।२७।९॥

हित रमणीय पवित्र, धाराओं से पवित्र करने वाले [पवित्रता की धारा बहाने वाले] निद्रा-तन्द्रा-रहित दबंग, अतिप्रशंसनीय आदित्य सरल मनुष्यों के लिये तीन दिव्य ज्योतियां धारण करते हैं ।

आपकी इस महिमा को जानकर मैं—

युष्माकं मित्रावरुणा प्रणीतौ परि श्वभ्रेव दुरितानि वृज्याम ।

हे मित्र वरुण और अर्यमन् । तुम्हारी उत्तम नीति में चल कर मैं स्वच्छता को धार कर दुरिता=बुराइयों को छोड़ दूं । अतः मैं आपकी नीति का अनुसरण करता हूं । भगवन कहते हैं—

न किष्टं घ्नन्त्यन्तितो न दूराद्य आदित्यानां भवति प्रणीतौ । (ऋ. २।२७।१३)

उसे न दूर से कोई मार सकते हैं, न समीप से, जो आदित्यों की उत्तम नीति में चलता है । और—

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुरघशंसः ।

यस्मै पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥ ऋ १०।१८५।२,३॥

उन्हें कोई रोग नहीं होता, नाही उनके मार्गों तथा उपकरणों पर पापप्रचारक शत्रु समर्थ होता है. जिस मनुष्य को आदित्य जीने के लिये अखण्ड ज्योति देते हैं । अत आदित्यों । भगवान् से प्रार्थना है—

उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः ॥ ऋ २।२७।१४॥

हे प्रकाशकों के प्रकाशक । मैं बहुत विशाल अभय ज्योति प्राप्त करूं मुझे लम्बी अन्धकारमयी रात्रियां प्राप्त न हों । जीवन में प्रकाश रहने से सरलता होती है । अन्धकार में भटकना ही भटकना है ।



पाप का अपाकरण तुम जानते हो

ओ३म्। विद्मा देवा अघानामादित्यासो अपाकृतिम्।
पक्षा वयो यथोपरि व्यस्मे शर्म्म यच्छतानेहसो व ऊतय: सु ऊतयो व ऊतय: ॥ ऋ. ८।४७।२

हे (आदित्यास:) आदित्य (देवा:) दिव्य गुणों! अथवा दिव्यगुण वाले महात्माओ! तुम (अघानाम्) पापों का (अपाकृतिम्) अपाकरण (विद) जानते हो। (यथा) जैसे (वयः) पक्षी (पक्षा) पक्षों को [अपने बच्चों के] (उपरि) ऊपर [कर देते हैं] तद्वत् (अस्मे) हमारे लिये (शर्म्म) रक्षा, कल्याण, शरण (वि+यच्छत) दो। (व:) तुम्हारी (ऊतय) रक्षायें, प्रीतियें (अनेहस) त्रुटिरहित, निर्दोष हैं (व) तुम्हारी रक्षायें, प्रीतियें ही (सु-ऊतय:) उत्तम रक्षायें तथा प्रीतियें हैं।

आदित्य देवों को ही पापनाश की युक्ति आती है, क्योंकि
ते आदित्यास उरवो गभीरा अदब्धासो दिप्सन्त भूर्यक्षा:।
अन्त: पश्यन्ति वृजिनोत साधु सर्वं राजभ्य: परमा चिदन्ति ॥ ऋ. २।२७।३

वे विशाल, गम्भीर, दबंग, पाप को दबाने की इच्छा वाले, और अनेक आंखों वाले आदित्य पापों को भली प्रकार भीतर देखते हैं। अत

महि वो महतामवो वरुण मित्र दाशुषे। अभि द्रुहो रक्षथा नेमघ नशत् ॥ ऋ. ८।४७।१

हे वरुण! मित्र! अर्यमन्! आदित्यो! तुम महापुरुषों की, दाता के लिये, बड़ी रक्षा और प्रीति है। तुम उस दाता को हिंसा से बचाते हो, और उसे पाप नहीं लगता।

अहिंसा से बचना पाप से बचना है। अहिंसा सब पापों की जड़ है। वेद में बड़े सुन्दर शब्दों में उपदेश है—

सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा। मित्रा पान्त्यद्रुह:॥ ऋ. ८।४६।४

निस्सन्देह वह मनुष्य सुनीथ=उत्तम नीति वाला है, जिसे मित्र वरुण अर्यमा हिंसा से बचाते हैं।

यदि मन वचन कर्म में हिंसा न रहे, संसार में कोई भी वैरी न रहे। जैसा कि पतञ्जलि जी ने योग दर्शन में कहा है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:। (यो० द०)

अहिंसा के परिपक्व होने पर उसके समीप वैर का त्याग होता है।

जब सब के साथ प्रीति ही प्रीति है तब वैर का अवकाश कहां? हमारे शास्त्र तो सब कामों में अहिंसा को स्थान देते हैं—

अहिंसयैव कार्य्यं भूतानां श्रेयोऽनुशासनम्। (मनु०)

प्राणियों को कल्याणोपदेश भी अहिंसा के द्वारा ही करना चाहिये।

अर्थात् न किसी वैर भाव से और न ही घृणा की रीति से, वरन् परम प्रेम का अवलम्बन करके उपदेश करना चाहिये। श्रोता को विश्वास हो जाये कि यह उपदेष्टा मेरी मंगलकामना से ही मुझे मार्ग बता रहा है, तो वह सुनेगा, तब वह अपने दोषों को सुन कर उनका समर्थन न करेगा, वरन् अनुताप के अश्रुओं के नाश का प्रयास करेगा।

हे आदित्यो! पक्षी अपने बच्चों की रक्षा के लिये जैसे उन पर अपने पर फैला देते हैं, वैसे तुम अपनी प्रीति-नीति के पक्ष हम पर फैला दो। आप के उन प्रीतिरक्षापक्षों में सुरक्षित रह कर हम पापों से बचे रहेंगे।

हे अग्ने! हम पर कृपालु हो

ओ३म्। भवा नो अग्ने सुमना उपेतौ सखेव सख्ये पितरेव साधुः।
पुरुद्रुहो हि क्षितयो जनानां प्रति प्रतीचीर्दहतादरातीः ॥ऋ० ३।१८।१

हे (अग्ने) ज्ञान स्वरूप। उन्नतिसाधक भगवान। (उपेतौ) समीप प्राप्ति के निमित्त तू (नः) हमारे लिये (सुमना) उत्तम मन वाला, भले भाव वाला, कृपालु (भव) हो। (इव) जैसे (सख्ये) सखा के लिये (सखा) सखा (साधु) भला है, (इव) जैसे सन्तान के लिये (पितरा) माता पिता साधु होते हैं। (हि) चूँकि (क्षितयः) मनुष्य (जनानाम्) मनुष्यों के (पुरुद्रुह) बहुत वैरी होते हैं, अतः ऐसे (प्रतीची) उलटे मार्ग पर चलने वाले (अरातीः) अदानियों को (प्रति+दहतात्) प्रतिकूलता से दग्ध कर दे।

हे ज्ञानदाननिपुण। अग्रगन्त। आदर्श। ज्ञान विज्ञान की खान। प्रकाशकों के प्रकाशक। परम प्रकाशमय। अज्ञानान्धकारविनाशक। दुर्गुणघातक। सद्गुणप्रापक। ज्ञानज्योतिर्द्योतक। धर्म्म-सुशिक्षक। अधर्म्मनिवारक। प्रीतिसाधक। शत्रुताविनाशक। सुधर्म्मसुसाधक। अधर्म्मसुबाधक। विद्यार्कप्रकाशक। सर्वानन्दप्रद। पुरुषार्थप्रापक। अनुत्साहविदारक। उत्साहसुधारक। सज्जनसुखद प्रभो। हमारी इच्छा तेरे पास आने की है। तू 'सखा सखीनामविता' मित्रों का रक्षक मित्र है। सखे। जब तू हमारा सखा है, तब तेरे पास आने मे हमें प्रतिबन्ध क्यों है? मित्र। स्नेहागार। चाहे हम पापी हैं, दुर्व्यसनी हैं किन्तु हैं तेरे मित्र, सखा। तूने स्वयं ही कहा—

सखा सख्युर्न प्रमिनाति सङ्गिरम् (ऋ० ६।८६।१६)=मित्र मित्र की बात कभी नहीं काटता।

तो हे मित्र। हम कह तो रहे हैं कि तेरे पास आना चाहते हैं। तुझे प्राप्त करना चाहते हैं। क्या सखे। क्या अपराध? तू केवल हमारा सखा ही नहीं, वरन्

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे॥

सब को बसाने देनेहारे। तू ही हमारा पिता है। नाना कर्म्म-प्रवीण। तू हमारा माता है। हम तेरी मङ्गल कामना की कामना करते हैं।

पितः। क्या पुत्र को पिता के पास आने का अधिकार नहीं रहा? मातुश्री। तेरे स्नेह से क्या मैं वञ्चित रहूँगा? क्या तेरी प्रेमभरी गोदी में पुनः स्थान न पा सकूँगा। मा। मा में तो अथाह ममता होती है। पिता तो पुत्रवत्सल होता है पितः। अतः

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥ऋ० १।१।६

हे अग्ने। पिता पुत्र के लिये जैसे सुपायन=सुगम्य, सरलता से प्रापणीय होता है वैसे ही तू हमारे लिये हो। और हमें कल्याण से युक्त कर।

पितः। मातः। तुमसे बढ़ कर हमारा कौन हितकारी है? भगवन्। जन जन में वैराग्नि प्रदीप्त हो रहा है। समाजशत्रु दानधर्म्म से विच्युत होकर समाज पर हिंसा के अंगार बरसा रहे हैं। इनके इस प्रतिकूल भावना को भगवान्। भस्म कर दे। ईश्वर। कोई किसी का अमंगल चाहने वाला न रहे। सभी सब के हित-साधक हों। तू हमारे लिये 'सुमना' हो और हमें 'सुम्न' दे।

आत्मसाक्षात्कार करो

ओ३म्। अय होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योमिरमृत मर्त्येपु ।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः ॥ ऋ० ६।९।४ ॥

(अयम्) यह [आत्मा] (प्रथमः) पहला, मुख्य (होता) होता, दानादान करने वाला है। (इमम) इसको (पश्यत्) देखो, साक्षात् करो। (मर्त्येपु) मरने वालो–शरीर इन्द्रियादि–में (इदम्) यह (अमृतम्) अविनाशी, अमृत (ज्योतिः) ज्योति, प्रकाश है (अयम्) यह (सः) पूर्वोक्त (ध्रुवः) ध्रुव, अविनश्वर (आ+निषत्तः) स्थित हुआ [गर्भस्थ होकर] (जज्ञे) जन्मता है, और (अमर्त्यः) अविनाशी (तन्वा) शरीर द्वारा (वर्धमानः) बढ़ता रहता है।

स्त्री पुरुष जब सन्तान की कामना से परस्पर सगत होते हैं, तो अनेक बार उनका प्रयत्न व्यर्थ जाता है। उसका कारण यह है कि केवल रजोवीर्य्य के सयोग से ही सन्तान नही हो जाता करता। जब तक जीव का सयोग न हो, शरीर बन नहीं पाता। शरीर की वृद्धि आदि सब आत्मा के आश्रित होती है। अत सबसे पहले आत्मा आता है। यही बात वेद अपनी अपूर्व शैली से बतलाता है—

अय होता प्रथम यह आत्मा सबसे पहला दाता और प्रतिग्रहीता है।

आत्मा शरीर और इन्द्रियो को ग्रहण करता है, अत. प्रतिग्रहीता है, और शरीर मे वृद्धि चेष्टा का हेतु होने से दाता है। इन दोनों भावों वेद के एक शब्द **'होता'** ने प्रकट कर दिया है। वेद का आदेश है—

इम पश्यत=इसे देखो, साक्षात् करो। देखने का प्रधान साधन है हृदय और मन का योग। जैसा कि वेद मे कहा है—

पतगमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चित। ऋ० १०।१७७।१=

प्राणप्रद परमेश्वर की कुशलता से शरीर-संबध के कारण व्यक्त हुए आत्मा को पण्डित जन हृदय और मन से जानते हैं। हृदय अर्थात् भक्ति [योग की परिभाषा मे ईश्वरप्रणिधान] तथा मन=ज्ञान दोनो मिले, तो आत्मा के दर्शन हो सके। यह स्मरण रखना चाहिये कि ईश्वरकृपा के बिना आत्मदर्शन सर्वथा असभव है।

इसी मन्त्र म आत्मा का थोड़ा सा लक्षण भी बताया गया है—**इद ज्योतिरमृत मर्त्येषु**=यह मरने वालो म अमर ज्योति है शरीर विनाशी है। इन्द्रिया क्षणभगुर हैं। एक आत्मा है जो अमर है। तभी तो ऋ० ६।९।५ मे कहा है—ध्रुव ज्योतिर्निहित दृशये कम=यह सुखदायी अविनाशी ज्योति दर्शन के लिये शरीर मे रखी गई है। अर्थात मानव जीवन का एक उद्देश्य आत्मदर्शन है। सब कुछ जाना और आत्मा को नही जाना, तो कुछ भी नही जाना।

इसका जन्म होता है किन्तु यह ध्रुव रहता है। अर्थात् शरीरादि के साथ सम्बन्ध का होना जन्म है। यह स्वय तो अजन्मा और अविनाशी है। अर्थात् मर्त्य देह म रहता हुआ भी आत्म अमृत है—

अमर्त्यो मर्त्येना सयोनि (ऋ १।१६४,३८)=

अमृत होता हुआ मर्त्यों=विनाशियो के साथ एक ठिकाने म रहता है। अपने कर्मो के कारण इसका जन्म होता है—**अपाङ् पराङेति स्वधया गृभीत** (ऋ. १,१६४,३८)=

अपनी कर्मशक्ति से पकड़ा हुआ उलटा सीधा जाता है। कर्मो के कारण सद्गति और दुर्गति होती है। अत **पश्यतेमम** इसे देखो।



२५१
सभी इन्द्रियों का एक उद्देश्य

ओ३म् । ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः ।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु ॥ ऋ. ६।९।५

(दृशये) दर्शन के लिये (कम्) सुखकारी (ध्रुवम्) अविनाशी (ज्योतिः) ज्योति (निहितम्) रखी है, डाली गई है। (पतयत्सु=अन्तः) विनाशियों में, गति वालों में (मनः) मन (जविष्ठम्) सब से अधिक वेगवान् है। (समनसः) मनसमेत (विश्वे) सब (देवाः) इन्द्रियां (सकेताः) ज्ञानपूर्वक (एकम्) एक (क्रतुम्) कर्म्म का, अथवा कर्त्ता को (अभि) लक्ष्य करके (साधु) भली प्रकार (वियन्ति) विशेषतया प्राप्त हो रही हैं।

दर्शनीय ज्योति शरीर में मानो छिपी है। किन्तु है वह सुखकारी। उपनिषदों तथा वेदों में आत्मा को अनेक स्थानों पर सुख का हेतु बताया गया है। और इसे सबसे प्यारा बताया गया है। यथा—

तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात् अन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यति, इति। बृहदा० ३।४।८=

इस वास्ते वह जो आत्मा है, वह पुत्र से अधिक प्यारा है, धन से अधिक प्यारा है, अन्य सब से अधिक प्यारा तथा अन्तरतर=अधिक अन्दर या गुप्त है। जो कोई आत्मा से अधिक किसी को प्यारा कहता है, वह प्यारे के लिये रोयेगा।

याज्ञवल्क्य ने ठीक ही कहा है। आत्मा अविनाशी है। आत्मा से अतिरिक्त धन जन तन मन इन्द्रियगण सभी विनाशी हैं। इनके विनाश होने पर इनका प्रेमी इनके प्रेम में अवश्य रोयेगा।

संसार के सारे पदार्थ तभी तक प्यारे लगते हैं, जब तक आत्मा का सम्बन्ध है। आत्मा से वियुक्त होने पर वे प्रीति का साधन नहीं रहते। अतः आत्मा को वेद ने क=सुखकारी कहा है।

इन्द्रियों में मन सब से जविष्ठ है, चचल है। मन के वेग का किसी ने अतीव सुन्दर वर्णन किया है—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

हे कृष्ण ! मन चचल है, उखाड़ पछाड़ करने वाला, बलवान तथा हठी है। वायु के समान उसका वश करना अतीव कठिन है।

मन और इन्द्रियां सभी जड हैं, अचेतन हैं। अचेतन दूसरे के लिये होता है। वेद इस तत्त्व को इन शब्दों में कहता है—

विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि स वियन्ति साधु=

मन और बुद्धि के साथ सारी इन्द्रियां एक कर्त्ता अथवा कर्म्म को लक्ष्य करके भली भांति विशेष रूप से प्राप्त होती हैं।

अर्थात् इन्द्रियां, मन और बुद्धि सब का एक उद्देश्य है, एक लक्ष्य है। वह है 'क्रतु'=कर्म्म करने वाला। कर्म्म करना आत्मा का धर्म्म है। इसका भाव यह है कि मन बुद्धि तथा इन्द्रियां आत्मा के कर्म्म-साधन हैं, करण हैं। जब इन सब का लक्ष्य एक है, तो ये भिन्न भिन्न होते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं हैं। यदि आत्मा क्रतु=कर्म्म करने वाला=याज्ञिक बना रहे, तो इन्द्रियां भी देव रहती हैं। अर्थात् इन्द्रियों का देवत्व क्रतु पुरुष के अधीन है।

२५२

क्या कहूं और क्या सोचूं

ओ३म्। वि मे कर्णा प्रतयतो विचक्षुर्वीद ज्योतिर्हृदय आहित यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधी. किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥ ऋ. ६।६।६

(मे) मेरे (कर्णा) कान (वि+पतयत.) विविध दिशाओं मे गिर रहे हैं, भगा रहे हैं। (चक्षुः) मेरी आख भी (वि) विविध रूपों में मुझे गिरा रही है। इनके कारण (इद+ज्योतिः) यह ज्योति भी, (यत्) जो (हृदये) हृदय में (आहितम्) निहित है (वि) विविध वासनाओं मे दौड रही है। (मे) मेरा (मन.) मन (दूरे) दूरके (आधीः) विचारों मे (विचरति) विचर रहा है (किं+स्वित) क्या (वक्ष्यामि) मैं कहूं और (किम्+उ+नु) क्या तो मै (मनिष्ये) मनन करु ।

कितनी करुण पुकार है। भगवान् ने आत्मज्योति के साक्षात्कार का आदेश दिया। जीव समझा, यह भी कोई इन्द्रियगोचर पदार्थ है। अतः इन्द्रियों से उसे देखने का, जानने का प्रयत्न करने लगा। किन्तु उसे पता लगा कि इन्द्रिया मेरे वश में हैं ही नहीं। कानों को कहा--कहीं से आत्माराम की बात सुनना तो बताना। कान चले, किन्तु मार्ग में बाजा सुनाई पड़ा, कान वहीं रुक गये। वापस न आये। आख को भेजा, तुम जाओ तुम आत्मा को देखो, खोजो। रूप की प्यासी आख के सामने नयनाभिराम दृश्य आया। आख सर्वात्मना उसके देखने मे तन्मय हो गई। इसी भाति अन्य इन्द्रियों ने कार्य्य किया। यहीं तक बात होती तो कदाचित सहन कर ली जाता, किन्तु ये तो जब कहीं गई, आत्मज्योति को भी साथ लेती गई।

वीद ज्योतिर्हृदय आहित यत् यह हृदय के भीतर रहने वाली ज्योति-आत्म ज्योति भी इन्द्रियों के साथ विविध विषयों मे गिर रही हैं। शास्त्र कहते हैं—

आत्मा जिज्ञासते, अनन्तर मनसा सयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, ततो ज्ञानोद्भव

आत्मा पहले जानने की इच्छा करता है, तब मन से सयुक्त होता है। मन इन्द्रियो से, इन्द्रिय पदार्थ मे, तब ज्ञान होता है। जब आत्मा ही इधर उधर भाग रहा है, तब उसके साथ करण-अन्त.करण-अन्तरङ्ग साधन-बन कर मन कहा ठहर सकता है ? अत कहा है—

वि मे मनश्चरति दूर आधी =

मेरा मन भी दूर दूर के विचारों मे विचर रहा है। अर्थात् इन्द्रियो के विषयों के चक्कर मे पड़कर आत्मा अपना लक्ष्य खो बैठा है। अत रोता हुआ कहता है—

किं स्विद्वक्ष्यामि किमु न मनिष्ये=क्या कहू और क्या विचारु ।

आत्मा ने अपनी भूल मे सेवकों को स्वामी बना दिया है। इसी से दुर्दशाग्रस्त हो रहा है। यह उलटी अवस्था पाप की पैदा करने वाली है। जैसा अ. ५।१८।७ मे कहा है—

अजद्धो राजन्य पाप आत्मपराजित =

इन्द्रियों के विद्रोह से आत्मपराजय होता है। और वही पाप है। आत्मा को पुन स्वामी बना दो, राजा बना दो। इन्द्रिया का द्रोह दब जायेगा। और पाप भी नष्ट हो जायेगा।

---

*इस मन्त्र की विशेष व्याख्या "वैदिक स्वदेश भक्ति मे देखिये।

२५३
कौन उपदेश करे

ओ३म् । ज्यायांसमस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते ।

यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदद्य उ स्वयं वहते सो अरं करत् ॥ ऋ. ५।४४।८

(यासु) जिनमे (ते) तेरा (नाम) नाम, यश है, उनमे (यः) जो (अस्य) इस (यतुनस्य) यत्नशील के (केतुना) ज्ञानानुसार (ज्यायासम्) श्रेष्ठ (ऋषिस्वरम्) ऋषि-उपदेश को, वेदोपदेश को (चरति) आचरण में लाता है । (यादृश्मिन्) जैसे मे (धायि) धारण किया गया है, (तम्) उसको (अपस्यया) क्रिया के द्वारा (विदत) प्राप्त करे (यः+उ) जो तो (स्वयम्) अपने आप (वहते) धारण करता है (सः) वह (अरम्) उचित (करत्) करता है ।

आज कल यह रीति सी चल पड़ी है कि जिसे थोड़ा सा कुछ बोलना आता है उसे व्यासवेदी पर बिठा दिया जाता है । परिणाम ? श्रोताओ के समय की हत्या । केवल बोलने मे ही कोई उपदेश करने का अधिकारी नहीं हो जाता । वरन् उसमे कुछ अन्य गुण भी अपेक्षित हैं । उनमे कुछ एक का कथन इस मन्त्र मे है—

१. **यतुनस्य केतुन ज्यायांसम् ऋषिस्वरं**=इस यत्नशील के सकेत के अनुसार जो श्रेष्ठतर वेदोपदेश का आचरण करता है ।

अर्थात्—(क) पहले आत्मा और परमात्मा के सकेतों को समझे । परमात्मा के सबन्ध मे श्वेताश्वर महात्मा कहते हैं—

चरति स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च=परमात्मा मे ज्ञान बल और अनुष्ठान स्वाभाविक हैं ।

भाव यह कि परमात्मा निरलस होकर सदा कर्म्म करता रहता है । मन्त्र मे इसी कारण भगवान को 'यतुन' कहा गया है ।

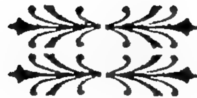
जीवात्मा मे प्रयत्न स्वाभाविक गुण है । अत पहला सकेत यह है कि उपदेशक सदा क्रियाशील हो, पुरुषार्थी हो । दूसरा सकेत, धर्म्मज्ञान के लिये सृष्टिनिरीक्षण अनिवार्य है । उपदेशक का कोई उपदेश और आचरण सृष्टिनियम के विरुद्ध नहीं होना चाहिये । सृष्टिनियम का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ज्ञान विज्ञान, पदार्थविद्या, वेद, दर्शन, शास्त्र आदि विविध शास्त्रो का गभीर अध्ययन, मनन अत्यन्त आवश्यक है । साथ ही ससार मे आखें खोल कर चलना भी नितान्त अपेक्षित है । उसके बिना सृष्टि नियम का बोध हो ही नहीं सकता । (ख) उस सकेत को समझ कर ऋषियो के स्वर मे स्वर मिला कर उत्कृष्टतर वेदोपदेश पर आचरण करे ।

ऋषिर्दर्शनात्' साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु'—दर्शन=साक्षात्कार के कारण ऋषि बनता है । पदार्थों के यथार्थ धर्मों का साक्षात् करने वाले ऋषि होते हैं । ऋषियों के स्वर के साथ स्वर तभी मिल सकेगा,

मन उन्हीं को भांति पदार्थों के तल तक पहुँचा जाये। प्रत्येक का निगूढ तत्त्व जानने का पुरुषार्थ किया जाय। वेदोपदिष्ट तत्त्वों को साक्षात् करने के लिये वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि साधनों की आवश्यकता है। इनसे सपन्न होने पर ऋषियों के स्वर में स्वर मिला सकेगा। (ग) परमात्मा, आत्मा के संकेत, और वेदोपदेश दूसरों को ही न करता हो, वरन् स्वय भी चरति=आचरण करता हो। तात्पर्य्य यह कि उपदेशक का आचरण अपने उपदेश का विरोधी न हो।

२. याद्दश्मिन्धायि तमपस्यया विदत्=जैसे में धारण किया गया, उसको क्रिया से प्राप्त कराये। कई उपदेश ऐसे होते हैं, जो कह देने मात्र से श्रोता की बुद्धि में नहीं बैठते, वे क्रिया द्वारा समझाने होते हैं। उपदेशक को यह भी देखना होगा कि जिनको मैं उपदेश कर रहा हूं वे धारण करने में समर्थ भी हैं या नहीं। अर्थात् वे उपदेश को क्रियात्मक रूप दे सकते हैं वा नहीं। पात्रापात्र विचार के विना उपदेश प्राय: निष्फल हो रहे हैं।

३. य उ स्वयं वहते सो अरंकरत्=जो स्वयं धारण करता है, वही उचित करता है। आचरण द्वारा उपदेश वाणी द्वारा दिये उपदेश से श्रेष्ठ होता है। जो कहो, उसके अनुसार चलने से शोभा होती है।



गणसेवक दोनों भलाइयों को प्राप्त करता है

ओ३म् । सदापृणो यजतो विद्विषो वधीद्बाहुवृक्त श्रुतवित्तर्यो वः सचा ।
उभा स वरा प्रत्येति भाति च यदीं गणं भजते सुप्रयावभिः ॥ ऋ० ५।४४।१२

जो (सदापृणः) सदा प्रसन्न करने वाला तथा सदा प्रसन्न रहने वाला (यजतः) याज्ञिक (बाहुवृक्तः) बाहुओं से शत्रुनाश करने में समर्थ (श्रुतवित्) सुने को जानने वाला (मर्य्यः) तारने वाला (वः) तुम्हारा (सचा) सम्बन्धी (द्विषः) शत्रुओं को (वधीत्) मारदे तो (सः) वह (उभा) दोनों (वरा) भलाईयों को (प्रत्येति) प्राप्त करता है (च) और (भाति) चमकाता है (यत्) जब वह (गणम्) जन समूह का (ईम्) ही (सुप्रयावभिः) उत्तम चालो से अथवा उत्तम ज्ञानियों के द्वारा (भजते) सेवन करता है ।

वैयक्तिक हित तथा सामाजिक हित दो भलाइया हैं । मनुष्य इन्हें प्राप्त करने के लिए यत्नशील रहते हैं। किन्तु कोई भाग्यशील ही सिद्धि प्राप्त करता है । किसी ने कहा है—

सिद्धये यतमानाना सिद्धिं प्रयाति कोपि ना

सिद्धि के लिये यत्न करने वालों में से कोई मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है । इस का कारण यह है कि सिद्धिदायक उपाय का अवलम्बन नहीं किया जाता । इस वेद मन्त्र में इन दोनों भलाइयों की प्राप्ति का उपाय वर्णित है ।

१. सदापृणः—सदा प्रसन्न रहने वाला तथा प्रसन्न करने वाला । अथवा सज्जनों को प्रसन्न करने वाला अप्रसन्न रहने वाले में उत्साह ही नहीं रहता । सर्व कार्यों की सिद्धि का मूल उद्योग है । कहा है—उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी =सम्पत्ति उद्योगी, उत्साही नरसिंह को प्राप्त होती है ।

२. यजतः=यजनशील=क्रियाशील । केवल उत्साही न हो, प्रत्युत उत्साह और प्रसन्नता के साथ क्रियाशीलता भी चाहिये । कर्मण्य लोग ही ससार में कुछ कर पाये हैं ।

३. बाहुवृक्तः=बाहुओं से विघ्ननाश करने में समर्थ । उत्साह भी है, कर्मशीलता भी है, किन्तु यदि भुजों में बल नहीं, तो बस । उत्साह तथा कर्मण्यता के साथ भुजबल कार्य्य सिद्धि को सरल कर देता ।

४.श्रुतवित्=सुने को जानने वाला=सुने को धारण कर सकने वाला । ससार में श्रोता तो अनेक हैं, किन्तु बोद्धा, सुने को समझने वाले, उस को कर सकने वाले अत्यन्त थोड़े हैं । उत्साह, कर्मण्यता तथा भुजबल के साथ विद्याबल भी होना चाहिए । ज्ञान के बिना किसी भी कार्य्य की निष्पत्ति नहीं हो सकती । अतः उत्साहादि के साथ ज्ञान, और ज्ञान भी महान् होना चाहिये ।

५. मर्य्यः—तार सकने वाला । अर्थात् परमार्थी, परार्थी, स्वार्थशून्य । जो केवल स्वार्थ को

सम्मुख रख कर किसी भले भी कार्य्य में प्रवृत्त होता है। उसे कोई सहायक नहीं मिलता। हां, उस के मार्ग में प्रबल विघ्नों का झंझावात अवश्य आता है जो उसे उधर से निवृत्त होने को विवश कर देता है।

६. **यदीं गणं भजते सुप्रयानभि.**—जब वह उत्तम व्यवहारों से गण की सेवा करता है अर्थात्—**"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।"** स्वार्थी मनुष्य की दृष्टि अपने तक ही सीमित रहती है। अतः वह केवल अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट रहना चाहता है। किन्तु मनुष्य के सब कामों में दूसरों की सहायता की अपेक्षा हुआ करती है। अपने से अतिरिक्त उसे किसी का ध्यान नहीं, इस लिए उसे दूसरों से अपेक्षित सहायता नहीं मिलती। फलतः उस की अपनी उन्नति भी नहीं हो सकती। इस के विपरीत जो गण की, समुदाय की, समाज की समष्टि की उन्नति में अपनी उन्नति समझता है, वह गण के उत्कर्ष के लिये यत्न करता है। गण की उन्नति के साथ उस की भी उन्नति हो जाती है। गण के साथ वह भी तर जाता है। अतः वेद ने कहा—

उभा स वरा प्रत्येति भाति च

वह दोनों—वैयक्तिक सामाजिक भलाईयों को प्राप्त कर लेता है, और इस कारण चमकता है।

२५५

बलदातः ! बल दे

ओ३म् । बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानडुत्सु नः ।

बलं तोकाय तनयाय जीव से त्वं हि बलदा असि ॥ ऋ० ३।५३।१८ ॥

हे (इन्द्र) अतुल बलपराक्रमशालिन् प्रभो ! (नः) हमारे (तनूषु) शरीरों में (बलम्) बल (धेहि) डाल, दे (नः) हमारे (अनुड्त्सु) शरीररूपी छकडे की चलाने वाली इन्द्रियों में (बलम्) बल डाल (तोकाय+तनयाय) बाल बच्चे के लिये तथा (जीवसे) जीने के लिये (बलम्) बल दे । (हि) सचमुच (त्वम्) तू ही (बलदाः) बलदाता (असि) है ।

बलदाः निर्बलों के बल ! प्रबलों से प्रबल ! सब से सबल ! तेरी दया से मुझ में बड़ी बड़ी शक्तियां हैं, मैं अद्भुत कार्य्य करने का सामर्थ्य रखता हूं । किन्तु फिर भी मैं अनुभव करता हूं कि मैं निर्बल हूं । जीव जन्तु के अतिरिक्त रोग शोक भी मुझे प्रबल दीखते हैं । मुझे समय समय पर आ दबाते हैं । परमदेव ! तू बल का भण्डार है, और तेरा भण्डार अखुट है । थोड़ा सा बल मुझे दे, मेरा शरीर बलहीन है इसे सबल बना दे । शरीर मेरा भारी भरकम है, इस को चलाने वाले, इस की क्रिया को करने वाले बैल—आंख, नाक, कान दुबले हैं । यह कैसा भार ढोयेंगे ? दुर्बल ज्योतिःक्षीण नयन रूप कैसे पहुँचाएगा ? सांय सांय करने वाले बधिरप्राय कान तेरे यशोगान को कैसे सुनेगा । ? जिह्वा-निगोडी दुर्बल है, न रस ले सके, न बोल सके । प्रभो ! इन सब को बल दे, यशो बल दे ।

बल वाले ! तेरे दिये बल का फल सन्तान हो ! मुझे मेरी सन्तान के लिये बल दे । जीवन के लिये बल दे । निर्बल क्या जीता है ?

तुझी से मांगूंगा, क्योंकि तू ही बलदाता है ।



तुझ जागरूक को सभी नमस्कार करते हैं

ओ३म् । त्वा दूतमग्ने अमृत युगेयुगे हव्यवाह दधिरे पायुमीड्यम ।

देवासश्च मर्त्तासश्च जागृविं विभु विश्पतिं नमसा निषेदिरे ॥ ऋ० ६।१५।८

हे (अग्ने) ज्ञानधार प्रभो । (त्वाम्) तुझ (दूतम्) दु,खविनाशक (अमृतम्) अविनाशी (हव्यवाहम्) जीवनसामग्री देने वाले (पायुम्) रक्षक (ईड्यम्) पूजनीय को, विद्वान् जन (युगे युगे) युग युग में (दधिरे) धारण करते हैं । (च) और (देवाः) निष्काम ज्ञानी, जीवन्मुक्त (च) तथा (मर्त्ताः) जन्ममरण के चक्कर मे पडे मनुष्य तुझ (जागृविम्) जागरूक (विभुम) व्यापक (विश्पतिम्) प्रजापति को (नमसा) नमस्कार द्वार (नि+षेदिरे) प्राप्त होते हैं ।

अग्नि को वेद में अनेक स्थान पर दूत कहा गया है । दूत का मूल अर्थ दुःख हरने वाला है । लौकिक सस्कृत में दूत का अर्थ एक का सन्देश लेकर दूसरे तक पहुँचने वाला और उसे सन्देश भेजने वाले के सन्देशानुकूल चलने की प्रेरणा करने वाला है । अर्थात् दूत अत्यन्त बुद्धिमान् ज्ञानवान् होना चाहिये । भगवान् से बढकर और कोई ज्ञानवान् नहीं है । जैसा कि ऋ. ६।१४।२ में कहा है—

अग्निरिद्धि प्रचेता अग्निर्वेधस्तम ऋषिः

अग्नि=ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही सचमुत्त उत्तम चिताने वाले हैं । और भगवान् ही सबसे अधिक मेधावी ज्ञानी है । अतः—

त्वा दूतमग्ने अमृत युगे युगे हव्यवाह दधिरे पायुमीड्यम् ।

युग युग मे अविनाशी, भागसामग्रीप्रदाता, रक्षक, पूज्य भगवान् को विद्वान् दूत बनाते हैं ।

विद्वान् अपने मन के सन्देश भगवान् का दे देते हैं, वह जैसा उचित समझता है, वैसा कर देता है उसे दूत बनाना विकट तथा कठिन कार्य्य है । उसे दूत बनाने से पूर्व उसे धारण करना पडता है । परम अग्नि को दूत बनाने से पूर्व उसे धारण करना होगा । अन्यथा उसे दूत न बनाया जा सकेगा ।

धारण करने से पूर्व उसके पास जाना होता है । सभी को उस के पास जाना होता है—

देवासश्च मर्त्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा निषेदिरे ।

देव और अदेव सभी उस जागरणशील, व्यापक, प्रजापति को नमस्कार से प्राप्त होते हैं ।

अर्थात् सारा ससार उस के सामने झुक रहा है । अपने से श्रेष्ठ को सभी नमस्कार करते हैं । भगवान् मर्त्य अमर्त्य सभी से श्रेष्ठ है—

देवानामुत यो मर्त्यानां यजिष्ठ. (ऋ ६ १५।१३)

देवा और मर्त्यों का जो सब से श्रेष्ठ पूजनीय है ।

नम्र होकर भगवान् की शरण म जाने से सब दु खो क। विशरण हो जाता है ।

२५७

कर्म्म-फल-प्रदाता

ओ३म् । विभूषन्नग्न उभयाँ अनुव्रता दूतो देवानां रजसी समीयसे ।
यत्ते धीतिं सुमतिमावृणीमहे ऽध स्मा नस्त्रिवरूथः शिवो भव ॥ ऋ. ६।१५।६

(अग्ने) सब गुणियों को सत्कृत करने वाले सर्वज्ञान-निधान भगवान् । (देवानाम्) देवों का (दूतः) दुःख विनाशक होता हुआ (उभयान्) देवों और मर्त्यों को, निष्काम ज्ञानी तथा साधारण मनुष्य को, जीवन्मुक्त तथा मृत्युग्रस्त को (व्रता+अनु) उनके कर्मों के अनुसार (विभूषन्) विभूषित करता हुआ, उत्तम गति देता हुआ, तू (रजसी) दोनों लोकों को (सम्+इयसे) एकरस व्याप रहा है । (यत्) यतः (ते) तेरे (धीतिम्) ध्यान तथा (सुमतिम्) उत्तम ज्ञान को (आवृणीमहे) हम स्वीकार करते हैं, धारण करते हैं (अध) अतः (त्रिवरूथः) तीनों में श्रेष्ठ तू (नः) हमारे लिये (शिवः) कल्याणकारी (स्म) हो ।

इस मन्त्र मे भगवान् का कर्म्मफलप्रदातृत्व निरूपण किया गया है ।

१. **विभूषन् उभयां अनुव्रता**—दोनों को कर्म्मों के अनुसार सजाता है ।

संसार में पापी और पुण्यात्मा दो प्रकार के मनुष्य हैं दोनों की वासनाओं मे भेद के कारण उनके कर्म्मों मे भेद होता है । भगवान् उन दोनों के कर्म्मों के अनुसार ही उनके लिये सुख दुःख की सामग्री प्रस्तुत करते हैं ।

'विभूषन्' शब्द में एक अद्भुत स्वारस्य है जो दूसरी किसी भाषा के एक शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता । विभूषन् का अर्थ है विशेष रूप से सजाना और भूषारहित करना । पुण्यवानों को उन के पुण्य के अनुसार उत्तम गति मिलती है, वह सजाना है । पापियों को उनके पाप के अनुकूल दुर्गति मिलती है, यह भूषारहित करना है ।

परमेश्वर किसी के साथ पक्षपात नहीं करता, प्रत्युत

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ य. ४०।८

अपनी सनातन प्रजाओं [जीवों] के लिये याथातथ्य रूप से पदार्थों को बनाता है ।

जैसे जिसने अपना अधिकार बनाया है, उसके अनुसार भला अधिकार है, तो भला, बुरा है, तो बुरा, फल मिलता है ।

उत्तरार्ध मे उत्तमकर्म्मा बनने का एक उपाय निर्दिष्ट हुआ है—

यत्ते धीतिं सुमतिमावृणीमहे ऽध स्मा नस्त्रिवरूथः शिवो भव

चूंकि हम तेरे ध्यान चिन्तन और उत्तम ज्ञान को ग्रहण करते हैं, अतः तीनों मे श्रेष्ठ तू हमारे लिये सुखकारी हो । यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहे तो उसे भगवान् का ध्यान और उत्तम ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । भगवान् प्रकृति, जीव तथा ब्रह्म-इन तीनों मे श्रेष्ठ है । श्रेष्ठ का ध्यान अवश्य ही श्रेष्ठ है । श्रेष्ठ का ज्ञान भी श्रेष्ठ है । श्रेष्ठतम को वरण करना—अपनाना सर्वथा श्रेष्ठ कर्म्म है । श्रेष्ठतम कर्म का फल भी श्रेष्ठतम होना चाहिये । भगवान् के दिये कल्याण से बढ़ कर और क्या श्रेष्ठ हो सकता है ? अतः भगवान् से प्रार्थना है कि तू ही हमारे लिये शिव=कल्याणकारी बन ।

भगवान् सर्वत्र व्यापक है, अतः वह सबके कर्म्मों को जानता है, अतः उसे कर्मफल प्रदान करने मे किसी बिचौलिया की अपेक्षा नहीं होती ।



शरीर पतनशील है

ओ३म्। तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन् तव चित्तं वात इव ध्रजीमान्।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति ॥ य० २९।२२

हे (अर्वन्) जीवात्मन्! (तव) तेरा (शरीरम्) शरीर (पतयिष्णु) पतनशील, विनाशवान् है। (तव) तेरा (चित्तम्) चित्त (वातः+इव) वायु के समान् (ध्रजीमान्) चंचल है, वेगवान् है। (तव) तेरी (जर्भुराणा) अत्यन्त पुष्ट (शृङ्गाणि) इन्द्रिया (पुरुत्रा) बडे बडे (अरण्येषु) जगलों में—विषयवनों में (विष्ठिता) स्थित हुई (चरन्ति) विचरति हैं।

वेद कल्याणी माता की भाति जीव का उद्धार करने के लिये अनेक प्रकार से प्रबोध के उपाय प्रस्तुत करता है। कही से 'ध्रुव ज्योति' कह कर मृत्यु के भय से मुक्त कराता है, कहीं इसके शरीर की अनित्यता का वर्णन करके ससार की असारता दिखा इसे मोहपाश से छूटने की प्रेरणा करता है। इस मन्त्र में शरीर की विनाशिता का ज्ञान कराने के लिये कहा—

तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्=हे आत्मन्! तेरा शरीर पतनशील है।

इसका शील=स्वभाव ही पतन है, नाश है। स्वभाव के सम्बन्ध में ऋषियो का मत है—

स्वभावोह्यनपायी वै=स्वभाव तो नहीं बदलता, जब स्वभाव नहीं बदल सकता, तब एक दिन अवश्य ही इसका नाश होगा, भले ही पर्य्याप्त दीर्घकाल तक शरीर बना रहे। किन्तु इसका सदा बना रहना असभव-सर्वथा असभव है। अतः ज्ञानी जन शरीर में एकात रति नहीं करते, वरन् उदास हो जाते हैं।

शरीर के साथ लगा मन तो सब से चचल है। वेद मे अनेक स्थानो पर उसे जविष्ठ कहा है। यहा भी उसी प्रकार कहा गया है कि वह वात इव ध्रजीमान=वायु की भाति चचलतर है। शरीर पतनशील है, सदा सग रहने वाला नहीं है। मन भी चचल है, सदा इधर उधर भागता रहता है। अर्थात् ये दोना विश्वासयोग्य नहीं हैं। जाने, कहा और कब सग छोड दें। बुद्धिमान् मनुष्य इस रहस्य को जान कर इससे सिद्ध होने वाले कार्य्यों को शीघ्रातिशीघ्र सम्पादन करते हैं।

क्या इन्द्रिया आत्मा को पूरा सहयोग दे रही हैं? वेद इसका समाधान अद्भुत ढग से करता है—

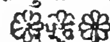
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति।

तेरी इन्द्रिया अनेक जगलो मे स्थित होकर पुष्ट हुई विचरती हैं अर्थात् इन्द्रिया भी आत्मा से विमुख होकर विषय-वनों मे विचर रही हैं। उपनिषत् ने कहा—

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान्। (कठो०)=

ज्ञानीजन इन्द्रियो को घोडे मानते हैं, और विषयों को उनके चरने का स्थान।

उपनिषत् के गोचर को वेद ने अरण्य=जगल कहा, और कहा कि व 'पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति= अनेक जगलों मे पुष्ट हुई विचरती हैं या चर रही हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का विषय पृथक् पृथक् है। नेत्र का रूप, रूप, अनेक प्रकार का है। रसना का विषय रस है। रस भी नाना हैं। घ्राण=नाक का विषय गन्ध है, गन्ध भी अनेकविधि हैं। कान का शब्द बाधता है, शब्द के भी विविध भेद हैं। त्वचा को सुख देने वाला स्पर्श भी एक प्रकार का नहीं है। फिर मन के विषयो का परिशीलन मन की भाति दुरूह है। इन्द्रिया अपने अपने विषयों को ही ग्रहण कर सकती हैं, इस बात को कहने के लिये 'विष्ठिता' विशेषणपद का प्रयोग हुआ है। और अतएव नाना वनों की सत्ता का निर्देश हुआ है। आत्मन! तेरा इनमे कोई भी पक्का साथी नहीं।



२५६

पंच कोश

ओ३म्। केष्वन्तः पुरुष आविवेश कान्यन्त. पुरुषे अर्पितानि।
एतद् ब्रह्मन्नुप वल्हामसि त्वा किं ँ स्विन्न. प्रतिवोचास्यत्र ॥ य० २३।५१

ओ३म्। पञ्चस्वन्त. पुरुष आविवेष तान्यन्त. पुरुषे अर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत् ॥ य २३।५२

प्रश्न— केषु=अन्त) किन में (पुरुष) पुरुष (आविशेष) आविष्ट है, समाया है ? और (कानि) कौन (पुरुषे=अन्त.) पुरुष में या पुरुष के लिये (अर्पितानि) अर्पित हैं (ब्रह्मन्) हे ब्रह्मन्। चतुर्वेदवित् अथवा साक्षात् ब्रह्म। (एतत्) यह (त्वा) तुझ से (उप) समीप आकर (वल्हामसि) हम प्रश्न करते हैं। (अत्र) इस विषय में (नः) हमे (किं+स्वित्) क्या (प्रति+वोचाति) प्रत्युत्तर देते हो, समाधान देते हो ?

उत्तर—(पञ्चसु+अन्त') पाच में पुरुष (आ+सिवेश) आविष्ट है। (तानि) वही पाच (पुरुषे+अन्त.) पुरुष में या पुरुष के लिये (अर्पितानि) अर्पित हैं। (त्वा) तुझ को (अत्र) इस विषय में (एतत्) यह (प्रतिमन्वान +अस्मि) प्रत्युत्तर देता हू=समाधान देता हू। त (मायया) बुद्धि के द्वारा (मत्) मुझ से (उत्तर) उत्कृष्ट (न) नहीं (भवसि) है।

पुरुष=जीव पाच मे अविष्ट है, और पाच पुरुष के अर्पित है। पाच से यहा तात्पर्य पाचकोष है। जीवात्मा उनमे रहता हुआ उनसे पृथक् है। वे पाच कोश निम्नलिखित हैं—

१ अन्नमय कोश, २ प्राणमय कोश, ३. मनोमयकोश, ४. विज्ञानमय कोश, तथा ५ आनन्द-मय कोश।

आचार्य इन कोशो का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

१—पहला "अन्नमय" जो त्वचा से लेकर अस्थि पर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है।

२—प्राणमय "प्राणमय" जिसमे निम्न पञ्चविध प्राण समाविष्ट हैं—"प्राण" अर्थात जो बाहर से भीतर आता है, २ "अपान" जो भीतर से बाहर जाता है। ३ "समान" जो नाभिस्थ होकर शरीर म सर्वत्र रस पहुँचाता है, ४ "उदान" जिससे कण्ठस्थ अन्नपान खीचा जाता है और बल पराक्रम होता है ५ "व्यान" जिससे सब शरीर मे चेष्टादि कर्म जीव करता है।

३—तीसरा "मनोमय" जिस मे मन के साथ अहंकार वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पाच कर्मेन्द्रिया हैं।

४—चौथा "विज्ञानमय" जिसमे बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पाच ज्ञान इन्द्रिया हैं जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है।

५—पाचवा "आनन्दमय कोश" जिसमे प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिक आनन्द और आधार कारणरूप प्रकृति है। ये पाच कोश कहाते हैं, इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म उपासना और

ज्ञानादि व्यवहारों को करता है। (सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास)

इस सदर्भ से स्पष्ट सिद्ध है कि जीवात्मा इन सब से पृथक् है, और मानो इनके अन्दर छिपा हुआ है। इन कोशों को=परदों को दूर करो, तो आत्मा का दर्शन सुलभ हो जाता है। ये पाच कोश स्थूल और कारण शरीर से भिन्न हैं।

कोई कोई यहा "पाच" से पाच प्राण लेते हैं, जैसे मुण्डकोपनिषद् मे लिखा है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पचधा सविवेश।

प्राणैश्चित्त सर्वमोत प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ मुण्डक० ३।१।६

पूर्वोक्त जीवात्मा चित्त से=चिन्तन से जाना जा सकता है। इसमें 'प्राण" प्राण अपान, समान, व्यान और उदान भेदों से सविष्ट हुआ है। सब प्राणियो का चित्त प्राणों से ओत प्रोत है, जिसके शुद्ध होने पर यह आत्मा विभूतियों वाला हो जाता है।

उपनिषद् के इस भाव को वेद में भी वर्णन किया गया है—

पच नद्य: सरस्वतीमपि यन्ति स स्रोतस.।

सरस्वती तु पचधा सो देशेऽभवत्सरित्॥ यजु० ३४।११

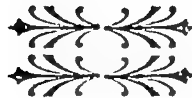
स्रोतोंसहित पाच नदिया=इन्द्रिया, सरस्वती=ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्राप्त हो रही हैं। और वह सरस्वती=आत्मा भी शरीर रूप देश में पाच प्रकार का सरित्=गतिवाला हो गया है।

पाच इन्द्रिया बाहर से लाकर आत्मा को ज्ञान देती हैं, और आत्मा सब शरीर मे इन्द्रियों द्वारा अपना प्रकाश करता है। यही पाच ज्ञानेन्द्रिया जब पुरुष के वश मे आ जाती हैं तब मोक्ष प्राप्त हो जाता है, जैसा कि कठोपनिषद् मे कहा है—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहु परमा गतिम्॥ कठ० ६।१०

जब यह मन सहित पाचो ज्ञानेन्द्रिया अपने व्यापार से विरत हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उसे परम गति कहते हैं।



चार वर्ण

ओ३म् । ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ य. ३१।११

(अस्य+मुखम) इस समाज का मुख (ब्राह्मण+आसीत्) ब्राह्मण होता है । (बाहू) और भुजाए (राजन्य.+कृतः) क्षत्रिय बनाई जाती हैं । (अस्य) इस समाज का (यत्+ऊरू) जो मध्यस्थान है, (तत् +वैश्यः) वह वैश्य है (पद्भ्याम्) पैरों के लिए (शूद्रः+अजायत्) शूद्र होता है ।

इस मन्त्र मे आलङ्कारिक रीति से चार वर्णों का सकेत है ।

सिर की भाति विचार प्रधान मनुष्य ब्राह्मण पदका अधिकारी है, भुजा की भाति रक्षा तथा प्रहार मे तत्पर का नाम क्षत्रिय है । मध्यभाग=पेट आदि की भाति जो समस्त समाज के ऐश्वर्य का केन्द्र हो उसे वैश्य कहते हैं । जिस प्रकार पैर सारे शरीर का भार उठाते हैं, उसी प्रकार जो समस्त समाज की सेवा करे, उसे शूद्र कहते हैं ।

कई सज्जन यह आक्षेप करते हैं कि वेद मे चारवर्णों की चर्चा नहीं, वरन् केवल दो वर्णों आर्य्य और दास का उल्लेख है । और इसके लिए वे निम्नलिखित प्रमाण देते हैं—

(क) दासं वर्णमधरं गुहाकः । (ऋ' २।१२।४) और (ख) प्रार्यं वर्णमावत् । ऋ. ३।३४।६
(क) में दासवर्ण को नीचा करने तथा (ख) में आर्य्य वर्ण की रक्षा करने की बात कही गई है ।

ऐसे महानुभावों की सेवा में निवेदन है कि वर्ण शब्द अपने भिन्न रूपों में कोई २३ बार ऋग्वेद मे आया है । उनमें केवल निम्नलिखित स्थलों में उसके साथ कोई विशेषण पद आया है—

१ कृष्णं च वर्णमरुणं च सधु । ऋ १।७३।७ ॥ २ समान वर्णमभि शुम्भमाना । ऋ. १।६२।१

३ सुश्चन्द्र वर्णं दधिरे सुपेशसम् । ऋ. २।३४।१३ ॥ ४. प्रेम वर्णमतिच्छुक्रमासाम । ऋ. ३।३४।५

५ असुर्यं वर्णं निरिणीते अस्यतम । ऋ. ३।७१।२ ॥ ६ यस्य वर्णं मधुश्च्युतं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।

ऋ. ६।६८।५ ॥ ७ परिवर्णं भरमाणो रुशन्तम । ऋ. ३।६७।१५ ॥ ८, शुचिं ते वर्णमधि गोषु दीधरन् ।

ऋ १६।१०५।४ ॥ ६ स्पार्हं वर्णे । ऋ २।१।१२ ॥ १० उभौ वर्णौ । १।१७६।६ ॥ ११. रुशद्भि वर्णैरभि

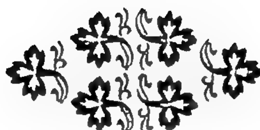
ऋ. १०।३।३ ॥ १२. दास वर्णमधरं गुहाक. । ऋ २।१२।४ ॥ १३. हत्वी दस्यून प्रार्यं वर्णमावत् ।
ऋ ३।३४।६ ॥

यदि 'वर्ण' शब्द के साथ विशेषण रूप मे पठा होने के कारण 'आर्य' और 'दास' दो वर्ण मानें, तो 'कृष्ण', 'अरुण', 'समान', 'सुश्चन्द्र', 'सुपेशः', 'शुक्र', 'असुर्य', 'मधुश्च्युत, 'हरि', 'रुशत्', 'शुचि' और स्पार्ह' भी वर्ण मानने पड़ेंगे ।

ऐसी दशा में वादी को दो वर्णों के स्थान में कम से कम १४ वर्ण मानने पड़ेंगे। चार वर्ण हटाकर दो वर्णों की घोषणा की थी किन्तु निकल पड़े चौदह दो के साथ बारह और जुड़गए।

यदि कहो कि इन सब स्थलों से वर्ण का अर्थ वर्णव्यवस्था वाला 'वर्ण' नहीं तो 'आर्य्य' और 'दास' के साथ पढ़े वर्ण शब्द का अर्थ वही है, यह कैसे माना जाए।

प्रश्न होता है यदि वर्ण चार हैं तो इसके लिए प्रमाण क्या है? इसके उत्तर में निवेदन है कि विराट् पुरुष=मानव-समाज को वेद चार भागों में बांटता है; चारों मिल कर एक देह बनाते हैं। उसका वर्णन ब्राह्मणोऽस्य--, मन्त्र में है। इस कारण हम कहते हैं कि मनुष्य जाति के गुणकर्म स्वभावानुसार चार बिभाग हैं। उन चार विभागों को स्मृतिकारों ने 'चार वर्ण, कहा है और उसका मूल यही मन्त्र है।



२६१

जहां दान नहीं मिलता वह घर नहीं है

ओ३म् । न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।

अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥ ऋ० १०।११७।४

(यः) जो (पित्वः+सचमानाय) अन्न को चाहने वाले (सचाभुवे+सख्ये) सहकारी मित्र को (न ददाति) नहीं देता है (स.) वह (सखा न) मित्र नहीं है । (अस्मात्) इससे (अप+प्रेयात्) बहुत दूर चला जाये, क्योंकि (तत) वह [मित्र का घर] (ओक) घर (न) नहीं (अस्ति) है । (अन्यम्) दूसरे (अरणम्) सरलता से आश्रय देने वाले, अथवा असबन्धी (पृणन्तम्+चित्) दाता को ही (इच्छेत्) चाहे ।

ऋग्वेद का १०।११७ सूक्त समूचा का समूचा दान प्रेरक है । सारे मन्त्रों के अर्थ लेखक के लिखे वेदामृत ग्रन्थ में देखिये

वेद कहता है कि भूखे अन्नाभिलाषी मित्र को जो अन्न नहीं देता, उसकी भूख मिटाने का साधन नहीं करता, वह मित्र नहीं है । मित्र के संबन्ध में हम कई बार यह वेदवचन उद्धृत कर चुके हैं—

सखा सखायमतरद् विषूचोः (ऋ० ७।१८।३)

मित्र मित्र को विषमावस्था से बचाता है ।

मित्र सामने भूख से तड़प रहा है । ऐसी विषम दशा में भी यह मित्र का उद्धार नहीं करता । वेद कहता है, ऐसा मनुष्य मित्र नहीं है ।

वेद ऐसे पत्थर दिल=पाषाणहृदय के सबन्ध में कहता है—

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे ।

स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतोचित्स मर्डितारं न विन्दते ॥ ऋ० १०।११७।२

जो दुर्दशाग्रस्त, दुःखित समीपप्राप्त अन्नाभिलाषी को अन्नवान् होता हुआ भी अन्न नहीं देता, और मन को कठोर कर लेता है प्रत्युत उसके सामने ही खाता है उसे कोई सुखदायी नहीं मिलता ।

कितना ही कोई धर्माभिमानी क्यों न हो, यदि उसमें दीन दुःखियों के दुःख दूर करने की रुचि प्रवृत्ति नहीं है, तो उसके दुःखशोक में भी उसे कोई सान्त्वना नहीं देता, कोई उसके साथ सहानुभूति या समवेदन का प्रकाश नहीं करता । यह ठीक है कि समीपस्थ दीन का दुःख दूर करने में विशेष वाहवाही नहीं होती, किन्तु वास्तविक दान तो वही है । जैसा कि ऋषि दयानन्द ने अपने उपदेश में कहा है—

"अन्न जल का दान कोई भी भूखा प्यासा मिले, उसे दे देना चाहिये । ऐसा दान पहले अपने दीन दुःखी पड़ोसी को देना चाहिये । पास के रहने वाले का दारिद्र्य दूर करने में सच्ची अनुकम्पा और उदारता को अवकाश मिलता है । इससे वाहवाह नहीं मिलती, इस लिये अभिमान को भी अवकाश नहीं

मिलता। समीपस्थ दुःखी को देख कर और पीड़ित का अवलोकन करके ही दया, अनुकम्पा और सहानुभूति आदि हार्दिक भाव प्रकट होते हैं। जो समीपवर्त्ती जन पर तो दया आदि भावों को नहीं दिखलाता किन्तु दूरस्थ मनुष्यों के लिये उनका प्रकाश करता है, उसे दयावान्, अनुकम्पाकर्त्ता और सहानभूतिप्रकाशक नहीं कह सकते। ऐसे मनुष्यों का दान बाहर का दिखावा और ऊपर का आडम्बर है। दान आदि वृत्तियों का विकाश दीपक की ज्योति की भांति समीप से दूर तक फैलना उचित है।"

वेद कहता है, ऐसे अदाता से दूर भाग जाना चाहिये, उसके घर को घर नहीं मानना चाहिये।

वेद कहता है—

पृणीयादिन्नाधमानाय (ऋ० १०।११७।५)

याचक को प्रसन्न ही करना चाहिये।

जो याचक को नहीं देता, वेद उसके अन्न को व्यर्थ बताता है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ऋ० १०।११७।६

वह मूर्ख व्यर्थ ही अन्न प्राप्त करता है। सच कहता हूं वह अन्न नहीं, वह तो उसकी मौत है। जो न तो धर्म्मात्मा का पालता है और न मित्र को—ऐसा अकेला खाने वाला केवल पाप को ही खाता है।

अतः असमर्थ, अशक्त को अन्नादि का दान अवश्य करना चाहिये



सब एक समान नहीं होते

ओ३म्। समौ चिद्धस्तौ न सम विविष्ट: सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्य्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीत ॥ ऋ० १०।११७।९

(हस्तौ) दोनों हाथ (समौ+चित्) एक समान होते हुए भी (समम्) एक समान (न) नहीं (विविष्टः) कर्म्म कर पाते। (सम्मातरा+चित्) एक माता वाली होती हुई भी दो बछड़िया (समम्) एकसमान (न) नहीं (दुहाते) दुहाती, दूध देतीं। (यमयो +चित्) दो जोडियों के (समा) एक समान (वीर्य्याणि) बल (न) नहीं होते। (ज्ञाती+सन्तौ+चित्) नातेदार होते हुए भी (समम्) एक समान (न) नहीं (पृणीत) दूसरा की तृप्ति करते, अथवा दान नहीं देते।

संसार में विषमता का राज्य दीखता है। दृष्टान्तों द्वारा वेद ने इस तत्व को बोध कराया है। शरीर में दाये बायें हाथ में एक सी शक्ति नहीं होती। एक गौ की दो बछड़िया एक समान दूध नहीं देतीं, साथ उत्पन्न हुए दो भाई एक से बलवान नहीं होते, इसी भांति दो सबन्धी एक समान दाना नहीं होते। सृष्टि में यह विषमता प्रत्यक्ष है। इस विषमता से उलटी शिक्षा मत लो—अमुक दान नहीं देता, तो हम क्यों दे। प्रत्युत जो तुम से हीनतर दशा में हैं, उनकी सहायता करो उनके दुःख दूर करने के लिये प्रयत्न करो।

इस विषमता का ऋग्वेद १०।७१।७ में बड़ा सुन्दर निरूपण है। यहां दान का प्रकरण है, वह ज्ञान का प्रकरण है—

अक्षण्वन्त: कर्णवन्त: सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवु।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे हृदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥

आंखों वाले, कानों वाले होते हुए सखा=एक साथ ज्ञान प्राप्त करने वाले मनुष्य मन के वेगों में एक समान नहीं होते। कोई मुख तक जल वाले तालाब के समान, कोई कक्ष=बगल तक आने वाले जलाशय के तुल्य और कोई डुबकी लगाकर नहाने योग्य जलाशयों के सदृश दिखते हैं।

गुरु शिष्यों को पढ़ा रहा है, आंख नाक सभी के एक समान दीख रहे हैं किन्तु, कोई पाठ को समझ पाता है और कोई नहीं। इसका कारण यह है कि सब के मन एक समान नहीं होते। इसी मन की भिन्न अवस्था के कारण कोई महाज्ञानी हो जाते हैं कोई मध्यम कोटि के विद्वान् और कोई साधारण ज्ञानवान और कोई कोई सर्वथा मूढ़ रह जाते हैं।

यह विषमता आकस्मिक नहीं है। जैसे विद्या के सम्बन्ध में मन की भिन्न अवस्थाएं सब को एक समान विद्वान् नहीं बनने देतीं, इसी प्रकार मन की यह भिन्न अवस्थाएं मनुष्यों को एक समान कर्म भी नहीं करने देतीं। कर्मभेद के कारण ही सारी विषमता है। जीवों की रुचियों के भेद के कारण प्रवृत्ति भेद इस विषमता का समाधान है।

अल्पज्ञता के कारण किसी समय हम से भी दुर्गतिदायक कर्म्म हो सकते हैं, उनके फलस्वरूप हम भी किसी दुर्गति के गम्भीर गर्त्त में गिर सकते हैं, और उस समय हम भी परमुखापेक्षी बन सकते हैं। इस दशा का विचार कर विचारशील मनुष्य अपने चित्त को करुणार्द्र बना कर दीन दुःखियों की सहायता में तत्पर हो जाता है।

२६३

चित्ति, उक्ति, कृति की एकता

(विचार, उच्चार, आचार की समानता)

ओ३म् । स गच्छध्व स वदध्व स वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे स जानाना उपासते ॥ ऋ० १०।१९१।२

(यथा) जैसे (पूर्वे) पूर्ववर्त्ती अथवा पूर्ण (देवाः) विद्वान् (स+जानानाः) भली प्रकार जानते हुए (भागम्) सेवन करने योग्य, मोक्ष, प्रभु की (उपासते) उपासना करते हैं, वैसे ही तुम सब (स+गच्छध्वम्) एक सा चलो, (स+वदध्वम्) एक सा बोलो । (वः+जानताम्) तुम ज्ञानियों के (मनांसि) मन (सम्) एक समान हों ।

ऋग्वेद १०।१९१।१ में भगवान् से प्रार्थना की गई है कि प्रभो । हमें धन दो । भगवान् ने तीन मन्त्रों में धन साधन का उपदेश किया है । उन तीनों में से यह पहला मन्त्र है भगवान् का आदेश है—

१ **सगच्छध्वम्**=तुम सब एक-सा चलो, अथवा एक साथ चलो । किसी कार्य्य की सिद्धि के लिये कार्य्य करने वालों की चाल, गति भिन्न भिन्न होगी, तो कार्य्य सिद्धि मे बडी बाधा आ खड़ी होगी । अत. सभी की गति, कृति, आचार एक-सा होना चाहिये ।

२. **सवदध्वम्**=तुम सब एक सा बोलो । चाल की समानता के लिये बोल की समानता अत्यन्त आवश्यक है । बोली=भाषा के भेद के कारण बहुधा विचित्र किन्तु निरर्थक झगडे हुए हैं । एकता स्थापित करने के लिये एक भाषा का होना अत्यन्त आवश्यक है । एक भाषभाषी एक गुट बना लेते हैं, प्राय. उनका दूसरा भाषा बोलने वालों से सम्पर्क न्यून ही रहता है, अत उनसे उचित सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता । अत. मनुष्यों की बोली, भाषा, उक्ति, उच्चार एक-सा होना चाहिये ।

स वो मनांसि जानताम्=तुम ज्ञानियों के मन एक समान हों । एक जैसा बोल तभी हो सकता है । जब मनो के भाव एक से हो । अर्थात् जब तक मनुष्यों का ज्ञान, विचार एक सा न हो, तब तक उच्चार और आचार की एकता असभव है । उच्चार और आचार का मूल विचार है । क्योंकि जो कुछ मन में होता है, वही वाणी पर आता है और जो वाणी से बोला जाता है, वही कर्म्म में परिणत होता है ।

पूर्ण विद्वान् सदा ही एक-सा व्यवहार करते हैं । अथर्व ६।६४।१ भी इसी प्रकार का मन्त्र है । उसके पूर्वार्द्ध म थोड़ासा भेद है । उसे यहा उद्धृत करते हैं—

स गच्छध्वं स पृचध्व स वो मनांसि जानताम्

एक सा चलो, एक साथ मिलो । तुम सब ज्ञानियों के मन एक समान हो ।

ऋग्वेद म '**सवदध्वम्**' है अथर्ववेद मे '**सपृचध्वम्**' है । इस एक शब्द के भेद ने बहुत ही चमत्कार किया है । ज्ञानी जन यह कर सकते हैं कि अपने ज्ञान द्वारा विचार में समानता उत्पन्न करके उच्चारों, आचारों में समानता ला दें । किन्तु अज्ञानी जनों के विचारों मे एकता नहीं हो सकती । अथर्ववेद के मन्त्र में उसी का साधन बताया है—

तुम सब इकट्ठे चलो, और एक दूसरे के साथ मिल जाओ, तब तुम्हारे ज्ञानियों के समान विचार भी एक से हो जायेगे । ऋग्वेद में साध्य पहले कहा है । अथर्ववेद में उन्हीं शब्दों द्वारा, केवल एक शब्द का भेद करके, साधन सिद्धि का उपाय बतला दिया है ।

एक मन्त्र एक सभा

ओ३म् । समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ऋ. १०।१९१।३

तुम्हारा (मन्त्रः) गुप्त विचार, अथवा मन्त्र=पूजा का मन्त्र (समान) एक हो (समितिः) समिति (समानी) एक हो । (एषाम) ऐसे तुम लोगों का (मनः सह चित्तम्) मन के साथ चित्त भी (समानम्) समान हो । मैं (वः) तुम को (समानम्) समान=एक (मन्त्रम्) वेदोपदेश (अभिमन्त्रये) देता हू । और (व.) तुम को (समानेन) एक जैसी (हविषा) भोग सामग्री (जुहोमि) देता हूँ ।

विचार, उच्चार और आचार की समानता के कुछ अन्य साधना का उपदेश करते हैं—

१. **समानो मन्त्रः**=पूजा का या गुरुमन्त्र एक सा होना चाहिये । भिन्न पूजा साधना से भेद और आग्रह की वृद्धि होती है । भेद और आग्रह कलह को बढाते हैं ।

२. **समितिः समानी**=विचार करने की मन्त्रणा की जगह भी एक होनी चाहिये ।

३. **समान मन. सह चित्तमेषाम्**=मन के साथ चित्त भी एक हो । केवल मनों की एकता से कार्य्यसिद्धि नहीं हुआ करती । वरन् जिसके आचार, उच्चार, विचार, मन्त्र, समिति सभी एक से हैं, यदि उनके मन के साथ उनके चित्त का=हृदय का सहयोग नहीं तो सफलता संदिग्ध रहती है । क्योंकि हृदय मे उत्साव और उत्साह न होने से कार्य्य का सपादन उचित रीति से नहीं हो पाता ।

ये सब क्यों समान हों, भगवान् इसका हेतु देते हैं—

समान मन्त्रमभिमन्त्रये वः ... जुहोमि=

तुम सबको मैंने एक मन्त्र से दीक्षा दी है और एक सी भोगसामग्री दी है ।

सृष्टि के आरम्भ मे भगवान् ने जीवों के कल्याण के लिये वेदज्ञान दिया है । वह सब के लिये समान है । तभी तो वेद को विश्वजन्या=विश्वजन की हितकारिणी वाणी कहा है । सूर्य चन्द्र भूमि, जल, अग्नि, वायु आदि सभी के लिये दिये हैं । जब सब को ज्ञान तथा ज्ञेय एक से दिये हैं, तो आचार विचार आदि मे भेद क्या हो ।

अथर्ववेद मे इसी जैसा मन्त्र ६।६४।२ है । उस के पूर्वार्द्ध मे 'मन' के स्थान मे 'व्रतम्' है । 'व्रत' का अर्थ उद्देश्य होता है । मन्त्र और समिति की समानता तभी हो सकती है, जब 'व्रत'=उद्देश्य=ध्येय=लक्ष्य की एकता हो । देखिये, एक शब्द के भेद ने अर्थ मे कितना चमत्कार कर दिया है । उत्तरार्ध इस प्रकार है ।

समानेन वो हविषा जुहोमि समान चेतो अभिसंविशध्वम् (६।६४।२)=

तुम सब को समान भोग, सामान देता हूँ अत तुम एक चेत=चित्त मे घुस जाओ, अथवा एक चित्तता का अनुभव करो ।

भगवान् के इस उपदेश का गंभीर भाव है । प्रतीयमान विषमता के अन्दर भी समता है । इस को समझ कर तुम सब एक-सा चिन्तन करो और अन्त में एकचित्तता धारण करो ।

२६५
संकल्प एक जैसे

ओ३म् । समानी व आकूतिः समाना हृदियानी वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ऋ १०।१६१।४

(व.) तुम्हारी (आकृति.) सकल्प शक्ति अथवा विवेचन शक्ति (समानी) समान हो। (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदय (समाना) समान हो। (वः) तुम्हारा (मनः) मन, मननसाधन (समानम्) समान (अस्तु) हो। (यथा) ताकि (वः) तुम्हारा (सह) बल, सहन सामर्थ्य (सु+असति) उत्तम रीति से चमके।

काम=सकल्प=आकृति एक न हो, तो फिर किस तरह एकता नहीं हो सकती।

इस सूक्त में आचार उच्चार, विचार की एकता का प्रचार है। उसके सभी वैज्ञानिक साधन-प्रकार बतला कर अन्त में इन सब के मूल का उपदेश किया है—

समानी व आकूति =तुम्हारा सकल्प एक हो।

क्योंकि

कामस्तदग्रे समवर्त्तत मनसो रेत प्रथम यदासीत्। ऋ १६।५२।१

मनन का=विचार का जो पहला बीज है, वह काम=सकल्प सब से पहले होता है।

सकल्प की एकता से हृदयों और मनो की एकता का प्राप्त करना सरल होता है। जब हृदयों और मनो की एकता हो जाती है तब शक्ति तो स्वत ही आ जाती है।

'सगच्छध्वम्', समानो मन्त्र' और 'समानी व आकृति.। इन तीन मन्त्रों पर विचार करने से निम्नलिखित तत्त्वों का ज्ञान होता है—

उत्तम शक्ति प्राप्ति के लिये १ एकता की आवश्यकता है। एकता के लिये २ एक चाल, एक आचार अनिवार्य्य है। आचार की एकता के लिये ३ बोली की एकता=समान-उच्चार का प्रचार करना चाहिये। बोली की अभिन्नता के लिये ४. विचार की अभिन्नता परम आवश्यक है। विचार की अभिन्नता के लिए ५ विचारणीय विषय=मन्त्र तथा ६ विचार स्थान एक होना चाहिये। इसके लिये ७ मन और चित्त के मर्मास्थल तथा व्रत की=उद्देश्य की एकता चाहिये। लक्ष्य की एकता भोगसामग्री के भेद से टूटती है, अत ८ भोग का सामान भी समान होना उचित है तथा ९ पूजा का प्रकार और धर्मग्रन्थ भी एक हो, और इन सब के साथ हो १०. सकल्प की एकता। फिर जो शक्ति आयेगी वह अटूट होगी।

इन मन्त्रो पर ध्यान दीजिये। मनुष्यमात्र की एकता का उपदेश कर रहे हैं। ऋग्वेद मे सूक्ष्म परमाणु से लेकर महान् ब्रह्म का ज्ञान देकर अन्त मे ज्ञान का फल एकता बतलाने के लिये इन मन्त्रों का उपदेश किया गया है।

२६६

यज्ञमय जीवन

ओ३म् । आयुर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा प्राणो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहाऽपानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा व्यानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहोदानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा समानो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा श्रोत्रᳬ यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा वाग्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा मनो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहाऽऽत्मा यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा स्वर्यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा पृष्ठ यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳬ स्वाहा ॥ य० २२।३३

(आयु) आयु=जीवन (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) सफल हो ऐसा मै (स्वाहा) सच्चे हृदय से कहता हूं । (प्राणः) प्राण (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) समर्थ हो, ऐसा मैं (स्वाहा) ठीक ठीक कहता हूं । (अपान) अपान (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) समर्थ हो, ऐसा मै (स्वाहा) हृदय से चाहता हू । (व्यान) व्यान (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम् समर्थ हो (स्वाहा) ऐसा मै ठीक ठीक कहता हू । (उदान) उदान (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) समर्थ हो (स्वाहा) ऐसा मै अपनी वाणी से कहता हू । (समानः) समान (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) समर्थ हो, (स्वाहा) ऐसा मैं ठीक ठीक कहता हू । (चक्षु) चक्षु=नेत्र (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) सफल हो, (स्वाहा) ऐसा मै अन्तस्तल से कहता हू । (श्रोत्रम्) कान (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) सफल हो, (स्वाहा) ऐसा मैं कहता हूँ (वाग्) वाणी (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) समर्थ हो, यह मै (स्वाहा) ठीक ठीक कहता हूँ । (मन) मन (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) समर्थ हो (स्वाहा) ऐसा मै ठीक ठीक कहता हूँ । (आत्मा) आत्मा (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) समर्थ हो, (स्वाहा) ऐसा मै ठीक ठीक कहता हू (ब्रह्मा) ब्रह्मा (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) समर्थ हो, (स्वाहा) ऐसा मै ठीक ठीक कहता हूं । (ज्योति) ज्योति=प्रकाश (यज्ञेन) यज्ञ (कल्पताम्) समर्थ हो, (स्वाहा) ऐसा मै उचित रीति से कहता हूं । (स्वः) आनन्द (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) समर्थ हो, (स्वाहा) ऐसी मेरी हार्दिक कामना है । (पृष्ठम्) पृष्ठ=पीठ, या परोक्ष (यज्ञेन) यज्ञ द्वारा (कल्पताम्) समर्थ हो (स्वाहा) ऐसा मेरा भाव है । (यज्ञ) यज्ञ (यज्ञेन) यज्ञ से (कल्पताम्) समसमर्थ हो, (स्वाहा) ऐसी मेरी कामना है ।

यज्ञ के सम्बन्ध मे पहले बताया जा चुका है । वैदिकधर्म्म यज्ञप्रधान धर्म्म है । इस मन्त्र मे यज्ञ को जीवन की प्रत्येक क्रिया में ओतप्रोत करने की कामना की गई है । और यज्ञ की सफलता, समर्थता भी यज्ञ से चाही गई है ।

सबसे पहले आयु को यज्ञ से सफल करने की कामना की गई है। अर्थात् सारा का सारा जीवन यज्ञमय हो। अनन्तर जीवन के साधनभूत पाचों प्राणों को यज्ञ से समर्थ करने की प्रार्थना की है। 'भीतर से बाहर आने वाले प्राणवायु को प्राण बाहर से भी भीतर आने वाले प्राणवायु को अपान' जो प्राणवायु नाभिस्थ होकर सर्व शरीर में रस पहुँचाता है—उसे समान, जिससे कण्ठस्थ अन्न पान खींचा जाता है और बल पराक्रम होता है वह प्राणवायु उदान, जिससे समस्त शरीर में जीव चेष्टा आदि कर्म करता है वह प्राणवायु व्यान है। यह पाच प्राण मिलकर प्राणमय कोश बनाते हैं। अर्थात् प्राणमय कोश भी यज्ञ मे, उचित सगतिकरण से=प्राणायाम से समर्थ हो। इसके बाद चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों की [जो ज्ञानेन्द्रिय मात्र से उपलक्षण हैं] यज्ञ से सफलता मागी है। तनिक इसके साथ सन्ध्या मे आने वाले **'ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः' और 'ओं चक्षुश्चक्षुः' 'ओं श्रोत्र श्रोत्रम्'** ऋषिवाक्यों को स्मरण कर लीजिये। आंख कान तभी पवित्र होंगे, जब ये यज्ञमय होंगे। अनन्तर वाणी की समर्थता बलवत्ता की अभिलाषा की गई है। शास्त्र मे वाणी को **'वाग् वा अग्निः'** कहा गया है। यदि अग्नि यज्ञादि क्रियाओं में निमन्त्रित रहे, तो महाकल्याण हो, अन्यथा सब कुछ भस्म हो जाता है। वाणी की यज्ञ=देवपूजा, हितोपदेश में सफलता है। मन का यज्ञ है ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को आत्मा के कार्य्य में नियुक्त रख कर स्वय भी आत्मा की कार्य्यसिद्धि करना। स्वार्थ से रहित होना, आयु-प्राण आदि परम गुरु परमेश्वर के अर्पण करना आत्मा का यज्ञ है। आत्मा का ज्ञान सपन्न होकर अपने ज्ञान का प्रसार करना ब्रह्म=ज्ञान की सफलता है। आध्यात्मिक मार्ग पर चलते चलते जो ज्योति प्राप्त होती है, उसमे आगे चलते जाना उस ज्योति की सफलता है। उस ज्योति मार्ग का, आक्रमण से उसका कदम रखने से. स्वः=आनन्द प्राप्त होता है। आनन्दप्राप्ति के साथ दूसरों को उस आनन्द का उपभोग करना ही 'स्व' की यज्ञद्वारा सफलता है। आनन्द के आधार की भी सफलता यज्ञ मे है।

तनिक ध्यान देने से पता लगता है कि परोपकार, प्राणायाम, इन्द्रियनिग्रह, दम, आत्मज्ञान, परमात्म-बोध आदि सभी पदार्थ यज्ञ हैं। यज्ञ मे 'स्वाहा' करके स्वार्थत्याग की घोषणा करनी होती है।



२६७

फ़सादियों को नीचा दिखा

ओ३म् । वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
अधमं गमया तमो यो अस्मा अभि दासति ॥ अ. १।२१।२

हे (इन्द्र) राजन् ! सेनापते ! (नः) हमारे (मृधः) मसलने वालों को (वि) विशेष रूप से (जहि) मार दे । (पृतन्यतः) फ़साद की कामना करने को (नीचा) नीचे (यच्छ) दबा दे । (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) दबाना चाहता है, बाधना चाहता है, नष्ट करना चाहता है, उसको (अधम) घोर (तमः) अन्धकार में (नय) ले जा ।

'रुचीनां वैचित्र्यात्' मनुष्य समाज में भले बुरे दोनों प्रकार के मनुष्य होते हैं । राष्ट्र का हित इसी में है कि स्थिर शान्ति रहे । अशान्ति और उपद्रव के कारण विद्या, शिल्प, व्यवसाय आदि देशोन्नतिकारक सभी शुभ उद्योगों का ह्रास होता है, वृद्धि नहीं होती । राष्ट्रहितैषी का कर्त्तव्य है कि वह प्राणपण से देश में शान्ति स्थापित रखे । राष्ट्रवासी जन राष्ट्रपति से कह रहे हैं —

वि न इन्द्र मृधो जहि=इन्द्र । राजन् ! हमारे मृधों=मसलने वालों को मार दे ।

राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजापीड़िकों को, चाहे वे उच्चपदस्थ ही क्यों न हों, मार दे । प्रजा राज्य का मूल है । जिस प्रकार किसी वृक्ष का मूल मसल देने से उस वृक्ष की बाढ़ रुक जाती है, और वह क्रमशः सूखकर भूमि पर आ गिरता है, इसी प्रकार यदि प्रजा का राजकर्मचारी, अथवा चोर डाकू वा अन्य आततायी दस्यु आदि मसलते रहें, पीड़ित करते रहें, और उसका उपाय या प्रतीकार न किया जाये, तो उसके सूख जाने से राज्य ही अन्त में सूखेगी । राज्य के साथ राजा या राष्ट्रपति भी समाप्त होगा । अतः राष्ट्रवासियों की यह माग कि **'वि न इन्द्र मृधो जहि'** सर्वथा उचित और मान्य है । अ. १।२१।३ में मानों इस माग का विस्तार है—**वि रक्षो विमृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज**=राक्षसों को, प्रजोत्पीडकों को मार दे और प्रजाशोषक के हनु तोड़ दे । अर्थात् प्रजाघाती दुष्टों को कठोर से कठोर दण्ड देना चाहिये । प्रजा की दूसरी माग है—**नीचा यच्छ पृतन्यतः** फ़सादियों को नीचा दिखा दबा दे ।

फ़साद, फ़ितना=उपद्रव के कारण प्रजा में विह्वलता तथा विकलता बढ़ी रहती है, इससे प्रजा कोई भी सत्कार्य्य नहीं कर सकती । जिन देशों में राष्ट्र प्रबन्ध की अव्यवस्था के कारण सदा पृतना=फ़ितना=फ़साद=उपद्रव झगड़े होते रहते हैं, वे देश जीवोपयोगी सामग्री के लिये सदा परमुखापेक्षी ही रहते हैं । राष्ट्रपति का यह एक प्रधान कर्त्तव्य है कि देश को अन्तरङ्ग शान्ति स्थिर रखे । ऋ. १०।१५२।२ में इन्द्र=राजा के सम्बन्ध में कहा गया है—

स्वस्तिदा विशस्पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी । वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः ॥

राजा स्वस्तिदा=कल्याणदाता, शान्तिप्रदाता, प्रजापालक, पापनाशक, प्रजोत्पीडकों का नियन्त्रणकारी, सुखवर्षक, ऐश्वर्य्यरक्षक, और अभयङ्कर=भयरहित करने वाला हमारा नेता हो ।

राजा का काम है कि प्रजा में स्वस्ति स्थापन करे और प्रजा के ऐश्वर्य्य की रक्षा द्वारा उनको निर्भय करे । अन्तरङ्गशान्ति के साथ बाह्य आक्रमणों से भी रक्षा करना राजा का धर्म है—

अधमं गमया तमो यो अस्मां अभिदासति=उन्हें घोर अन्धकार में पहुँचा, जो हमें बाधना चाहता है ।

राजा यदि परराज्यापहारी से प्रजा की रक्षा न करेगा, तो अपना राज्य खो बैठेगा ।

२६८

हिंसा निषेध

ओ३म् । प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम्

बृहद्भिर्भानुभिर्भासन्मा हिंꣳसीस्तन्वा प्रजाः ॥ य. १२।३२

हे (अग्ने) विद्वन् । ज्ञानिन् । (त्वम्) तू (बृहद्भि +भानुभिः) महान् ज्ञानप्रकाशों से (भासन) चमकता हुआ, और (शिवेभिः) कल्याणकारिणी (अर्चिभिः) किरणां से, ज्वालाओं से, पूजाओं से (ज्योतिष्मान्) ज्योतिर्मय होता हुआ (इत्) ही (प्रयाहि) उत्तम गति प्राप्त कर, और (प्रजाः) प्रजाओं को (तन्वा) शरीर से (मा) मत (हिंसी) मार।

ज्ञान का फल तो सब में समानता का ज्ञान है । किसी ने कहा भी है—

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति=

सब प्राणियों को जो अपने समान जानता है, वही ज्ञानी है ।

जब सब को अपने समान जाना और पहचाना, तब किसी को हत्या करने का साहस कैसे हो सकेगा ? क्या कोई वीर है जो दूसरों से उत्पीड़ित होना पसन्द करता है । कोई भी नहीं चाहता कि उसकी कोई हत्या करे, फिर दूसरों की हत्या के लिये कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? नीतिकार कहते हैं—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्=

अपने विपरीत बातें दूसरों के लिये न करे ।

वैदिक जन व्यर्थ की हिंसा कर ही नहीं सकता, क्योकि उसकी घोषणा है—**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे** । (य. ३६।१८)=

मित्र की दृष्टि से मैं सब प्राणियों को देखता हूँ ।

क्या कोई मित्र मित्र की हत्या कर सकता है ? केवल मैं अकेला ही नहीं, प्रत्युत हम सब

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे=मित्र की दृष्टि से देखें।

अर्थात् हम किसी का घात पात न करें। बुद्धि भ्रष्ट होने पर हिंसा की प्रवृत्ति होती है। जैसा कि वेद मे कहा है—

यत्र जायते यभिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती (अ ३।२८।१)=

जिस अवस्था मे बुद्धि विशेष बिगड़ जाती है, तब वह पशुओं को शस्त्राघात से मारती हुई तथा अन्य उपायों से हत्या करती हुई पशुओं को नष्ट करती है ।

कई लोग पशु जगत् मे हिंसा मार काट देखकर हिंसा को प्राकृतिक नियम बतलाते हैं। वे भूल जाते हैं कि वे मनुष्य हैं, पशु नहीं हैं । पशुओं का अनुकरण करने से मनुष्य मे पशुपन ही बढ़ेगा । पशुओं में सन्तान को खा जाने की प्रवृत्ति है । क्या मनुष्य यह करने का तय्यार है । अतः हिंसा को स्वाभाविक या प्राकृतिक नियम बताना निस्सार है ।

वेद मे **'पशून् पाहि'** [पशुओं की रक्षा कर] का विधान है, और **माहिंसीः** तथा **माहिंसीस्तन्वा प्रजाः** हिंसानिषेध स्पष्ट है । इन विधिनिषेधों के होते हिंसा को वेदानुमोदित बतलाना वेद के साथ अन्याय करना है ।

२६६

सुकर्म्मों से पवित्रता

ओ३म् । स मृज्यते कर्मभिर्देवो देवेभ्यः सुतः ।
विदे यदासु सन्ददिर्महीरपो वि गाहते । ऋ. ६।६६।७

(देवेभ्यः) देवों से, देवों के लिये (सुतः) निष्पादित किया हुआ (सः) वह (देव.) देव (कर्म्मभि.) कर्म्मों द्वारा (मृज्यते) पवित्र किया जाता है । (सन्ददिः) उत्तम दानी (यत्) जब (आसु) इनमें (विदे) प्राप्त करता है तब वह (महीः) महान (अपः) जलों में (वि-गाहते) अवगाहन करता है ।

बड़े कुल मे जन्मा है, माता पिता का लक्ष्य भी ऊंचा है, वे इसे देवों के अर्पण करना चाहते हैं । किन्तु किसी महनीय वंश मे उत्पन्न होने मात्र से तथा माता पिता की महनीय इच्छा मात्र से कोई महान् नहीं बन गया । प्रसिद्ध खान में से हीरा निकला है, सान पर चढ़ाये बिना उसकी शान नहीं बनती । किसी कवि ने कहा है—

अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति

जब तक हीरों को सान पर न कसा जाये, तब तक वे राजमुकट का अलंकार—चूड़ामणि नहीं बन सकते ।

इसी प्रकार महाकुलप्रसूति के साथ स्वकर्तृति भी चाहिये । इसी बात को वेद अपनी हृदयहारिणी शैली में कहता है—

स मृज्यते कर्म्मभिर्देवो देवेभ्यः सुतः=
देवों से देवों के लिये निष्पन्न वह देव—कर्म्मों द्वारा शुद्ध होता है ।
तभी तो वेद में यावज्जीवन कर्म्म करने का विधान है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे । य ४०।२

सारी आयु मनुष्य कर्म्म करता हुआ इस संसार में जीने की इच्छा करे, इस प्रकार के मनुष्य में कर्म्म बन्धन का कारण नहीं होता । इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है ।

इस तरह निरन्तर कर्म्म करने से आत्मा की शुद्धि होती है । शुद्ध होने पर आत्मा का तेज बहुत बढ़ जाता है । जैसा कि योगदर्शन में वर्णित है—

योगांगानामनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः । यो० द० २।२८

योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि नाश होने पर तब तक ज्ञान प्रकाश बढ़ता जाता है, जब तक प्रकृति पुरुष का पूर्णतया भेद ज्ञान नहीं होता ।

जब मनुष्य इस प्रकार अपने-आत्मा की शुद्धि कर लेता है, तब वह

महीरपो वि गाहते=बड़े बड़े जलों में घुसता है ।

जल का अभिप्राय यहां सूक्ष्म क्रियायें हैं । अर्थात गंभीर कार्यों का सामर्थ्य आत्मशुद्धि के बिना अशक्य है ।

सात मर्य्यादायें

ओ३म् । सप्त मर्य्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ ऋ. १०।५।६

(कवय.) ज्ञानी महात्माओं ने (सप्त) सात (मर्यादा.) मर्यादायें (ततक्षुः) बनाई हैं । यदि (तासाम्) उनमें से (एकाम्+इत्) एक को भी, मनुष्य (अभि+अगात्) लंघन करता है, तो वह (अंहुरः) पापी होता है । किन्तु वह मनुष्य (ह) सचमुच (आयोः) प्रगति का, उन्नति का, अभ्युदय का, ज्ञान का (स्कम्भः) स्तंभ है, जो (धरुणेषु) विपत्ति के अवसरों पर, धैर्य्य की परीक्षा के समयों पर और (पथां+विसर्गे) मार्गों के चक्कर पर भी (उपमस्य) उपमा देने योग्य भगवान् के (नीळे) आश्रय मे (तस्थौ) स्थिर रहता है । निम्न लिखित सात मर्य्यादायें हैं—

(१) अहिंसा=मन वचन और कर्म्म से किसी को पीड़ा न पहुंचाना । (२) सत्य=यथार्थ का ज्ञान प्राप्त करके तदनुसार आचरण करना । (३) अस्तेय=पराये पदार्थ को स्वामी की आज्ञा के बिना कभी न लेना । (४) ब्रह्मचर्य्य=व्यभिचारत्याग, वेदाध्ययन पूर्वक वीर्य्यरक्षा । (५) शौच=शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शुद्धि रखना=व्यवपारशुद्धि । (६) स्वाध्याय=आत्मचिन्तन, आत्मानात्मनविवेचन । (७) ईश्वरप्रणिधान= सब कर्म्म प्रभु के अर्पण कर देना ।

इनमें से किसी का भी उल्लघन करने वाला पापी हो जाता है । इन मर्य्यादाओ पर ध्यान दीजिये । सभी का किसी न किसी इन्द्रिय से सम्बन्ध है । यथा अहिंसा शरीर, वाणी, मन तीनो से सबद्ध है । सत्य का वाणी से सम्बन्ध है । अस्तेय का शरीर से सम्बन्ध है । ब्रह्मचर्य्य का जननेन्द्रिय से सम्बन्ध है । शौच का सभी इन्द्रियों से सम्बन्ध है । स्वाध्याय का मन और वाणी से सम्बन्ध है । ईश्वरप्रणिधान का मन से सम्बन्ध है । इसका भाव यह हुआ कि इन मर्यादाओं की रक्षा के लिये इन्द्रिय-निग्रह नितान्त प्रयोजनीय है । अतएव मनु जी ने कहा है—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् । तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥मनु. २।९९

सभी इन्द्रियों में यदि कोई भी स्खलित होता है, तो मनुष्य का नाश होता है, जैसे चमड़े के पात्र से जल बह जाता है । अतः

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा । सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥ मनु. २।१००

इन्द्रियसमुदाय तथा मन को वश में करके, और योग द्वारा शरीर को पीड़ा न देता हुआ सब कार्यों को सिद्ध करे ।

सचमुच वह वीर है जो कठिन परीक्षा के समय, मर्यादाभंग का प्रलोभन प्राप्त होने पर भगवान् का स्मरण कर दृढ रहता है, वह वीर है । मनु ने भी ऐसे ही वीर को जितेन्द्रिय कहा है—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ २।९८

जो मनुष्य सुन कर, छू कर, देख कर, खाकर, सूंघ कर हर्ष शोक को प्राप्त नहीं होता, उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिये । जिन पर इन्द्रियां अपना प्रभाव नहीं डाल सकतीं, सचमुच वह वीर है ।

२७१

मुक्ति के अधिकारी

ओ३म् । नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥ ऋ. १०।६३।४

जो (ज्योतीरथाः) ज्ञानरूपी ज्योतिर्मय रथ पर आरूढ, (अहिमायाः) अहीनशक्ति, कर्म्मकुशल विद्वान् महाबुद्धिमान, अतएव (अनागसः) निर्दोष, पापरहित मनुष्य (स्वस्तये=सु-अस्तये) जगत् की उत्तम स्थिति के लिये, संसार के कल्याण के लिये (दिव.) प्रकाशमय प्रभु के (वर्ष्माण) सुखवर्षक धाम मे (वसते) रहते हैं, अथवा अपने आप को प्रभु की कृपा से आच्छादित कर लेते हैं, वे (नृचक्षस) जगद्गुरु मनुष्यमात्र के शिक्षक (अनिमिषन्तः) निर्निमेष होते हुए, आलस्य प्रमाद आदि से रहित होकर, धारणाध्यान समाधि का अनुष्ठान करने वाले, परम उत्साही (अर्हणा) योग्य (देवासः) सर्वस्वत्यागी, निष्काम विद्वान् (बृहत्) महान् (अमृतत्वम्) मोक्ष को (आनशु) प्राप्त करते हैं ।

जन्म-मरण के क्लेश से छूट कर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का नाम मुक्ति है । वेद मे अनेक स्थानों पर इसे अमृत नाम दिया गया है । शास्त्रों में इसे परम पुरुषार्थ, अत्यन्त पुरुषार्थ, कैवल्य, अपवर्ग, मोक्ष आदि नाम दिये गये हैं । संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं, जो यह चाहता हो कि मैं दु:ख से न छूटूं । किन्तु कोई विरला ही दु:ख से छूट पाता है । इस मन्त्र मे दु:ख से छूट कर ब्रह्मानन्द पाने वालों के कुछ लक्षण बताये गये हैं ।

१. **नृचक्षसः**=जगद्गुरु, तथा मनुष्य को देखने वाले, जिन्हें मनुष्यत्व की परख हो । पशुपक्षियों से मनुष्य का भेद जान कर, भोगभाव से ऊपर उठ कर, आत्म-परमात्म-चिन्तन मे स्वयं रत होकर दूसरों को वैसी प्रेरणा करने वाले ।

२. **अनिमिषन्तः**=आलस्य-प्रमादादि-रहित । मुक्तिसाधनों के अनुष्ठान मे जो क्षण भर भी प्रमाद न करें, वरन् **'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्म्ममाचरेत्**—धर्माचरण करते ऐसा सोचें कि मानो मृत्यु ने केश पकड़ रखे हैं, जाने कब झटका दे दे ।

३. **अर्हणा**=श्रेय प्रज्ञ तथा भगवत्पूजा परायण ।

४. **देवास.**=निष्काम तत्त्वज्ञानी ।

५. **ज्योतीरथा**=ज्ञानरथारूढ । आत्मा, परमात्मा तथा संसार के भेद का रहस्य जिन्होंने भली भांति जान लिया है ।

६. **अहिमायाः**=अहीनशक्ति, ज्ञानानुसार कार्य्य करने मे कुशल ।

७. **अनागस.**=निर्दोष, पापरहित । यथार्थ ज्ञान के कारण जिन्होंने विकर्मों को सदा त्याग कर दिया है ।

८. **दिवो वर्ष्माणं वसतं स्वस्तये**=जो ज्ञान बल को धारण करते हैं, प्रभु के सुखवर्षक तेज को धारण करते हैं । उस ज्ञान व तेज का प्रयोजन संसारदशासुधार होता है ।

सार यह है कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके, उस ज्ञान के अनुसार सत्कर्म करने वाले निर्दोष निष्पापरूप महात्मा मोक्ष पाते हैं ।

२७२

तेरे विना मुक्त आनन्द नहीं पाते

ओ३म् । महा अध्वरस्य प्रकेतो न ऋते त्वदमृता मादयन्ते ।
आ विश्वेभिः सरथं याहि देवैर्न्यग्ने होता प्रथमः सदेह ॥ ऋ० ७।११।१

हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन् । तू (अध्वरस्य) मार्ग प्रदर्शन का (महान्) बड़ा (प्रकेतः) उत्तम बोधक है, अथवा अध्वरस्य—अहिंसामय, हिंसरहित मंगल कार्यों का महान् ज्ञानदाता है। (अमृताः) मुक्त आत्मा (त्वत्+ऋते) तेरे विना (न मादयन्ते) आनन्द नहीं पाते। हे प्रभो ! तू (विश्वेभिः) संपूर्ण (देवैः) दिव्य गुणों के साथ (सरथम्) रमण-साधन के समेत (आ+याहि) सर्वत्र प्राप्त हो। हे भगवान् ! तू ही (इह) इस संसार में (प्रथमः) सब से पहला (होता) होता होकर (नि+सद) नितरां रहता है।

मोक्ष की अभिलाषा मनुष्यों को इस कारण होती है कि उस दशा में दुःख से सदा छुटकारा होकर आनन्द मिलता है। आनन्द प्राप्ति के लिये ही समस्त प्राणियों की चेष्टा है। इसका ठीक ठीक उपदेश कोई मनुष्य नहीं कर सकता। इसका यथार्थ ज्ञान भगवान् ही करा सकते हैं। वेद ने कहा है—कि भगवान्

महान् अध्वरस्य प्रकेतः=मार्ग प्रदर्शन का वही महान् उत्तम बोधक है।

अतः उससे प्रार्थना की है—

आ विश्वेभिः सरथं याहि देवैः=रमणसाधन समेत सभी दिव्य गुणों के साथ तू हमें प्राप्त हो।

क्योंकि

यस्य देवैरासदो बर्हिरग्नेऽहान्यस्मै सुदिना भवन्ति ॥ ऋ ७।११।२=

जिसके हृदय में दिव्यगुणों के साथ भगवान् आ विराजते हैं, उसके दिन सुदिन हो जाते हैं।

भगवान् का संग प्राप्त होते ही दुःखदारिद्र्य, असामर्थ्य आदि सभी नष्ट हो जाते हैं, और सुख, समृद्धि, ऐश्वर्य शक्ति की प्राप्ति होती है। उसकी कृपा के विना ये सब नहीं मिलते—

न ऋते त्वदमृता मादयन्ते=तेरे विना मुक्त आनन्द नहीं पाते।

और किसी में आनन्द है ही नहीं, पायें कैसे। भगवान् आनन्दधाम है, अतः

त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते (ऋ. १।५४।१)=उसी में सभी मुक्त आनन्द पाते हैं।

प्रतिदिन की प्रार्थना में भी आता है—

यत्र देवा अमृतमानशानाः (य. ३२।१०)=

जिस भगवान् में रह कर सभी जीवन्मुक्त अमृत=मोक्षानन्द का उपभोग करते हैं।

जब भगवान् से ही मोक्षानन्द मिलता है, तब तो ऋषियों का कहना युक्तियुक्त है कि

तमेवैकं जानथात्मानमन्यावाचो विमुञ्चथ । अमृतस्यैष सेतुः (मुण्ड० २।२५)

उसी एक व्यापक परमात्मा को जानो पहचानो, दूसरी बातें छोड़ो, वही अमृत का सेतु=दाता है।

२७३

मुक्ति से पुनरावृत्ति

ओ३म् । ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश ।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥
ओ३म् । य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम् ।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥
ओ३म् । य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि ।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥
ओ३म् । अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन ।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥

ऋ० १०।६२।१४

(ये) जिन महात्माओं ने (यज्ञेन) यज्ञ, देवपूजा=परमेश्वरपूजा, संगतिकरण=विद्वत्सत्संग, दान=प्रत्येक पदार्थ में स्वास्वत्वत्यागपूर्वक अन्यसत्वापादन में (दक्षिणया) दक्षिणा=दान-पुण्य से, कर्मों में कुशलता के द्वारा—[कर्म के तीन प्रकार सम्भव हैं—कर्म, अकर्म, विकर्म । यजु० ४०।१-२ से विकर्म=उलटे उलटे कर्मों, तथा अकर्म=न करने योग्य कर्मों का निषेध है, शेष रहे कर्म, वे निष्काम कर्म ही हो सकते हैं, अतः कर्मों में कुशलता का तात्पर्य है—निष्काम कर्मों में तत्परता] (इन्द्रस्य) अखण्डैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा के (अमृतत्व सख्य) मोक्षरूप समान गुण को (आनश) प्राप्त किया है । हे ऐसे (सुमेधसः) उत्तम धारणावती बुद्धि से युक्त (अङ्गिरसः) ज्ञानियो ! (मानव) मनुष्य सम्बन्धी शरीर को (प्रतिगृभ्णीत) लौट कर पुनः ग्रहण करो । (तेभ्यः वः) ऐसे तुम लोगों का (भद्रं अस्तु) कल्याण हो ॥ (ये पितरः) जिन वेदज्ञ=वेदवेत्ता विद्वानों ने (गोमयं) वाणीमय (वसु) धन (उद् आजन्) उत्तम रीति से प्राप्त किया है, तथा (गोमयं) पार्थिव (वसु) धन (उद् आजन्) फेंक दिया है, त्याग दिया है, देते हैं, और (ऋतेन) सृष्टि नियम के ज्ञान के द्वारा (परिवत्सरे) सर्वथा निवास करने योग्य मानव देह में (वलं) आच्छादक अज्ञानान्धकार को (अभिन्दन्) तोड़ दिया है दूर कर दिया है, हे ऐसे (सुमेधसः) उत्तम मति वाले (अङ्गिरसः) प्राणशक्तिसम्पन्न महात्माओ ! (मानवं) मनुष्य देह को (प्रतिगृभ्णीत) फिर से ग्रहण करो । (वः) तुम्हारी (दीर्घायुत्वं) लम्बी आयु (अस्तु) हो ॥ (ये) जिन्होंने (ऋतेन) ज्ञानपूर्वक नियमाचरण से (सूर्यं) चराचर के आत्मा प्रभु को (दिवि) दिव्यगुणयुक्त मन में=हृदयाकाश में=ब्रह्मरन्ध्र में (अरोहयन्) प्राप्त किया है वा धारण किया है, और (मातरं) मान प्राप्त कराने वाली (पृथिवीं) देववाणी का (वि अप्रथयन्) विशेष विस्तार किया है अथवा जिन्होंने अपने तप से पृथ्वी माता का, शास्त्र-स्थापनादि पुण्य कर्मों द्वारा, विशेष प्रसिद्धि की है, हे ऐसे (सुमेधसः) पापकृन्तनाशक (अङ्गिरसः) ज्ञानानन्दयुक्त महापुरुषो ! तुम (मानवं प्रतिगृभ्णीत) मनुष्य जन्म को पुनः ग्रहण करो । (वः) तुम्हारा (सुप्रजास्त्वं) उत्तम सन्तानें, श्रेष्ठ शिष्य-श्रेणी (अस्तु) हो ॥ (नाभा) सब समाज का बन्धु (अयं) ज्ञानवान (वः) तुम्हारे (गृहे)

अन्तःकरण में (वल्गु) मनोहर=मधुर (वदति) उपदेश करता है। हे (देवपुत्रा. ऋषयः) परमात्मा के पुत्रो ऋषियो ! (तत्) परमात्मा के उस उपदेश को (शृणोतन) सुनो। हे (सुमेधसः) उत्तम-मेधाशक्तिसपन्न श्रेष्ठयाज्ञिको। (अंगिरसः) ब्रह्मानन्दप्राप्त महाशयो। (मानव प्रतिगृभ्णीत) पुन. मनुष्य शरीर ग्रहण करो। (व.) तुम्हें (सुब्रह्मण्य) उत्तम वेदज्ञान (अस्तु) प्राप्त हो ॥

चारों मन्त्रों में प्रत्येक के अन्त में 'प्रति गृभ्णीत मानव सुमेधस.' वाक्य आता है। इसमें 'प्रति' का अर्थ 'लौटकर' या 'पुन.' किया गया है। लोक मे भी यही अर्थ है, जैसे 'प्रत्यागच्छ'=लौट कर आ, या फिर आ। 'गृभ्णीत' तो है ही लोट् लकार का रूप, जिसका अर्थ विधि=आज्ञा तथा आशीर्वाद होता है। इस प्रकार 'प्रति गृभ्णीत मानव सुमेधस.' का अर्थ विना किसी खींच तान के 'लौट कर मनुष्य शरीर ग्रहण करो' सर्वथा सगत है।

इन मन्त्रों मे प्रयुक्त 'अंगिरस' पद का अर्थ हमने १ ज्ञानी २. प्राणशक्ति सपन्न ३. ज्ञानानन्द युक्त तथा ४ ब्रह्मानन्दप्राप्त किया है। इसमे प्रमाण—१. 'तस्मादङ्गिरसोऽधीयान' (गो० ब्रा०) अर्थात्=अङ्गिरस अधीयान=ज्ञानी का नाम है। २. 'याऽङ्गिरस —स रस.' (गो० ब्रा०) जो अंगिरस है, वह रस=आनन्द है। तथा ३. 'प्राणो वा अङ्गिरा' (शत०) प्राण का नाम अङ्गिराः=अङ्गिरस् है। 'सुमेधसः' और 'अङ्गिरस.' शब्द बहुत विचारणीय हैं। ये अत्यन्त रहस्यमय शब्द हैं। यह मुक्ति प्राप्ति से पूर्व तथा मुक्ति से लौटने के पश्चात् की अवस्था द्योतित करते हैं।

प्रथम मन्त्र में दक्षिणा=कर्म को मुक्ति का साधन बतलाया है। ऋग्वेद १।१२५।६ मे भी इसी भाव को कहा है, और बहुत स्पष्ट कहा है। **'दक्षिणावन्तो अमृत भजन्ते दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त आयुः'** दक्षिणा वाले=सुकर्मा लोग मोक्ष पाते हैं, और दक्षिणा वाले=उत्साही कर्मी आयु को दीर्घ करते हैं—अर्थात् मौत को परे फैंकते हैं। यजुर्वेद के **'विद्या चा विद्या च'** मन्त्र में भी यही बात कही गई है।

'सूर्य' शब्द का अर्थ हमने 'चराचर का आत्मा' किया है। इसके लिए सध्या मे आए उपस्थान मन्त्र मे **'सूर्य आत्माजगतस्तस्थुषश्च**—जगत.=जगम=चर (च) और तस्थुष.=स्थावर=अचर का आत्मा सूर्य कहाता है—यह वाक्य प्रमाण है। पृथिवी का अर्थ हमने वाणी किया है। जैमिनि ब्राह्मण में 'वागिति पृथिवी' उसका प्रमाण है। चौथे मन्त्र में मुक्ति से लौटने वालों को 'देवपुत्र'=परमात्मा के पुत्र कहा गया है। इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

नाभा शब्द 'णह बन्धने' से बनता है। 'सुमेधस' तथा 'अंगिरस' शब्दों का भाव जब समझ लिया जाए तो १. भद्र, २ दीर्घायुत्व ३ सुप्रजास्त्व, तथा ४. सुब्रह्मण्य का रहस्य समझने मे कठिनता नहीं होता। मन्त्रों मे ये शब्द इस क्रम से प्रयुक्त हुए हैं, और इसमें विशेषता है। पहिले भद्रता=कल्याण गुण, सपत्ति सर्जन की जाती है, तब दीर्घ आयु, उत्तम प्रजा=पुत्र शिष्यादि की प्राप्ति होती है। इन सब का लक्ष्य सुब्रह्मण्य=उत्तम वेद ज्ञान और उसके द्वारा मुक्ति प्राप्ति है। यदि 'दीर्घायुत्व' का अर्थ विपुल आय कर लें—आयु तथा आय का मूल धातु एक ही है—तो उपर्युक्त चारों शब्दों की अर्थ सगति होती है—१. भद्र=धर्म २. दीर्घायुत्व=विपुल=आय=अर्थ. ३ सुप्रजास्त्व=काम तथा ४ सुब्रह्मण्य=मोक्ष अर्थात् मुक्ति से लौट कर फिर उसकी प्राप्ति के लिए यत्नवान् होना चाहिए।

गृह शब्द का अर्थ हमने अन्त करण किया है 'गृह्णन्ति जानन्ति येन तत् गृहम्' जिसके द्वारा ग्रहण किया जाए, जाना जाए। अन्त करण को सभी ज्ञानसाधन मानते ही हैं।

२७४

झण्डा ऊँचा रखो

ओ३म् । आदित्या रुद्रा वसव सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम् ।
सजोषसो यज्ञमवन्तु देवा ऊर्ध्वं कृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम् ॥ ऋ० ३।८।८

(सुनीथाः) उत्तम नीति वाले (आदित्या:) आदित्य, (रुद्राः) रुद्र, (पृथिवी) विशाल (द्यावाक्षाम) द्यौ और पृथिवी, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (देवाः) और परोपकारी विद्वान् (सजोषसः) तुल्य प्री[ति] वाले होकर (यज्ञम्) यज्ञ की (अवन्तु) रक्षा करें और (अध्वरस्य) यज्ञ के (केतुम्) झण्डे को (ऊर्ध्वम्) ऊँचा (कृण्वन्तु) करें, रखें ।

झण्डा जातियों के चिरकाल में सचित उदात्त धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय भावों का द्योतक है । जीवित जातियां अपने झण्डे की रक्षा के लिये जानें तक लड़ा देती हैं । आर्य्य जाति में झण्डे से इतना [प्रेम] था कि प्रत्येक गृहस्थ अपने घर पर झण्डा लहराता था । गृहप्रवेश संस्कार का आरंभ ही मुख्य द्वार के अ[गे] ध्वजारोपण से होता है । ऋषिवर दयानन्द पारस्कर के प्रमाण से लिखते हैं—

"ओम् अच्युताय भौमाय स्वाहा । पार० ३।४।३

इससे एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ, जिसमें ध्वजा लगाई हो, खड़ा करे और घर के ऊपर च[ारों] कोणों पर चार ध्वजा खड़ी करे ।" (संस्कारविधि, शालादिसंस्कारविधि)

उद्धृत पारस्कर वचन में 'अच्युत' शब्द ध्यान देने योग्य है । अच्युत=जो च्युत न किया जा[ये] गिराया न जाये । अर्थात् चाहे यह झण्डा भूमि में गाड़ा जा रहा है, किन्तु इस बात में सदा सावधानता रखना [कि] झंडा गिरने न पावे । वेद ने तो कहा—

ऊर्ध्वं कृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम्=यज्ञ का झंडा ऊंचा रखो ।

आर्य्यों के सभी कार्य्य यज्ञ से आरम्भ होते हैं । अतः आर्य्यों का झण्डा यज्ञ का झण्डा है । [इसे] ऊंचा ही रखना चाहिये, नीचे नहीं गिरने देना चाहिये । जाति की ध्वजा की रक्षा किसी एक का कार्य्य न[हीं] वरन् सब का है ।

इसी भाव से कहा—

सजोषसो यज्ञमवन्तु देवा.=परोपकारी विद्वान् तुल्य प्रीति वाले होकर यज्ञ की रक्षा करें ।

झण्डे की रक्षा, झण्डे को ऊंचा बनाये रखना एक यज्ञ है, ऐसा यज्ञ जिस पर समस्त जाति की आ[न] बान और शान अवलम्बित है । अतः सभी देव प्रीति पूर्वक इसकी रक्षा करें ।

राष्ट्ररक्षक केवल यही देव नहीं हैं । देव का अर्थ है जीतने की इच्छा वाला । आर्य्य=देव भाव स[े] विजीगीषा के रहे हैं । झण्डे की रक्षा में सभी को सम्मिलित होना चाहिये—

आदित्या रुद्रावसव सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम्

आदित्य=नेता, रुद्र=सैनिक, वसु=धनिक, ये पृथिवी और अन्तरिक्ष उत्तम नीति से रक्षा करें ।
ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा राष्ट्र की समस्त शक्ति राष्ट्र के झण्डे का, मान ऊंचा रखें ।

२७५

पारिवारिक व्यवहार

ओ३म् । सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
ओ३म् । अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥
ओ३म् । मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया । अ० ३।३०।१-३

(वः) तुम्हारे लिये (सहृदयम्) सहृदयता, एकचित्तता (सामनस्यम्) एकमनस्कता मन के उत्तम भाव तथा (अविद्वेषम्) निर्वैरता को (कृणोमि) विहित करता हूं । (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे को ऐसा (अभि हर्यत) चाहो, प्रेम करो (इव) जैसे (जातम्) उत्पन्न (वत्सम्) बछड़े को (अघ्न्या) गौ प्यार करती है ॥ (पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता के (अनुव्रतः) अनुव्रत वाला, समान उद्देश्य वाला (भवतु) होवे, और (मात्रा) मा के साथ (समनाः) एक मनवाला होवे । (जाया) पत्नी (पत्ये) पति के प्रति (मधुमतीम्) मिठास भरी (शान्तिवाम्) शान्ति देने वाली (वाचम्) वाणी का (वदतु) बोले ॥ (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई को और (स्वसारम्) बहिन को (मा) मत (द्विक्षत्) द्वेष करे, (उत) और (स्वसा) बहिन, भाई और बहिन को (मा) मत द्वेष करे । (सम्यञ्चः) एक चाल वाले, (सव्रताः) एक व्रतवाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) भलीरीति से (वाचम्) वाणी को (वदत) तुम बोलो ।

राष्ट्र या परिवार की सुखसविधान की समृद्धि तभी हो सकती है, जब परस्पर प्रीति हो, किसी को किसी से वैर विरोध न हो । इसके लिये सभी की हार्दिक तथा मानसिक दशा में समता होनी चाहिये । अर्थात् सभी के दिल एक हों, दिमाग एक हों और साथ ही दिलों और दिमागों में भी एकता हो । जैसे गौ अपने बछड़े पर प्रेम करती है, वैसा पारस्परिक प्रेम हो ।

वेद की उपमाओं में एक निरालापन है, एक अनुपम शान है । प्रेम के लिये गौ को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया है । माता पिता का सन्तान पर अत्यन्त गहरा स्नेह होता है किन्तु उसमें स्वार्थ की गन्ध होती है, माता पिता बालक को लाड़ चाव से पालते हैं, उनके हृदय में यह भाव होता है कि बुढ़ौती में यह हमारी सेवा करेगा । स्वार्थ का प्रेम स्थायी नहीं रह सकता । स्वार्थ सिद्ध होने के पीछे वह नहीं रह सकता । प्रेम वही स्थिर रहता है जो स्वार्थशून्य हो । इसीलिये वेद ने गौ और बछड़े के प्रेम का दृष्टान्त दिया है । गौ को बछड़े से किसी प्रकार से स्वार्थ की आशा या सम्भावना नहीं है । जिस परिवार या राष्ट्र में ऐसा अद्भुत स्वार्थरहित प्रेम होगा, उसमें सदा ही सुमति तथा सुगति रहेगी ।

वेद का अन्तिम उद्देश्य समस्त संसार को एक सूत्र में पिरोना है । सब को प्रेम से अपनाना है । उस विशालता को प्राप्त करने के लिये परिवार तथा राष्ट्र दो सोपान हैं । इस प्रेम का अभ्यास सब से पहले परिवार में होना चाहिये । परिवार में माता, पिता, पुत्र भाई, बहिन, पत्नी आदि होते हैं । इन सब में परस्पर प्रीति स्थिर रखने का उपाय है कि सब का व्रत = उद्देश्य एक हो । पुत्र अपना कर्त्तव्य समझे कि उसे माता पिता के व्रत = शुभ उद्देश्य पूरा करने हैं । भाई भाई में, बहिन बहिन में भाई बहिन में, पति पत्नी में परस्पर प्रीति से घर का सामञ्जस्य बना रह सकता है ।

पारिवारिक समता का साधन

ओ३म्। येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।

तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे सज्ञान पुरुषेभ्य ॥ अ. ३।३०।४

(येन) जिस से (देवा.) देव, विद्वान्, व्यवहारकुशल जन (न) नहीं (वि+यन्ति) वियुक्त होते (च) और (नो) ना ही (मिथः) परस्पर (विद्विषते) अप्रीति करते हैं, वैर करते हैं, (तत्) उस (सज्ञानम्) समानता का बोध कराने वाले (ब्रह्म) ज्ञान को (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में, हृदय में (पुरुषेभ्यः) तुम मनुष्यों के लिये (कृण्मः) सम करते हैं।

कहावत है 'सौ सियाने एक मत'। इस कहावत में जो तत्त्व है, वह वेद ने सर्गारम्भ में सुझा दिया—

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः=

जिसके कारण विद्वान् परस्पर वियुक्त नहीं होते [प्रत्युत मिले रहते हैं] और परस्पर द्वेष नहीं करते [प्रत्युत प्रीति करते हैं]।

ज्ञान का फल ही ऐसा होना चाहिये। जिस ज्ञान से फूट उत्पन्न हो, विद्वेष बढ़े, वह ज्ञान नहीं ज्ञानाभास है, उलटा ज्ञान है, मिथ्या ज्ञान है।

प्रीति का प्रमाण मधुर भाषण है। अतः अ० ३।३०।३ में आदेश है—वाच वदत भद्रया=भली रीति से वाणी बोलो। अ० ५।७।४ में कहा है—

वाच जुष्टा मधुमतीमवादिष देवाना देवहूतिषु=देवों की पुकारों पर मैं प्रीतियुक्त मीठी वाणी बोलता हूँ।

'सज्ञान ब्रह्म' एकता का बोध कराने वाला ज्ञान सचमुच मनुष्य को उत्कर्ष के उच्च शिखर पर ले जाता है। इसके विपरीत वैर विरोध से मृत्यु प्राप्त होती है। जैसा कि अ० ६।३२।३ में कहा है—

मा ज्ञातार मा प्रतिष्ठा विदन्त। मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्।

परस्पर घात पात करने वाले न किसी परिचित को प्राप्त होते हैं और न प्रतिष्ठा को वरन् मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

प्रतिष्ठा तो तब मिले, जब एक दूसरे की प्रतिष्ठा करते हो। ये तो एक दूसरे की प्रतिष्ठा को मिट्टी मे मिलाने का यत्न कर रहे हैं। प्रतिष्ठा मिलेगी, जब

स व' पृच्यन्ता तन्व' स मनांसि समु व्रता ॥ अ० ६।७४।२

तुम्हारे शरीर एक दूसरे के साथ मिले होंगे, जब तुम्हारे मन एक होंगे और होंगे तुम्हारे व्रत=सकल्प, उद्देश्य एक।

इसी कारण वेद कहता है—

सज्ञपन वो मनसोऽथो सज्ञपन हृद'।

अथो भगस्य यच्छ्रान्त तेन सज्ञपयामि व. ॥ अ० ६।७४।२=

तुम्हारे मनों का सज्ञपन=एकसमान बोधन हो, और तुम्हारे हृदयों का एकरस सज्ञपन हो, और भग=ऐश्वर्य्य प्राप्ति के लिये जो परिश्रम है, उससे तुम्हें सज्ञानयुक्त करता हूं। पारिवारिक वा राष्ट्रिय सम्पत्ति के लिये सम्मिलित प्रयत्न करने से सफलता मिलती है।

संसार में जितना दुःख है, उसका मूल कारण उलटा ज्ञान तथा अज्ञान है। अज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान का नाश ज्ञान=सज्ञान से होता है। अतः ज्ञान-अर्जन तथा ज्ञान-दान में सदा तत्पर रहना चाहिये।

२७७

एक धुरा वाले होकर परस्पर मीठा बोलो

ओ३म्। ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्त सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनस्कृणोमि ॥ अ० ३।३०।५

(ज्यायस्वन्त.) बड़ो वाले [जिनके घरों मे बड़े उपस्थित हैं] (चित्तिन) विचारशील, (संराधयन्तः) एक मत से कार्य्य-सिद्धि करने वाले (सधुराः) एक धुरा वाले होकर (चरन्तः) विचरते हुए (मा+वियौष्ट) तुम मत वियुक्त होओ। (अन्यो अन्यस्मै) एक दूसरे के लिये (वल्गु) मनोहर, मधुर (वदन्त) बोलते हुए (एत) तुम आगे आओ । (समनसः) समान मन वाले (वः) तुम लोगों को (सध्रीचीनान्) समान गति वाले, अथवा उत्तम गति वाले (कृणोमि) करता हूं।

जो बात पिछले मन्त्रों मे सकेत से कही गई है, उसे इस मन्त्र में अधिक स्पष्ट रूप से कह दिया गया है। आदेश है—

मा वियौष्ट सराधयन्तः सधुराश्चरन्तः=एक मत से कार्यसिद्धि में तत्पर, समानधुरा=भार होकर मत जुदा होवो।

फूट जुदा कराती है। वेद जुदा होने का निषेध करके फूट से परे रहने का आदेश कर रहा है।

एक धुरा मे जुटे दो बैल यदि एक दूसरे से विरुद्ध हो जाए, तो भार नहीं ले जा सकेंगे, हल नहीं चला सकेंगे। क्योंकि दोनो एक कार्य्य की सिद्धि करने के लिये एक धुरा मे जुटे थे, किन्तु पृथक् हो गए हैं।

वेद के समझाने की शैली पर ध्यान दीजिये।

अविचारशील इस मर्म को नही समझ सकते, अत कहा—**चित्तिनः**=विचारशील। विचार वृद्धो के सग से आयेगा, अत कहा—**ज्यायस्वन्त.**=बड़ों वाले।

विदुर जी तो उस सभा को सभा ही नहीं मानते जहा वृद्ध=बड़े न हों—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा न वदन्ति सत्यम। (विदुरनीति)

वह सभा सभा नही, जहा वृद्ध=बड़े बूढ़े न हों और वे वृद्ध वृद्ध भी नहीं जो सत्य नहीं बोलते हों।

जिस परिवार मे कोई बड़ा बूढ़ा होता है, वह परिवार को मिला कर रखता है। वेद का 'ज्यायान्' शब्द वृद्ध मे अधिक गभीर है। ज्यायान् का अर्थ केवल आयुर्वृद्ध ही नही, प्रत्युत गुणवृद्ध भी है। जिसे परिवार में वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध बड़े रहते हो, उस घर मे सभी विचारशील ही रहेंगे। वे—

अन्योऽन्यस्मै वल्गु वदन्त=एक दूसरे के साथ मनोहर बातचीत करेंगे।

तात्पर्य=ऐसा बोलो कि दूसरो का हृदय खींच लो।

जब सभी मधुरभाषी हों, तब सब एक दूसरे को आकर्षण करते हुए एकगति और एकमति होंगे।

२७८

समान-उद्देश्य

ओ३म् । समानी प्रपा सह वो अन्न भागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ अ ३।३०।६

ओ३म् । सध्रीचीनान् वः संमनस्कृणोम्येकश्नुष्टीन् संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृत रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ अ ३।३०।७

(वः) तुम्हारा (प्रपा) प्याऊ, पानी पीने का स्थान (समानी) एक साथ हो और तुम्हारा (अन्नभाग) भोजन-सेवन भी (सह) साथ हो। (व) तुमको (समाने) एक, एक जैसे (योक्त्रे) जुए में (सह+युनज्मि) एक साथ जोड़ता हूं। (सम्यञ्च) एक गति वाले होकर (अग्निम्) ज्ञान को, भगवान् को (सपर्यत) सेवन करो, पूजो, (इव) जैसे (अरा) अरे (अभितः) सब ओर से (नाभिम्) रथ की नाभि के धुरे का सेवन करते हैं ॥ (समनस.) समान मन वाले और (सध्रीचीनान्) समान चाल वाले (वः सर्वान्) तुम सब को (स+वननेन) एक से सभजन द्वारा (एकश्नुष्टीन्) समान खान पान वाला (कृणोमि) करता हूं, बनाता हूं। (देवा.+इव) इन्द्रियों की भांति (अमृतम्) जीवन को तुम (रक्षमाणा) बचाते रहो। (साय प्रातः) सांझ सवेरे (व.) तुम्हारी (सौमनस +अस्तु) सुमनस्कता होवे, भलाई होवे।

आजकल मनुष्यों में खानपान के कारण विषम भेदभाव बढ़ रहा है। यह वेद के सर्वथा विरुद्ध है। वेद तो घोषणा करता है—

समानी प्रपा सह वो अन्नभाग =तुम्हारा प्याऊ और भोजन स्थान एक हो।
खान पान को समान करने का कारण है—
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि =तुम सब को एक साथ एक जुए में जोड़ता हूं।

भगवान का आदेश है कि तुम्हें मैंने एक लक्ष्य बताया है। वेद का आदेश है, जिस प्रकार रथ चक्र में अरे जुटे रहते हैं अरों का साध्य रथचक्र की नाभि है। ऐसे ही सब मनुष्यों के जीवन का लक्ष्य एक होना चाहिये। वेद ने लक्ष्य का भी संकेत कर दिया है—सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत्=समानगति वाले होकर अग्नि= ब्रह्माग्नि की ज्ञानाग्नि की पूजा करो।

पहले मन्त्र में खानपान की एकता संपादन करके मानो एक लक्ष्य की सिद्धि का निर्देश किया है, दूसरे में एक विचार एक आचार वालों के खान पान समान=एक करने का विधान किया है।

यह आवश्यक नहीं कि जिनका खान पान समान हो उनका मन या ज्ञान भी समान हो। अतः वेद कहना चाहता है कि केवल खान पान की समानता से ही समता स्थापित नहीं हो जाती। समता = निये विचार आचार की समानता उत्पन्न करो फिर खान पान की समानता आसान हो जावेगा।

जिस प्रकार सारी इन्द्रियां मिल कर जीवन तथा अमृतात्मा की रक्षा करती हैं उसी प्रकार जीवन का एक लक्ष्य बनाने से सारा समय कल्याण प्राप्त होता रहेगा।

आत्मीयों की उन्नति

ओ३म् । नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये न सूरिं मघवान पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम ॥ ऋ ३।१६।३

(ये) जो (न) हमारे (सूरिम्) विद्वान् और (मघवानम्) धनवान से (पृतन्यान्) फितना करते हैं, उपद्रव करते हैं, वे (नीचै.) नीचे (पद्यन्ताम्) गिरें, (अधरे) अधम (भवन्तु) होवें (अहम्) मैं अपने (ब्रह्मणा) ब्रह्म से, ज्ञान से, तप से (अमित्रान्) अमित्रो का (क्षिणामि) क्षीण करता हू और (स्वान्) अपनों को, आत्मीयो को (उन्नयामि) उन्नत करता हूँ ।

राष्ट्रनायक=पुरोहित=**leader** की सुन्दर कामना है । राष्ट्र का आधार ज्ञान और धन हैं । यदि कोई राष्ट्र के धन तथा ज्ञान का अवलुम्पन करना चाहता है, तो राष्ट्रनायक का कर्त्तव्य है, कि वह उनको दबाये, नीचा दिखाये । इसका उपाय बतलाते हुए कहा गया है--

एपामहमायुधा स स्यामि (ऋ. ३।१६।५)=मै इनके हथियार तीक्ष्ण करता हूँ ।

राष्ट्ररक्षा के लिये तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र बहुत आवश्यक हैं । केवल हथियारो से कार्य्य सिद्धि नहीं होती । अत कहा—

एषा क्षत्रमजरमस्तु जिष्णु, एषा चित्त विश्वे अवन्तु देवा (ऋ. ३।१६।५)

इन राष्ट्रवासियो का क्षत्र=क्षात्र बल, अजर=जीर्ण न होने वाला तथा जिष्णु=जयशील हो । और सभी विजयाभिलाषी इनका चित्त बढ़ावें ।

सम्पूर्ण राष्ट्र का कर्त्तव्य है कि राष्ट्ररक्षा के पवित्र कार्य मे लगे हुओ का उत्साह और साहस प्रत्येक प्रकार से बढ़ावें ।

विद्वान और धनवान की रक्षा जिष्णु और अजर क्षत्रबल से ही हो सकती है । इस क्षत्रशक्ति के बल के भरोसे राष्ट्रनायक कह सकता है—

क्षिणामि ब्रह्मणामित्रान्=अपने तपोबल से मै अमित्रों का क्षय करता हू ।

यदि राष्ट्र अनुकूल न हो, तो शत्रुओं की, अमित्रों की सख्या अधिक हो जायेगी, पुन शत्रु विनाश म बड़ी बाधा पड़ती है । इस तत्त्व को समझने वाला राष्ट्रनायक कहता है—

उन्नयामि स्वानहम=मै अपनों की उन्नति करता हूँ ।

राष्ट्र की प्रतिकूलता तभी होती है, जब स्वराष्ट्रवासियो की उपेक्षा करके परराष्ट्रवासियो की मान्यता दी जाती है । यदि स्वराष्ट्रवासियो की उपेक्षा न की जाये, सर्वात्मना अपनों की यदि उन्नति की जाये, उनको आगे बढ़ाया जाये, तो असन्तोष का नाश होकर राष्ट्र की सर्वविध उन्नति और पुष्टि होती है । इसके लिए स्व और पर का विवेक अत्यन्त प्रयोजनीय है ।

पुरोहित की घोषणा

ओ३म्। संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ अ० ३।१९।१
ओ३म्। समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ अ० ३।१९।२

(मे) मेरा (इदम्) यह (ब्रह्म) ज्ञान-बल (संशितम्) भली प्रकार तीक्ष्ण किया हुआ है। (वीर्यम्) वारक शक्ति तथा (बलम्) सबल भी (संशितम्) भली प्रकार तीक्ष्ण है। उनका (संशितम्) भली प्रकार से तीक्ष्ण किया हुआ (क्षत्रम्) क्षात्र बल (अजरम्) जीर्ण न होने वाला (अस्तु) है। (येषाम्) जिनका मैं (जिष्णुः) जयशील (पुरोहितः) पुरोहित (अस्मि) हूं। (अहम्) मैं (एषाम्) इनके राष्ट्र को (सम्+स्यामि) एक सूत्र में बांधता हूं, और इनके (ओजः) ओज, तेज (वीर्यम्) वारक शक्ति तथा (बलम्) रक्षा के सामर्थ्य को (सम्) एक सूत्र में बांधता हूं। (अहम्) मैं (अनेन) इस (हविषा) सामग्री द्वारा (शत्रूणाम्) शत्रुओं की (बाहून्) भुजाओं को (वृश्चामि) काटता हूं।

राष्ट्र के पुरोहित=नायक में किन भावों का समावेश हो, यह संक्षेप से इस मन्त्र में अङ्कित है। पुरोहित में सब प्रकार का बल होना चाहिये—क्या ब्राह्म बल और क्या क्षात्र बल। वैदिक पुरोहित की गम्भीर घोषणा सचमुच सब के मनन करने योग्य है—

संशितं म इदं ब्रह्म=मेरा यह ब्राह्मबल सुतीक्ष्ण है, केवल ब्राह्मबलही नहीं, प्रत्युत संशितं वीर्यं बलम्=वारकसामर्थ्य और रक्षणशक्ति भी तेज है। दूसरों पर आक्रमण करके उनको भगा देने का नाम वीर्य है, और दूसरों से आक्रान्त होने पर अपनी रक्षा कर सकने को बल कहते हैं। क्षात्रबल के यह दो प्रधान अंग हैं। पूरी शान्ति वहीं होती है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं चोभौ सम्यञ्चौ चरतः सह। (य० २०।२५)

जहां ब्राह्म बल और क्षात्र सामर्थ्य समान गति वाले होकर एक साथ विचरते हैं।

क्षत्रिय में केवल क्षात्रबल है किन्तु ब्राह्मण में ब्राह्मबल तथा क्षात्रबल दोनों हैं। यही ब्राह्मण का उत्कर्ष है। क्षात्रबल विहीन ब्राह्मण सचमुच हीन है, वह पूर्ण ब्राह्मण नहीं है।

जिस राष्ट्र का नेता ऐसा होगा, सचमुच उसका क्षात्रतेज अजर=अक्षीण=अदीन ही रहेगा। राष्ट्र को सङ्गठित रखना, तथा राष्ट्र के ओज वीर्य आदि की रक्षा करना पुरोहित का काम है—

समहमेषा राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्य्यं बलम्=

मैं इन के राष्ट्र को तथा ओज बल वीर्य्य को एक सूत्र में पिरो के रखता हूं।

नेता को चाहिये कि समूचे राष्ट्र के सामने एक महान् उद्देश्य रखे। उससे राष्ट्र में एकता बनी रहती है। इस एकता के रहने से ही पुरोहित कह सकेगा—

एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि। अ० ३।१६।५=मैं इनके राष्ट्र को सुवीर बनाकर बढ़ाता हूं।

जिस प्रकार के शिक्षक होंगे, वैसे ही शिष्य होंगे। यदि शिक्षक हीनवीर्य्य हतोत्साह होंगे तो राष्ट्र में उत्साह बलादि का अभाव रहेगा। वैदिक पुरोहित तो कहता है—

तीक्ष्णीयासः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः॥ (अ० ३।१६।४)=

उनके हथियार कुठार से तीक्ष्णतर और आग से भी अधिक तीक्ष्ण हैं, इन्द्र के वज्र=बिजली से भी तेज़ से जिनका मैं पुरोहित हूं।

उग्र पुरोहित के शिष्य सभी प्रकार से ही उग्र होंगे। अत राष्ट्र की उन्नति चाहने वालों को उग्र पुरोहित उत्पन्न करने चाहिए।



अग्निहोत्र

ओ३म् । अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः ।
अभ्यहं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः ॥ अ ६।९७।१

(यज्ञः) यज्ञ (अभिभूः) सब को दबाने वाला है या सब ओर विद्यमान है; (अग्निः) आग (अभिभूः) अभिभू है । (सोमः) सोम (अभिभूः) अभिभू है । (इन्द्रः) इन्द्र (अभिभूः) अभिभू है । (अहम्) मैं (विश्वाः) सब (पृतना) फसादों को, उपद्रवों को, लड़ाकी सेनाओं को (यथा) जैसे (अभि+असानी) दबा सकूं, (एवा) ऐसे ही (अग्नि होत्राय) अग्निहोत्रोपयोगी (इम्) इस (हविः) हवि को (विधेम) बनायें ।

यज्ञ में अग्नि, सोम, इन्द्र (आत्मा) तथा यथायोग्य सामग्री अपेक्षित होती है । जिस में सामग्री यथाविधि हो, वह यज्ञ अवश्य ही **अभिभूः** होता है । शतपथ ब्राह्मण में कथा है कि यज्ञ के द्वारा देवों ने असुरों को अभिभूत किया । सचमुच यज्ञ सर्वाभिभू है । यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला अग्नि-चाहे भौतिक चाहे आध्यात्मिक—भी अभिभू होना चाहिए । अग्नि का गुण सर्वजन प्रत्यक्ष है ।

सोम का यह गुण ऋग्वेद के नवम मण्डल में वर्णित है । एक उदाहरण पर्याप्त होगा ।

अस्य व्रतानि नाधृषे पवमानस्य दूढ्या । रुज यस्त्वा पृतन्यति ॥ (ऋ ९।५३।३)=

इस पवमान सोम के नियम कोई दुर्बुद्धि नहीं दबा सकता । अतः हे सोमवाले ! तू उसे तोड़ दे जो तुझ से उपद्रव करे । सोम कोई नहीं दबा सकता, अतः सोम अभिभू है ।

सोम पान करने वाला इन्द्र तो अवश्य ही अभिभू होना चाहिए । वेद में आदेश है—

अभिभुवेऽभिभगाय वन्वतेऽषाढाय सहमानाय वेधसे ।
तुविग्रये वह्नये दुष्टरीतवे सत्रासाहे नम इन्द्राय वोचत ॥ ऋ २।२१।२ =

अभिभू, सब ओर तोड़ फोड़ करने वाले, सभजनीय, असह्य सब कुछ सहन करने वाले, मेधावी, महाज्ञानी, कार्यवाहक, दुरुस्त, सदासहिष्णु इन्द्र को नमस्कार कहो ।

जो सब का अभिभूत करने वाला है, उसे नमस्कार अवश्य करना चाहिए । यज्ञ, अग्नि सोम तथा इन्द्र को अभिभू देख कर साधक के मन में भी 'अभिभू' बनने की भावना जागरित हुई है । वह कहता है—

अभ्यहं विश्वाः पृतना यथासानि=मैं भी सब पृतनों=फितनों को दबा सकूं, उन का अभिभू बन सकूं ।

अभिभू बन ने की युक्ति है । सब पृतनों=फितनों को दबा देना । जिस ने काम, क्रोध, मोह, मत्सर अहङ्कार मार दिये, उन से उठने वाले सब पृतने=फितने मिटा दिये, वह आत्मिक क्षेत्र में अभिभू है । जिसने राष्ट्र में सब वैर विरोध हटा दिये, दुःख दारिद्र्य अभाव मिटा दिये, वह सचमुच राष्ट्र में अभिभू है ।

यज्ञ=परोपकार तथा सङ्घटन सब को दबाता है । आग सब को जला देती है । सोम औषधियों का राजा है । इन्द्र=विद्युत सभी भौतिक पदार्थों में बलवान् है । इन सब की भांति जो अभिभू बनना चाहता है, वह सामग्री भी वैसी बनाता है । अतः कहा—एवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः

इस वास्ते अग्निहोत्र के लिये यह सामग्री तय्यार करे । ऐसा अद्भुत अग्निहोत्र है

समहमेषा राष्ट्र स्यामि समोजो वीर्य्यं बलम्=

मैं इन के राष्ट्र को तथा ओज बल वीर्य्य को एक सूत्र में पिरो के रखता हूं।

नेता को चाहिये कि समूचे राष्ट्र के सामने एक महान् उद्देश्य रखे। उससे राष्ट्र में एकता बनी रहती है। इस एकता के रहने से ही पुरोहित कह सकेगा—

एषा राष्ट्र सुवीर वर्धयामि। अ० ३।१६।५=मैं इनके राष्ट्र को सुवीर बनाकर बढ़ाता हूं।

जिस प्रकार के शिक्षक होंगे, वैसे ही शिष्य होंगे। यदि शिक्षक हीनवीर्य्य हतोत्साह होंगे तो राष्ट्र में उत्साह बलादि का अभाव रहेगा। वैदिक पुरोहित तो कहता है—

तीक्ष्णीयास. परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयासो येषामस्मि पुरोहितः ॥ (अ० ३।१६।४)=

उनके हथियार कुठार से तीक्ष्णतर और आग से भी अधिक तीक्ष्ण हैं, इन्द्र के वज्र=बिजली से भी तेज़ हैं जिनका मैं पुरोहित हूं।

उग्र पुरोहित के शिष्य सभी प्रकार से ही उग्र होंगे। अत राष्ट्र की उन्नति चाहने वालों को उग्र पुरोहित उत्पन्न करने चाहिए।



२८१

अग्निहोत्र

ओ३म् । अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभू सोमो अभिभूरिन्द्रः ।
अभ्यहं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः ॥ अ ६।९७।१

(यज्ञः) यज्ञ (अभिभूः) सब को दबाने वाला है या सब ओर विद्यमान है; (अग्निः) आग (अभिभूः) अभिभू है। (सोमः) सोम (अभिभूः) अभिभू है। (इन्द्रः) इन्द्र (अभिभूः) अभिभू है। (अहम्) मैं (विश्वाः) सब (पृतनाः) फसादों को, उपद्रवों का, लड़ाका सेनाओं को (यथा) जैसे (अभि+असानी) दबा सकूं, (एवा) ऐसे ही (अग्नि होत्राय) अग्निहोत्रोपयोगी (इदम्) इस (हविः) हवि को (विधेम) बनायें।

यज्ञ में अग्नि, सोम, इन्द्र (आत्मा) तथा यथायोग्य सामग्री अपेक्षित होती है। जिस में सामग्री यथाविधि हो, वह यज्ञ अवश्य ही अभिभू होता है। शतपथ ब्राह्मण में कथा है कि यज्ञ के द्वारा देवों ने असुरों को अभिभूत किया। सचमुच यज्ञ सर्वाभिभू है। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला अग्नि-चाहे भौतिक चाहे आध्यात्मिक—भी अभिभू होना चाहिए। अग्नि का गुण सर्वजन प्रत्यक्ष है।

सोम का यह गुण ऋग्वेद के नवम मण्डल में वर्णित है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

अस्य व्रतानि नाधृषे पवमानस्य दूढ्या। रुज यस्त्वा पृतन्यति ॥ (ऋ ९।५३।३) =

इस पवमान सोम के नियम कोई दुर्बुद्धि नहीं दबा सकता। अतः हे सोमवाले! तू उसे तोड़ दे जो तुझ से उपद्रव करे। सोम कोई नहीं दबा सकता, अतः सोम अभिभू है।

सोम पान करने वाला इन्द्र तो अवश्य ही अभिभू होना चाहिए। वेद में आदेश है—

अभिभुवेऽभिभगाय वन्वतेऽषाढाय सहमानाय वेधसे।
तुविग्रये वह्नये दुष्टरीतवे सत्रासाहे नम इन्द्राय वोचत ॥ ऋ २।२१।२ =

अभिभू, सब ओर तोड़ फोड़ करने वाले, सभजनीय, असह्य सब कुछ सहन करने वाले, मेधावी, महाज्ञानी, कार्यवाहक, दुरुस्त, सदासहिष्णु इन्द्र को नमस्कार कहो।

जो सब का अभिभूत करने वाला है, उसे नमस्कार अवश्य करना चाहिए। यज्ञ, अग्नि सोम तथा इन्द्र को अभिभू देख कर साधक के मन में भी 'अभिभू' बनने की भावना जागरित हुई है। वह कहता है—

अभ्यहं विश्वाः पृतना यथासानि=मैं भी सब पृतनों=फितनो को दबा सकूं, उन का अभिभू बन सकूं।

अभिभू बनने की युक्ति है। सब पृतनों=फितनों को दबा देना। जिस ने काम, क्रोध, मोह, मत्सर अहङ्कार मार दिये, उन से उठने वाले सब पृतने=फितने मिटा दिये, वह आत्मिक क्षेत्र में अभिभू है। जिसने राष्ट्र में सब वैर विरोध हटा दिये, दुःख दारिद्र्य अभाव मिटा दिये, वह सचमुच राष्ट्र में अभिभू है।

यज्ञ=परोपकार तथा सङ्घटन सब को दबाता है। आग सब को जला देती है। सोम औषधियों का राजा है। इन्द्र=विद्युत सभी भौतिक पदार्थों से बलवान् है। इन सब की भांति जो अभिभू बनना चाहता है, वह सामग्री भी वैसी बनाता है। अतः कहा—एवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः

इस वास्ते अग्निहोत्र के लिये यह सामग्री तय्यार करें। ऐसा अद्भुत अग्निहोत्र है

मृत्यु का ब्रह्मचारी

ओ३म् । मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन भूतात्पुरुषं यमाय ।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ अ० ६।१३३।३

(अहम्) मैं (मृत्योः) मृत्यु का (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी हूं, (यत्) क्योंकि मैं (भूतात्) भूतमात्र से (यमाय) संयम के लिये (पुरुषम्) पौरुष=पुरुषार्थ को (निर्याचन् अस्मि) माग रहा हू। (तम्) उसे (अहम्) मैं (ब्रह्मणा) ज्ञान से (तपसा) तप से तथा (श्रमेण) परिश्रम से (आनय) लाकर (एनम्) इसको (मेखलया) मेखला से (सिनामि) बांधता हू।

ब्रह्मचारी की महिमा अथर्ववेद के ११ वें काण्ड के पांचवें सूक्त में विस्तार से वर्णित हुई है। अ० ६।१३३ भी ब्रह्मचर्य सम्बन्धी है। इसमें ब्रह्मचर्य के बहिरंग साधन मेखला—कौपीनधारण—का माहात्म्य बताया गया है। इस मन्त्र म जिस ब्रह्मचारी की चर्चा है, वह सभी ब्रह्मचारियों से विलक्षण है। यह है—मृत्यो· · ब्रह्मचारी=मौत का ब्रह्मचारी।

मौत को गुरु बनाना अति दुष्कर है। मौत का ब्रह्मचारी तो कोई विरला नचिकेता=सन्देहशून्य ज्ञानी ही बन सकता है। जिसने समस्त संसार का सार देख कर इसे असार मान लिया, जिसे मृत्यु अवश्यभावी और नूतन भोगसामग्री देनेवाला अथवा मुक्ति का साधन दीख गया है, वह मृत्यु के पास जाता है। अ० ११।५।१४ म कहा है—

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोमः ओषधयः पयः । जीमूता आसन् सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥

आचार्य, मृत्यु, वरुण [श्रेष्ठ गुणधारण] सोम [शान्ति] औषध, जल या दूध बादल ये शक्तियां हैं इन्होंने स्वः=सुख धारण कर रखा है। इस जीवन की चिन्ता से छुड़ा कर नये जीव में नयी भोगसामग्री दिलाना मृत्यु द्वारा सुख दिलाना है। किसी ने कहा है—

जिस मरने से जग डरे मो को सो आनन्द । कब मरिये कब पाईये पूरन परमानन्द

मौत का ब्रह्मचारी भिक्षा के लिये निकला है। मागता है—

भूतात्पुरुषं यमाय=यम के लिये =संयम के लिये, अथवा मृत्यु के लिये भूतमात्र से पुरुष।

आचार्य के लिये प्रिय धन लगाकर दक्षिणा देना है। मृत्यु से जीवन मागता है। जीवन के लिये बल चाहिये, अतः समस्त पदार्थों से बल माग रहा है। ब्रह्मचारी को भिक्षा मिल गई है। ब्रह्मचारिन्! यह कैसे मिली? **तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेण**

मैं उसे ज्ञान, तप और परिश्रम से प्राप्त कर सका हू। अर्थात् ब्रह्मचर्य में ज्ञानार्जन, तपोऽनुष्ठान तथा परिश्रम आवश्यक है। मृत्यु सब का—द्विपात् चतुष्पात सभी प्राणियों का—ईश है। अतः वह प्रजापति है। उपनयन संस्कार की समाप्ति पर आचार्य कहता है—

प्रजापतये त्वा परिददामि=तुझे प्रजापति =मृत्यु को सौंपता हू।

अर्थात् मृत्यु का रहस्य जानने के लिये तू ब्रह्मचारी बना है। ब्रह्मचारी जब सचमुच मृत्यु का ब्रह्मचारी बनकर मृत्यु को परे हटा देता है तब उसका नया जन्म होता है। और—**तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥** अ० ११।५।३=

उस नवोत्पन्न को देखने के लिये सभी ओर से विद्वान् आते हैं।

हवि-रहित यज्ञ

ओ३म । यत्पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।

अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ अ० ७।५।४

(देवा.) निष्काम ज्ञानी (पुरुषेण+हविषा) पुरुषसम्बन्धी हवि से (यत्) जो (यज्ञम्) यज्ञ (अतन्वत) करते हैं, (नु) सचमुच वह यज्ञ (तस्मात्) उससे (ओजीयः) अधिक ओजस्वी (अस्ति) है, (यत) जिसका वे (विहव्येन) हविरहित सामग्री से (ईजिरे) यजन करते हैं।

यज्ञ मे अग्नि, समिधा, घृत और हवि आवश्यक हैं । अग्नि मे समिधा डाल कर, उसे प्रदीप्त करके घृत तथा हवि के द्वारा जहा उस अग्नि को अधिक प्रदीप्त करना होता है, वहा घृत और हवि अग्नि मे पड कर अधिक उपयोगी हो जाते है। हवि अग्नि मे पड़ने से पूर्व कोई विशेष सुगन्ध नहीं देता, अग्नि मे पड़ कर वह सुगन्ध देने लगता है, और अग्नि वायु की सहायता से उस सुगन्ध का प्रसार करके जहा जहा वह सुगन्ध पहुँचता है, वहा वहा से दुर्गन्ध को दूर करके वायुशुद्धि आदि का कार्य्य करता है । यही अवस्था घृत की है। यह एक वैज्ञानिक सचाई है, जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के यज्ञो को द्रव्ययज्ञ या हविर्यज्ञ कहते हैं। इन द्रव्ययज्ञों से वायु आदि द्रव्यो की शुद्धि के साथ अन्त करण की शुद्धि भी थोड़ी बहुत हो जाती है, क्योंकि इस प्रकार के यज्ञो से परोपकार अवश्य होता है।

वेद इस प्रकार के यज्ञों का विधान करता हुआ इससे भी उत्कृष्ट यज्ञ का विधान करता है, जिस मे किसी द्रव्य की आहुति न देकर अपनी आहुति देनी होती है । उस प्रकार के हविरहित यज्ञ को वेद बलवत्तर मानता है। उस यज्ञ का साकेतिक निरूपण अ० १९।४२ मे है—

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिता
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः ॥१॥
ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृत. । शमिताय स्वाहा ॥२॥

ब्रह्म होता है, ब्रह्म यज्ञ है, ब्रह्म से स्वरु बनाये हैं । ब्रह्म से अध्वर्यु उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म मे हवि आच्छादित है, ब्रह्म ही घृत से भरी स्रुचायें हैं, ब्रह्म से वेदि बनाई गई है। ब्रह्म ही यज्ञ का तत्त्व हवि डालने वाले ऋत्विक् हैं, अत शान्ति के लिये स्वाहा।

सब से बड़ा यज्ञ वही है, जिससे ससार म शाति फैले । उस यज्ञ का होता, अध्वर्यु, और अन्य सब ऋत्विक् ब्रह्म होना चाहिये । इतना ही नहीं,—यज्ञ का सकल साकल्य भी ब्रह्म हो, यज्ञ के साधन, स्रुवा, स्रुचा वेदादि भी ब्रह्ममय हों, यज्ञ का तत्त्व सार भी ब्रह्म हो, उससे शमिताय स्वाहा' कहा जा सकता है।

यह महान् यज्ञ तभी हो सकता है जब अपना आपा सर्वथा ब्रह्म के अर्पण कर दिया हो, और अपने आप को ब्रह्म का हथियार बना दिया हो। तब कर्तृत्व हमारा न होगा ब्रह्म का न होगा।

द्रव्ययज्ञ उस यज्ञ की पहली सीढ़ी है। तभी प्रत्येक आहुति के साथ 'इदन्न मम' [यह मेरा नहीं है] कहना होता है। जिस दिन वास्तव मे समझ कर 'इदन्न मम' कहा जायेगा, उस दिन उस यज्ञ का प्रारम्भ होगा।

२८४

स्वप्न और उससे बचाव

ओ३म् । यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥ अ. ७।१०१।१
ओ३म् । पर्य्यावर्त्ते दुस्वप्न्यात्पापात्स्वप्न्याद् भूत्या. ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुच' ॥ अ ७।१००।१

(यत्) जो (अन्नम्) अन्न (स्वप्ने) स्वप्न मे (अश्नामि) खाता हूं, वह (प्रात') प्रात. काल [जागने पर] (न) नहीं (अधिगम्यते) प्राप्त होता, (तद्) वह (दिवा) दिन म, जागरित दशा मे (नहि) नहीं (दृश्यते) दीखता, अतः (तत्) वह (सर्वम्) सब (मे) मेरे लिये (शिवम्) सुखदायी (अस्तु) होवे । (दु.+स्वप्न्यात्) दु स्वप्न से होने वाले (पापात्) पाप से तथा (स्वप्न्यात्) स्वप्न से होने वाली (अभिभूत्याः) अभिभूति, दबाव, तिरस्कार से मैं (पर्य्यावर्त्ते) लौटता और लौटाता हूं (अहम्) मैं (ब्रह्म) ब्रह्म को (अन्तरम) बीच मे (कृण्वे) करता हूं, इससे मैं (स्वप्नमुखा) स्वप्नादि (शुच) शोक (परा)

तीन अवस्थायें जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति प्रत्येक मनुष्य पर आती हैं । जब सभी इन्द्रियां—आंख, नाक, कान आदि अपना अपना कार्य्य कर रही हैं, उस अवस्था को जागरित कहते हैं, साधारणत. जीव उस समय बहिर्मुख होता है, तभी बाहर के विषयों का ज्ञान होता है । जिस अवस्था मे बाह्य इन्द्रियों ने कार्य्य करना छोड़ दिया है किन्तु अन्तरिन्द्रिय—मन—ने कार्य्य नहीं छोड़ा, उस अवस्था को स्वप्न कहते हैं, इस अवस्था मे बहुत बेजोड़ विचार सामने आते हैं । जिस अवस्था मे मन भी विश्राम लेने लगता है, कोई इन्द्रिय कार्य्य नहीं कर रही होती, उस अवस्था को सुषुप्ति या गहरी नींद कहते हैं । उस समय आत्मा का बाह्य विषयों से सबन्ध न होकर अज्ञात रूप से परमात्मा से सबन्ध होता है ।

यहां स्वप्न और दु स्वप्न का, तथा उनसे होने वाले अनिष्ट और उनसे बचने के उपाय का वर्णन है ।

'यत्स्वप्ने अन्नमश्नामि' मे स्वप्न का बहुत सुन्दर लक्षण सा कर दिया है । स्वप्न म प्राप्त पदार्थ जागरित मे कभी उपलब्ध नहीं होता । कभी कभी अनिष्ट स्वप्न देखते हैं, डरावने और भयानक सपने आने से मनुष्य के मन पर कुप्रभाव भी पड़ता है अत. प्रार्थना की—

सर्वं तदस्तु मे शिवम=वह सब मेरे लिये भला हो ।

मै ऐसा कोई स्वप्न न देखूं जिससे मेरा किसी प्रकार अनिष्ट या अमङ्गल हो ।

बुरे स्वप्न आने से बहुधा शरीर की हानि भी हुआ करती है । लोग उसकी दवाइयां खाकर चिकित्सा करते हैं किन्तु उससे लाभ नहीं होता । वेद उसकी चिकित्सा बतलाता है—

ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः=

मैं ब्रह्म को बीच मे करता हूं और इस प्रकार स्वप्न आदि शोक दूर करता हूं । अर्थात् ब्रह्म चिन्तन से दुःस्वप्न नष्ट होते हैं । अनुभवियों के अग्रगण्य दयानन्द जी इस विषय म उपदेश करते हैं—

"जितेन्द्रिय बनने के अभिलाषी को रात दिन प्रणव का जाप करना चाहिये । रात को यदि जाप करते हुए आलस्य यदि बहुत बढ जाये, तो दो घंटा भर निद्रा लेकर उठ बैठे और पवित्र प्रणव [ओम्] का जाप करना आरम्भ कर दे । बहुत सोने से स्वप्न अधिक आने लगते हैं ये जितेन्द्रिय जन के लिये अनिष्ट हैं ।" मन को ब्रह्म म लगा दो, विषयों से हट जायेगा । फिर विषयों के स्वप्न भी न दिखायेगा ।

२८५

उत्तम चाल चल

ओ३म् । अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ अ० ७।१०५।१

(पौरुषेयात्) पुरुषसम्बन्धी [वचन] से (अपक्रामन्) दूर भागता हुआ [और] (दैव्यम्) देवप्रणीत (वचः) वचन को (वृणानः) वरण करता हुआ, अपनाता हुआ तू (विश्वेभिः) सम्पूर्ण (सखिभिः) सखाओं के (सह) साथ (प्रणीतीः) उत्तम चालों को (अभ्यावर्तस्व) सब ओर से बर्ताव में ला ।

मनुष्य-जीवन का उद्देश्य क्या है इस विषय में बहुत थोड़े मनुष्य संसार में सतर्क हैं । मनुष्यों की बहुत अधिक संख्या तो अपने लक्ष्य के विषय में कुछ जानती ही नहीं । खाना, पीना, पहिनना, भोग भोगना—यही उनके लिये मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है । परन्तु यह तो कीट पतङ्ग पशु पक्षी आदि को भी प्राप्त है । क्या मनुष्य की विशेषता (ज्ञान) केवल इन पशु वृत्तियों की तृप्ति के लिये मनुष्य को मिली है । यदि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य कुछ अन्य ही है तो उपदेश भी कहीं होगा । मनुष्यों की अधिकता क्या खाना में और क्या कार्य में भोगसामग्री जुटाने को ही मनुष्य जीवन की सिद्धि समझ रही । भगवान् ने मनुष्य को उसकी उत्पत्ति के साथ ज्ञान भी दिया था । उस ज्ञान को वेद कहते हैं, वेद के शब्दों में उसे 'दैव्यं वचः' भी कहते हैं । वेद कहता है—

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः

पौरुषेय वचन से दूर हट कर दैव्य वचन को ग्रहण कर ।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य, उद्देश्यसिद्धि के साधन सभी दैव्यवच=वेद में उक्त हैं उसको अपना । महान् से महान् विद्वान् भी मनुष्य=जीवन की इतिकर्त्तव्यता का पूर्ण ज्ञान नहीं दे सकता । अतः भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ में सर्व मनुष्यों के कल्याणार्थ वेद वाणी का उपदेश किया । वेद-ज्ञान सब प्रकार के अज्ञान तथा उससे होने वाले पापों का विनाश करता है—

उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि । अ० ८।१।३

दैवी वाक् द्वारा पाप के पाशों से हम तेरा उद्धार करते हैं ।

वेद में इस दैवी वाक् को 'कल्याणी वाणी' (य० २६।२) भी कहा गया है ।

इसको अपनाने का अर्थ है—

प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह

सम्पूर्ण मित्रों के साथ उत्तम चालों को सब ओर से बर्ताव में ला ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । कोई एक मनुष्य दूसरों से सहायता—प्रत्यक्ष या परोक्ष से—लिये बिना अपनी शरीर यात्रा नहीं चला सकता । यही परस्परापेक्षता समाज रचना का मूल कारण है । समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिये विशेष व्यवस्थाओं का विधान करना पड़ता है । वेद का आदेश है कि हे मनुष्य ! तू सब सखाओं=अपने जैसों के साथ प्रणीति=उत्तम चाल चल । अर्थात् ऋजुमार्ग से चल कर अपनी उन्नति करने वालों के साथ वैरविरोध तथा कुटिलता का व्यवहार न कर ।

दीर्घ जीवन का उपाय

ओ३म् । जीवता ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ्गा त्वा हरामि शतशारदाय ।

अवमुञ्चन्मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयु प्रतरं ते दधामि ॥ अ० ८।२।२

(जीवताम्) जीतों के (ज्योतिः) प्रकाश को (अर्वाङ्) सामने होकर (अभि आ इहि) उद्योग से प्राप्त कर । मैं (त्वा) तुझको (शत-शारदाय) सौ वर्ष के जीवन के लिये (आ+हरामि) चलाता हूं । (अशस्तिम्) अप्रशस्तता, गन्दगीरूप (मृत्युपाशान्) मौत के फन्दों को (अवमुञ्चन्) दूर कराता हुआ (ते) तुझे (प्रतरम्) बहुत बड़ी (द्राघीयः), लम्बी (आयु) आयु (दधामि) देता हूं ।

मनुष्य की साधारण जीवन-अवधि सौ वर्ष की है, जैसा कि जिजीविषेच्छतं समाः (य० ४०।२) [मनुष्य सौ वर्ष जीने की इच्छा करे] कहा गया है । प्रकृत मन्त्र में ही भगवान् ने कहा है—

आत्वा हरामि शतशारदाय=तुझे इस संसार में सौ वर्षों के जीवन के लिये लाया हूँ ।

जैसे जलते दीपक से दूसरे दीपक जलाये जा सकते हैं, ऐसे ही जीते जागतों से ही जीवन ज्योति मिल सकती है । इसी भाव से कहा है—

जीवता ज्योतिरभ्येहि=जीते जागतों से जीवन प्रकाश ले ।

अर्थात् दीर्घजीवी लोगों के पास उठो बैठो, उनकी दिनचर्या का निरीक्षण करो कि कैसे उन्हें दीर्घ जीवन मिला । जैसी संगति होती है, प्रायः वैसे ही आचार विचार बनते हैं । अतः दीर्घ-जीवन के अभिलाषियों को दीर्घजीवियों का संग करना अतीव उपयुक्त है । इसी प्रकार मरों का चिन्तन छोड़ देना चाहिये । जो मर गये, सो गये । इस रूप में वे आने के नहीं । उनको पुनः पुनः स्मरण करने से मरण के संस्कार ही पुष्ट होंगे । अतः वेद कहता है

मा गतानामादीधीथा ये नयन्ति परावतम् । (अ० ८।१।८)=मरों का चिन्तन मत कर, वे जीवन से परे ले जाते हैं । प्रत्युत **आ रोह तमसो ज्योतिः** (अ० ८।१।८)=मृतक चिन्तन रूप अन्धकार से ऊपर उठ कर जीवन ज्योति प्राप्त कर ।

जीवन के विघ्नों का नाम मृत्यु या मृत्युपाश है । दीर्घ जीवन के अभिलाषी को इन मृत्युपाशों को काटना होगा । वेद कहता है—

अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिम्=अर्थात् अशस्ति=गन्दगी, दुराचाररूप मृत्युपाशों को छोड़ ।

समस्त अशस्ति=निन्दित आचार, यथा व्यभिचारादि, युक्त आहार-विहार का अभाव जीवन को घटाने वाले हैं । ये मृत्यु को समीप लाने वाले हैं । अतः इनका त्याग ही करना चाहिये । अशस्ति के विपरीत ब्रह्मचर्य=परमात्मा के आदेशानुसार आचार, मौत को मारने का प्रबल हथियार है । जैसा कहा है—

ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत (अ० ११।५।१९)=ब्रह्मचर्य तप के द्वारा विद्वान् मृत्यु को मार भगाते हैं । ब्रह्मचर्य्य से दीर्घ जीवन मिलता है, जैसा कि वेद में आदेश है—

या त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परि बेधिरे । सा त्वं परिष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ अ० ६।१३३।५

हे मेखले [तागड़ी] । जिस तुझ को सत्यकारी पूर्व ऋषि बांधते हैं, वह तू मुझे दीर्घ जीवन के लिये आलिंगन कर । मेखला ब्रह्मचर्य्य का बाह्य चिह्न है । दीर्घ जीवन-अभिलाषी को ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिये और उसके साधनों— मेखलाबन्धन— आदि में कभी प्रमाद न करना चाहिये ।

२८७

मन लगाने का फल

ओ३म् । यत्र क्व च ते मनो दक्ष दधस उत्तरम् । तत्रा सदः कृणवसे ॥ ऋ. ६।१३।१७॥

(यत्र) जहां (क्व च) कहीं भी (ते) अपने (दक्ष) दक्ष, चतुर और (उत्तरम्) इन्द्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ (मनः) मन को (दधसे) तू लगाता है, (तत्र) वहां (सदः) ठिकाना (कृणवसे) तू बना लेता है।

इस मन्त्र में मन लगाने का फल बताया गया है । इससे मन का महत्त्व भली भांति हृदयगम हो सकता है । मन अति चञ्चल है, प्रायः कहीं एक स्थान पर टिकता नहीं है । जैसा कि ऋ. १०।५८ में कहा है—

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो ॥१॥ यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो ॥२॥
यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं ॥३॥ यत्ते चतस्रः प्रदिशो ॥४॥
यत्ते समुद्रमर्णवं मनो ५॥ यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो ॥६॥
यत्ते अपो यदोषधीर्मनो ॥७॥ यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो ॥८॥
यत्ते पर्वतान् बृहतो मनो ॥९॥ यत्त विश्वमिदं जगन्मनो ॥१०॥
यत्ते पराः परावतो मनो ॥११॥
यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् । तत्त आवर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥१२॥

जो तेरा मन वैवस्वत यम, द्यौ अन्तरिक्ष, चतुर्भृष्टि पृथिवी, चारों दिशाओं, जलमय समुद्र, दूरस्थ किरणों, जल और ओषधियों, सूर्य, उषा, बड़े बड़े पर्वतों, इस सम्पूर्ण जगत् से भी परे, भूत भविष्य को बहुत दूर जाता है, उसे हम यहां रहने और जीने के लिये लौटा लाते हैं।

स्पष्ट है कि जहां मन लगता है, वहीं घर बन जाता है। मन का स्वभाव भागने का है। संसार भर में और संसार से भी परे यह मार करता है । कभी अतीत की चिन्ता से चिन्तित है और कभी भविष्यत् की आशा प्रतीक्षा में है । जाता यह दूर दूर है कौनसा इसका जाने का समय है. जागरित में भी भाग जाता है, स्वप्न का तो कहना ही क्या ?—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥य. ३४।१

जो दैव मन जाग्रत दशा में दूर चला जाता है । स्वप्न दशा में भी वह वैसे ही दूर चला जाता है। दूरगामी होने पर इन्द्रियों का प्रकाशक है, वह मेरा मन शुभ भावों वाला हो।

भाग दौड़ के कारण मन ने स्थान स्थान की धूलि संग्रह कर ली है । वह कहीं ठहरे, तो उसके मल-प्रक्षालन का आयोजन हो । भाग दौड़ के कारण जहां जाता है, अपना ठिकाना बना लेता है—इससे प्रतीत होता है कि ठिकाना बनाने=टिकने का इसका अभ्यास है । अतः इसे टिकाओ । ऋषियों का कहना है. सान्त पदार्थों का अन्त वह शीघ्र पा लेता है, अतः वहां से शीघ्र भाग आता है । अनन्त अपार कर्त्तार में इसे लगाओ । पार न पाने से वहीं लगा रहेगा और परिणामतः हे जीव । तत्रा सदः कृणवसे. तू भी वहीं ठिकाना बना लेगा ।

२८८

पहले आक्रमण

ओ३म् । य उग्रइव शर्यहा तिग्मशृङ्गो न वंसगः ।

अग्ने पुरो रुरोजिथ ॥ ऋ ६।१६।३६॥

हे (अग्ने) अग्ने । अग्रणी । (य.) जो तू (उग्र + इव) तेजस्वी के समान (शर्य्यहा) तीरों से बींधने योग्यों का मारने वाला होकर, (तिग्मशृङ्ग. + न) तीक्ष्ण किरण वाले सूर्य की भांति (वंसगः) सम्भजनीय को प्राप्त होने वाला होकर (पुर.) शत्रु के नगरों का (रुरोजिथ) तोड़ता हैं, अथवा (पुरः) पहले (रुरोजिथ) आक्रमण करता है, ••।

यह मन्त्र व्यवहार नीति का एक तत्त्व बताता है। जीवन मे सफलता प्राप्त करने के लिये कभी कोमल बनना पड़ता है और कभी कठोरता की ठोकर खानी और मारनी पड़ती हैं। जो मनुष्य यथासमय इनका व्यवहार करना जानता है और कर सकता है, वह अवश्य सफलता प्राप्त करता है। वेद का आदेश है—

य उग्र इव शर्यहा = जो तेजस्वी की भांति हन्तव्य को मार देता है।

तात्पर्य यह है कि शत्रु हथियार की मार मे आया है, उसे छोड़ना नहीं चाहिये, उसको मार ही देना चाहिये। तेजस्वी मनुष्य इस प्रकार हाथ मे आये को कभी नहीं छोड़ता। ऐसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे जब वृत्तियां दुर्बल हैं, तभी मार देनी चाहियें, प्रबल होकर उनका उखाड़ना कठिन होगा।

प्रबल तेज वाला सूर्य्य ही वृत्र = पानी रोक रखने वाले मेघ को छिन्न भिन्न करके पृथिवी आदि पर पूर्ण प्रकाश कर सकता है। इसी भांति जो नेता शत्रु के पुरों को, दुर्गों को तोड़ फोड़ देता है, वह विजय पाता है। **पुरो रुरोजिथ** मे एक ध्यान और भी है। पहले आक्रमण वाला लाभ मे रहता है। आत्मरक्षा में लगना अतीव दुःसह कार्य है, उसमे सफलता सदिग्ध रहती है। किन्तु यदि रक्षणस्थिति में आने से पूर्व शत्रु पर आक्रमण कर दिया जाये, तो शत्रु का उत्साह भंग आदि होकर बहुधा वह पराजित हो जाता है।

भाव यह कि मनुष्य को सदा तेजस्वी रहना चाहिये, विघ्नों को पाते ही उसे मार देना चाहिये। साधन सभी तीक्ष्ण अर्थात् कार्य्यसिद्धि समर्थ रखने चाहिये, किन्तु साथ ही सम्भजनीयों का संग भी निरन्तर करते रहना चाहिये, इस सबका उद्देश्य शत्रु को प्रबल न होने देना है।

जो लोग कहा करते हैं कि वेद केवल यज्ञ याग या पारलौकिक विषयों का ही उपदेश करता है, वे इस मन्त्र का मनन करें। वेद स्पष्ट ही यहां लोक व्यवहार का उपदेश दे रहा है। वास्तव बात यह है कि मनुष्यजीवन के उपयोगी सभी तत्त्वों का उपदेश करता है चाहे वे लौकिक हों या पारलौकिक। वेद का लक्ष्य मनुष्य को पूर्ण मनुष्य बनाना है।



२८६

हाथ उठाकर नमस्कार

ओ३म् । वीती यो देव मर्तो दुवस्येदग्निमीळीताध्वरे हविष्मान् ।
होतारं सत्ययजं रोदस्योरुत्तानहस्तो नमसा विवासेत् ॥ ऋ ६।१६।४६

(यः) जो (मर्तः) मनुष्य (वीती) कान्ति से (देवम्) भगवान् की (दुवस्येत) परिचर्या करता है, और (हविष्मान्) श्रद्धासम्पन्न होकर, हविः=सामग्री वाला होता हुआ (अध्वरे) यज्ञ में (अग्निम्) भगवान् की (ईळीत) पूजा करता है, वह (रोदस्योः) द्यावापृथिवी के (सत्ययजम्) ठीक ठीक मिलाने वाले (होतारम्) महादानी को (उत्तानहस्तः) उत्तानहस्त होकर, ऊपर हाथ उठा कर (नमसा) नमस्कार से (विवासेत्) सत्कार करे ।

मनुष्य भगवान की पूजा रूखे फीके ढंग से न करे । अर्थात् भगवान् की आराधना के समय भक्त के हृदय में तेजस्वी और रमणीय भाव होने चाहियें । ऋ. ६।१६।४१ में आदेश है—

प्र देवं देववीतये भरता वसुवित्तमम्=सर्वाधिक धनी भगवान् को भगवत्प्राप्ति के लिये धारण करो ।

धन मत चाहो, धनी को चाहो । भगवान् सबसे अधिक धनी है । उसको धारण करो । भगवान् मिल जाये, भगवान् अपना हो जाये तो फिर भगवान् का सब कुछ हमारा ही है । अतः उसे ही चाहो ।

दोनों मन्त्र खण्डों को मिला कर पढ़ने से भाव निकलता है—भगवान् को प्राप्त करने के लिये कान्ति से भगवान् की पूजा करो, अर्थात् उसकी धारणा करो ।

यज्ञ में अग्नि की पूजा=भगवान् की पूजा करो । यज्ञ का उद्देश्य भगवान्, और ज्ञान की पूजा है । ऋग्वेद का आरम्भ है—**अग्निमीळे**=मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ । इसका भाव भी यही है कि अग्नि को, भगवान् को ज्ञान का धारण करो—

आ ते अग्न ऋचा हविर्हृदा तष्टं भरामसि ॥ ऋ. ६।१६।४७=

हे अग्रणी भगवान् तुझे मन्त्रों से, हृदय से तय्यार की हुई हवि भेंट करते हैं ।

हृदय से तय्यार की हवि स्पष्ट ही श्रद्धा और भक्ति की भावना है । अतः **'अग्निमीळीताध्वरे हविष्मान्'** का अर्थ हुआ 'श्रद्धाभक्तिसम्पन्न होकर यज्ञ में भगवान् का पूजन करे ।

गुरु के पास, राजा के पास, वैद्य के पास, विद्वान् के पास, सन्यासी तथा किसी अन्य मान्य के पास रिक्त हाथ जाने का निषेध है । कुछ न कुछ हाथ में लेकर ही उनके पास जाने का विधान है । भगवान् के पास जाते हुए क्या लेकर जाय ? संसार में जो कुछ है सभी उसी का है । संसार में एक भी पदार्थ ऐसा नहीं, जिसे हम अपना कह कर भगवान् की भेंट धर सकें । सभी उसी का दिया हुआ है । अतः उसको

उत्तानहस्तो नमसा विवासेत्=हाथ उठाकर नमस्कार से पूजा करे ।

यजुर्वेद के ४०।१६ मन्त्र का **'भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम'** में भी यही गान किया है ।

भाव यह है कि नम्रता से आत्म समर्पण कर दे । इससे एक बात और भी निकलती है कि पारस्परिक नमस्कार के समय हाथ ऊपर उठाने चाहियें ।

२६०

अपने पुरुषार्थ से कच्चों में पक्का डाल

ओ३म्। तव क्रत्वा तव तद्दसनाभिरामासु पक्वं शच्या नि दीधः।
और्णोर्दुर उस्रियाभ्यो विदृळ्होदूर्वाद्गा असृजो अङ्गिरस्वान्॥ ऋ. ६।१७।६

तू (तव) अपने (क्रत्वा) बुद्धि से, कर्म से, पुरुषार्थ से तथा (तव) अपने (दसनाभि) दृष्टान्तों से (आमासु) कच्चो मे (शच्या) बुद्धिपूर्वक (तत्) प्रसिद्ध (पक्वम) सर्वथा परिपक्वता (नि दीधः) डाल। (उस्रियाभ्यः) किरणा के लिये अथवा किरणा पर मे (दृळ्हा दुरः) दृढ प्रतिबन्धकों को (वि+और्णोः) खोल दे, दूर कर दे। और (अङ्गिरस्वान्) ज्ञानवान् होकर (ऊर्वात्) हिंसावृत्ति से (गा.) इन्द्रियों को (उत+असृजः) मुक्त कर।

किसी को कोई उपदेश देना है। वाणी की अपेक्षा क्रिया द्वारा दिया वह उपदेश अधिक प्रभावशाली होता है। गुरु अपरिपक्व मति, कच्चे विचार वाले शिष्यों म परिपक्वता लाना चाहता है, यह कथन मात्र से नहीं आयेगी। करके समझानी होगी।

तव क्रत्वा तव तद्दसनाभिरामासु ' दीध =

अपने कर्म तथा दृष्टान्तों से बुद्धिपूर्वक कच्चो मे प्रसिद्ध परिपक्वता डाल।

परिपक्वता लाने वाले कर्म स्वय भी करते रहना चाहिये। उनको देख कर शिष्य को उत्साह मिलेगा। अपने उत्कर्ष की सिद्धि के साधन भी बनाते रहना चाहिये।

एक बात का विचार करना आवश्यक है वह यह कि कच्चों को परिपक्व करते हुए उनके सामर्थ्य और योग्यता की परीक्षा कर लेनी चाहिये। दूसरे की योग्यता की परीक्षा के लिये बुद्धि चाहिए। अत वेद कहता है—**शच्यानिदीध** बुद्धि से परिपक्वता डालनी चाहिये। आग अधिक हो, तो जल जाता है। कम हो तो कुछ कच्चा रह जाता है। यह ज्ञान से निर्णय करना होगा कि किसको कितनी आंच दी जाये। कच्चे पात्र तक जाने के लिये तपाने वाली किरणा के मार्ग म प्रबल बाधायें हैं। अत वेद आदेश करता है—

और्णोर्दुर उस्रियाभ्यो विदृळ्हा=किरणों पर से प्रबल, कठोर प्रतिबन्धक=द्वार को खोल दो।

जन्म जन्मान्तरो के संस्कार मनुष्य को तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं करने देते। आलस्य प्रमाद सुखालसा आदि अनेक विघ्न हैं जिन से ज्ञान-प्रकाश प्राप्त होने म बाधा रहती है। उन सब को हटाये बिना ज्ञानकिरण क्या रहेगी।

मनुष्यों के सभी दोषों म हिंसा प्रधान दोष है। वेद इससे इन्द्रियों को बचाना चाहता हुआ कहता है।

ऊर्वाद्गा असृजो अङ्गिरस्वान=ज्ञानवान होकर हिंसा वृत्ति से इन्द्रियों को मुक्त करना है।

अङ्गिरस्वान का अर्थ है प्राणवान। प्राण को वश करके इन्द्रियों को हिंसा से बचाना चाहिये।

सभी पुष्टि के लिये तुझ एक बली को धारते हैं

ओ३म् । अध त्वा विश्वे पुर इन्द्र देवा एक तवसं दधिरे भराय ।

अदेवो यदभ्यौहिष्ट देवान्त्स्वर्षाता वृणतइन्द्रमत्र ॥ ऋ० ६।१७।८

हे (इन्द्र) बलवन भगवन् । (अध) अतएव (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् ज्ञानी (भराय) भरण पोषण के लिये, संग्राम के लिये (त्वा) तुझ (एकम) अद्वितीय (तवसम्) बल को, बल को (पुनः+दधिरे) धारण करते हैं, आदर्श बनाते हैं। (अदेवः) मूर्ख अज्ञानी (तत्) ज (देवान्) विद्वानों के (अभि+औहिष्ट) सम्मुख तर्क वितर्क करता है अतः (अत्र) इस विषय इस संसार में (स्वर्षाता) सुख प्राप्ति के लिये, ज्ञानी (इन्द्रम) अज्ञाननाशक को (वृणते) चुनते वरण करते हैं।

इस से पूर्व मन्त्र में आया है—

पप्राथ क्षां महि दंसो व्युर्वीमुप द्यामृष्वो बृहदिन्द्र स्तभाय: ।

अधारयो रोदसी देवपुत्रे प्रत्ने मातरा यह्वी ऋतस्य ॥

जगदाधार भगवान ने महती पृथिवी, विशाल अन्तरिक्ष महान् प्रकाशाधार द्यौलोक को प्रथित कि बनाया तथा थाम रखा है। ऋत के बली, देवपुत्र द्यावापृथिवी को वही धारण करता है।

जब वही सब को धारण करता है, तो सभी का भरण पोषण भी वही करता है। ज्ञानी जन इस त को जानते हैं अत

त्वा विश्वे ... भराय=

संग्राम के लिये जीवन संग्राम के लिये भरण पोषण के लिये विद्वान् उस महाबली को अ रखते हैं।

जो इन अप्रतर्क्य, अचिन्त्य, असंख्य ब्रह्माण्डों को उत्पन्न करता, पालता, तथा धारता है। उसके का क्या कहना ? बलप्राप्ति के लिये ज्ञानी जन उसी का आदर्श बनाते हैं। जितना बड़ा आदर्श होता है, उत अधिक साधन में उत्साह होता है।

विद्वान और मूर्खों में जब तर्क वितर्क हो, तब भी विद्वान जन वृणत इन्द्रमत्र अज्ञाननिवारक भगव का वरण करते हैं।

थोड़े में वेद ने समझा दिया कि भगवान में केवल भरण धारण का अतुल बल ही नहीं है, प्रत अज्ञाननिवारण का पूर्ण सामर्थ्य भी उसी में है।

इस का एक व्यावहारिक अर्थ है कि जो महाविद्वान अज्ञानियों के अज्ञान हरण का पुण्य कार्य लगते हैं, उन्हें सदा भगवान् को अपनाये रखना चाहिये, ताकि उस महास्थान से सम्बन्ध बना रहे, और त प्रसाद सदा मिलता रहे।

मूर्ख को भी कह दिया कि तर्क वितर्क करना है, तो ज्ञानी से कर, मूर्ख से मत कर।

इस प्रकार महान् बलवान्, अज्ञानविदारण भगवान को आदर्श बनाने से मनुष्य में भी उत्तरोत्तर ज्ञ और बल की वृद्धि होकर अज्ञान तथा दुर्बलता का सतत ह्रास और नाश होता रहता है।

शिल्पी सहस्रभृष्टि वज्र बनाये

ओ३म् । अध त्वष्टा ते मह उग्र वज्रं सहस्रभृष्टिं ववृतच्छताश्रिम् ।

निकाममरमणस येन नवन्तमहिं सं पिणगृजीषिन् ॥ ऋ० ६।१७।१०

हे (ऋजीषिन्) सीधा करने वाले । और हे (उग्र) उग्र । (अध) और (त्वष्टा) शिल्पी (ते) तेरे लिये (महः) महान् (सहस्रभृष्टिम्) हजारों को भून देने वाले तथा (शताश्रिम्) सैंकड़ो अश्रियां = कोणों वाले (वज्रम्) वज्र को (ववृतत्) बनाये, (येन) जिसके द्वारा तू (निकामम्) नितरां (अरमणसम्) अरमणीय (नवन्तम) झुकाने वाले (अहिम) कुटिल शत्रु को (सं+पिणक्) भली प्रकार पीस दे ।

वेद में सैंकडों प्रकार के आयुधों के निर्माण तथा प्रयोग की चर्चा है । उन में वज्र प्रधान प्रतीत होता है । वज्र भी कई प्रकार का है । एक आयस वज्र का वर्णन भी कई स्थानों में है । उदाहरणार्थ एक यहां उपस्थित किया जाता है—

हरिवान् दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् । ऋ० १।८१।४=

हरणशक्ति सपन्न सैनिक हाथों में 'आयस वज्र' धारण करता है ,

'आयस' का अर्थ है, लोहे का बना हुआ । इसी प्रकार 'हिरण्य वज्र' का उल्लेख भी है—

त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्यं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत् । ऋ० १।८५।६

उत्तम कारीगर त्वष्टा उत्तम रीति से बने हुए 'सहस्रभृष्टि' 'हिरण्य वज्र' को बनाता है ।

सहस्रभृष्टि का अर्थ है एक साथ हजारों को भून डालने वाला कदाचित यह आज कल की मशीन गन [घन] **Machine gun** के समान कोई आयुध हो ।

एक 'सायक वज्र' की चर्चा भी है—

वज्रं हिन्वन्ति सायकम् ॥ ऋ० १।८४।११ = 'सायक वज्र' का प्रयोग करते हैं ।

इस प्रकृत मन्त्र में 'सहस्रभृष्टि शताश्रि वज्र, का वर्णन है । 'शताश्रि' का अर्थ सैंकडो कोणों वाला अथवा एक साथ सैंकड़ों गोली छर्रे आदि फैंकने वाला' हो सकता है । इसी प्रकार 'तेजिष्ठा वर्त्तनि' 'शिता गभस्ति, अशनि' विद्युत', 'ऋष्टि', 'मुष्टि', 'स्वाधि', 'पवि', 'वाशी' 'वकुर' 'परशु' 'इषु' 'शर' 'सायक' 'निषङ्ग' 'धुनि' 'खादि' अनेक शस्त्रों अस्त्रों का उल्लेख है । इन में से कई ऐसे हैं जिन का ठीक ठीक स्वरूप भी लोगों को भूल चुका है ।

वैदिक काल में वेद का एक उपवेद 'धनुर्वेद' नाम से प्रसिद्ध था । उस उपवेद पर अगस्त्य भरद्वाज, उशनाः, आदि अनेक ऋषियों ने अपने ग्रन्थ लिखे थे । क्षात्रधर्म का त्याग करने से क्षत्रियों के साथ क्षत्रियों के समस्त उपकरणों का भी लोप होगया है



२६३

दो मार्ग

ओ३म् । द्वे स्रुती अशृणव पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।

ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ऋ० १०।८८।१५

मैं (पितृणाम्) पितरों, (देवानाम्) देवों (उत) और (मर्त्याम्) मरणधर्माओं के (द्वे) दो (स्रुति) मार्ग (अशृणवम्) सुनता हूं । (ताभ्याम्) उन दोनों से (इदम्) यह (विश्वम्) जगत् (एजत्) गति करता हुआ (समेति) आ जा रहा है, और (यत्) जो (पितरम्+मातरं+च) पिता माता के (अन्तरा) सम्बन्ध से है ।

मनुष्यों में सकाम और निष्काम दो भेद हो सकते हैं । निष्काम मनुष्यों को देव कहते हैं ।

अकामा विश्वे वो देवा. शिक्षन्तो नोप शेकिम (ऋ. ६।११४।३)=

हम अकाम=कामना रहित देव तुम्हें शिक्षा देते हुए भी नहीं कर सके ।

निष्काम मनुष्यों=देवों का मार्ग देवयान होता है । शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—**सत्यं वै देवाः=** देव सर्वथा सत्य होते हैं । अतएव—**सत्येन पन्था विततो देवयान , येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामाः=**

देवयान=देवों के जाने का मार्ग सत्य से विस्तृत है, इस मार्ग में आप्तकाम ऋषि चलते हैं ।

देवयान का फल मोक्ष है ।

दूसरा मार्ग पितृयान है । जिस मार्ग में चलने पर मनुष्य पिता बनता है । पिता बनने का अभिप्राय है जन्म मरण के चक्कर में आते रहना ।

सारा संसार इन्हीं दो मार्गों में चल रहा है । मुण्डकोपनिषत् १।२।१०-११ में इन दो गतियों का मार्मिक वर्णन है—**इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।**

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वाविशन्ति ॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।

सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

इष्ट और पूर्त को ही सबसे बढ़िया मानने वाले अति मूढ जन उस से अतिरिक्त श्रेयः=कल्याण को नहीं जानते । वे अपने कर्मों से जन्य सुखावस्था का अनुभव करके हीनतर दशा को प्राप्त होते हैं । किन्तु जो शान्त विद्वान् सन्यासी होकर वन में रहते हुए तप और श्रद्धा का अनुष्ठान करते हैं, वे निष्पाप महात्मा सूर्यद्वार से वहां पहुंचते हैं जहां वह अविनाशी अविकारी पूर्ण पुरुष है ।

सामाजिक सुखसमृद्धि के साधना को इष्टापूर्त कहते हैं । जो केवल सांसारिक सुख को ही सब कुछ मानते हैं, मोक्ष का जिन्हें विचार तक नहीं आता, वे यदि सत्कर्मी हैं, तो अपने उन सत्कर्मों का फल सुख इस जन्म या दूसरे जन्म में भोगकर फिर हीन अवस्था में आते हैं, क्योंकि सुखदायक उपाय अपना फल दे चुके होते हैं । इसके विपरीत विषयभोग में दोषदर्शन के द्वारा विरक्त, चञ्चलतारहित होकर मोहमाया के बन्धनों को जो काट चुके हैं, वे महापुरुष श्रद्धापूर्वक तप में लग जाते हैं, और परम पुरुष को प्राप्त कर परमानन्द को प्राप्त करते हैं ।

पहला मार्ग पितृयान है, दूसरा देवयान है । उपनिषदों में इन दोनों मार्गों का विस्तृत उल्लेख है ।

व्रतरहितों को व्रतसहित करना

ओ३म् । स वो मनांसि स व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥
ओ३म् । अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ अ. ६।९४।१,२ ॥

(वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (सं+नमामसि) एक समान हम झुकाते हैं तुम्हारे (व्रता) व्रतों को (सम्) एक समान झुकाते हैं। तुम्हारे (आकूतीः) सकल्पों को (सम्) एक समान झुकाते हैं। (अमी) ये (ये) जो तुम (विव्रताः) व्रतरहित (स्थन) हो, (तान्) उन (वः) आपको हम (सं+नमयामसि) एक समान झुकवाते हैं । (अहम्) मैं (मनसा) अपने मन से (मनांसि) तुम्हारे मनों को (गृभ्णामि) पकड़ता हूं। लेता हू, ग्रहण करता हू। (चित्तेभि) अपने चित्तों से (मम) मेरे (चित्तम्+अनु) चित्त के अनुकूल (एत) चलो। मैं (व.) तुम्हारे (हृदयानि) हृदयों को (मम) मेरे अपने (वशेषु) वश में (कृणोमि) करता हू। (मम) मेरे (यातम्) मार्ग के (अनुवर्त्मानः) अनुकूल मार्ग वाले होकर (एत) चलो।

आचार्य्य शिष्यों का उपनयन करते कहते हैं—

स वो मनांसि ।

आचार्य्य का कर्त्तव्य है कि उपनीत शिष्यों के मनों को समन=उत्तम मन वाला बनाये। वे बालक हैं, उन्हें अपने ध्येय का ज्ञान नहीं है, ज्ञान हो भी तो पूरा आभास नहीं होता । आचार्य्य का कर्त्तव्य है कि शिष्य की रुचि प्रवृत्ति आदि देखकर उसके व्रत=सव्रत का निश्चय करे और शिष्य को उसके अनुकूल चलाये। मन के परिष्कार के लिये सकल्प का सुधार सबसे मुख्य है। मनोविज्ञान शास्त्र के प्रकाण्ड पाण्डित्य के बिना यह कार्य्य नहीं हो सकता। मनोविज्ञान के महाविद्वान् आचार्य्य का कार्य्य है कि वह शिष्य की मनोवृत्तियों के आधार से उनके सकल्पों को जाने, और उन्हें उद्विग्न किये बिना उनका सुधार करदे। निस्सन्देह यह कार्य्य अत्यन्त कठिन है, किन्तु आचार्य्य का आचार्यपन भी इसी मे है। यास्काचार्य्य ने कहा है—

आचार्य्य कस्मात् ? आचार ग्राहयति (निरु)

आचार ग्रहण कराने के कारण आचार्य्य आचार्य है।

आचार का ग्रहण कराना सकल्प सुधार के बिना असम्भव है। अत आचार्य्य कहता है—

अमी ये विव्रता स्थन ।

ये जो तुम व्रत रहित हो उनको व्रत के लिये झुकाता हूँ। जब सामने व्रत=लक्ष्य न हो, उसके लिए

सकल्प बन ही नहीं सकता। व्रत का निश्चय होने पर ही मन और सकल्प का उसके अनुकूल करना आचार्य का कार्य है। अर्थात यह आचार्य के अधिकार में है कि वह शिष्य को जैसा चाहे बना दे। इसी कारण कदाचित् महर्षि मनु ने लिखा है--

आचार्यस्त्व यां जातिं विधिवद् वेद पारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा॥ २।१४८॥

वेदज्ञ आचार्य वेदाध्ययन द्वारा अपने शिष्य को जो वर्ण बनाता है, वही सच्चा है, वही अजरामर है।

इस मन्त्र के पूर्वार्ध का एक अर्थ यह भी है कि 'तुम्हारे मनों व्रतों और सकल्पों के अनुकूल हम झुकते हैं।' अर्थात् आचार्य शिष्यों को कह रहे हैं, 'हम ऊपर से नीचे आएगे और तुम्हारे मनों व्रतों एवं संकल्पों को जानकर तुम्हे ऊपर उठाएगे।

आचार्यों की यह उक्ति महत्वपूर्ण है। जब तक ससार के आचार्य इस वैदिक वाग् के अनुसार व्यवहार करते रहे। ससार में श्रेष्ठ मनुष्यों का बाहुल्य रहा।

आचार्यों की इस सद्भावना को उत्तरार्ध में बहुत स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है।

अगले मन्त्र मे आचार्य शिष्यों को अपना अनुसरण करने का उपदेश कर रहा है। पारस्कर गृह्य सूत्र मे इसी मन्त्र का अनुवाद कर, इसे गुरु शिष्य की पारस्परिक प्रतिज्ञा का रूप दे दिया गया है--

मम व्रते ते हृदय दधामि मम चित्तमनुचित्त ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

मै अपने लक्ष्य मे तेरे हृदय को लगाता हू तथा तेरे व्रत में अपने हृदय को लगाता हूँ। मेरा चित्त तेरे चित्त के अनुकूल हो, तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो। मेरी बात सावधान होकर सुन। भगवान् ने तुझे मेरे लिये किया है।



नीचे पड़े को ऊपर उठाने वाला प्रशंसनीय

ओ३म् । अरमयः सरपसस्तराय कं तुर्वीतये च वय्याय च स्रुतिम् ।
नीचा सन्तमुदनयः परावृजं प्रान्धं श्रोणं श्रवयन्त्सास्युक्थ्यः ॥ ऋ २।१३।१२॥

तू (सरपसः) अपराधियों को, पापियों को (तराय) तरने के लिये (कम्) सुखपूर्वक (अरमयः) रमण कराता है, (च) और (स्रुतिम) विविध प्रकार की गति को (तुर्वीतये) साधनों से व्याप्ति के लिये (च) और (वय्याय) विस्तार के लिये, [कराता है], (नीचा+सन्तम्) नीच हुए हुए को (उद्+अनयः) ऊपर उठाता है, उन्नति करता है, (परावृजम्) सर्वथा वर्जित को, (अन्धम्) अन्धे को (प्र) उत्तम रीति से दिखाता है; (श्रोणम्) बहिरे को (श्रावयन्) सुनाता है, श्रवणशक्तियुक्त कर देता है। (सः) ऐसा तू (उक्थ्य) प्रशंसा करने योग्य है।

अल्पज्ञता के कारण, तथा अविद्या के कारण और दुराग्रह की प्रबलता के कारण मनुष्य से अपराध होते हैं। यही मनुष्य का गिरावट है। गिरते पर हंसना खलों का दुष्टों का काम है। सज्जन उस पर करुणा करते हैं। इसी भाव को लेकर वेद का उपदेश है—

अरमयः सरपसस्तराय कं =

पापियों को तराने के लिये सुखपूर्वक रमण कराते हो।

योग्य धार्मिक को सभी प्यार करते हैं। सच्ची वीरता पापी को पाप से हटा कर धर्म्म पर लाने में है। यह महत्कार्य्य पापी पर घृणा करने से नहीं हो सकता। पाप से घृणा करो, पापी से मत करो। जिसकी प्राप्ति के लिये तुम दान-पुण्य, भगवदाराधन करते हो, उसी की प्राप्ति के लिये वह पापपथ का पथिक बना है। यह उसकी भूल है। भूला भटका मनुष्य फटकार का पात्र नहीं होता, वह तो करुणा का पात्र है। अतः—नीचा सन्तमुदनय

नीचे गिरे को ऊपर उठा, अन्धे को रूप दिखा और बहिरे को शब्द सुना। यह कार्य साधारण जनों का नहीं है, प्रत्युत देवों का है।

उत देवा अवहितं उत देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ अ. ४।१३।१॥

देव गिरे हुओं को बार बार उठाते हैं, पाप करने वाले को बार बार जिलाते हैं।

पाप करना मानो मरना है। पापी को पाप से हटा कर धर्म्ममार्ग पर उसे जिलाना है, नया जीवन दान देना है। जीवन दान कितना महान् कार्य्य है।

जिसके आंखें नहीं हैं, उससे पूछो आंखों का मूल्य। बहिरे से श्रवणेन्द्रिय का महत्व सुनो। अन्धे को आंख देना उसको नया जीवन देना है। अन्धकारमय संसार से उद्धार करके आलोकमय लोक में लाना है। अन्धे का संसार सूना होता है। आंखें देकर उसके उजड़े घर को बसाना है।

पापी की भी हृदय की आंख फूट गई है। उसे पाप-पुण्य में भेद प्रतीत नहीं होता। विवेक नेत्र, ज्ञान नेत्र देकर उसका पुनर्जन्म करना है।

पतितोद्धार सचमुच पवित्र कार्य है। इसकी जितनी प्रशंसा की जाये, थोड़ा है।

भगवान् का मन्यु जो कुछ करता है उसे—

ओ३म् । न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः ।
यदस्य मन्युरधिनीयमानः शृणाति वीळु रुजति स्थिराणि ॥ ऋ० १०।८९।६

(न) न (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (न) न (धन्व) जल (न) न (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (न) न (अद्रयः) पर्वत और (सोमः) सोम (यस्य) जिसके [सामर्थ्य को] (अक्षाः) प्राप्त करते हैं (यत्) जैसे (अधिनीयमान) अधिकार पूर्वक प्रयोग किया जाता हुआ (अस्य) उस भगवान् का (मन्युः) मन्यु (शृणाति) काटता है, वह (स्थिराणि) स्थिर पदार्थों को भी (वीळु) बलपूर्वक (रुजति) तोड़ फोड़ देता है ।

द्यौ अन्तरिक्ष, पृथिवि, पर्वत, समुद्र आदि जगत् के पदार्थों के सामर्थ्य का तनिक विचार कीजिये । पृथिवी का एक नाम पूषा=पुष्टि करने वाली, पालने वाली है । समस्त प्राणियों की—कीट से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों की पालना करती है । इसी दृष्टि से वेद में अनेक स्थानों पर पृथिवी को माता कहा गया है । भारी भरकम पर्वतों का धारण करना, नदी नाले समुद्रों को अपने उर स्थल पर स्थान देना महती शक्ति की सूचना दे रहा है । विविध पदार्थों की, जितनी गणना और इयत्ता मनुष्य भी पूर्णरूपेण नहीं जान सका । उत्पादिका होने से यह पृश्नि कहलाता है ।

द्यौ कितना विशाल है । पृथिवी से कई लाख गुना विशाल सूर्य द्यौ में रहता है । वेद कहता है— 'सप्त दिशो नाना सूर्याः (ऋ० ९।११४।३) अनन्त सूर्य हैं । असंख्य ग्रह, उपग्रह नक्षत्र, ध्रुव, आकाशगंगा आदि सभी द्यौ में रहते हैं । निस्सन्देह द्यौ ससीम है, किन्तु मनुष्य उसकी ससीमता का निर्धारण न कर सका । इसी भांति पृथिवी और द्यौ को अन्तरालवर्ती अन्तरिक्ष की महिमा भी विशाल है ।

इन अति विशाल पदार्थों को जाने दीजिए । पृथिवी में कील के समान गड़े पर्वतों को देखिये । कहीं हिम से आच्छन्न हैं, कहीं वृक्षों से लदे हैं, कहीं सर्वथा निरावरण—नंगे हैं । इनमें आग है, पानी है । तालम है सोना है, चांदी है, लोहा है तांबा है, और क्या नहीं है, यह कहना कठिन है ।

यह सब मिलकर भी उसकी सत्ता को नहीं पा सकते । इसके विपरीत उसका मन्यु दास्यवे. वह शृणाति काट छांट देता है । वीळु रुजति स्थिराणि=स्थिर पदार्थों को भी तोड़ देता है ।

मन्यु का अर्थ लौकिक संस्कृत में क्रोध होता है किन्तु वैदिक भाषा में सभी शब्दों के यौगिक होने के कारण उसका अर्थ है— मननपूर्वक, आवेशपूर्व किसी कार्य का सम्पादन । इस यौगिक, सिद्धान्त के कारण ही मन्यु के सम्बन्ध में आता है—

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युं विश ईळते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥ ऋ० १०।८३।२

मन्यु इन्द्र है, मन्यु ही देव है, मन्यु ही होता, वरुण और जातवेद है । मानुष प्रजाएं मन्यु की पूजती या चाहती हैं, तप का प्रेमपूर्वक सेवन करने वाले मन्यो तू हमारी रक्षा कर ।

ऋ० १०।८३ में मन्यु कई पदार्थों के लिये प्रयुक्त है । ऋ० १०।८४।२ में मन्यु को सेनानी=सेनानायक भी कहा गया है —अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि

हे मन्यो । अग्नि की भांति तेजस्वी सबको दबा. और सेनानी=सेनानायक होकर, आमन्त्रित होकर युद्ध में समर्थ हो । प्रकृत मन्त्र में मन्यु का अर्थ भगवान् का प्रलयकारक बल है, वह समुद्र को सुखा देता है, पृथिवी को धूलि बनाता है, तेजोमय सूर्यादि का निस्तेज कर देता है ।

२६७

उत्तम मननशील (मनुष्य)

ओ३म् । स यो न मुहे न मिथू जनो भूत्सुमन्तुनामा चुमुरिं धुनिं च ।
वृणक् पिप्रुं शम्बरं शुष्णमिन्द्रः पुरां च्यौत्नाय शयथाय नू चित् ॥ ऋ. ६।१८।८

(य.) जो (जन.) मनुष्य (न मुहे) मोह में नहीं पड़ता और (न) ना ही (मिथू) मिथ्यावादी (भूत्) होता है, जो (इन्द्रः) पापनाशक मनुष्य (चुमुरिम्) प्रजा को खाने वाले (च) और (धुनिम्) प्रजा को कपाने वाले, (पिप्रुम्) अपना पेट भरने वाले (शम्बरम्) प्रजासुख को रोकने वाले (शुष्णम्) प्रजाशोषक को (पुराम्) पुरों को (च्यौत्नाय) प्राप्त करने तथा (शयथाय) सुलाने के लिये (नू + चित्त भी—(वृणक्) नष्ट कर देता है, (सः) वह (सुमन्तुनामा) सुमन्तु=उत्तम मननशील मनुष्य नाम वाला है।

इस मन्त्र में मनुष्य के 'सुमन्तु'=उत्तम मननशील नाम का प्रयोग किया गया है। शास्त्रों में मनुष्य का लक्षण लिखा है—

मत्वा कर्म्माणि सीव्यति=जो मनन करके कार्य्य करे। मनुष्य समन्तु, मनु पर्य्यायवाची शब्द हैं। जो मननशील है, जिसका स्वभाव विचारपूर्वक कर्म्म करने का है, वह प्राय मोह में नहीं पड़ता। उसे मोह उन्मादक बुद्धिनाशक भासता है, अत. वह सदा सावधान रहता है। मनुष्य को मिथ्या भी नहीं बोलना चाहिये। इस सबसे बढ़कर उसका कर्त्तव्य है कि वह अन्याय और अत्याचार का विरोध करे। कदाचित् इसी मन्त्र का भाव हृदय में रखकर महर्षि ने लिखा है—

"मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्म्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे, इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, और प्रियाचरण, और अधर्मी चाहे चक्रवर्त्ती सनाथ, महाबलवान् और गुणी भी हों, तथा उस का नाश, अवनति, और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्ययाकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म्म से पृथक् कभी न होवे।" इसी भाव से भर्तृहरि जी ने कहा है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्याय्यात्पथः प्रविचलन्तिपदं न धीराः ॥

नीतिनिपुण लोग चाहे निन्दा करें। सम्पत्ति आये, चाहे जाये। आज ही मृत्यु आ जाये, और चाहे युगयुग जीवन रहे, किन्तु धीर मनुष्य न्याययुक्त मार्ग में पग नहीं हटाते।

न्याययुक्त मार्ग कहो, धर्म्म कहो. एक ही बात है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्म्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतु. (महाभारत)

कामना के वश होकर, लोभ से अभिभूत होकर भयभीत होकर जीवन के निमित्त भी कभी धर्म्म का त्याग न करे। व्यास जी ने भी वही बात कही। स्पष्ट है, मौ सियाने एक मत।

दुःखियों की सेवा करने वाले की सभी प्रशंसा करते हैं

ओ३म् । अनु त्वाहिघ्ने अध देव देवा मदन् विश्वे कवितमम कवीनाम ।
करो यत्र वरिवो बाधिताय दिवे जनाय तन्वे गृणान ॥ ऋ. ६।१८।१४

(अध) अब, हे (देव) देव । दिव्यगुणयुक्त । (अहिघ्ने) पापनाश के निमित्त (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) देव, दिव्यगुणसम्पन्न जन (त्वा) तुझ (कवीनाम) कवियों में (कवितमम) सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी के (अनु) अनुकूल (मदन्) आनन्दित हो रहे हैं, (यत्र) जिस काल में तू (तन्वे) शरीर के लिये (गृणानः) पुकारा जाता हुआ (दिवे) सुप्त, प्रमादग्रस्त (बाधिताय) पीड़ित (जनाय) जन के लिये [की] (वरिव) सेवा (करः) करता है ।

ज्ञानी कौन ? जिसे पाप से घोर घृणा हो । वह सब ज्ञानी=महाकवि=कविराज, जिसके भीतर पाप से युद्ध करने की उग्र भावना हो । और वह कवियों का कवि=कवीनां कवितमः, जो पाप को मार देता है ।

सचमुच उस जैसा क्रान्तदर्शी कौन हो सकता है । जो पाप में होने वाले भयङ्कर परिणामों का विचार करके पाप नाश कर देता है । भयङ्कर से भयङ्कर युद्ध इतना भयङ्कर नहीं होता जितना पाप से युद्ध । वेद में इस युद्ध का अनेक रूपों में वर्णन है ।

जिस प्रकार, सूर्य जब मेघ को छिन्न भिन्न कर देता है तब संसार में हर्षोल्लास का विकास होता है, उसी प्रकार जब मनुष्य आत्मगत पाप अहि को मार देता है तो उसके सारे दिव्य गुण चमकने लगते हैं । जब आत्मक्षेत्र में सफलता प्राप्त करके वह महाज्ञानी समाज-क्षेत्र में अवतीर्ण होता है और समाजगत दोषों, अपराधों के साथ युद्ध आरम्भ करता है और जब वह अपने पुरुषार्थ से समाजशुद्धि करने में सफलता प्राप्त करता है,

अनुत्वाहिघ्ने अध देव देवा मदन् विश्वे कवितमम कवीनाम्

तब पापनाश के निमित्त सब जीवजात इस कवियों के कवितम के विजय पर हर्षित होते हैं ।

पाप-विनाश का एक रूप है कि दरिद्रों के दुःखों को दूर करना । समाज की विषमव्यवस्था के कारण दुःखियों को बहुत कष्ट होता है । समाजगत-विषमता के विषमता के विनाश का ढंग ही यही है कि पीड़ितों की पीड़ा को दूर किया जाये । अतः वेद कहता है—

करो यत्र वरिवो बाधिताय जनाय—

जब बाधित=पीड़ित=दुःखग्रस्त जन की सेवा करता है ।

किसी दुःखी की सेवा करने से सेवा करने वाले के हृदय में कितना उल्लास होता है और जिस पीड़ित की सेवा की गई है, जिसका दुःख दूर किया गया है, उसके मन से पूछो, उसके मन की क्या अवस्था है ?

वेद यह स्पष्ट कहता है कि जो बाधित हैं पीड़ित हैं उनके बाधित होने में केवल समाज ही अपराधी नहीं है, वरन् बाधित का अपना भी अपराध है । वह अपराध है प्रमाद । इस को कहने के लिये वेद ने 'जनाय' का विशेषण भी दिया है । आलस्य और प्रमाद के कारण मनुष्य को अनेक प्रकार की हानियां उठानी पड़ती हैं । सुप्त=प्रमादी का मानो दिव्य गुण भी नहीं चाहते । अतः जो बाधित हैं, उन्हें प्रमाद, आलस्य, तन्द्रानिद्रा को छोड़ पुरुषार्थ और उद्यम को अपनाना चाहिये ।

राजा

ओ३म् । तूर्वन्नोजीयान् तवसस्तवीयान् कृतब्रह्मेन्द्रो वृद्धमहाः ।

राजाभवन्मधुनः सोम्यस्य विश्वासा यत्पुरा दर्त्नुमावत् ॥ ऋ० ६।२०।३

(तूर्वन्) शत्रुनाशक (ओजीयान्) अधिक ओजस्वी (तवसः+तवीयान्) बलवान् से भी बलवान्, (कृतब्रह्मा) अन्न, धन, ज्ञानादि के सचय का प्रबन्ध करने वाला, (वृद्धमहा·) बड़ी शान वाला, बडे बूढों का सत्कार करने वाला मनुष्य (यत्) जब (विश्वासाम्) सम्पूर्ण (पुराम्) शत्रु नगरों की (दर्त्नुम्) विदीर्ण करने वाली सेना का (आवत्) सग्रह करे और रखे, तब वह (सोम्यस्य) शान्तिदायक (मधुनः) मिठास का (राजा) राजा (अभवत्) होवे ,

वेद में राष्ट्रधर्म्म का बहुत सुन्दर उपदेश है, राजा, प्रजा, सभा (**Legislative Coucil**) समिति (**Military Council**) परिषत् (**Cabinet**) सभासद आदि सभी के कर्त्तव्यों का बहुत विशद वर्णन है । उस सब के लिये एक एक पृथक् पुस्तक चाहिये । यहा केवल अत्यन्त थोडे से शब्दों मे राजा के गुणों का वर्णन करते हैं ।

१. **तूर्वन्**=शत्रुनाशक । **प्रजारञ्जनात् राजा**=प्रजाओं को प्रसन्न रखने मे राजा का राजत्व है । प्रजा की प्रसन्नता तभी रह सकती है, जब वह अन्तरग और बहिरङ्ग शत्रुओं के उपद्रवों से रहित हो ।

२. **ओजीयान्**=दूसरों से अधिक ओजस्वी । यदि दूसरों से अधिक ओजस्वी न हो, तो वह राज्य में व्यवस्था स्थिर न रख सकेगा ।

३. **तवसस्तवीयान्**=बलवान् से भी बलवान् । ओज के लिये बल चाहिये । ओजस्वी होने के साथ सर्वाधिक शक्तिमान् हो ।

४. **कृतब्रह्मा**=धन, अन्न, ज्ञान का सचय करने वाला । राज्य मे व्यवस्था के लिये जिन पदार्थों की आवश्यकता हो, उनका सग्रह करने वाला हो ।

५. **वृद्धमहा**=वृद्धों की पूजा करने वाला हो । इस कर्म से राष्ट्र मे उसका शासन अक्षुण्ण बना रहता है ।

६. **विश्वासा पुरा दर्त्नुमावत्**=समस्त शत्रुनगरों को नष्ट करने वाली सेना का रक्षक हो—अर्थात्—विजयिनी सेना का अधिपति हो । ऋ० ७।३४।११ म कहा है—

राजा राष्ट्राना पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्र विश्वायु

राजा राष्ट्रों [राष्ट्रवासियों] तथा नदियों [गर्जने वाली सेनाओं] का रूप होता है । इसके लिये सदा अदम्य क्षत्र=क्षात्र बल हो ।

राजा एक प्रकार से समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है, अत वह सब का रूप है ।

ऋ० ४।२२।२ मे राजा के सबन्ध मे कहा मे—

वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजा=यह राजा सभी क्षत्रियों मे श्रेष्ठ हो ।

उसी के सबन्ध मे ऋ० ४।२२।३ मे पुन कहा है—

अयमस्तु धनपतिर्धनानामय विशा विश्पतिरस्तु राजा=

यह राजा धनियों का धनी हो, और प्रजाओं का स्वामी हो ।

राजा धनेश्वर, ज्ञानी, तेजस्वी, ओजस्वी, बली, विविध सद्गुण-सपन्न प्रजारक्षक होना चाहिये ।

वृद्धों की सेवा

ओ३म्। त्वं वृष इन्द्र पूर्व्यो भूर्वरिवस्यन्नुशने काव्याय।
परा नववास्त्वमनुदेयं महे पित्रे ददाथ स्वं नपातम्॥ ऋ० ६।२०।११

हे (इन्द्र) ऐश्वर्यसम्पन्न! (त्वम्) तू (वृष.) वृद्धों की (वरिवस्यन्) सेवा करने वाला और (पूर्व्य.) अपने पूर्वजों का हितकारी (भूः) हो और (उशने काव्याय) चाहने योग्य ज्ञानी के लिये तथा (महे) पूज्य (पित्रे) पिता के लिये (नववास्त्वम्) नया बसने योग्य घर आदि सामान तथा (नपातम्) अटूट (स्वम्) धन तथा (अनुदेयम्) बाद में देने योग्य, दक्षिणादि (परा ददाथ) दिया कर।

ऐश्वर्य प्राप्त करके मनुष्य प्रायः प्रमादी हो जाता है। और अपना-कर्त्तव्य भूल जाता है। धन की ऐंठ में आकर माता पिता आदि तथा ज्ञानियों की उपेक्षा तथा अनादर करने लगता है। वेद सावधान करता हुआ वृद्ध आदि की सेवा का आदेश करता है।

युवक की अपेक्षा वयोवृद्धों को संसार का अनुभव अधिक होता है। उन्होंने अपने जीवन में अनेक ठोकरें खाई हैं, नाना उत्थान और पतन देखे हैं। विषम परिस्थिति में पड़ कर उनका कैसे निस्तार हुआ, इत्यादि का जो ज्ञान उन्हें है, युवकों में प्रायः उसकी सम्भावना न्यून होती है। दूसरों के अनुभव से लाभ उठाने वाला मनुष्य बहुत से दुःखों से बच जाता है। अतः वेद वृद्धों—ज्ञानवृद्धों, धर्मवृद्धों, वयोवृद्धों आदि की सेवा का विधान करता है।

कोई भी मनुष्य इस बात का कहने का साहस नहीं कर सकता, कि वह सब कुछ जानता है। सब कुछ केवल परमेश्वर जानता है। सब कुछ न जानने से अज्ञात विषयों में सदा सन्देह बना रह सकता है। सन्देह होने से कर्त्तव्य पूरा करने में बाधा आती है। अतः बुद्धिमान् सदा ज्ञानियों की परिचर्या करते रहते हैं। मनुष्य को सदा अपना ज्ञान बढ़ाते रहना चाहिये। किसी ने कहा भी है—**वयसा वर्द्धयेर्विद्याम्**=आयु के साथ विद्या को भी बढ़ा। यह तभी हो सकता है कि विद्यावृद्धों की सेवा की जाये। यही बात वेद ने कही है—**वरिवस्यन्नुशने काव्याय**=कमनीय क्रान्तदर्शी विद्वान् की सेवा कर।

माता पिता सन्तान के लालन पालन भरण-पोषण, संवर्द्धन में महान् कष्ट का अनुभव करते हैं। उसका निष्कृति किसी भी प्रकार नहीं हो सकती। अतः माता पिता आदि पूज्यों को स्थान, वस्त्र, अन्न, धन आदि जीवनोपयोगी पदार्थ सदा देता रहे। वैदिकधर्म में माता पिता की सेवा नित्य कर्त्तव्य है, इसके लिये एक 'पितृयज्ञ' नाम के महायज्ञ का विधान है। हमारे सब शास्त्र वृद्धों की सेवा का आदेश करते हैं।

मनु जी कहते हैं—

नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्॥=

वृद्धों की नित्य सेवा करने से, आयु, विद्या, यश और बल ये चार बढ़ते हैं।

३०१

इन्द्र कहां है ?

ओ३म् । यस्ता चकार स' कुहस्विदिन्द्रः कमा जन'चरति कासु विक्षु ।
कस्ते यज्ञो मनसे शं वराय को अर्क इन्द्रः कतमः स होता ॥ ऋ. ६।२१।४

(य) जो (ता) उन सब लोकलोकान्तरों को (चकार) बनाता है, (स + इन्द्रः) वह इन्द्र (कुह + स्वित्) कहां है ? और (कासु + विक्षु) किन प्रजाओं में (कम् + जनम्) किस मनुष्य के पास (आ + चरति) विचरता है । हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (ते) तेरा (कः) कौन (यज्ञः) यज्ञ (शम्) कल्याणकारी है ? (वराय) तुझे अपनाने के लिये (कः) कौन सा (अर्कः) मन्त्र, पूजासाधन है ? और (सः) वह (कतम) कौन है जो (होता) होता = स्वीकार करने वाला है ?

ऋ. ६।१६।१ में भगवान् के सम्बन्ध में आता है—'सुकृतः कर्तृभिर्भूत्' अपनी कर्तृत्वशक्तियों के द्वारा वह सुकृत है । और भी लिखा है कि वह सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों का निर्माता है । 'तमु ष्टुहि' उसी की स्तुति कर, ऐसा आदेश भी वेद में है । सृष्टि रचना देखकर अनुमान से भी निश्चय होता है कि इस विशाल संसार का कर्त्ता अवश्य होना चाहिये । किन्तु वह जब दीखता नहीं, तब मन में उद्वेग उत्पन्न होता है । उस उद्वेग को प्रश्न द्वारा व्यक्त किया है—

यस्ता चकार स कुहस्विदिन्द्र' =

यह प्रश्न अनास्था या अश्रद्धा का द्योतक नहीं, वरन् गहरी श्रद्धा तथा भक्ति का प्रकाशक है । अनुमान से जानी हुई वस्तु के प्रत्यक्ष होने की इच्छा का होना स्वाभाविक ही है । अगले प्रश्न हमारी धारणा के सर्वथा पोषक हैं । यथा—**कमा जन चरति कासु विक्षु**

वह किन प्रजाओं में [किस देश में] किस जन के पास विचरता है । अर्थात् बताओ, भगवान् को कौनसा देश प्यारा है ? कौनसी जाति विशेष भगवान् को अभीष्ट है ? और कौनसा मनुष्य ऐसा है जिसके पास भगवान् 'आ चरति' सब ओर से प्राप्त है ? अर्थात् मुझे बताओ मैं किस प्रजा, किस देश में जा बसूं ? भगवान् भक्त के वश में सुने जाते हैं । उस भक्त का पता बताओ । मैं उसके पास जाऊंगा । अहो ! कितनी व्यग्रता है !

यह व्यग्रता यहीं समाप्त नहीं हुई । अनुमान से भगवान के सम्बन्ध में यह सामान्य ज्ञान हो चुका है कि वह सर्वत्र विद्यमान है, सर्वत्र विद्यमान होने से सब की सुनता है । अतः उसे स्वयं सुनाने के भाव से पुकार उठता है—**कस्ते यज्ञो मनसे शम् =**

तेरा कौनसा यज्ञ = पूजाप्रकार मन के लिये शान्तिप्रद है ।

मन में अशान्ति है । प्रभो ! तू स्वयं ही बता, कैसे हम मन को—व्याकुल मन को कल पड़ेगी ? कौन सा श्रम है ? भगवान् ! मैं केवल मन की शान्ति ही नहीं चाहता । मैं तो तुझे चाहता हूं । अतः बता, बता, पितः—

वराय को अर्क = तुझे अपनाने का कौन मन्त्र है ? कौनसा गुप्त उपाय तुझे अपनाने का है ! क्या कोई ऐसा भी है जिस ने तुझे अपना रखा है ? **कतम. स होता** = वह स्वीकार करने वाला कौनसा है !

जब तक पूरी तड़प न हो भगवान् नहीं मिलते । पूरी तड़प का यह एक नमूना है ।

३०२

जितना तुझे जानते हैं उतना पूजते हैं

ओ३म् । त पृच्छन्तोऽवरास पराणि प्रत्ना त,इन्द्र श्रुत्यानु येमु ।
अर्चामसि वीर ब्रह्मवाहो यादेव विद्म तात् त्वा महान्तम् ॥ ऋ. ६।२१।६

हे (इन्द्र) परमेश्वर । (तम्) उस, तुझ को (पृच्छन्तः) पूछते हुए, जिज्ञासा करते हुए (अवरासः) अवर, बाद में होने वाले हम जिज्ञासु जन (त तेरे (प्रत्ना) पुरातन और (पराणि) उत्तम कर्मों के (अनु) अनुकूल (श्रुत्या) वेदानुसार (येमु) सयम करते हैं। हे (वीर) वीर । (ब्रह्मवाहः) वेदधारी हम लोग (यात्+एव) जितना ही (विद्म) जानते हैं, (तात्) उतना ही (त्वा+महान्तम) तुझ महान को (अर्चामसि) पूजते हैं।

भगवान सदा से है, भगवान का सृष्टि-रचनादि कर्म भी सदा से है। निस्सन्देह जीव सदा से है, किन्तु शरीर-सयोग के कारण व्यक्तिविशेष के रूप में तो वह अवर है पश्चाद्भावी है। उसकी अपेक्षा प्रवाह से चली आती सृष्टि तथा उसमें काम करने वाले नियम पुराने है। यह सृष्टि और उसमें कार्य करने वाले नियम ही भगवान के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न कराते हैं।

जिज्ञासा उत्पन्न होते ही जिज्ञासु पहले भगवान के आदेश को जानना चाहता है। उसके नियम—सनातन नियम—तथा वेद उनका उपदेश व्यक्त करके बतला रहे हैं। अत जिज्ञासु उनके अनुसार अपने आपको नियन्त्रित करता है बांध लेता है।

अर्थात यदि उस महान् भगवान को पाने की अभिलाषा है, तो भगवान् के नियमानुसार सयमी जीवन बनाओ। भगवान् यह बता रहे हैं कि सृष्टिनियम सयम का उपदेश करते हैं, उच्छृङ्खलता या विलासिता का प्रचार नहीं करते। इस प्रकार सयम का जीवन धारण करने से मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है। ज्ञान बढ़ते बढ़ते मनुष्य ब्रह्मवाह=वेदधारी तथा स्वय ब्रह्म को धारण करने वाला बन जाता है। और **ब्रह्मवाहो यादेव विद्म**=ब्रह्मधारी जितना ही जानते हैं, **अर्चामसि तात् त्वा महान्तम**=उतना तुझ महान को हम पूजते हैं।

जितना स्वाध्याय तथा विचार करते है उतना ही निश्चय होता है। कि

नहि नु ते महिम्नः समस्य न मघवन् मघवत्त्वस्य विद्म (ऋ० ६।२७।३)=

प्रभो। न तो तेरी महिमा के तुल्य और न तेरे धन के तुल्य किसी को जानते हैं। और

पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा ॥ ऋ. ६।३६।४—

तू संसार का अनुपम पालक है, और समस्त ससार का अकेला राजा है।

जो समस्त ससार का राजा है, समस्त लोक लोकान्तरों का पालक है, जो सबसे महान् है, जिस के समान अन्य कोई भी महान् नहीं है, समस्त कल्याणों की प्राप्ति के लिये उस महतो महान् की अर्चा पूजा करनी चाहिये।

तेरा जानकार विरला

ओ३म् । इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखाय. सुन्वन्ति सोम दधति प्रयासि ।
तितक्षन्ते अभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेत ॥ ऋ० ३।३०।१

हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (सोम्यास.) सौम्य, शान्तस्वभाव जन (सखाय.) मित्र होकर (त्वा) तुझ को (इच्छन्ति) चाहते हैं। इसके लिये वे (सोमम्) सोम को (सुन्वन्ति) कूटते हैं, अर्थात् सोमयज्ञ आदि का अनुष्ठान करते हैं (प्रयासि) प्रयास, परिश्रम (दधति) धारण करते हैं, और (जनानाम्) लोगों की (अभिशस्तिम्) निन्दा, आक्षेप, सख्ती=क्रूरता को (तितिक्षन्ते) सहते हैं। (हि) सचमुच (कश्चन) कोई विरला ही (त्वत्) तुझ से (आ+प्रकेत.) भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करता है।

भगवान् को वाचिकरूप में चाहने वालों की संख्या विशाल है। सभी आस्तिक कहते हैं—हम भगवान् को चाहते हैं। चाहना का प्रकाश कई प्रकार से होता है।

१. **इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखाय.**=सौम्य=शान्तस्वभाव जन मित्र होकर तुझे चाहते हैं। अनेक जन भगवान् के मित्र=सखा बन कर उससे प्रीति करते हैं। भगवान् के समानशील बन कर जीवन-यापन करते हैं। २. **सुन्वन्ति सोमम्**=कई सोम-याग करते हैं। उन्होंने जान रखा है कि वह **एक पुरुप्रशस्तो अस्तियज्ञैः** (ऋ० ६।३४।२) अकेला यज्ञों के द्वारा अनेक प्रकार से प्रशसित होता। यज्ञों में जिन मन्त्रों का पाठ होता है, उनमें क्रियमाण कर्मविधान के साथ भगवान की महिमा का बखान भी होता। और निष्काम भाव, केवल भगवान् का विधान मानकर किये गये यज्ञ-यागों का उद्देश्य भगवान् होता है,—अतः कई लोग तप से भगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं। वे

३. **दधति प्रयासि**=परिश्रम, तप करते हैं। कई मनुष्य भगवान् की प्राप्ति के लिये नानाविध तप करते हैं कठोपनिषत् में कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपासि च सर्वाणि यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद सग्रहेण ब्रवीमि ओम् इत्येत् ॥

सब वेद जिस पद का उपदेश करते हैं, सारे तप जिसका वर्णन करते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए लोग ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, वह पद तुझे संक्षेप में बतलाता हूं, वह 'ओम्' है। सपूर्ण तपों का लक्ष्य परमात्मा ही है। ब्रह्मचर्य का तो अर्थ ही 'ब्रह्म-भगवान चर्य=गम्य=प्राप्तव्य है जिस क्रिया के द्वारा वह जाना जाए वह ब्रह्मचर्य है। इतना ही नहीं बल्कि कई भक्त

४. **तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानाम्**—लोगों की निन्दा, आक्षेप और सख्ती=कठोरता को सहन करते हैं। प्रभु भक्ति के मार्ग पर चलने वालों की लोग अनेक प्रकार से फबतियां उड़ाते हैं। परिवार, परिजन के लोग उसे निकम्मा निठल्ला कहकर उसके चित्त को चिढ़ाने का यत्न करते हैं, कोई उसकी साधना में बाधना डालते हैं। इतना होने पर भी **त्वदा कश्चन हि प्रकेत.**=उसे कोई विरला ही जान पाता है। यम ने भी नचिकेता को यही कहा था—**आश्चर्योऽस्य लब्धा**=

इसको प्राप्त करने वाला दुर्लभ है। दुर्लभ है असम्भव नहीं।

बुद्धिद्वारा शीघ्र विजय

ओ३म् । एना धियं कृणवामा सखायोऽप यामाता ऋणुत व्रजं गो: ।
यया मनुर्विशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम् ॥ऋ. ५।४५।६॥

हे (सखाय:) मित्रो । (एत) आओ । (धियम्) ऐसी बुद्धि या क्रिया (कृणवाम) करें, (या) जो (माता) माता की भांति (गो:+व्रजम्) गौ के बाडे को=ज्ञान के समुद्र को (अप+ऋणुत) खोल दे, और (यया) जिसके द्वारा (मनु:) मनुष्य (विश-शिप्रम) प्रजा में शीघ्रकारी शान्त सौम्य स्वभाव जन को (जिगाय) जीत लेता है, और (यया) जिससे (वङ्कु) बांका (वणिक्) बनिया (पुरीषम) ऐश्वर्य (आप) प्राप्त करता है ।

संसार में सबसे प्रथम गुरु माता है । सबसे प्रथम ज्ञान की खानि का द्वार वही खोलती है । बालक को पदार्थों के नाम आचार, व्यवहार की शिक्षा वह देती है । सन्तान को शिक्षा देते समय माता के मन में ईर्ष्या द्वेष आदि किसी भी कुत्सित भावना का लवलेश नहीं होता । वरन् मेरी सन्तान उत्तम हो, मुझसे बढ़ जाये; संसार में इसका नाम और यश चमके, ऐसी उदात्त भावना उसके मन में कार्य्य कर रही होती है । 'गो: व्रजम' का अर्थ गौओं का बाड़ा, ज्ञान का समुदाय, इन्द्रियों की खानि । माता ही सब ज्ञान देती है । इन्द्रियों से ठीक ठीक काम लेना भी माता ही सिखाती है ।

माता अपने इस व्यवहार से सन्तान के मन को जीत लेती है । मनुष्य को अपने अन्दर मातृ-समान बुद्धि का सञ्चय करना चाहिये । अर्थात् ऐसी बुद्धि का सञ्चय करना चाहिए, जिससे हित भावना, कल्याण कामना और प्रीति की रीति नीति ही जीती जागती हो, द्वेष मत्सर के अमङ्गल अभद्र, मारक भाव न हों । पूर्व मन्त्र में इसी बात को कहा है—

एतोन्वद्य सुध्यो भवाम प्रदुच्छुना मिनवामा वरीय: ।
आरे द्वेषांसि सनुतर्दधामायाम प्राञ्चो यजमानमच्छ ॥ ऋ. ५।४५।५ ॥

आओ । हम आज ही उत्तम बुद्धि वाले बनें बुराई के द्वारा भलाई को प्राप्त करें । द्वेष को दूर फेंक, और श्रेष्ठ चाल वाले होकर यजमान=यज्ञपरायण को प्राप्त हों ।

अच्छी बुद्धि का प्रमाण ही यही है कि मनुष्य में ईर्ष्या द्वेष न हो, बुराई से भलाई प्राप्त करने की योग्यता हो, तथा भले पुरुषों की सङ्गति करे । यही वह बुद्धि है—

यया मनुर्विशिप्रं जिगाय ।

जिससे मनुष्य प्रजा में सौम्य जन को जीत लेता है । द्वेषरहित मधुर व्यवहार की महिमा यहां तक है कि—यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम=

जिससे बांका बनिया भी धन प्राप्त करता है ।

बनिया मीठी मीठी बातें करके ग्राहक को मोह कर इससे यथेच्छ धन प्राप्त करता है ।

स्पष्ट ही अभिधावृत्ति से माता के समान अमत्सर मधुर स्वच्छ व्यवहार युक्त बुद्धि का सम्पादन करना योग्य है ।

३०५

भगवान् की पूजा करता हूं

ओ३म्। अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ ऋ. १।१।१

मैं (पुरोहितम्) सबसे पूर्व विद्यमान (यज्ञस्य) संसार यज्ञ के (देवम्) प्रकाशक (ऋत्विजम्) ऋतुओं को संगत करने वाले (होतारम्) महादानी (रत्नधातमम्) रत्ननिर्माता (अग्निम्) अग्रणी प्रभु की (ईळे) स्तुति करता हूं।

यह ऋग्वेद का पहला मन्त्र है। मानो भगवान् का सबसे पहला उपदेश है। मनुष्य से पूर्व प्रायः सारी सृष्टि रची जा चुकी है। मनुष्य अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ाता है। विविध पदार्थ देखकर चकित और उद्भ्रान्त सा हो जाता है। भगवान् ने उसे इन सब पदार्थों के नाम, गुण, धर्म्म बताने तथा उनसे उपयोग लेने के लिये वेद-ज्ञान का दान किया। सबसे पहले उसे श्लेषालङ्कार के द्वारा भगवान् ने अपना, जीव का तथा अग्नि का उपदेश किया है।

जब यह जगत् न था, परमेश्वर तब भी था। जगत् से पूर्व वर्त्तमान होने के कारण भगवान् पुरोहित है। शरीर से पूर्व जीव विद्यमान होता है, अतः जीव भी पुरोहित है। संसार के सब पदार्थों से पहले अग्नि के सूर्य रूप में दर्शन होते हैं, अतः अग्नि पुरोहित है।

भगवान् इस संसार का रचयिता है। अतः वही इस संसार यज्ञ का देव=द्योतयिता=प्रकाशक है। शरीर यज्ञ का संचालन जीवद्वारा होता है। अतः वह भी 'यज्ञ का देव' है। भौतिक यज्ञ—अग्निहोत्र से अश्वमेध पर्य्यन्त, तथा शिल्प कला कौशलादि—सभी अग्नि से साध्य हैं, अतः अग्नि भी यज्ञ का प्रकाशक है। ऋतुओं और व्यवस्थाओं को संगत करने से भगवान् ऋत्विक् है। यज्ञ याग करने से सभी जीव भी ऋत्विक् हैं। ऋतुओं का सूर्य रूप अग्नि पर निर्भर है, अतः अग्नि ऋत्विज है।

भगवान् के बराबर किसी का दान नहीं, अतः भगवान् होता है। जीव कर्म्मफलभोक्ता होने के कारण 'होता' है। होम का साधन होने से अग्नि होता है।

सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी, पय, पावक, पवन आदि रूप रत्न पदार्थों का निर्माता होने से भगवान् 'रत्नधातमम्'=रत्न का सर्वोत्तम निर्माता है। समस्त जगत् और जगत्स्थ सभी पदार्थों का उपयोक्ता तथा उपभोक्ता होने के कारण 'रत्नधातम' है। भूगर्भ में पड़े पत्थर के कोयले को एक कालविशेष में भूगर्भ का अग्नि रत्न बना देता है, अतः अग्नि 'रत्नधातम' है।

इस तरह तीनों अर्थों की सूचना होने पर भी मुख्य अर्थ परमेश्वर ही है। अग्नि आदि ये सब नाम मुख्य वृत्ति से परमेश्वर के हैं। जैसा कि यजु० ३२।१ में कहा है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

वही अग्नि, वही आदित्य, वही वायु तथा वही चन्द्रमा है। वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही 'आपः' और प्रजापति है। अर्थात् आयु, वायु, मित्र वरुण आदि नाम मुख्य वृत्ति से भगवान् के नाम हैं।

अग्नि शब्द का मूल अर्थ है—अग्रणी=आगे ले जाने वाला, उन्नतिसाधक। भगवान् सब का उन्नतिसाधक है। अतः वह पूजनीय है। अग्नि होता न ईड्यः (ऋ. १।१२।३) तू महादानी ईड्य=पूज्य है। अतः 'अग्निमीळे'=मैं अग्रणी भगवान् की पूजा करता हूं। वह अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ऋ० १।१।२ भगवान् पुरातन ऋषियों और नवीनों का पूजनीय है।

श्रेष्ठतम कर्म की प्रेरणा

ओ३म् । इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो व सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥ य १।१

(सविता) सर्वजगदुत्पादक भगवान् (त्वा) तुझको (इषे) इष्ट-प्राप्ति के लिये तथा (त्वा) तुझे (ऊर्जे) बल प्राप्ति के लिये प्रेरित करे। तुम सब (वायव.) बलवान् (स्थ) होवो (सविता) जगत् का उत्पन्न करने वाला (देव) भगवान् (व) तुम को (श्रेष्ठतमाय) श्रेष्ठतम् (कर्मणे) कर्म के लिये (प्रार्पयतु) अर्पित करे, प्रेरित करे । तुम (अघ्न्याः) अहिंसनीय होकर (इन्द्राय) ऐश्वर्य निमित्त (भागम) भाग को (आप्यायध्वम) बढ़ाओ । तुम सारी प्रजाए (प्रजावतीः) उत्तम सन्तानयुक्त (अनमीवा) रोगबीज से मुक्त तथा (अयक्ष्माः) क्षय-रोग से रहित होवो । (व) तुम पर (स्तेन) चोर (मा + ईशत) शासक न हो, और (मा) ना ही (अघशस.) पापाभिलाषी, [पाप-प्रचारक शासक हो] । (अस्मिन्) इस (गोपतौ) रक्षक के अधीन तुम (ध्रुवा) निश्चल, हानिरहित और (बह्वाः) बहुत (स्यात) होवो । हे राजन् । (यजमानस्य) यज्ञ करने वाले परोपकारी के (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कर ।

ऋग्वेद स्तुतिप्रधान वेद है । ऋषियों ने कहा है 'ऋग्भि स्तुवन्ति' [=ऋचाओं के द्वारा स्तुति करता है] यजुर्वेद कर्मप्रधान वेद है । ऋषियों का कहना है---**यजुर्भिर्यजन्ति** [=याजुष मन्त्रो से कर्म करते हैं] । कर्मप्रधान वेद का आरम्भ कर्म प्रेरणा [प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे] से हुआ है । इसके अन्तिम अध्याय मे भी कर्म प्रेरणा है—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समा. । य० ४०।२ इस ससार मे मनुष्य सपूर्ण आयु कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे । यजु० ४०।१५ पुन. कहा है—'कृतस्मर' अपने कर्म स्मरण कर । मध्य में भी आता है—**अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा** =कर्म करने वाले सुखदायी वाणी के साथ कर्म करते हैं। भाव यह कि सपूर्ण यजुर्वेद कर्म प्रतिपादक है। साधारण कर्म भी नहीं, प्रत्युत 'श्रेष्ठतम कर्मों' का प्रतिपादक है । भगवान का आदेश है—

'आप्यायध्वम्' =फूलो फलो ।

आप्यायध्वम् अघ्न्या =अहिंसित होकर फलो फूलो । हिंसा के भावना का भी निर्देश कर दिया है। रोग से शरीर पीड़ा होती है । यदि शासक चोर डाकू या पापी हो, तो सर्वात्मना हिंसा की वृद्धि हो जाती है, अत. आदेश किया—**मा व स्तेन ईशत माघशंस.**=तुम पर चोर और पापी शासन न करे ।

वेद के मतानुसार प्रजा राजा का निर्वाचन करती। राजा के चोर तथा पापी होने से प्रजा की मनोवृत्ति का पता लगता है । यदि प्रजा के हृदय मे चोरी और पाप की वासना प्रबल होगी, तो वह अवश्य चोर को अपना सिरमौर चुनेगी। ध्वनि से वेद ने पाप का निषेध कर के अन्त मे **यजमानस्य पशून् पाहि** [=यजमान के पशुओं की रक्षा कर] कह कर हिंसा का स्पष्ट निषेध कर दिया है।

सामान्यत आजीविका के लिये कर्म करने होते हैं। अपनी उदरदरी की पूर्ति के लिये कहीं पशुओं की हिंसा मे प्रवृत्त न हो जावे । इसलिये वेद ने कर्म प्रेरणा के साथ स्पष्ट ही कुकर्म का निषेध कर दिया है ।

प्रभो आ

ओ३म् । अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ स० पू० १।१।१

हे (अग्ने) सब के उन्नतिसाधक प्रभो! (वीतये) प्रकाश के लिये तथा (हव्यदातये) भोग शुद्धि के लिये (गृणान) उपदेश करता हुआ तू (आयाहि) सब ओर से आ। (होता) दाता होकर तू (बर्हिषि) हमारे हृदय-आसन पर (नि+सत्सि) नितरां बैठता है।

यह साम का प्रथम मन्त्र है। साम उपासना प्रधान वेद है। उपासक को जिन अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है, उन सब का विशद वर्णन सामवेद में है। कइयों को साम के अन्त में युद्धपरक सूक्त देख कर भ्रम होता है कि यह वेद उपासनापरक नहीं है। उपासक भगवान् की उपासना करके प्रति दिन भगवान् के गुण अपने अन्दर संचित करते करते भगवान् के बल से बलवान् हो गया है। बल पाकर अब वह पाप के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करता है। जितना बड़ा उपासक होगा, उतना बड़ा वह पाप के विरुद्ध युद्ध करने वाला होगा। जो उपासक नहीं, उस में इस देवासुर संग्राम में कूदने का हियाव ही कहां?

उपासना का आरंभ भगवान् की स्तुति और प्रार्थना से होता है। अतः कहा—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।

सब को आगे ले जाने वाले प्रभो! तू ज्ञान प्रकाश और भोगशोधन का उपदेश करता हुआ आ।

भगवान् मनुष्य को सब प्रकार का ज्ञान देते हैं। भोग सामग्री भी देते हैं। मनुष्य के अपने वश में है कि वह भोग को बिगाड़ दे अथवा भोग को संवार दे। भगवान् तो भोग को संवारने का ही उपदेश देते हैं। अज्ञान के कारण मनुष्य भोग सम्पादन में भूल कर सकता है। मनुष्य को उस भूल से बचाने के लिये ही भगवान् ने वेद का ज्ञान दिया। और साथ ही जब कभी पाप-भावना का उद्भव होने लगता है, तब वह हृदयस्थ पाप को वारण करने की प्रेरणा देता है। हम नहीं सुनते, सुनी अनसुनी कर देते हैं, यह हमारा अपराध है। वह तो हम हर समय चिताता है। इस स्तुति के साथ प्रार्थना है कि तू **आयाहि**=सब तरह आ। भगवान् तो पहले ही हमारे पास है फिर इस प्रार्थना का प्रयोजन?

निस्सन्देह भगवान् हर समय हमारे पास है किन्तु हम अज्ञान के कारण उसे देख नहीं पाते। अतः उस से प्रार्थना है कि तू **आयाहि वीतये**=ज्ञानप्रकाश देने के लिये आ। अर्थात् प्रभो! ऐसा उपाय कर, जिसमें हमारे हृदय का मल धुल जाये, आवरण का वारण हो जाये। विक्षेप का प्रक्षेप हो जाये। ताकि हम देख सकें कि तू **नि होता सत्सि बर्हिषि**=दाता हमारे हृदय में बैठा है।

जिस दिन यह ज्ञान हो जाय कि भगवान् हमारे हृदय में विराजमान है तो फिर उस अन्तर्यामी के सामने पाप कैसे करेंगे?

उपासना का अर्थ है पास बैठना। भगवान् के केवल हम समीप ही नहीं बैठे हैं, वरन् वह हमारे हृदयों में रम रहा है। हृदय में विचार और सङ्कल्प उठते हैं। अर्थात् भगवान् केवल हमारे आचार कर्मों के ही साथी नहीं, वरन् वे हमारे विचारों के भी द्रष्टा हैं। तभी तो प्रार्थना मन्त्र में कहा है—

विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। य० ४०।१६

हे देव! तुम हमारे सारे विचारों और आचारों को जानते हो।

३०८

सब का बल मुझे दे

ओ३म् । ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ अ० १।१।१

(विश्वा) सम्पूर्ण (रूपाणि) रूपों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (ये) जो (त्रिषप्ताः) तीन सात (परियन्ति) सब ओर प्राप्त हैं, (वाचस्पतिः) वेदपति परमेश्वर (तेषाम्) उनके (बला) बल (अद्य) आज (मे) मेरे (तन्वः) देह को (दधातु) दे ।

सत्व, रजस् और तमस् इन तीन के समुदाय का नाम प्रकृति है । सत्त्व हलका और प्रकाश गुण वाला पदार्थ है । रजस् चंचल [active] है । तमस् उपष्टम्भक और गतिशून्य [inert] है । जहां प्रकाश दिखाई दे, समझो, वहां सत्त्व की सत्ता है । क्रिया रजोगुण की परिचायिका है । स्थिति अन्धकार, क्रिया का अभाव तमोगुण की सत्ता का प्रमाण है ।

इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से सात प्रकृति-विकृतियां उत्पन्न होती हैं—महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राएं । इन सातों में किसी में अधिक, किसी में न्यून सत्व, रजस्, तमस् तीनों होते हैं ।

संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जिसमें त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपनी सातों विकृतियों सहित विद्यमान न हो । अथर्व १०,८।३० में प्रकृति प्रसंग में कहा है—

एषा पुराणी परि सर्वं बभूव=यह पुरानी=सनातन प्रकृति सब कार्यों में पूर्णतया रहती है ।

सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी आदि सारे पदार्थ प्रकृति के कार्य हैं । ये कितने शक्तिशाली हैं ? उत्तरार्ध में इन सब का बल अपने शरीर में देने के लिये भगवान् से प्रार्थना है—

वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे=वेदपति प्रभु उनका बल आज मेरे शरीर को दे ।

वेद में दूसरे स्थान पर कहा गया है—

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे । (अ० १०।७।२७)

तेतीस देव जिसके शरीर में बैठ कर अंगों का सेवन कर रहे हैं । आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र=विद्युत् तथा प्रजापति मेघ—ये तेंतीस देव हमारे शरीर में अंग बन कर रहते हैं । इतने महाबल देव शरीर में वास कर रहे हैं किन्तु मनुष्य फिर भी दुर्बल है । अतः भगवान् से प्रार्थना है कि वह उन सब का बल हमारे शरीर में दे ।

मांगा तो है बल, किन्तु भगवान् को बलपति या बलदाता न कह कर 'वाचस्पति' कहा है । इस एक शब्द से ही वैदिक पदों की गम्भीरता तथा सार्थकता का बोध हो जाता है । वाचस्पति का अर्थ है वाणी का पति=उपदेशक । अर्थात् भगवान् बल की युक्ति का उपदेश करते हैं । जब सभी पदार्थों के प्रयोग युक्ति भगवान् ने बतलाई है तो बल-शारीरिक बल का प्रयोग भी उसी से पूछना चाहिये ।

शरीर, बल की प्राप्ति की युक्ति है शरीर पुष्टि जैसा कि

वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम (अ० ४३।१)=हम शरीर-अग्नि को प्रदीप्त करते हुए शरीर को पुष्ट करें ।

सम्पूर्ण वेद में कहीं भी शरीर को क्षीण करने का संकेत तक नहीं है । अथर्ववेद में सभी रोगों के वारण की युक्ति है ।

३०९

मोक्ष का सधन-धर्म्म

ओ३म् । येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः ॥ अ० ४।११।६

(देवा) निष्काम ज्ञानी (शरीरम्+हित्व) शरीर त्याग करके [मृत्यु के पश्चात्] (अमृतस्य+नाभिम) अमृत=मोक्ष के केन्द्र (स्व) आनन्द-प्रकाश को (येन) जिसके द्वारा (आरुरुहुः) आरूढ होते हैं, (तेन) उस (घर्मस्य) यज्ञ के (व्रतेन) व्रतरूपी (तपसा) तप से (यशस्यव) यशस्वी होते हुए (सुकृतस्य) सुकर्म के (लोकम्) लोक=प्रकाश को (गेष्म) हम प्राप्त करें ।

मोक्ष का जहां भी वर्णन आता है, उसमें प्रकाश और आनन्द की चर्चा अवश्य आती है । जैसे—

यत्रानु कामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः ।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्द्रो परिस्रव ॥ ऋ. ९।११३।९=

तीनों [आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक] दुःखों से रहित, तीनों [पारमात्मिक, आत्मिक तथा धार्मिक] प्रकाशों से युक्त जिस अवस्था में आत्मा को इच्छापूर्वक विचरना होता है । कर्म्मफल जहां प्रकाशमय है, उस अवस्था में मुझ को मुक्त कीजिये । हे आनन्ददायक ! ऐश्वर्याभिलाषी पर कृपावृष्टि कीजिये ।

मुक्तदशा को या मुक्त को 'अमृत' इस लिये कहते हैं कि वहां से वापसी मृत्यु के द्वारा नहीं होती, वरन् जन्म के द्वारा होता है ।

वेद में मुक्ति के लिये 'स्व' शब्द का प्रयोग भी बहुत बार आता है । जिसका अर्थ है प्रकाश, आनन्द । उसका मूल अर्थ है—सु+अस=उत्तम अवस्था । मोक्ष से बढ़ कर उत्तम अवस्था कोई नहीं है । इस अवस्था में जीव प्रकृति के ससर्ग से छूट चुकता है, और परमात्मा का पूर्ण संसर्ग प्राप्त कर चुका होता है । प्रकृति का संसर्ग न होने से दुःखों का अभाव, और परमात्मा से संसर्ग, ज्ञान और आनन्द चरम सीमा पर होते हैं ।

उसका उपाय बतलाया है—

तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः =

धर्म के तप और व्रत से यशस्वी होते हुए सुकृत के लोक=मोक्ष को प्राप्त करें ।

'सुकृत का लोक' कह कर सुकर्मों को मुक्ति का साधन बतला दिया है । तथापि स्पष्ट करने के लिये घर्मस्य तपसा व्रतेन' कहा है ।

घर्म' का अर्थ स्वयं वेद ने स्पष्ट कर दिया है—

इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः ॥ अ० ४।११।३=

मनुष्यों में उत्पन्न होकर अत्यन्त दीप्तिमान होकर तपस्या करता हुआ इन्द्र=जीव जब विचरता है, तब वह धर्म है।

अर्थात मनुष्य योनि में आकर ज्ञान, वैराग्य और तपः से युक्त जीव धर्म कहलाता है। 'धर्मस्य तपसा व्रतेन' का अर्थ स्पष्ट यह हुआ कि तपस्वी ज्ञानी विरागी जीव का व्रत पूर्वक तप।

तप के साथ व्रत विशेषण लगाने का विशेष प्रयोजन है। केवल तपतो दम्भ के लिये भी हो सकता है। जब तप व्रत के साथ यमों के साथ हो तब वह दम नहीं हो सकता। योग दर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह —यमों—को महाव्रत कहा है। व्रत का भाव ही यह है कि जो नियमपूर्वक, निरन्तर श्रद्धा से किये जायें।

तप से अशुद्धि का नाश योगदर्शन में भी कहा है—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः (यो० द० २।४३)=

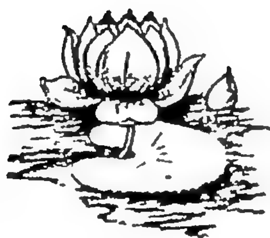
तप से अशुद्धि का नाश होता है और शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है।

इसी सूत्र पर व्यास जी कहते हैं—

निर्वर्त्यमानं तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलम्=

तप के अनुष्ठान से अशुद्धि आवरण और मल नाश होता है।

यहाँ अशुद्धि आदि मुक्ति के प्रतिबन्धक हैं, इनके हटाने से आत्मज्योति पूर्णतया भासित होती है।



दाता को भगवान् देता है।

ओ३म् इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षते उपेद् ददाति न स्वं मुषायति।
भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥ अ० ४।२१।२

(इन्द्र.) भगवान् (यज्वने) यज्ञ करने वाले को (गृणते) उपदेश करने वाले को (च) और (शिक्षते) शिक्षा देने वाले को (उप) समीप हो कर (स्वम्) धन (ददाति-इत) देता ही है। (न+मुषायति) छिपाता नहीं। (भूयः+भूयः) बार बार (अस्य) इस के (रयिम्) धन को (वर्धयन्+इत्) बढाता हुआ ही (देवयुम्) ईश्वराभिलाषी को, भगवद्भक्त को (अभिन्ने) अखण्ड (खिल्ये) खिल्य मे, स्थिति मे, (निदधाति) नितरा धारण करता है।

दान का वैदिक धर्म्म मे बड़ा मान है। दान देने की प्रेरणा करते हुए ऋग्वेद मे कहा गया है—

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयाममनुपश्येत पन्थाम् ऋ० १०।११७।५=

धनवान् मनुष्य याचक को प्रसन्न ही करे, दे, उस लम्बे मार्ग को देखे।

ससार का मार्ग बहुत लम्बा है। अर्थात् जीवन यात्रा बड़ी लम्बी है वह सारी हमारी दृष्टि के आगे नहीं है। जाने किस समय क्या सामने आ जाये ? दान देना मानो ससारयात्रा के लिये पाथेय [तोषा] सग्रह करना है क्योंकि **इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत उपेद् ददाति**=

भगवान् याज्ञिक, उपदेशक और शिक्षक को तो देता ही है।

लोकोपकार मे जिसने जीवन लगा रखा है जो लोगों को उपदेश द्वारा सुमार्ग पर लाता रहता है और जो लोगों को उत्तम शिक्षा देता रहता है, उसे यदि भगवान् न देंगे तो और किस को देंगे ? भगवान् उस पर सब कुछ प्रकट कर देता है —

न स्व मुषायति—न धन छिपाता और न अपना आपा छिपाता है।

भगवान निरन्तर यज्ञ कर रहा है निरन्तर शिक्षा और उपदेश दे रहा है। उस का जो अनुकरण करता है, मानो वह उस के कार्य्य में सहयोग देता है। सहयोगी से प्रभु कुछ नहीं छिपाता। धन क्या उस पर अपना 'अपना पन' भी प्रकट कर देता है। उस के धन को कभी घटने नहीं देता, वरन्

भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्=बार बार उस के धन को बढ़ाता है। और

अभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम्=

भगवद्भक्त को अखण्ड स्थान पर बिठा देता है। तभी तो ऐसे भक्तों के धन के सम्बन्ध मे कहा है—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरादधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥ अ० ४।२१।३=

गोपति जिन पदार्थों से देवयज्ञ करता है या जो पदार्थ दान मे देता है उन के साथ वह सयुक्त ही रहता है क्योंकि न तो वे नष्ट होते हैं, न उन्हें चोर चुराता है और न ही दुःस्वदार्या शत्रु दबाता है।

सचमुच धन वही है जो दूसरों की तृप्ति का साधन बन सके। दान, यज्ञ मे ही वह दूसरों की प्रीति का साधन बन सकता है।

पापी को पाप लौट आता है

ओ३म् । असद् भूम्या समभवत् तद् यामेति महद्व्यच ।
तद्वै ततो विधूपायत प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु ॥ अ ४।१९।६

(असद) बुराई (भूम्या) भूमि से (समभवत) होती है। (तत) वह (महद्-व्यचः) महाविस्तार वाली होकर (याम्) आकाश को (एति) जाती है। (तत) वह (वै) सचमुच (ततः) वहां से (विधूपायत) तप कर (प्रत्यक्) उलटा (कर्त्तारम्) कर्त्ता को (ऋच्छतु) प्राप्त होती है।

भूमि में प्रकाश नहीं है। भूमि अन्धकारमयी है। पाप अज्ञान में अन्धकार में होता है। मनुष्य पाप करने के समय गुप्त स्थान खोजता है। वेद इस तत्त्व का वर्णन अपनी अलकारमयी भाषा में कहता है—असद् भूम्या समभवत्=पाप अन्धकार में होता है। किन्तु वह छुपा नहीं रहता। करते समय तो पाप छोटा सा होता है, परन्तु—तद् यामेति महद्व्यच=वह बड़े विस्तार वाला होकर आकाश तक जाता है। अर्थात् पाप की बात खुल जाती है, और दूर दूर तक फैल जाती है। इससे यह न समझना कि दूर तक फैलने से तुम उसके तापसे बच जाओगे। नहीं, कदापि नहीं; वरन्

तद्वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु=

वह वहां और आकर तप कर उलटा कर्त्ता को मिलता है। विदुर जी ने कहा है—

एकः पापानिकुरुते फलं भुक्ते महाजनः। भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥महा. उद्यो. ३२

पाप एक करता है, अर्थात पाप करके पदार्थ लाता है उसका उपभोग उपयोग अनेक जन=सारा कुटुम्ब करता है। भोगने वाले पाप के भागी नहीं होते हां पाप का करने वाला दोषी होता है।

'प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु' और कर्त्ता दोषेण लिप्यते' दोनों एक बात कह रहे हैं।

भगवान् ने तो इससे भी (अ. १२. ३. ४८.) स्पष्ट बतलाया है—

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सह समममनएति।
अनूनं निहितं पात्रं न एयत् पक्तारं पक्वःपुनराविशाति॥

कर्म में कमी नहीं होती, आश्रय (सुफारिश=समर्थना) नहीं होती। मित्रों के साथ चलता हुआ भी अभीष्ट को नहीं पाता। यह हमारा कर्मपात्र अनून=अन्यून [जिसमें घटा बढ़ी असम्भव है] रखा है। पकाने वाले को पका हुआ वापस आता है। अर्थात किसी गुरु, पीर, पैगम्बर के आधार से कर्मों में न घटाबढ़ी होती है, और न इन में उलट-फेर होता है। कर्मों का फल कर्त्ता को ही मिलता है।

इस तत्त्व को जान कर कर्म बहुत सावधानता से करने चाहिये। पाप से छूटने का उपाय भगवान और ज्ञान का आराधन है।

यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते यज्जातं जनितव्यं केवलम्।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुंचत्वंहस. ॥ अ ४।२३।७—

यह सारा संसार जिसके आदेश में है, जो विशेष प्रकाशमान है जो प्रादुर्भूत था, है, और होगा। उस प्रकाश स्वरूप भगवान् का स्तवन करता हूं। उपनत हुआ, सन्ताप करता हुआ पश्चात्ताप करता हुआ उसे पुकारता हूं। वह हमें पापभाव से छुड़ाए। भगवान् शुद्ध है अपापविद्ध है। स मनुष्य ... पापविद्ध है। इस प्रकार स्तुति करने से मनुष्य पाप से बच जाता है।

धार्मिक जन का प्रभाव

ओ३म् । य ग्राममाविशत इदमुग्र सहो मम ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥
न पिशाचैः स शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभि. ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥ अ. ४।३६।७८

मैं (न) न (पिशाचैः) पिशाचों के साथ (स) एक होकर (शक्नोमि) कार्य्य कर सकता हूं, (न) ना ही (स्तेनैः) चोरों के साथ और (न) ना ही (वनर्गुभिः) डाकुओं के साथ। (यम्) जिस (ग्रामम्) ग्राम या समुदाय में (अहम्) मैं (आविशे) घुसता हूं। (पिशाचाः) पिशाच (तस्मात) उसके (नश्यन्ति) भाग जाते हैं (यम्) जिस (ग्रामम्) ग्राम या समुदाय में (मम) मेरा (इदम्) यह ,(उग्रम्) उग्र (सहः) सह, बल (आ विशते) घुसता है, (पिशाचाः) पिशाच (तस्मात्) उससे (नश्यन्ति) नष्ट हो जाते हैं, भाग जाते हैं। अर्थात्, (पापम्) पाप का (उप न जानते) समीप से भी नहीं जाते।

धार्मिक सदाचारी का प्रभाव इन मन्त्रों में वर्णित है। धार्मिक जन पिशाचों, चोरों, डाकुओं के साथ मेल नहीं रख सकता।

'पिशाच' का अर्थ समझ लिया जाये, तो इस मन्त्र का भाव हृदयङ्गम करना कठिन नहीं होगा। अ० ८।२।१२ में लिखा है—

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।

रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवापहन्मसि ॥

हम कंजूसी, पाप अथवा असत्य पकड़ रखने वाले रोग, कच्चामास खाने वाले पिशाचों और राक्षसों को—जो कुछ दुर्भूत = दुर्गुण है, उसको अन्धकार की भांति दूर भगाते हैं।

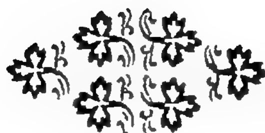
इससे प्रतीत होता है कि मांसहारी को पिशाच कहते हैं। जो प्रजा का रक्त मांस चूस जाये, वह पिशाच है। पिशाच के साथ और दुर्भूत = दुर्गुण गिनाये हैं, उन पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अराति = कंजूसी। पास में कोई भूख प्यास से तड़प रहा है, किन्तु कंजूस को उसकी पीड़ा से तनिक भी क्लेश नहीं होता। कंजूस दूसरों को देने की बात दूर रही, स्वयं नहीं खाता, अतएव सदा दुरवस्था में रहता है। निर्ऋति पाप तथा असत्य का नाम है। ग्राहि ऐसे शारीरिक रोग का नाम है, जो जाने का नाम नहीं लेता किन्तु मनुष्य के शरीर को सुखाये डालता है। इनके साथ परिपठित होने से पिशाच किसी लौकिक पदार्थ का नाम है। पिशाच के विशेषण 'क्रव्याद' ने इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है।

पिशाचों के साथ चोरों और डाकुओं की चर्चा आने से भी पिशाच उनके भाई बन्द हैं। तनिक प्रकृत मन्त्र की रचना पर ध्यान दीजिये। पहले पिशाचों का नाम लिया गया है, फिर चोरों का, और फिर डाकुओं का। वनर्गु=डाकू, जंगल के वासी हैं, अर्थात् दूरस्थ हैं। चोर हैं तो दूरस्थ, किन्तु हैं नगर या ग्राम के वासी, अर्थात् उनकी अपेक्षा समीपतर। पिशाच उनकी अपेक्षा और भी समीप रहने वाले होने चाहियें। ये वे लोग हैं, जो प्रजा में रहते हुए प्रजा का मांस खाते रहते हैं, विविध प्रकार से प्रजा को सताते रहते हैं। धार्मिक मनुष्य इनके साथ मिल कर नहीं रह सकता। हां, जहां वह पहुँचता है, वहां से ऐसे लोग भाग जाते हैं। भाग जाने के दो अर्थ हो सकते हैं—१ सचमुच दूसरे स्थान को चले जाना, और २. अपने दुर्भूत=दुर्व्यवहार को को भगा देना। इन मन्त्रों में भागने का अर्थ दूसरा है। क्योंकि दूसरे मन्त्र में लिखा है—

पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते=

पिशाच वहां से भाग जाते हैं, वे पाप को नहीं जानते। पाप को न जानना पाप त्याग है।

धर्माचरण से ऐसा तेजोबल मिलता है जिससे अपने भीतर बैठे दुर्भूतरूप पिशाच भाग जाते हैं और साथ ही दूसरों के भी। अतः मनुष्य को धर्म्माचरण के द्वारा उग्र धर्म्मबल लाभ करने का यत्न करना चाहिए।



यह लोक देवों का प्रिय है

ओ३म । अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजित' । यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे । स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथा ॥ अ० ५।३०।१७

(अयम्) यह (अपराजितः) अपराजित=न हारा हुआ (लोकः) लोक (देवानाम्) देवों का (प्रियतमः) अत्यन्त प्यारा है । (यस्मै) जिस (मृत्यवे) मृत्यु के लिये (दिष्ट) नियत किया हुआ, हे (पुरुष) पुरुष । (इह) इस संसार में (त्वम्) तू (जज्ञिषे) उत्पन्न हुआ है । (स) वह (च) भी (त्वा+अनु) तेरे अनुकूल हो, हम तुझे (ह्वयामसि) कहते हैं (जरस') बुढ़ापे से (पुरा) पूर्व (मा मृथाः) तू मत मर ।

यह मानवदेह, यदि कामक्रोधादि राक्षसों से पराजित न हो तो, देवा=विद्वानो धर्म्मात्माओं को अत्यन्त प्यारा है । क्योंकि इस मानवदेह में ही आत्मा को भवसागर से पार उतरने के साधन मिलते हैं । अन्य किसी देह में यह सुविधा नहीं मिलती । किन्तु मनुष्य की सब कामनायें मृत्यु के कारण अधूरी रह जाती हैं । आत्मा इस ससार मे आया तो है किन्तु मृत्यु 'मृत्वे दिष्ट =मृत्यु के समर्पित होकर । जाने, मृत्यु कब झटका दे, और इस शरीर से बाहर कर दे, और फिर पश्चात्ताप करना पड़े । मृत्यु अनिवार्य्य है, वह अवश्य आयेगा उस से बच कर कोई नहीं जा सकता । किन्तु मर कर फिर जन्म होता है—**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुव जन्म मृतस्य च**=

उत्पन्न का मृत्यु अवश्यभावी है, और मरे का जन्म होना भी अवश्य होता है । अत

अनुहूत' पुनरेहि विद्वानुदयनं पथ. (अ० ५।३०।७)=

बुलाया जाकर, इस तत्त्व को समझ कर तू पुन उन्नति के मार्ग पर आ । अर्थात् जनन मरण होते ही रहते हैं । तू ऐसी कमाई कर कि जिससे तेरा अगला जन्म उन्नततर, प्रशस्ततर हो ।

इस ससार का प्रयोजन जीव की उन्नति ही है—

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतो अयनम (अ० ५।३०।७)

ऊपर को उठना, आगे बढ़ना प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य है । अत लक्ष्य की ओर चलना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है । वह तभी पूरा हो सकता है जब अगला जन्म क्या, अगला दिन, पहले की अपेक्षा उत्तम हो । यत' यह शरीर देवों तक का प्यारा है अत वेद कहता है, मनुष्य तू इसमें बहुत दिन रह । इसे शीघ्र शीघ्र न छोड़ देना—**मा पुरो जरसो मृथा** =बुढ़ापे से पहले मत मरना । मृत्यु का हेतु रोग है और रोग का हेतु पाप और दुराचार है । यथा—

अघशसदु शसाभ्या करेणानुकरेण च । यक्ष्म च सर्व तेनेतो मृत्यु च निरजामसि ॥ अ० १२।२।२

पापभाव तथा दुराचार के विचार बुरे कर्म और उनके अनुकरण से सारे रोग होते हैं, उसी से मृत्यु होता है । उन सब को हम शरीर से भगाते हैं ।

पाप की भावना दुराचार आदि शरीर नाश के हेतु हैं । यदि पापवासना और दुर्विचारों पर विजय पा लिया जाये तो यह देह सचमुच अपराजित हो जाये । अत सद्विचार सद्व्यवहार, सदाहार, और सदाचार से अपना आयुष बढ़ाना चाहिये, और मनुष्य-जन्म को सफल करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

३१४

पाप-त्याग

ओ३म् । यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।
पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥ अ० ६।२६।२

हे (पाप्मन्) पापवृत्ते ! (यः) जो तू (नः) हम नहीं (जहासि) छोड़ता है (उ) ऐसे (त्वा) तुझ को (वयम्) हम (जहिमः) छोड़ते हैं। (पथाम्) मार्गों के (व्यावर्तन) बदलने पर (पाप्मा) पाप (अन्यम्+अनु) अन्य मार्ग को लक्ष्य करके (पद्यताम्) प्राप्त हो।

पाप का पन्थ बड़ा विकट है। एक बार मनुष्य इस पापपथ पर चल पड़े तो इससे हटना बड़ा कठिन होता है। पापपथ नदी के प्रवाह के अनुकूल चलता है। पाप मार्ग में चलने वाले को चलते समय आपातत कोई हानि प्रतीत नहीं होती, अतः वह बेखटके इस पर चलता चला जाता है। अब पापचरण का अभ्यास इतना बढ़ गया है कि इच्छा न होते भी उससे पाप हो जाते हैं। क्योंकि पापाचार से उसके संस्कार ऐसे बन गए हैं कि उसे फिर वही व्यवहार करने पड़ जाते हैं। योगदर्शन के भाष्य में इस संस्कार-व्यवहार चक्र को बहुत सुन्दर शब्दों में समझाया गया है—

तथा जातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तयः इति । एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते ॥ (यो० द० १।५)

वृत्तियों से ही तदनुरूप संस्कार बनते हैं और संस्कारों से पुनः वृत्तियाँ [व्यवहार] बनती हैं। इस प्रकार वृत्ति [व्यवहार] और संस्कार का चक्र दिन रात चलता रहता है।

संस्कार को मारना सरल कार्य नहीं है। तभी तो कहा —**यो नः पाप्मन न जहासि**=पाप तू हमें नहीं छोड़ रहा। पाप के संस्कार और आचार से निस्तार पाने का एक ही द्वार है—वह है पाप संस्कार तथा पापाचार के विरुद्ध विचार। योग की परिभाषा में इसको **प्रतिपक्षभावना** कहते हैं। मनुष्य जब दृढ़ संकल्प कर ले, तब कुछ भी असाध्य नहीं रहता। अतः दृढ़ प्रतिज्ञा की भावना से साधक कहता है—**तमु त्वा जहिमो वयम**=ऐसे तुझको हम त्यागते हैं।

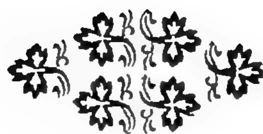
तू हमें नहीं त्यागता, हम तुझे त्यागते हैं। आरम्भ में पल्ला भी हमने था, अब छोड़ेंगे भी हम ही। पाप पुण्य का जहां चौराहा है, जहां से दोनों मार्ग पृथक् होते हैं वहां ही इसका त्याग किया जा सकता है। पाप की वासना और पुण्य की कामना एक ही स्थान से उठती है। देखने की शक्ति निस्सन्देह आत्मा की है, किन्तु दिखाती आंख है। इस प्रकार भद्र अभद्र विचारने और करने का सामर्थ्य वास्तव में आत्मा है, किन्तु आत्मा से इस करता मन है। इस दृष्टि से, जैसे चक्षु सभी रूपों का एकायन=प्रधान ठिकाना है, ऐसे, मन ही सभी—भले बुरे—विचारों का एकायन है। यह से सभी

मे मन 'पथों का व्यवर्त्तन' है। यहा से ही मार्ग बदलते हैं। यहा से पाप को दूसरे मार्ग पर चला दो, अर्थात् उसे उदय ही न होने दे, उसे विनाश कर दो।

यह हम कह चुके हैं कि पाप के संस्कार बड़े प्रबल होते हैं। वे पुनः सामने आयेंगे। तब प्रतिपक्षभावन से काम लो। योगदर्शन के भाष्य में श्री व्यासदेव जी ने लिखा है—

एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान् भावयेत्। घोरेषु संसारांगारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपगतो योगधर्मः। स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेतिभावयेत्। यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति।

इस प्रकार कुमार्ग के उन्मुख वित्तर्क [पाप] रूप अति तीव्र ज्वर से पीड़ित मनुष्य प्रतिपक्षों का=विरुद्ध भावों का चिन्तन करे। अहो! ससार रूप घोर अगारों में जलते हुए मैंने किसी भांति योगधर्म की शरण ली। अब मैं उसे छोड़ कर फिर उन पापों को करूं, सो यह कुत्तों के व्यवहार के समान है, ऐसा विचार करना चाहिये। कुत्ता अपने वमन=कै को चाटता है, वैसा ही त्यागे कार्य्य को पुनः अपनाने वाले को समझना चाहिये।



परमात्मा कर्म्मानुसार देह देता और वाणी भी

ओ३म्। आ यो धर्म्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आविवेश यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ अ० ५।१।२

(यः) जो (प्रथमः) सर्वप्रधान भगवान् (आ) सब से पूर्व (धर्म्माणि) धर्मों, कर्त्तव्यों को (ससाद) जानता है। (ततः) तब (पुरूणि) अनेक (वपूंषि) शरीरों को (कृणुषे) बनाता है। (धास्युः) धाता होकर (प्रथमः) पहले (योनिम्) योनि में (आ विवेश) प्रवेश करता है (यः) जो (अनुदिताम्) न बोली हुई (वाचम्) वाणी को (चिकेत) जानता है, सिखाता है।

(१) आ यो धर्म्माणि प्रथमः ससाद—सृष्टि रचना से पूर्व भगवान् रचने योग्य पदार्थों का विचार करते हैं, किस किस जीव का क्या क्या कर्म और उसका उपयुक्त फल तथा उसके भोगने के साधन कैसे होने चाहियें, इसका आलोचन करते हैं। वेदान्त में इसका नाम 'ईक्षण' है। ऋग्वेद १०।१९०।१ में ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत [भगवान् के जाज्वल्यमान तप से ऋत और सत्य प्रकाशित हुए] में यही बात कही गई है। ऋत=सृष्टि नियम, सत्य=तदनुगामिनी कर्म्मफलव्यवस्था। अथर्व में उन दोनों को धर्म्म शब्द से कहा गया है।

(२) ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि, तब=कर्मफलालोचन के पश्चात् अनेक वपुओं=शरीरों की रचना करता है। जैसे जैसे जिसके कर्म्म हैं, वैसे वैसे भगवान् उसके लिये भोग का अधिष्ठान, भोग का साधन और भोग का सामान विधान करता है।

(३) धास्युर्योनिं प्रथम आविवेश=कर्मफलों का धारण करता हुआ जीव शरीर में पहले घुसता है। इस वेदवचन से प्रतीत होता है कि गर्भाधान क्रिया के समय पहले जीव जाता है, तभी शरीर बनता है, जीव प्रवेश न करे तो गर्भ की स्थिति ही नहीं होती।

(४) यो वाचमनुदितां चिकेत इस खण्ड के दो अर्थ हैं। एक प्रभुपरक है—जो अनुच्चारित वाणी को भी जानता है अर्थात् जो हमारी मानसिक मन्त्रणाओं को भी, जो हम वाणी पर नहीं लाये, जानता पहचानता है। अथवा जो अनुच्चारित वाणी को समझाता है—अर्थात् बोलने की युक्ति देता है। सीधे सादे शब्दों में वाणी भी वही देता है। दूसरा अर्थ जीवपरक है—जो न बोली हुई वाणी को समझता है। बालक जब स्वयं नहीं बोलता, तब भी मां बाप की बोली को समझता है।

इन चारों बातों पर तनिक-सा विचार किया जाय तो इन से सार यह प्रतीत होता है कि जीव भगवान् की दी योनि में आता जाता है, और वह योनि उसके कर्मों का फल है। ऋग्वेद में इस सिद्धान्त को इन शब्दों में कहा गया है—

आ यो योनिं देवकृतं ससाद क्रत्वा ह्यग्निरमृतां अतारीत्। ऋ० ७।४।५

जो भगवान के रचे देह में रहता है, ज्ञानस्वरूप भगवान जीवों को कर्म से तारता है।

एक योनि से दूसरी योनि में भेजने तथा मुक्त करने को यहां तारना कहा गया है। भगवान ही इस कार्य को कर सकता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है—

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्।
सङ्ख्याता अस्य निमिषो जनानाम् .... ॥ अ० ४।१६।५ जो इस संसार में और जो कुछ इससे परे है, अन्तर्यामी जगद्राजा उसे जानता है, उसने तो प्राणियों के निमेषोन्मेष तक गिन रखे हैं।

प्रश्न द्वारा आत्मनिरूपण

ओ३म्। को अस्या नो द्रुहोवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन्।

को यज्ञकामः कः पूर्त्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ अ. ७।१०३।१ ॥

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम।

बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्व कल्पयाति ॥अ. ७।१०४।१॥

(वस्य + इच्छन्) आदर का अभिलाषी (क) कौन (क्षत्रियः) दुःख निवारकों में श्रेष्ठ (न) हमें (अस्याः) इस (अवद्यवत्याः) दोषवाली (द्रुहः) द्रोहभावना से (उन्नेष्यति) ऊपर उठायेगा । (कः) कौन (यज्ञकामः) यज्ञ की कामना वाला है ? (कः) कौन (पूर्त्तिकामः) त्रुटि-पूर्त्ति का अभिलाषी है ? (कः) कौन (देवेषु) देवा=इन्द्रियों में या दिव्यगुणों के निमित्त (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु को, जीवन को (वनुते) चाहता है । (अथर्वणे) अथर्वा=असन्दिग्ध योगी के प्रति (वरुणेन) वरुण से (दत्ताम्) दी गई (सुदुघाम्) उत्तम दूध वाली (नित्यवत्साम्) सदा बछड़ों वाली, (पृश्निम्) विविध वर्णों वाली (धेनुम्) धेनु को (कः) कौन चाहता है । (बृहस्पतिना) बृहस्पति से (सख्यम्) मैत्री का (जुषाणः) प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाला (यथावशम्) इच्छानुसार (तन्वः) शरीरों को (कल्पयाति) समर्थ करता है ।

अनुक्रमणिकाकार ने इन दोनों मन्त्रों का देवता=प्रतिपाद्य विषय 'आत्मा' लिखा है । अ. ७।१०४।१ का उत्तरार्ध ले भी उधर ही जाता है ।

इन्द्रियां विषयों की ओर वेग से प्रवृत्त हो चुकी हैं । एक प्रकार से वे आत्मा के वश से बाहर हो गई हैं । यह आत्मा के विरुद्ध इन्द्रियद्रोह ही तो पाप का मूल है । जैसा कि वेद में कहा है—

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ॥अ ५।१८२=

इन्द्रिय द्रोह के कारण राजा अपना से पराजित होकर पापी हो गया है ।

अर्थात जब इन्द्रिय आत्मा के वश में न हो, तब पाप अवस्था है, और पाप अवस्था कभी भी अनवद्य निर्दोष नहीं होती सदा ही अवद्य=दोषयुक्त, या अवद्यवती दोषभरी होती है। एक एक पाप से आत्मा में चोट लगती है । जो आकर पाप से बचाये, वह मानों चोट से बचाने वाला=क्षत्+त्र=क्षत्र हैं, क्षत्रों का जो क्षत्र हो वह क्षत्रिय ।

यज्ञ याग, इष्टापूर्त्त दीर्घ जीवन के उपाय कौन करता है ? **को वनुते दीर्घमायु** [कौन दीर्घ आयु चाहता है । को उपनिषद में यह रूपान्तर दिया गया है —

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन्।

अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानति दीर्घे जीविते को रमेत ॥कठो. १।२८॥

अजरों अमरों की सी अवस्था को प्राप्त होकर दुर्दशाग्रस्त कौन मनुष्य रंग-रूप मौज-विहार का विचार करता हुआ जान बूझ कर दीर्घ जीवन पसन्द करेगा ?

मनमुच यदि अंग विकल हों, इन्द्रियशिथिल हों, मन जवान हो अर्थात् विषय वासनाओं में

उलझा हुआ हो, और जीवन हो दीर्घ, तो उसमें बढ़कर कौनसी दशा अधिक दुःखद होगी? किन्तु यह एक अकाट्य सत्य है कि हीन से हीन, अत्यन्त दुःखदायी दशा में पड़ा हुआ क्षुद्र प्राणी भी जीना चाहता है, अधिक जीवन चाहता है। आत्मा जीवन वाला है अमृत है अतः शरीर को भी अमृत बनाना चाहता है। इसी के लिये वह यज्ञ याग करता है, इसी के लिये इष्ट और पूर्त करता है। ताकि लोग प्रसन्न हो कर इसे सुदीर्घ जीवन का शुभाशीर्वाद दें। यह है भाव—

को यज्ञकामः दीर्घमायु' का। एक दूसरा भाव भी है—

कौन यज्ञ करता है, कौन पूर्त=[कुआ तालाब बाग बगीचे] लगाता है, दिव्य गुणों के लिये कौन दीर्घ जीवन चाहता है? अर्थात् कोई विरला ही इन शुभ कर्मों को करता है।

भगवान् (वरुण) ने अथर्वा को एक गौ दी। वह गौ पृश्नि=नाना वर्णों वाली है, उत्तम दूध देती है, और सदा इसके पास बछड़ा रहता है।

जानते हो, यह गौ क्या है? ऋग्वेद १०।७१।५ में कहा है कि—जो वेद वाणी का अर्थ नहीं जानता है, वह मानो नकली गौ के साथ घूम रहा है—

अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवा अफलामपुष्पाम्=

जो मनुष्य फलपुष्परहित वाणी को सुनता है, मानो वह नकली गौ के साथ घूम रहा है।

गौ की मूर्त्ति गौ जैसी दीखती है किन्तु दूध आदि नहीं देती। वह नकली गौ है।

वेद मनुष्य को आत्मकल्याण के लिये दिया गया है। वेदमन्त्रों का अर्थ जाने बिना वेदानुसार आचरण कैसे किया जा सकता है?

ऋग्वेद के इस वचन के आधार पर यह धेनु वेद वाणी है। यह पृश्नि है। मनुष्य जीवनोपयोगी सब रंगों-वर्णों का इसमें वर्णन है। यह सुदुघा है। वेद अत्यन्त सरल है। इतने सरल कि संस्कृत साहित्य में इसके समान सरल ग्रन्थ और कोई नहीं है, साथ निस्सन्देह गंभीर है। वेद धेनु नित्यवत्सा है। अर्थात् सदा सफल है।

भगवान् ने यह सुदुघा धेनु दी है। किन्तु कितने इसका दूध पीकर पुष्ट होते हैं?

शरीर इन्द्रिय मनुष्य के वश में नहीं हैं। मनुष्य इनके वश होकर इनसे यथेष्ट लाभ नहीं उठा रहा है। लाभ उठाने की युक्ति बतलाई है—

बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति=

बृहस्पति के साथ मैत्री का प्रीति पूर्वक सेवन करने वाला शरीरों=शरीर तथा इन्द्रियों को यथेष्ट समर्थ बनाता है।

भगवान् ही सर्वथा निरवद्य है, उसके संग से अवद्य=दोष कटते हैं। प्रत्युत वही दोषों को काटता है। उससे प्रीतिपूर्वक मैत्री करनी चाहिये। मित्र को मित्र पर बड़ा अभिमान होता है। वह मित्र से यथेष्ट मांगता और लेता है। देखिये, वैदिक भक्त किस आवेग से भगवान से कहता है—

देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि ॥अ. ५।११।९॥

तो तूने मुझे नहीं दिया, मुझे वही दे, तू मेरे सदा साथ रहने वाला सप्तपद सखा है।

भगवत्सख्य का फल है—शरीर और इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार—यथावशं तन्वः कल्पयाति।

झूठ का त्याग कर के सत्य का ग्रहण

ओ३म् । अग्ने व्रतपते व्रत चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ य. १।५

हे (व्रतपते) व्रतरक्षक (अग्ने) सर्वोन्नति साधक परमेश्वर । मैं (व्रतम्) व्रत (चरिष्यामि) करना चाहता हूं । (तत) उसको (शकेयम्) मैं कर सकूं, (मे) मेरा (तत्) वह व्रत (राध्यताम्) सिद्ध हो, सफल हो । (अहम्) मैं (अनृतात्) मिथ्या को छोड़कर (सत्यम्) सत्य को (उप+एमि) प्राप्त करता हूं ।

शतपथ ब्राह्मण मे [आरम्भ ही में] लिखा है कि मनुष्य व्रत का धारण करते हुए, दीक्षा लेते हुए इस मन्त्र को पढ़ता है । यह मन्त्र वास्तव में प्रत्येक मनुष्य का, विशेषकर आर्य्य का तो जप-मन्त्र होना चाहिये । भगवान् सत्य स्वरूप है । सत्य की रक्षा, सत्यव्रती की रक्षा भी वही करता हैं । तैत्तिरीयों की प्रार्थना है--**ऋतं वदिष्यामि, सत्य वदिष्यामि, तन्मामवतु, तद्वक्तारमवतु ।**

ऋत बोलूंगा, सत्य बोलूंगा । वह सत्यस्वरूप परमेश्वर मेरी रक्षा करे, सत्यवक्ता की रक्षा करे । सत्यवचन के रक्षक होने का वर्णन ऋग्वेद १०।३७।२ में है—

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः = वह सत्यवचन मेरी सब प्रकार रक्षा करे ।

वेद सत्य का बहुत पक्षपाती है । वेद मे स्थान स्थान पर सत्य के पालन का आदेश है--

१. **तेन सत्येन जागृतमधि प्रचेतुने पदे** (ऋ. १।२१।६)

उस सत्य के साथ तुम पति पत्नी दो चेतना देने वाले पद के लिये जागरूक रहो ।

२. **अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया** (ऋ. १।४६।११) पार जाने के लिये ऋत का मार्ग ही अच्छा होता है । ३ **ऋतस्य देवा अनुव्रता गु** (ऋ १।६५।२) देव ऋत-व्रत के अनुगामी होते हैं । शतपथ ब्राह्मण में '**अग्ने व्रतपते**---'मन्त्र की व्याख्या मे लिखा है--**सत्य वै देवाः** = विद्वान् सत्य हैं । वेद ने कहा---'**ऋतस्य देवा अनुव्रता गुः**' । शतपथ ब्राह्मण ने कहा--- **सत्यं वै देवा** ' । शब्द भिन्न हैं, बात एक ही है । जो '**इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि**' [मैं झूठ को छोड़कर सत्य का ग्रहण करता हूं] प्रतिज्ञा करने लगा है, मानो वह देव बनने लगा है । यदि देव = भगवान् की बातें सुनने का चाव है, तो देव बनो, क्योंकि

देवो देवाय गृणते = देव देव के प्रति बोलता है । गुरुकुल से समावर्त्तन करके शिष्य को घर भेजते समय गुरु उपदेश देते हैं---**सत्य वद** = सच बोल ।

जीवन को सर्वथा सत्यमय बनाना चाहिये । '**इदमहमनृतात्**' व्रत लेने वाला कह सके कि---

ऋतस्य सद्म वि चरामि विद्वान् (ऋ. ३।५५।१४)

मैं समझ बूझ कर ऋत के घर मे विचरता हूं । जीवन की प्रभात वेला में कहता है---

अग्ने व्रतपते चरिष्यामि । इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।

जीवन के सान्ध्य समय में कहता है---

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं य एवास्मि सो अस्मि ॥ य. २।२८

हे व्रतरक्षक उन्नतिसाधक प्रभो । मैंने व्रत किया था, तेरी दया से उसे कर पाया, वह मेरा पूरा हुआ । जो कुछ मैं हूं वही हूं । आरम्भ से अन्त तक जीवन सत्य से ओत प्रोत होना चाहिये ।

तेरे आकर्षक रूप को यहीं देखा है

ओ३म्। अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः ।
यदा ते मर्त्तो अनु भोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः ॥ ऋ. १।१६३।७

(गोः) पृथिवी के, इन्द्रियों के (पदे) ठिकाने में, (इषः) अन्नों के = विषयों के सदृश (अत्र) इसी शरीर में, इसी संसार में (ते) तेरे (जिगीषमाणम्) जयशील = आकर्षक (उत्तमम्) सर्वश्रेष्ठ (रूपम्) स्वरूप को (आ + अपश्यम्) सब ओर मैंने देखा है। (मर्त्तः) मनुष्य (यदा) जब (ते + अनु) तेरी अनुकूलता से (भोगम्) भोग को (आनट्) प्राप्त करता है (आत्) तब (इत्) ही (ग्रसिष्ठः) अतिशय ग्रसनशील होकर (ओषधीः) ओषधियों को, दोषनाशक पदार्थों को (अजीगः) निगलता है।

समाधि की पूर्ण परिपक्व दशा में योगी को जो अनुभव होता है। उसका यह संक्षिप्त, किन्तु वास्तविक निरूपण है। योगी भगवान् के भर्गः स्वरूप के दर्शन कर चुका है। उसके कारण उसके पापमल सब धुल चुके हैं। भगवान का मनोहारी स्वरूप अनुभव करके सहसा उसके मुख से निकलता है

अत्रा ते रूप मुत्तममपश्यम् = यहीं मैंने तेरे सर्वश्रेष्ठ रूप के दर्शन किये हैं।

इसी संसार में और इसी मानव शरीर में ही भगवान के दर्शन होते हैं—**यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि** = जो तेरा कल्याणतम—सबसे अधिक कल्याणकारी स्वरूप है, उसे मैं देखता हूँ।

सुनी सुनाई या पढ़ी पढ़ाई बात नहीं। ऋषि अपना अनुभव बता कर वेद की पुष्टि कर रहे हैं।

उसके विषय में पुनः कहते हैं—

जिगीषमाणमिष आ पदे गोः = जैसे विषय इन्द्रियों को खींचते हैं। वैसे ही तेरा यह स्वरूप जिगीषमाण = विजयशील आकर्षक है।

तात्पर्य यह कि योगी जब परमात्म स्वरूप के दर्शन करता है तो उसे यह अनुभव होता है कि वह तो सबसे अधिक सुन्दर है। सभी सौन्दर्यों को उसने जीत रखा है, तभी तो उसे **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** कहते हैं। सचमुच भगवान का स्वरूप कल्याणकारी सुन्दर है। और फिर यह उसे भी जीतने के कार्य में लगा है। सच्चा विजय भगाने में नहीं, अपनाने में है। भगवान भक्त को भगाता नहीं, अपनाता है। लोहे को चुम्बक के तनिक समीप लाओ वह उसे खींच लेता है। इसी प्रकार भक्त भगवान् के ज्योंहि समीप जाने का यत्न करता है वह उसे खींच लेता है। जैसे विषय इन्द्रियों को अपनी ओर खींचते हैं, ऐसे भगवान् भक्त को अपनी ओर आकर्षित करता है।

मनुष्य कर्म भी करता है भोग भी भोगता है। पाप कर्मों का फल भोग कर भी क्यों उसका आत्मा मैला रह जाता है। इसका कारण है। भोग भोगते हुए यह भोगविधाता के प्रतिकूल था। भगवान कर्म फल देकर इसके आत्मा को शुद्ध कर रहे थे, और यह नास्तिकता-रूपी गन्दगी इसमें डालकर इसे मलिन कर रहा था, अतः इसके दोष बने रहे। किन्तु जो भी

यदा ते मर्त्तो अनु भोगमानट्, आदिद्ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः

भगवान की अनुकूलता से मनुष्य भोग प्राप्त करता है, तो भी वह आत्मा को निर्मल बनाता है, और सब ओषधियाँ—दोष निवारक पदार्थों को निगल जाता है।

तब संसार के सब पदार्थ इसके लिये ओषधियाँ—दोषनाशक बन जाते हैं।

३१६

विज्ञानी गुरु

ओ३म् । साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्ररेता वृषभस्तुविष्मान् ।
पदं न गोरपगूढं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम् ॥ ऋ. ४।५।३

(द्विबर्हा) दो से—विद्या और विनय में बढ़ा हुआ (तिग्मभृष्टिः) तीव्र परिपाकवाला (सहस्ररेताः) अतुल पराक्रमी (वृषभ) श्रेष्ठ (तुविष्मान्) बलवान्, (अग्नि.) अग्रणी, अगुआ, (विविद्वान्) उत्तम विद्वान् (मह्यम्) मुझे (गो.) गौ के, इन्द्रिय के, वाणी के, पृथिवी के, ज्ञान के (अपगूढम्) अत्यन्त गुप्त (पदम्) पद की, ठिकाने की (न) भांति (महि) बड़े (साम) सिद्धान्त का, सिद्धान्तित कर्म का (उ) तथा (मनीषाम) प्रज्ञा, बुद्धि का (प्र+वोचन्) श्रेष्ठता से उपदेश करे ।

इस मन्त्र में गुरु के सम्बन्ध में कुछ बातें बताई गई हैं—

(१) **द्विबर्हा**=विद्यावृद्ध तथा विनयवृद्ध । गुरु भरपूर ज्ञानी होना चाहिये । विद्या के साथ विनय भी होना चाहिये । सच्ची विद्या ही वही है जिसके साथ विनय=शान्ति हो ।

विद्या ददाति विनयम्=विद्या विनय देती है अर्थात् उद्धतपन को दूर करती है ।

(२) **तिग्मभृष्टिः**=तीव्र परिपाक वाला । अर्थात् जिसमें अनुभव परिपक्व है, कच्चा नहीं । जो दूसरों का भी तीव्र परिपाक कर सकता हो ।

(३) **सहस्ररेताः**=अतुल पराक्रमी । जो शिष्यों के सब अज्ञान दूर करके उनमें ज्ञानाधान कर सकता हो । जिसमें अनन्तवीर्य्य हो, अर्थात् जिसने ब्रह्मचर्य्य का पूर्णतया पालन किया हो । योगदर्शन-भाष्य [२।३८] में ब्रह्मचर्य्य का लाभ बतलाते हुए व्यासदेव जी लिखते हैं—

सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातु समर्थो भवति=

ब्रह्मचर्य्य से सिद्ध मनुष्य शिष्यों में ज्ञान डाल सकने में समर्थ हो जाता है ।

(४) **अपगूढं विविद्वान्**=जो अत्यन्त गुप्त को भी विशेषतः जानता हो ।

गुप्त से गुप्त रहस्य को जानता हो ।

प्रत्येक पदार्थ के दो स्वरूप होते हैं एक सामान्य, दूसरा विशेष । गौ को ले लीजिये । गौ में एक गौत्व धर्म्म है जो सब गौओं में है, जिसके कारण सकल गौओं को एक माना जाता है । इसको 'सामान्य' कहते हैं । इसका कार्य्य एकता=समता का बोध कराना है । इस धर्म्म के ज्ञान से मनुष्य एक गौ के देखने से तत्सदृश सभी पदार्थों को गौ मानता है । विशेष भेदबोधक होता है । गौत्व के कारण सभी गौएं एक होती हुई भी व्यक्ति-भेद के कारण परस्पर भिन्न हैं । यही विशेष ज्ञान वास्तविक ज्ञान है । गुरु का 'विविद्वान्' कहने का प्रयोजन यह है कि गुरु विशेषज्ञ हो । सामान्य तो वि[illegible] समन्वागत रहता ही है ।

ऐसा गुरु जो ज्ञान देता है, वह 'साम' सान्त्वना=तसल्ली=शान्ति देने वाला होता है ।

(५) **तुविष्मान्**=बलवान । अर्थात् शरीर बल में भी हानि न हो । रोगी या दुर्बल शरीर वाला अध्यापन या शिक्षण का कार्य भली भांति नहीं कर सकता ।

३२०

बाल की खाल निकालना

*ओ३म् । निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिर्या जरन्ता युवशा ता कृणोतन ।
सौधन्वना अश्वादश्वमतक्षत युक्त्वा रथमुप देवां अयातन ॥ ऋ० १।१६१।७

(धीतिभिः) मनुष्यों के द्वारा (गाम्) वाणी को (चर्मणः) चमड़े से (निः) रहित कर के (अरिणीत) प्राप्त करो । (या) जो दो [माता पिता] (जरन्ता) वृद्ध [हो रहे हैं] (ता) उन दोनों को (युवशा) युवासमान (कृणोतन) करो । हे (सौधन्वनाः) धनुर्विद्या में कुशलो ! (अश्वात्) अश्व से (अश्वम्) अश्व को (अतक्षत) बनाओ । और (रथम्) रथ को (युक्त्वाय) जोड़ कर (देवान्) दिव्य पदार्थों को (उपअयातन) समीप लाकर प्राप्त करो । अथवा (रथ अयातन) रथ को जोड़ कर विद्वानों के पास जाओ ।

निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिः का अर्थ सायणाचार्य्य आदि ने 'गौ का चमड़ा उधेड़ो' ऐसा किया है, किन्तु इस अर्थ की कोई सङ्गति नहीं । हां इस से वेद के मत्थे गोहत्या का कलङ्क अवश्य लगता है, जो सर्वथा अन्याय है । वेद में गौ को अघ्न्या=न मारने योग्य माना है । सायणादि का अर्थ "गां मा हिंसीः" [गौ को मत मार] इस वेदवचन का विरोधी भी होता है । सभी ऋषि मुनि मानते हैं । कि वेद में 'वदतो व्याघात दोष=' पारस्परिक विरोध नहीं है । फिर यदि श्री सायण जी का अर्थ ठीक हो तो वेदवाक्य 'निश्चर्मण गामकुरुत' होना चाहिये । न कि निश्चर्मणो गामरिणीत' चर्म्म से रहित गौ को प्राप्त करो । चर्म्म से रहित होने पर तो वह गो ही न रहेगी । इस वास्ते इस वाक्य का अर्थ कुछ अन्य है । 'गौ' शब्द का एक अर्थ वाणी भी है, गौ शब्द के इस अर्थ को मान कर अर्थ होगा—'वाणी को चर्म्म रहित करके प्राप्त करो ।' अर्थात् बात के मर्म को जानो । बाल की खाल निकालो=जो काल पाकर 'बाल की खाल निकालो' के रूप में आ गया । 'गौ' का एक अर्थ बाल भी है । बाल की खाल निकालने का अर्थ सभी जानते हैं ।

इस मन्त्र में उत्तम शिल्पियों को आदेश है । उन का कार्य ऐसा है कि जिस में उन्हें इस बात की आवश्यकता है । वे अपनी विद्या के सार रहस्यों को हस्तगत न करें, तो कार्य्य ही न चले । दूसरे चरण में उपदेश है कि जो बूढ़े माता पिता हैं, उन्हें जवान बनाओ । ऋग्वेद १।११०।८ में भी इसी ढङ्ग की बात कही गई है ।

जिव्री युवाना पितरा कृणोतन=बूढ़े पिता माता को युवा कर दो । माता पिता को जवान करने का भाव है कि वे वार्द्धक्य के कष्ट को अनुभव न करें ।

सौधन्वना अश्वादश्वमतक्षत=हे उत्तम शिल्पियो । घोड़े से घोड़ा बनाओ ।

घोड़े से घोड़ा नहीं बनता है, पैदा होता है । फिर वेद ने यह बात क्यों कही ? इस का सीधा सादा अर्थ है कि घोड़े से उत्तम घोड़ा पैदा करो । अर्थात् तुम्हारे पशुओं की सन्तान आकार, शक्ति आदि में हीन न होने लग जाए । इस विषय में सावधानता न बरती जाये, तो उत्तरोत्तर ह्रास होने लगता है । चतुर विज्ञानी मनुष्य ह्रास को रोक कर उत्तरोत्तर उत्कर्ष की व्यवस्था करता है ।

चौथे चरण में एक आवश्यक व्यावहारिक तत्त्व का उपदेश है कि शिल्पियों को चाहिये कि वे अपने उत्कृष्ट विद्वानों की सङ्गति करते रहा करें, ताकि शिल्प की उन्नति होती रहे ।

---

*इस मन्त्र का विशेष अर्थ लेखक के 'वेद प्रवेश' प्रथमापद्धति के १६१–१६२ पृष्ठों में देखिए ।

३२१

अथर्ववेद के ज्ञान से पौरोहित्य

ओ३म्। अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या।

भुवद्दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे। ऋ० १०।२१।५

(अथर्वणा) अथर्ववेद से, अथर्ववेद के ज्ञान में (जात) प्रसिद्ध होकर (अग्निः) ज्ञानी=पुरोहित (विश्वानि) सम्पूर्ण (काव्या) परम कवि के वचन, वेद, तथा कवि के कर्त्तव्यों को (विदत्) जाने, प्राप्त करे, और विचारे। वह (विवस्वत) विवस्वान का काल का (दूतः) दूत (भुवत्) होता है, और (वः) तुम्हारे (मदे) मद=आनन्द के लिये तथा (विवक्षसे) विशेष कथन के लिये तथा विशेष भार उठाने के लिए (यमस्य) सयम का (वि) विशेष (प्रिय) प्यारा=प्रेमी होता है।

वेद में कई स्थानों पर अग्नि को पुरोहित कहा गया है। वेद का आरम्भ ही अग्नि को पुरोहित मान कर हुआ है—

१. **अग्निमीळे पुरोहितम** (ऋ० १।१।१) पुरोहित अग्नि की स्तुति करता हू।

२. **असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोसि यज्ञषुः मानुषः** (ऋ० १।४४।१०) ग्रामों में तू रक्षक है और यज्ञों में मनुष्य का हितकारी पुरोहित है।

इसी प्रकार के अन्य बीसियों वैदिक प्रमाण हैं, जिन में अग्नि को पुरोहित बनाया गया है।

पुरोहित बनने के लिये अथर्ववेद का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि पुरोहित द्वारा कराये जाने वाले सम्पूर्ण सस्कारों के मन्त्र अथर्ववेद में हैं। अथर्ववेद मे शरीर और आत्मा को सस्कृत करने के साधन विशदरूप से समझाए गए हैं।

अथर्ववेद अन्तिम वेद है, उस को समझाने के लिये पहले तीन वेदों का जानना भी आवश्यक है। अर्थात् अथर्ववेद समाप्त करते करते सम्पूर्ण वेदों का ज्ञान हो जाता है। इसी लिए कहा है—

विदद्विश्वानि काव्या=परम कवि के सम्पूर्ण वचनों को जान लेता है। अथवा पुरोहित के सकल कर्त्तव्यों को जान लेता है। पुरोहित काल की सूचना देता है। अर्थात् किस समय क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। इस का उपदेश करना पुरोहित का काम है। दूसरे शब्दों में मनुष्य को अपनी दिनचर्य्या और जीवनचर्य्या पुरोहित के निर्देश के अनुसार करनी चाहिये। बहुधन्धी मनुष्य बहुधा अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है। पुरोहित उसे सावधान करता रहता है। पुराने आर्य्यों में एक नियम था कि वह अपने परिवार का एक पुरोहित अवश्य नियत करते थे। पुरोहित अपने यजमान के सब दुःखों का निवारण करता था। राजा दिलीप ने पुरोहित-प्रवर वसिष्ठ को कहा था—

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्त्ता त्वमापदाम्

सचमुच मेरे राज्य के सातों अङ्गों में कल्याण है क्योंकि मेरी दैवी और मानुषी आपत्तियों का दूर करने वाले आप हो।

यह कोरी कविकल्पना नहीं है। वैदिक पुरोहित ऐसे ही हुआ करते थे। अथर्ववेद का ३।१९ समस्त सूक्त पुरोहित का वाक्य है। पुरोहित कहता है--

प्रेता जयता नर उग्रा व. सन्तु बाहवः (अ ३।१९।७)=

हे मनुष्यो! आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो। तुम्हारे भुज उग्र हों।

एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि (अ. ३।१९।५)=

इनके राष्ट्र को उत्तम वीरों से भरपूर करके बढ़ाता हूं।

जिष्ण्वेषां चित्तम् (अ ३।१९।५)=

इनका चित्त जयशील हो।

संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः (अ. ३।१९।१)=

जिनका मैं पुरोहित हूं, उनका सुतीक्ष्ण क्षात्र तेज अजर रहे, घटे नहीं।

अथर्ववेद में यदि पुरोहित बनता है, तो पुरोहित की महिमा भी वहीं गाई गई है।

पुरोहित बनने के लिये संयमी होना चाहिये, यह मन्त्र के अन्त में कहा गया है।



विश्व के जीवन ! तेरी स्तुति करना चाहता हूं

ओ३म् । स्तविष्यामि त्वामहं विश्वस्यामृत भोजन ।
अग्ने त्रातारममृत मियेध्य यजिष्ठ हव्यवाहन ॥ ऋ० १।४४।५

हे (विश्वस्य+अमृत) विश्व के जीवन ! (भोजन) योगक्षेमदाता ! हे (अग्ने) सब को आगे ले जाने वाले ! हे (मियेध्य) पवित्र करने वाले ! हे (हव्यवाहन) भोग्य पदार्थ प्राप्त कराने वाले ! (त्वाम्) तुझ (त्रातारम्) रक्षक, (अमृतम) अविनाशी, (यजिष्ठ) सब से अधिक पूजनीय की (अहम्) मैं (स्तविष्यामि) स्तुति करना चाहता हूं ।

आज मन में आया है, तेरी स्तुति करूं । तूने ही प्रेरणा की कि मैं तेरी स्तुति करूं । तेरा आदेश है--

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्म्माणमध्वरे । देवममीवचातनम् ॥ ऋ० १।१२।७=

यज्ञ में क्रान्तदर्शी, सब की उन्नति करने, अटल नियमों वाले दुःखनाशक भगवान् के पास बैठ कर स्तुति कर । तेरे इस आदेश को शिरोधार्य कर मैं तेरी स्तुति करना चाहता हूं । तू अग्नि है, ज्वाला है । मैं भी आग बनना चाहता हूं । तेरा ही कथन है **अग्निनाग्नि समिध्यते** (ऋ० १।१२।६) आग से आग जलती है । प्रभो तू आग है, मुझे भी आग बना, चमका । प्रभो ! तू विश्व का जीवन है । तेरे बिना यह जगत समाप्त हो जाये, मर जाये ।

तू ही जीवन की सामग्री देता है । तू ही संसार का भोजन है, अमृत भोजन है । तू न हो, तो सभी भूखे मर जायें । प्रभो ! काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर के कारण अपवित्र हूं, तू **मियेध्य** है, पवित्र है । पवित्र बनने के लिये तेरी स्तुति करता हूं । अपना यह गुण मुझ में संक्रान्त कर । तू मियेध्य= पवित्रकार है । मेरे सब आवरण मल दूर कर । मुझे विमल बना दे । भगवान् ! तेरी शक्ति अनन्तपार है । सभी का भोजन पहुंचाता है । तू ही सभी को भोगसामग्री देता है । प्रभो तू केवल **हव्यवाह** ही नहीं है, तू तो देववाह भी है—**स देवां एह वक्षति** (ऋ० १।१।२) तू देवों को यहां लाता है । अतः हमारी प्रार्थना है—

स आ वह पुरुहूत प्रचेतसोऽग्ने देवां इह द्रवत् (ऋ० १।४४।७)=

हे पुरुहूत ! बड़ी प्रकार वाले तू शीघ्र ही उत्तम ज्ञानी देवों को यहां ले आ । यहां कहां ? प्रभो ! **देवां इहावह । उप यज्ञं हविश्चन.** ऋ० १।१२।१०) देवों को यहां हम यज्ञ और हवि के समीप ले आ । प्रभो ! तू त्राता है । अतः **अविता भव'** (ऋ० १।१२।८) उत्तम रीति से रक्षा कर । भगवान् ! तू अमृत है । मैं तेरी स्तुति करता हूं, क्योंकि **स्तोता वो अमृत स्यात्** (ऋ० १।३८।४) तेरा स्तोता=स्तुति करने वाला हो जाता है । प्रियतम ! तू यजिष्ठ है, सबसे बड़ा याज्ञिक है । मैं भी यज्ञ करूंगा--

यजाम देवान् यदि शक्नवाम (ऋ० १।२७।१३) हम यथा शक्ति देवयज्ञ करेंगे ।

प्रभो ! मैं अज्ञानी हूं । तेरी स्तुति की गति नहीं जानता । अतः तेरे बताये शब्दों से तेरा यशोगान मैंने किया है । अतः विनती है **इमं स्तोमं जुषस्व नः** (ऋ० १।१२।१२) हमारे इस स्तोत्र को स्वीकार कर।

प्रभो ! वास्तव में यह तेरा ही देन है । अतः

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये जानदात । तेरी वस्तु तुझे ही भेंट करता हूं ।

३२३

वेदकर्त्ता

ओ३म्। यो अदधाज्ज्योतिषि ज्योतिरन्तर्यो असृजन्मधुना सं मधूनि।
अध प्रियं शूषमिन्द्राय मन्म ब्रह्माकृतो बृहदुक्थादवाचि॥ ऋ० १०।५४।६

(यः) जो (ज्योतिषि+अन्तः) ज्योति में (ज्योतिः) ज्योति (अदधात्) डालता है, (यः) जो (मधुना) मधु से (मधूनि) मधुओं को (सम्+असृजत्) एक संग मिलाता है, (अध) तब उस (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (प्रियम्) प्रिय (शूषम्) बलकारक (बृहत्) बहुत बड़ा (मन्म) मननात्मक ज्ञान (ब्रह्माकृत) परमेश्वररचित (उक्थात्) वेद से (अवाचि) कहना चाहिये।

जीव ज्योति है, प्रकाशवान् है। भगवान सर्गारम्भ में उसे वेदज्ञान देता है। मानो वह ज्योति में ज्योति का आधान करता है, सूर्यचन्द्र आदि प्रकाशमय पदार्थों में वह ज्योतिमय ही डालता है।

पदार्थों का संयोग-विभाग भी भगवान ही करता है।

असृजन्मधुना सं मधूनि =

मधुरता से मधुरों को मिलता है।

अर्थात् जिन पदार्थों का मिलना योग्य है उनको परस्पर मिलता है। वेद में दूसरे स्थान पर भी कुछ इसी ढंग की बात कही गई है—

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन।
मधुमतीं मधुमता सृजामि सꣳसोमेन॥ [य० १९।१]=

तेरे लिये स्वादु के साथ स्वादु वस्तु को, तीव्र के साथ तीव्र को, अमृत=जीवनदायी=जीवनीय के साथ जीवनीय को मधुर सोम के साथ मधुर वस्तु को मिलाता हूँ।

अथवा स्वादु के द्वारा स्वादु को, तीव्र के द्वारा तीव्र को, जीवनीय के द्वारा जीवन को, मधुर सोम के द्वारा मधुर वस्तु की रचना करता हूँ।

इस का बड़ा गहरा अभिप्राय है। भगवान ने यह जगत जीवों के उद्धार—भोग और मोक्ष प्राप्त करने—के लिये बनाया है। अतः इसमें के सभी पदार्थ मधुर हैं।

जैसे जल सभी का जीवन है किन्तु जलोदरी के लिये मौत सा है, वैसे जगत के सारे पदार्थ हैं तो मधुर स्वादु, किन्तु पापी के लिये दुःखदायी देने वाले हैं।

इत्यादि प्रकार से भगवान् ने प्रकाश डाल दिया और शक्ति से सृष्टि के सारे पदार्थ रच दिये—

अध प्रियं ·· ··उक्थादवाचि

तब जीव के प्रिय बलकारक मननात्मक ज्ञान को ब्रह्माकृत वेद से कथन किया।

सृष्टि उत्पन्न करके उससे प्रयोग लेने के लिये भगवान् ने ज्ञान भी दिया। स्पष्ट भी यहाँ उक्थ=वेद को ब्रह्माकृत भगवान् का रचा हुआ कहा है। ऋ० ३।३८।२ में स्पष्ट आदेश है—

देवत्तं ब्रह्म गायत=परमात्मा प्रेरित वेद का गान करो। स्पष्ट ही मन्त्र में बताया है कि जो जगकर्त्ता है वही वेदकर्त्ता है।

३२४

मनुष्य

ओ३म् । वनेम पूर्वीरर्यो मनीषा अग्निः सुशोको विश्वान्यश्याः ।
आ दैव्यानि व्रता चिकित्वाना मानुषस्य जनस्य जन्म ॥ ऋ० १।७०।१

(मानुषस्य जनस्य) हमारा मानव (जन्म) जन्म (आ) यही है कि हम (आर्य.) ज्ञानी की (पूर्वीः) सनातन से चली आई (मनीषा.) मनीषा को (वनेम) ग्रहण करें। (सुशोकः) उत्तम तेजस्वी (अग्निः) अग्रणी इन (विश्वानि) सब को (अश्याः) प्राप्त करता है। और (दैव्यानि) देवत्वसाधक (व्रता) व्रतो को (आ) पूर्ण रूप से (चिकित्वान्) जानता है।

मनुष्य जन्म की सफलता इसी मे है कि वह पूर्व से चली आई ज्ञान-विज्ञान की युक्तियो को भली प्रकार जाने। ऋग्वेद १०।५३।३ मे मनुष्य बनाने के साधनो मे एक साधन बताया है—

ज्योतिष्मत पथो रक्ष धियाकृतान=

ज्ञान के मार्गों को अपनी बुद्धि से परिष्कृत करके रक्षा कर। पूर्वो की विद्या ग्रहण करली, किन्तु उसमे अपना भाग न डाला, तो विद्या की वृद्धि न होगी। मनुष्य का ज्ञान तो उत्तरोत्तर बढना चाहिये। जैसे हम दूसरो के ज्ञान से लाभान्वित हुए हैं वैसे हमारे पश्चात आने वाले हमसे कुछ लाभ उठायें। ऋ० २।१८।१ मे कहा है—

प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः ।
दशारित्रो मनुष्य. स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत् ॥

जीवन की प्रभात मे नया रथ (शरीर) मिलता है जो अतिशय शुद्ध होता है, जिसमे चार युग=जुए, तीन चाबुक और सात लगामे होती हैं। दश अरित्र वाला मनुष्य अति सुखी होता हुआ यज्ञो और ज्ञानों मे वेगवान् हो जाता है।

मुक्ति से लौटना जीवन की प्रभात=प्रातः वेला है। नया शरीर मिलता है। जो पवित्र होता है। सात इन्द्रिया तीन चाबुक देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण है। धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार युग=जुए हैं। मानव शरीर इनके लिये मिलता है। पाच ज्ञानेन्द्रिया और पाच कर्मेन्द्रिया, यही मनुष्य के दश अरित्र हैं। इनके द्वारा मनुष्य ज्ञान और कर्म्म करता है।

सार यह कि धर्मार्थकाममोक्ष—रूप चतुर्वर्ग प्राप्त करना मनुष्य-जन्म की सफलता है। इस सफलता की प्राप्ति के लिये उसे **आ दैव्यानि व्रता चिकित्वान्**—'दैव्य व्रता का पूर्ण रूप से जानने वाला' होना चाहिये।

दैव्य व्रत=देवो का व्रत। देवो का व्रत सत्य है। धर्मशास्त्रकार सत्य को सर्वोत्कृष्ट धर्म्म मानते हैं—

नहि सत्यात्परो धर्म्मः =सत्य से बढ कर कोई धर्म्म नहीं। अर्थ और काम यदि धर्म्ममूलक हो, तो मोक्षप्राप्ति मे सुविधा होती है। मनुष्य की विशेषता धर्म्म के कारण है। कहा भी है—

धर्म्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्म्मेण हीना. पशुभिः समाना:=

धर्म्म ही मनुष्य की विशेषता है। धर्म्महीन मनुष्य पशुओं के तुल्य होते हैं। अत मनुष्यपन स्थिर रखने के लिये मनुष्य को सदा धर्म्माचरण करना चाहिये।

३२५

प्रथम दाता

ओ३म् । त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् ।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥ ऋ. ८।९०।२

(त्वम्) तू (राधसाम्) धनों का (प्रथमः) पहला (दाता) दाता (असि) है । तू ही (सत्यः) तीनों कालों में एक-रस रहने वाला, सत्यस्वरूप (ईशानकृत्) शासनकर्त्ता, राजाओं का राजा असि है । हम तुझ (तुविद्युम्नस्य) महातेजस्वी (शवस+पुत्रस्य) बल के शोधक (महः) पूजनीय का (युज्या) योग, मेल, सहयोग (वृणीमहे) चाहते हैं ।

सचमुच सब से प्रथम—पहला और मुख्य-दाता परमेश्वर ही है । धनों का स्वामी भी वही है—

त्वं हि राधस्पते राधसो महः क्षयस्यासि विधर्ता । ऋ० ८।६१।१२=

हे धनपते ! तू ही धन का और महान् स्थान का विधाता और दाता है । भगवान् बडे बडे पदार्थ देता है—इन्द्र इनो महानां दाता (ऋ० ८।९२।३)=भगवान हमारे लिये महान् पदार्थों का दाता है ।

भगवान के दान जहां महान् होते हैं वहां भले भी होते हैं—भद्रा इन्द्रस्य रातयः (ऋ० ८।६२) भगवान् के दान भद्र हैं । भगवान् सदा एक रस रहता है, और राजाओं का भी राजा है । राजा, रङ्क सभी उसकी प्रजा हैं उस सत्यस्वरूप का कैसा सुन्दर वर्णन है—

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः य० ३६।५=

आनन्द वालों में अत्यन्त पूजनीय, आनन्द स्वरूप सत्य=सत्यस्वरूप भगवान् तुझ को अन्नादि द्वारा मस्त करता है । सत्य एक रस होने के कारण भगवान् क=आनन्दमय है, और अनादियों=मुक्तों का भी पूज्य है । वह सत्यस्वरूप भगवान् जीवों को आनन्द देता है ।

परमात्मा सब का राजा=ईशानकृत् है, वेद में इस बात को अनेक प्रकार से बताया गया है । यथा

त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् त्वं राजा जनानाम् ॥ ऋ. ८।६४।३=

हे परमेश्वर ! तू ही उत्पन्न पदार्थों का, तथा तू ही अनुत्पन्न=जीवों और प्रकृति का ईश्वर है, तू ही लोकों का राजा है ।

त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि ॥ ऋ. ८।९५।३=

तू सचमुच सदा रहने वाली प्रजाओं का पालक राजा है ।

सब का पालक और राजा जब परमेश्वर ही है, तब उस की सहायता चाहना स्वाभाविक ही है ! अतः हम सब तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः

महातेजस्वी बलशोधक पूजनीय महान् का सहयोग हम चाहते हैं । क्योंकि

क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः । ऋ० १०।८९।१०

क्षेम और योग में भगवान ही स्मरण करने योग्य है ।

अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति के यत्न का नाम योग और प्राप्त पदार्थों की रक्षा का नाम क्षेम है । तात्पर्य यह कि जीवन की प्रत्येक क्रिया में भगवान को स्मरण करते रहना चाहिए । उसे कभी भी नहीं भूलना चाहिए । प्रस्तुत

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥ ऋ. १।३०।७

हम मित्र प्रत्येक उद्योग और प्रत्येक संग्राम में महाबली भगवान को पुकारते हैं ।

हम तेरे तू हमारा

ओ३म् त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः।
त्वमस्माकं तव स्मसि। ऋ० ८।९२।३२॥

हे (इन्द्र) परमेश्वर। (त्वया+युजा+इत्) तुझ सहयोगी के सहयोग बल से युक्त हुए (वयम्) हम (स्पृधः) हमें दबाने की कामना करने वालों का (प्रति+ब्रुविमहि) प्रत्युत्तर दे सकें, अर्थात् उन्हें दबा सकें, क्योंकि, (त्वम्) तू (अस्माकम्) हमारा है, और हम (तव) तेरे (स्मसि) हैं।

यह प्रार्थना मन्त्र है। इस में शत्रुओं के दबाने की प्रार्थना है। काम क्रोध आदि आत्मिक शत्रु हैं जो सदा आत्मा को अभिभूत करने में लगे रहते हैं। समाजशृङ्खला को तोड़ने वाले समाज की व्यवस्था का अकारण उल्लङ्घन करने अव्यवस्था को उत्तेजित करने वाले लोग समाज के शत्रु हैं। दूसरे साहसी, लालची राजा जो किसी राष्ट्र को दबाना और हथियाना चाहते हैं, वे राष्ट्र शत्रु हैं। इन सब को दबाने की इस मन्त्र में प्रार्थना है। इस मन्त्र की यह एक विशेषता है कि एक साथ सब के लिये कामना की जा सकी है। वेद में शत्रु को दबाने की, और वह भगवान् के सहयोग से, अनेक प्रार्थनाएं हैं—

१. **वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यत ॥ऋ १।८।४॥**=
हे इन्द्र! हम शस्त्र विद्याकुशल शूरों को साथ मिला कर तेरे सहयोग से फसादियों को मसल सकें।

२. **वयं जयेम शतिनं सहस्रिणं वैश्वानर वाजमग्ने तवोतिभिः ॥ऋ ६।८।६॥**=
हे अग्ने। तेरी कृपाओं से हम सैकड़ों हजारों शक्ति वाले आक्रमणकारी को जीत सकें।

३. **वयं जयेम त्वया युजा वृतम्** (ऋ १।१०२।४ तेरे सहयोग से हम घेरने वाले शत्रु को जीतें।

४. **त्वया युजा पृतनायूँरभिष्याम** (ऋ. ७।१।१२)
तुझ से युक्त हो कर हम फसादियों को दबा सकें।

प्रकृत मन्त्र के उत्तरार्ध में जो कहा गया है कि—**त्वमस्माकं तव स्मसि** [तू हमारा और हम तेरे हैं] वह भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने और उस की आज्ञा में चलने की भावना का द्योतक है। इस भावना का कई ढङ्ग से प्रकाश किया गया है—

ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह ॥ ऋ ७।६६।९॥=
हे वरुण। हे देव। हम तेरे होवें, हे मित्र अव्याज स्नेही। हम विद्वानों के साथ तेरे हों हों।

भगवान् तो सचमुच हमारा है। वह आपद्-विपद् में सदा हमारी रक्षा करता है। जीवन की सारी सामग्री देता है। अत वेद में वही माता, पिता-बन्धु, त्राता, कहा गया है—

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्य ईड्यः (ऋ. १।७५।४॥=
तू लोगों का बन्धु है, प्रिय मित्र है। सखाओं का पूज्य सखा है।

हम भी उस के बन जायें तो फिर क्या कहना? औपानिषद् महर्षि ने हृदय के अन्तस्तल से कहा—

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्=
मैं ब्रह्म का निराकरण न करूं क्योंकि ब्रह्म ने मेरा निराकरण नहीं किया।

सचमुच उत्तम भावना है, किन्तु जो रस **त्वमस्माकं तव स्मसि** [तू हमारा है हम तेरे हैं] में है, वह अन्य में नहीं। ऋषि से निवेदन है यह ममवेद है। इस भेद पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

महान् पुरुष

ओ३म् वेदाहमेत पुरुष महान्तमादित्य वर्णं तमस' परस्तात्।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ य. ३१।१८

(अहम्) मैं (एतम्) इस (तमस.+परस्तात) अन्धकार से रहित, प्रकृति से बहुत परे, उत्कृष्ट (आदित्यवर्णम्) सूर्य सम तेजस्वी (महान्तम्) महान् (पुरुषम) पुरुष को (वेद) जानता हूँ । मनुष्य (तम+एव) उसे ही (विदित्वा) जानकर (मृत्युम्) मृत्यु को (अति+एति) लाँघ जाता है। (अयनाय) सद्गति के लिये मुक्ति के लिये (अन्य') अन्य (पन्था) मार्ग (न) नहीं (विद्यते) है।

भगवान् सचमुच महान् है। यजु. ३१।१ में कहा है—

सहस्रशीर्षा पुरुष. सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥

वह पुरुष हजारों सिरों वाला, हजारों आखों वाला, हजारों पैरों वाला है यह ब्रह्माण्ड को सब प्रकार से व्याप्त करके भी हृदय में विराजमान है। समस्त संसार के प्राण आदि करण उपकरण उसी में रहते हैं। अथवा उसका दर्शन चिन्तन, चलनादि शक्तियां अनन्त हैं।

यजु. १७.१९ में मानों इस 'सहस्रशीर्षा' की व्याख्या की है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात।

सभी ओर उसकी आख है, मुख भी सर्वत्र है और पैर भी सभी दिशाओं में हैं।

सामान्यतः नियम यह है जिधर आख है उधर पाव नहीं होता। जहां भुजा है वह मुख नहीं होता। किन्तु इस महान् पुरुष का जहा मुख है। वहीं आख, भुजा और चरण भी हैं। अर्थात उसकी सब शक्तियां सर्वत्र कार्य कर रही हैं। कितना महान और अद्भुत वह भगवान हैं!—

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युत. पुरुषादधि। नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥य. ३२।२

उस प्रकाशमान व्यापक भगवान (पुरुष) से सब चेष्टायें उत्पन्न होती हैं किन्तु कोई भी उसे न ऊपर न नीचे न टेढ़ा, न बीच में पकड़ पाता है।

पुरुष का अर्थ व्यापक। अथर्ववेद में पुरुष को सूत्र का सूत्र' भी कहा है—

वेदाह सूत्र विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्याह वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥ अ. १०।८।३८॥

मैं इस फैले हुए सूत्र को, जिसमें यह सब प्रजायें ओत हैं, जानता हूँ। और मैं सूत्र के सूत्र को जानता हूं और जो महान ब्रह्मज्ञान है, उसे भी जानता हू।

उसी ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है, मृत्युभय से छुटकारा भी उसी ज्ञान से होता है—तमेव विदित्वाति मृत्युमेति—उसी को जान कर मनुष्य मृत्यु को [जन्म मरण के चक्र को] लांघ जाता है इस मन्त्र के भाव को अथर्ववेद १०।८।४४ में बहुत अद्भुत रीति से कहा गया है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोन।

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मान धीरमजर युवानम ॥

भगवान निष्काम, धीर, अविनाशी, स्वयभू, आनन्द से भरपूर है, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है। उसी धीर, अजर सदा जवान आत्मा [परमात्मा को जानने वाला मृत्यु से नहीं डरता ।

भगवान का ज्ञान सचमुच भय का नाशक है।

भोगसाधन पहले बनाता हूं

ओ३म् । दधामि ते मधुनो भक्षमग्रे हितस्ते भागः सुतो अस्तु सोमः ।
असश्च त्वं दक्षिणतः सखा मेऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ॥ ऋ. ८।१००।२

(अग्रे) पहले (ते) तेरे लिये (मधुनः) मधु का (भक्षम्) भोजन, भोग (दधामि) बनाता हूँ । (ते) तेरा (भागः) भाग (हितः) रखा है, हितकारी है । (सोमः) सोम (सुतः) तय्यार (अस्तु) हो । (च) और (त्वम्) तू (मे) मेरा (सखा) सखा होकर (दक्षिणतः) दक्षिण में (असः) हो, (अध) और हम दोनों (वृत्राणि) पापों को (भूरि) पूरी तरह (जङ्घनाव) सर्वथा मार दें ।

भक्त ने भगवान् से बड़े मान से कहा कि—

अयं त एमि तन्वा पुरस्ताद् विश्वेदेवा अभि मायन्ति पश्चात्
यदा मह्यं दीधरो भागमिन्द्रादिन्मया कृणवो वीर्य्याणि ॥ ऋ. ८।१००।१

हे इन्द्र । पहले मैं अपने शरीर के साथ तेरे सामने आता हूँ । पीछे मेरी इन्द्रिया भी मेरे पीछे आती हैं, जब तू मेरे लिये भोग व्यवस्था करेगा और मेरे साथ पुरुषार्थ करेगा ।

भक्त कहता है, मैं सर्वात्मना तेरे पास आने लगा हूं, तन मन सब तुझे अर्पण करने लगा हूं । एक बात तू भी कर कि मेरे भोग्य भाग तो दे और साथ ही पापनाश के लिये मेरा साथ दे ।

भगवान् ने उसका उत्तर दिया है—

दधामि ते मधुनो भक्षमग्रे हितस्ते भाग सुतो अस्तु सोम ।
असश्च त्व दक्षिणतः सखा मेऽधा वृत्राणि जङघनाव भूरि ॥

तेरा भाग—मधु का भाग—तो मैं पहले दिया करता हूं । तेरा भाग रखा है यह तेरे लिये हितकारी है । सोम तय्यार होना चाहिये । तू मेरा मित्र होकर दाहिनी ओर आ [अर्थात् पुरुषार्थ में तत्पर हो] । फिर हम दोनों मिल कर पापों को पूरी तरह मार देंगे । भक्त ने भोग-भाग्य मांगा । और मांगी साथ सहायता । भगवान् ने कहा, भोग सदा देता हू । और जो देता हू, तेरे लिये हितकर देता हू । पाप-नाश के लिये जो यदि तू सहायता चाहता है, तो उसके लिए तू मेरी दक्षिण ओर आ अर्थात् अपने आप को मेरा करण बना दे । अहंकार ममकार छोड़ कर मेरा हथियार बन जा ।

भोग पहले देने का विशेष अभिप्राय है । भगवान का कहना है कि मनुष्य को सृष्टि में लाने से पूर्व उसके उपयोगी सभी पदार्थों का मैं निर्माण कर देता हू । मनुष्य गर्भ से बाहर आता है, माता के स्तनों में दूध पाता है । सभी जीवों के लिये भगवान् की यह व्यवस्था है ।

जीव जो अपने लिये हितकर समझता है, वैसा कर्म करता है । कर्म करने में मनुष्य स्वतन्त्र है । स्वतन्त्रता के कारण भला बुरा जो उसे अच्छा लगता है वह कर देता है । फल दूसरे के हाथ है । जैसे कर्म करते हुए बुरे को बुरा नहीं माना था वैसे अब उसके फल को भी बुरा न मान, उसे भी हित मान । भगवान् आशिर्वाद देता है—सुतो अस्तु सोम =सोम तय्यार होवे ।

अर्थात यदि तू चाहे, तो हे जीव ! इस दुरवस्था से भलाई निकल सकती है ।

अल्पज्ञ मनुष्य वेद का त्याग न करे

ओ३म्। वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्।
देवीं देवेभ्यः पर्य्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेता ॥ऋ. ८।१०१।१६॥

(वचोविदम्) वाणी को प्राप्त करने वाली=वाणी का रहस्य उद्घाटन करने वाली, (वाचम्+उदीरयन्तीम्) वाणी को उन्नत करने वाली, वागिन्द्रिय को बुलवाने वाली, (विश्वाभि:+धीभि:+उपतिष्ठमानाम्) सभी विचारों के द्वारा सत्कार करने कराने वाली (देवेभ्यः+परि+आ+ईयुषीम्) देवों को, देवों से सर्वथा प्राप्त होने वाली, (देवीम्) गुणयुक्त (गाम्) वाणी को—वेद वाणी को (दभ्रचेताः) थुड़दिला, अल्पज्ञ (मर्त्य) मनुष्य (मा) मत (आ+अवृक्त) मत त्यागे।

इस मन्त्र में विशेषणों द्वारा वाणी-वेदवाणी के गुणों का वर्णन करके अन्त में आदेश किया है—गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः=छोटे दिल वाला, अल्पज्ञ गौ को मत छोड़े। गौ और वाणी के बहुत से शब्द साझे हैं। लौकिक संस्कृत में भी 'गौ' शब्द वाणी के अर्थ में अनेक बार प्रयुक्त होता है। 'गौ' का एक पर्याय शब्द 'धेनु' है, वह तो स्पष्ट ही वेद में 'वाणी'—अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥ ऋ. ८।१००।११॥

दिव्यगुणयुक्त अथवा व्यवहारसाधिका वाणी को व्यवहारकुशल लोग उत्पन्न करते हैं। उसको सभी रूपों वाले पशु बोलते हैं, वह अति प्रशस्त वाणी धेनु आनन्ददायिनी होकर, हमें अन्न बल देती हुई प्राप्त हो। संसार का एक पर्याप्त भाग वाणी के आश्रय जीता है। वाणी की मूल वेदवाणी 'वचोवित' वाणी प्राप्त कराने वाली है, उसी से संसार की सब बोलियां निकलती हैं।

वेद वाणी को उन्नत करने वाली है। अपशब्द बोलने से मनुष्य की वाणी पतित होती है, किन्तु ज्ञान-विज्ञान, और भगवान् के महिम गान से ओतप्रोत वाणी के अनुशीलन से वाणी की उन्नति होती है। वाणी के व्यवहार से मनुष्य सभ्य या असभ्य माना जाता है।

विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमाना=सभी विचारों से सत्कार करने वाली। वेदवाणी का उद्देश्य मनुष्य की उन्नति कराना है। अतः मनुष्योन्नति के जितने विचार हो सकते हैं, उन सभी का वेद में उपदेश है। इस दृष्टि से इसे विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमाना कहा है।

यह मनुष्य को उन्नत करके देव बनाती है अतः यह देवेभ्यः पर्य्येयुषी=देवों को, देवों=दिव्य गुणों या व्यवहारों के लिये प्राप्त होती है। अर्थात् सभ्य व्यवहार सिखाना इसका प्रयोजन है। इसी से इसे देवी=व्यवहारशिक्षिका कहा है।

ऐसी व्यवहारशिक्षिका दिव्यगुणप्रापिका वाणी के सूक्तों को तो अवश्य अभ्यास करना चाहिये। वाणी का अभ्यास न करना इसकी हत्या करना है। और इस वाणी-हत्या=गोहत्या का वेद निषेध करता है—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥ऋ. ८।१०१।१५॥

वेद वाणी रुद्रों की मान्यकर्त्री, वसुओं की इच्छा पूरी करने वाली, आदित्यों की अपनी शक्ति है। मैं ज्ञानाभिलाषी जन को कहता हूं—इस निर्दोष वाणी की हत्या मत करो।

३३०

अहिंस्य आत्मा

ओ३म्। न य रिपवो न रिषण्यवो गर्भे सन्त रेषणा रेषयन्ति।

अन्धा अपश्या न दभन्नभिख्या नित्यास ईं प्रेतारो अरक्षन्॥ ऋ. १।१४८।५

(गर्भे+सन्तम्) गर्भ मे रहते हुए भी (यम्) जिसको (न) न तो (रिपवः) शत्रु और (न) न (रिषण्यवः) हिंसाभिलाषी (रेषणाः) हिंसक (रेषयन्ति) मार और मरवा सकते हैं (अपश्याः) न देखने वाले (अन्धाः) अन्धे (न) नहीं (दभन्) दबा सकते,—(अभिख्या) सब ओर देखने वाले (नित्यासः) नित्य (प्रेतारः) उत्तम ज्ञानी (ईम्) उसकी (अरक्षन्) रक्षा करते हैं।

आत्मा की नित्यता का स्पष्ट स्पष्ट प्रतिपादन किया है। इस मन्त्र का देवता अग्नि=आत्मा है। अग्नि शब्द का एक अर्थ आत्मा भी है। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थानों पर आया है **'आत्मा वा अग्नि'** [निश्चय से आत्मा अग्नि है] जब तक आत्मा देह मे रहता है, तभी तक शरीर मेंअग्नि रहता है। आत्मा ने शरीर छोड़ा कि शरीर ठण्डा पड़ गया। अतः आत्मा आग है।

अग्नि का एक अर्थ 'ले जाने वाला' है। आत्मा ही शरीर को ले चलता है। आत्मा के कारण ही शरीर मे वृद्धि होती है, अतएव आत्मा अग्नि है।

मनुष्य के सैकड़ों शत्रु होते हैं, उनमे कई ऐसे होते हैं जो इसे जान से मार देना चाहते ह। व मनुष्य का अङ्ग भङ्ग कर सकते हैं। मनुष्य के शरीर की हिंसा कर सकते हैं, किन्तु आत्मा को **'न रेषयन्ति'** हिंसा नहीं कर सकते।

वैज्ञानिक बतलाते हैं कि आग, हवा, पानी संसार के पदार्थों के जहां स्थितिकारण हैं, वहां विनाश भी यही करते हैं। अग्नि जलाकर नाश करता है, पवन उड़ाकर आंधी के रूप मे आकर अनिष्ट करता है। बाढ के रूप मे बढकर पानी अनेकों को डुबाता है किन्तु आत्मा का

न य रिपवो न रिषण्यवो गर्भे सन्त रेषणा रेषयन्ति।

जिस शरीरस्थ को न तो रिपु, न हिंसाशक्ति वाले हिंसक नाश कर सकते हैं।

गीता मे बहुत सुन्दर शब्दों मे इस का अनुवाद किया किया गया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २।२३

इसे शस्त्र नहीं काट सकते, नाही इसे अग्नि जला सकता है, जल इसे गीला नहीं कर सकता। पवन इसे सुखा नहीं सकता।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च॥ २।२३

यह अकाट्य है, न जलाया जा सकता है, न भिगोया जा सकता है, और न सुखाया जा सकता है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥ २।३०

हे अर्जुन । सभी के देह में यह आत्मा अवध्य है ।

आत्मा को मरने वाला मानने वाले अज्ञानी हैं—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ कठो. २।१९

जो इसे मारने वाला मानता है, जो इसे मरा मानता है, वे दोनों अज्ञानी हैं । न यह मारता और न यह मरता है ।

'गर्भेसन्तम्' का अर्थ 'गूढमनुप्रविष्टम' उपनिषदों ने किया है । तभी तो

अन्धा अपश्या न दभन्=न देखने वाले और अन्धे इसे नहीं देखते । जिनकी अन्दर बाहर की दोनों ओर की आंखें फूटी हुई हैं, ये आत्मा को नहीं देख पाते ।

जीते, मरे शरीरों का भेद जिन्हें ज्ञात नहीं, सचमुच वे 'अपश्य' हैं, शरीर की वृद्धि देखकर वृद्धि का हेतु जिन्हें नहीं प्रतीत होता, सचमुच वे 'अन्ध' हैं ।

आत्मा की रक्षा करना अर्थात् कामक्रोधादि से बचाकर आत्मा को उन्नत करना है । यह कार्य वही कर सकते हैं जिनकी हिये की आंखें नहीं फूटी हैं ।



३३१

दुबधा में दोनों गये माया मिली न राम

ओ३म् । रेवद्वयो दधाथे रेवदाशाथे नरा मायाभिरित ऊति माहिनम् ।

न य द्यावोऽहभिर्नोत सिन्धवो न देवत्वं पणयो नानशुर्मघम् ॥ ऋ. १।१५१।६

तुम दोनों (रेवत्) धन युक्त (वय.) कान्ति (दधाथे) धारण करते हो, और हे (नरा) आगे ले चलने वाले मित्र और वरुण । तुम दोनों (मायाभि.) बुद्धियों के द्वारा अथवा युक्तियों के द्वारा (इत.+ऊति) इस लोक में रक्षा करने वाले (माहिनम) महान् सामर्थ्य को (आशाथे) प्राप्त करते हो, (यम्) जिस सामर्थ्य को (द्यावः) सूर्य आदि प्रकाशक (अहभि.) दिनों के द्वारा (न) नहीं प्राप्त करते (उत) और न) ना ही (सिन्धव) सिन्धु प्राप्त करते हैं । (पणयः) बनिये (न) न तो (देवत्वम्) देवत्व (आनशुः) प्राप्त कर सकते हैं, और (न) ना ही (मघम्) धन प्राप्त कर सकते हैं ।

मित्र और वरुण दो दैवी शक्तियां हैं, वृष्टि आदि लाना जिनका कार्य्य है । शरीर में यह प्राण और उदान हैं । आत्मा में यह 'स्नेह की भावना' तथा 'सब को अपनाने की भावना' है । मित्र स्नेहभावना है, वरुण सबको अपनाने की भावना है । यह दोनों भावनायें 'नर'—उन्नत करने वाली हैं । सर्वस्नेही तथा सब को अपना मानने वाला सब का स्नेहास्पद तथा सब का अपना होता है । यह दोनों भाव जहां एकत्र हों, वहां धन, मान आदि का अभाव नहीं रहता । वे कहता है ।

रेवद्वयो दधाथे माहिनम ।

यह दोनों भाव धन धारण करते, आयु देते हैं । और देते है इस लोक की प्रतिष्ठा तथा रक्षा ।

वह तेज और प्रतिष्ठा इतनी बड़ी है कि न सूर्यादि तेजोमय और न सदा स्यन्दशील सिन्धु ही जिसकी समता कर सकते हैं ।

एक शर्त अवश्य है । इन दोनों—स्नेह और अपनायत—भावों को सौदे की दृष्टि से नहीं धारण करना चाहिये । जो इस भाव से दूसरों से प्यार करता है, कि लोग उसे प्यार करें, जो इस भावना से दूसरों को अपनाता है कि लोग उसे अपनायें वह पणि है, बनिया है । धर्म्म के व्यवहार में भी जो पण=व्यवहार=सौदा—व्यापार करे उसे वेद पणि=बनिया कहता है । वेद का उपदेश है—

न देवत्वं पणयो नानशुर्मघम

बनिये को न देवत्व मिलता और न धन ।

संसार में दो मान्य पदार्थ हैं, एक ज्ञान दूसरा धन । धर्म्म के विषय में वणिग्वृत्ति मनुष्य दोनों से वंचित हो जाता है । देव निष्काम होते हैं, यह सकाम है । सकामता से देवत्व नष्ट हो जाता है । अत. देवत्व इसे मिल नहीं सकता । दुश्चित्ता होने के कारण धन भी यथेच्छ प्राप्त नहीं कर पाता । इसे कहते हैं—

'दुबधा में दोनों गये माया मिली न राम'

प्रभु को आर्य ही प्राप्त कर सकता है

ओ३म् । मूर्धा दिवो नाभिरग्नि पृथिव्या अथाभवदरती रोदस्योः ।
तं त्वा देवासोऽजनयन्त देवं वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय ॥ १।५९।२

हे (वैश्वानर) सर्वजनहितकारिन् । तू (अग्निः) तेजोमय अग्रणी होकर (दिवः) प्रकाशक पदार्थों का (मूर्धाः) मूर्धा-समान है (पृथिव्या) पृथिवी का (नाभिः) बन्धन, विचलित न होने देने वाला बल है । (अथ) और (रोदस्योः) दोनों लोकों का (अरतिः) सर्वत्र प्राप्त स्वामी (अभवः) है । (तम्) उस (त्वा) तुझ (देवम्) देव=दिव्य (ज्योति) ज्योति का, ज्योतिर्मय को (देवास.) निष्काम ज्ञानी (आर्याय) सदाचारी धर्मात्मा के लिये (इत) ही (अजनयन्त) प्रकट करते हैं ।

इस मन्त्र का विशेष रहस्य **'वैश्वानरोपनिषत्'** में उद्घाटन होगा । यहां इतना बतलाना पर्याप्त है कि वैश्वानर विद्या उपनिषदों तथा वेदों का मुख्य विषय है । सर्वत्र व्यापक परमात्मा का साक्षात् कराना वैश्वानर विद्या का कार्य है । मन्त्र के पूर्वार्द्ध में वैश्वानर की सर्वव्यापकता दिखलायी है । ऋ. १०।८८।१४ में इस तत्त्व को इन शब्दों में कहा गया है—

यो महिना परिबभूवोर्वी उतावस्तादुत देव परस्तात्=

जो देव अपने महत्त्व के कारण दोनों लोकों में, इन से नीचे, इन से ऊपर, परे भी व्यापक है ।

भगवान का ज्ञान सर्वसामान्य को नहीं होता । भगवान् देव है. उसे कोई देव ही ज्ञान पहचान सकता है । ऋ. १०।८८।१३ में कहा भी है—

वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्नि देवा अजनयन्नजुर्यम्=

यज्ञिय=पूजनीय, पूज्य परमात्मा के भक्त. क्रान्तदर्शी=तत्त्वज्ञानी महात्मा ही कभी नाश न होने वाले वैश्वानर अग्नि को प्रकट करते हैं । यजु. ३२।८ में इस बात को ऐसे कहा है—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहायाम्=

मेधावी जन ही गुहा में गुप्त उस परम पुरुष को देख पाता है । किन्तु वे देव इस वैश्वानर ज्योति का प्रकाश आर्यों के लिये—सदाचारी के लिये है । उपनिषत् में भी यह बात स्पष्ट कही गई है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठो० १।२।२३

जिसने दुराचार का त्याग तिरस्कार नहीं किया, जिसने चञ्चलता दूर नहीं की, जो सावधान नहीं है. जिसके मन में अशान्ति है वह प्रज्ञान के द्वारा भी इसे नहीं पा सकता ।

'वैश्वानर' के अभिलाषी नर को दुराचार का त्याग करके इन्द्रियों और मन को वश में करना चाहिये । ये गुण आर्यत्व के सम्पादक हैं । विवेक वैराग्य के बिना इन गुणों का सम्पादन कठिन है । ज्ञानवान सदाचारी धर्मात्मा को आर्य्य कहते हैं. और वही परमात्म-ज्योति के प्राप्त करने का अधिकारी होता है ।

स्वयंवर विवाह

ओ३म । कियती योषा मर्यतो वधूयो॑ परिप्रीता पन्यसा वार्येण ।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ऋ १०।२७।१२

(कियती) कौन सी (योषा) स्त्री (वधूयोः) वधू के अभिलाषी (मर्यत) मनुष्य से, उसके (वार्येण) श्रेष्ठ (पन्यसा) स्तोतव्य व्यवहार से (परिप्रीता) पूर्ण प्रसन्न होती है । (वधू.) वधू (भद्रा) भली (भवति) होती है (यत्) यदि (स) वह (सुपेशा.) सुन्दरी स्वय (जने+चित्) जनसमुदाय में से (मित्रम) अपने मित्र, साथी, प्रेमी को (स्वयम्) अपने आप (वनुते) चुन लेती है

जीव-जगत् में स्वात्मसंरक्षण तथा वंशपरिचालन के भाव स्वभाव से विद्यमान् है । कीट पतग, पशु पक्षी, चींटी कुञ्जर, नर वानर सभी में यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है । कदाचित् वंश-चालन के लिये ही भगवान् ने शरीरो में स्त्री पुरुष का भेद रखा है । वंश-चालन के लिये स्त्री पुरुष का सयोग होता है । पशुओं में स्त्री में समयविशेष मे एक विशेष भाव पैदा होता है, उस समय वह अपने सजातीय किसी पुमान् से समागम करती है । सन्तान होने तक उसकी यह वृत्ति शान्त रहती है । है मनुष्य जाति का भी यही निसर्ग । किन्तु सभ्यता के अभि-शाप से मनुष्य इस निसर्ग का उल्लंघन करता है । अस्तु

इसी स्वभावसिद्ध प्रवृत्ति को लक्ष्य में रख कर भगवान ने वर-वरण का अधिकार स्त्री को दिया है ।

पुरुष अपने कितने ही गुणों का कथन और प्रकाशन चाहे कितना ही क्यों न करे, किन्तु बहुधा वह स्त्री को नहीं रुचता । अत जो इस प्रकार स्त्री के भावो का तिरस्कार करके विवाह करते हैं, उनके विवाह प्राय असफल रहते हैं । विवाह की सफलता का साधन एक ही है कि स्त्री स्वय अपना मित्र=साथी=जीवनसगी पसद करे, चुने । इसी कारण वेद कहता है—

भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा स्वय सा मित्र वनुते जने चित=

वह वधू भली होती है यदि वह सुन्दरी समुदाय म से (अथवा जनन के निमित्त) मित्र का स्वय चुन लेती है । वेद [ऋ ५।३७।३] मे कहा है—.

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम ।
आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषात्पुरू सहस्रा परिवर्त्तयाते ॥

पति की कामना करती हुई यह वधु आती है, जो इस उत्तम कुलप्रसूत, महा गुणवती, कमनीय से विवाह करता है गृहस्थाश्रम रूप रथ मत्र और कीर्त्तियुक्त और प्रसिद्ध होता है । दोनो पति-पत्नी मिल कर अनेक नेक शुभकर्म का परिचालन करते हैं ।

इस मन्त्र म भी विवाहाभिलाषिणी कन्या द्वारा पति वरण की चर्चा है ।

इसी प्रकार ऋ ३।३५।४ म भी है—

तमस्मेरा युवतयो युवान मर्मृज्यमाना परियन्त्याप =

ब्रह्मचर्य आदि व्रतों से शुद्ध जल समान शीतल स्वभाव वाली युवती स्त्री गम्भीर मुद्रा धारण कर के युवा पति को प्राप्त करती है ।

युवती स्त्री का युवा पुरुष से विवाह होना चाहिये ।

जब भगवान् को धारण करता था

ओ३म् । प्र मा युयुञ्जे प्रयुजो जनानां वहामि स्म पूषणमन्तरेण ।
विश्वे देवासो अध मामरक्षन् दुःशासुरागादिति घोष आसीत् ॥ ऋ. १०।३३।१

कभी (मा) मुझ को भी (जनानाम्) लोगों की (प्रयुजः) उत्तम युक्तियां (प्र+युयुञ्जे) प्रयुक्त करती थीं, चलाती थीं, प्रेरित करती थीं। जब (जनानाम) ब्रह्माण्डों को (पूषणम्) पालक, मार्ग प्रदर्शक को (अन्तरेण) अन्दर, हृदय से (वहामि स्म) मैं धारण करता था, (अध) तब (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) विद्वान्, दिव्यगुण (माम्) मुझको (अरक्षन्) बचाते थे। तब (इति) ऐसा (घोषः) घोष, शोर (आसीत) था कि (दुःशासुः) कठिनता से वश में होने वाला (आगात) आ गया है।

प्रत्येक प्राणी किसी न किसी जन्म में अवश्य उत्तम गति का अनुभव कर चुका है। अनेक मनुष्य ऐसे होते हैं, जो उत्तम अवस्था में रह कर फिर नीचे गिर जाते हैं। धनी निर्धन हो जाते हैं। प्रमाद के कारण तपस्वी तपोभ्रष्ट हो जाते हैं। **'अनभ्यासे विष विद्या'**=अभ्यास न करने से विद्या भी विष हो जाती है, अर्थात् अनभ्यास के कारण ज्ञानी का ज्ञान लुप्त हो जाता है।

कोई मनुष्य जो धनी से निर्धन बना है, प्रमाद के कारण तप के ऊंचे शिखर से नीचे गिरा है, ज्ञान खो बैठा है, वह अपनी पुरातन अवस्था को स्मरण कर के रोता हुआ कहता है—

प्रभा   आसीत् ।

आह ! कैसी दयनीय दशा है। संसार में कल जिसका घोष था, जिनका शासन चलता था, सभी विद्वान् जिनका मान करते थे, आज वह नगण्य अवस्था में हो गया है।

परन्तु यह रुदन किसी संसारी जन का नहीं है, यह तो देश भक्त का है, जो कहता है—

वहामि स्म पूषणमन्तरेण=मैं पालक परमेश्वर को हृदय में धारण करता था।

मेरा पालक मेरे हृदय में था, अब उस सम्पत्ति को गवा बैठा हूं। जब प्रभु की भक्ति करता था, सब मान करते थे। अभिमान में आकर अब अपना मान गवा बैठा हूं।

मेरी यह सारी महिमा और कीर्ति भगवद्भक्ति के कारण थी. उसको भुलाने से सब कुछ नष्ट हो गया है। जो भगवान को अपनाता नहीं वह कुछ भी पाता नहीं।

न यस्य ते शवसान सख्यमानंश मर्त्यः । न किः शवांसि ते नशत ॥ ऋ ८।६८।८=

बलियों के जीवनाधार। जो मनुष्य तेरा सख्य नहीं प्राप्त करता. वह कभी तेरे बलों को नहीं पाता।

भगवान दुःशासु=अदाम्य है। उसके संग से मैं भी अदाम्य बन गया था। उसका संग छोड़, संसार का संग किया। संसार का रङ्ग चढ़ने मेरे वह सारा बल निष्फल हो गया। अब मेरी पुनः इच्छा है कि—"मुझे भी लोगों की प्रेरणा करने वाली युक्तियां प्राप्त हों. मैं पुनः प्रभु को अपने हृदय में धारण करूं। सभी विद्वान् मेरी रक्षा करें. और संसार में एक शोर उठ खड़ा हो कि दुःशासु=अदाम्य वश में न होने वाला आ गया है।"

सचमुच भगवान को धारण करने से यह फल होता है--

सो अस्त्वयं च सोमो हृदि यं बिभर्मि (ऋ. १०।३२।९)

जिसे मैं अपने हृदय में धारण करता हूं. वह भगवान मेरे लिये सोम=ऐश्वर्यदायक होवे।

गुरुतक शिक्षा

ओ३म्। निधीयमानमपगूढमप्सु प्र मे देवाना व्रतपा उवाच।
इन्द्रो विद्वा अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम ॥ ऋ. १०।३२।६

(अप्सु) प्रकृति की सूक्ष्म तन्मात्राओं में (निधीयमानम्) रखे जाते हुए (अपगूढम्) अत्यन्त गूढ के विषय में (मे) मुझे (देवानाम्) देवों के (व्रतपा॰) व्रतरक्षक ने (प्र+उवाच) उत्तम उपदेश किया है। कि (इन्द्रः) विद्यैश्वर्यसम्पन्न गुरु (हि) ही (त्वा तुझे (अनुचचक्षे) ठीक ठीक बतलायेगा। हे (अग्ने) ज्ञानवान्। (तेन) उससे (अनुशिष्टः) शिक्षित होकर (अहम्) मैं (आ+अगाम) आया हूं।

आत्मा क्या है? कहा है? यह जानने वाले जन संसार में अत्यन्त थोडे हैं। किन्तु जो जानते हैं, क्या वे अपने आप जान गये? उन्हें भी किसी ने बताता ही।

जो विद्या किसी को सीखना होती है, वह उस विद्या के आचार्य्य के पास जाता है। आचार्य्य जिज्ञासु की पात्रता की परीक्षा करके उसे यथायोग्य विद्या प्रदान करता है। आत्मविद्या का जिज्ञासु भी यदि ऐसे पूर्ण गुरु के पास जाये तो कुछ फल पाये। आत्मविद्या के आचार्य्य का लक्षण वेद ने बताया है कि वह 'देवाना व्रतपा' होना चाहिये। देव=विद्याभिलाषी जिज्ञासु को भी कहते हैं। आचार्य्य ऐसा हो जो शिष्य के व्रत=पवित्र ब्रह्मचर्य्य, ब्रह्मजिज्ञासादि शुभ व्रतों की रक्षा करे। उपनयन कराते समय शिष्य आचार्य्य से प्रार्थना करता है--

मम व्रते ते हृदय दधामि=मै अपने व्रत मे आपका मन लगाता हू।

शिष्य का व्रत पूरा ही तभी होगा, जब गुरु का मन भी उसमे होगा। ऐसा व्रतपा गुरु ही सत्य और यथार्थ आत्मोपदेश कर सकता है--

निधीयमानमपगूढमप्सु प्र मे देवाना व्रतपा उवाच

पञ्चतन्मात्राओं मे अत्यन्त गूढ आत्मतत्त्व को देवो के व्रतपा ने मुझे बताया है।

वेद आत्मा का इशारा कर गया है। पञ्चतन्मात्र के बने हुए पञ्चभूतमय शरीर मे आत्मा छिपा बैठा है। इधर उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह ज्ञान साधारण जन नहीं दे सकता। यम ने कहा है--

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमान।
अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमनुप्रमाणात ॥ कठो॰ २।८

अनेक प्रकार से विचारणीय यह आत्मतत्त्व ओछे मनुष्य के बताने पर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता। ज्ञानी से भिन्न के बतलाने पर इसमें गति नहीं हो सकती। प्रमाणों=बाह्य साधनों से यह अचिन्त्य है। ...तप साधन से, शास्त्र विचार से आत्मा का आभास कुछ मिल जाता है। किन्तु ठीक ठीक ज्ञान

तो गुरु से ही मिलता है। जैसे प्राकृत पदार्थों के पर्य्यवेक्षण से आत्मज्ञान प्राप्त हुए सत्यकाम ने, गुरु के पूछने पर कहा था—

अन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे। भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात्। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति। इति (छा० ४।९।३

महाराज! मुझे मनुष्यों से भिन्न पदार्थों ने उपदेश किया है। किन्तु भगवान्=महाराज ही मेरी इच्छा के अनुसार उपदेश करें। मैंने आप जैसे महात्मा पुरुषों से सुना है कि आचार्य से सीखी विद्या अभीष्ट प्राप्त कराती है।

श्वेताश्वतर जी ने तो गुरु की बड़ी महिमा कही है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ ६।२३=

जिस की भगवान् के समान गुरु में परा भक्ति है, उसी महात्मा को ये उपदिष्ट तत्त्व सूझते हैं।

गुरु का ज्ञानी होना आवश्यक है, जैसा कि वेद ने कहा—

अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् (ऋ० १०।३२।७)

ज्ञानी अज्ञानी से पूछता है।

जिस गुरु की कृपा से यह अमूल्य तत्त्व प्राप्त हुआ। उसका कीर्तन करना ही चाहिए। अन्यथा कृतघ्न दोष लगेगा।



आधिव्याधिभिः परीतोऽस्मि

[विचारों के प्रहारों से सविकार हूँ]

ओ३म् । स मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
नि बाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेर्न वेवीयते मतिः ॥ ऋ १०।३३।२
ओ३म् । मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव ॥ ऋ १०।३३।३

(सपत्नीः+इव) सौकिनों के समान (पर्शवः) आत्मा को स्पर्श करने वाले कुत्सित भाव (अभितः) सब ओर से (माम्) मुझ को (स+तपन्ति) बहुत तपा रहे हैं, सता रहे हैं। मुझे (अमति) अज्ञान (नि+बाधते) बहुत दुःख होता है। (नग्नता) नगापन तथा (जसुः) हिंसा के भाव मुझ को सता रहे हैं। (वे +मति +न) पक्षी की मति के समान मेरी मति (वेवीयते) अत्यन्त चञ्चल हो रही है। शतक्रतो) अनन्तक्रियाशक्तिसंपन्न भगवान्। (न) जिस प्रकार (मूषः) चूहे (शिश्नाः) माड लगे सूत की तारों को खा जाते हैं, उसी प्रकार (ते) तेरे (मा) मुझ (स्तोतारम्) स्तोता को (आध्य) आधियां, मानसिक चिन्तायें (वि+अदन्ति) खा रही हैं। हे (मघवान्) पूजित धनवान्। हे (इन्द्र) परमेश्वर । (सकृत्) एक बार तो (नः) हम पर, (सु+मृळय) भली प्रकार दया कर। (अध) और (न) हम पर, हमारे (पिता+इव) पिता की भांति (भव) हो।

मनुष्य को मानसिक विचार किस प्रकार सताते हैं। इसका अतीव मनोहारी चित्र इन दो मन्त्रों में खींचा गया है। इन का मनन कीजिये और मन की अवस्था से इस की तुलना कीजिये।

इस मन्त्र में व्यग्य से अनेक विवाह का निषेध किया गया है। मानसिक दुःख का मूल है अज्ञान। अतः वेद ने सब से पूर्व **अमति**=अज्ञान का नाम लिया है। साधारण मनुष्य प्रत्यक्षवादी होता है, उसे अपने शरीर से परे कुछ नहीं सूझता। अतः **नग्नता**=नगापन भी दुःखदायी है। हिंसा का भय, भूखप्यास से मरने का भय भी उसे भीत करता रहता है। इन सब दुःखों के कारण उस की मति ठिकाने नहीं रहती, भयभीत पक्षी की भांति कांपती रहती है।

दुःखी होकर भगवान् को उपालभ देता है कि **व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो**

अनेकों के कार्य्य सवारने वाले। मैं तेरा भक्त हूं, फिर भी मुझे मानस-विचार सता रहे हैं, खाये जा रहे हैं। वेद में दूसरे स्थान पर भगवान के प्रति इससे भी तीव्र उपालभ है—

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशिय वस्व एक इत् । स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥१॥
शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे । यदहं गोपतिः स्याम ॥ २॥ ऋ ८।१४

हे परमेश्वर। यदि मैं तेरी भांति सारे धन का अकेला ही स्वामी होता, तो मेरा स्तोता गोमित्र होता [अर्थात् उसे धनधान्य, ज्ञान की त्रुटि न रहती, इन्द्रियां उससे द्रोह न करतीं]। हे इन्द्र। यदि मैं गोपति [पृथिवीपति, वाक्पति ज्ञानपति] होता, तो मैं इस ज्ञानी, बुद्धिमान् को सिखाता, और देना चाहता।

प्रभो। तू कैसा है? मैं तेरा भक्त और मानस विचारों से तथा भूख प्यास से पीड़ित। हा। हन्त ॥ कितना मीठा उपालभ है? कितनी गहरी वेदना है? प्रभो। बहुत हो चुकी—**सकृत्सु मघवन्निन्द्र मृळय**=एकबार ही भगवन्। परमेश्वर। कृपा कर। तू हमारा पिता है—**पितेव नो भव**=पिता की भांति ही हो। क्या पिता पुत्र को रोधित, पीड़ित, त्रस्त देखकर शान्त रह सकता है। प्रभो। एक बार तेरी दया प्राप्त हो जाये, तो हमारा उद्धार हो जाय। दया कर—**सकृत् सुमृळय**, और **पितेव नो भव** और बस।

३२७

सत्योपदेश मुझे प्रसन्न करें ।

ओ३म् । पिपर्तु मा तदृतस्य प्रवाचनं देवानां यन्मनुष्या अमन्महि ।

विश्वा इदुस्राः स्पळुदेति सूर्यः स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे ।। ऋ० १०।३५।८

(मा) मुझ को (ऋतस्य) ऋत का, सत्य का (तत्) वह (प्रवाचनम्) उपदेश पिपर्तु) प्रसन्न करे, (देवानाम्) देवों के (यत्) जिस उपदेश को (मनुष्याः) हम मनुष्य (अमन्महि) मनन करते हैं । (विश्वाः) सम्पूर्ण (इत्) ही (उस्राः) किरणों को (स्पळ्) स्पष्ट करता हुआ, प्रकाशित करता हुआ (सूर्य्य) सूर्य्यसमान् विद्वान् (उदेति) उदय हो रहा है, उन्नति कर रहा है, बढ़ रहा है । हम (समिधानम्) उत्तमता से प्रकाश करनेहारे (अग्निम्) अग्नि को स्वस्ति) सुखपूर्वक (ईमहे) चाहते हैं ।

सत्य का कहना बहुत कठिन है, सुनना उस से भी कठिन है । सत्य को सुन कर उसे पसन्द करना तो और भी विकट है किन्तु सत्य से बढ़ कर मनुष्य का हितकारी और कोई पदार्थ नहीं । कोई भाग्यवान ही यह कहने का साहस कर सकता है कि **पिपर्तु मा तदृतस्य प्रवाचनम्** । ऋत का वह प्रसिद्ध उपदेश मुझे प्यारा लगे जिसे ऋत का उपदेश [वेद] प्यारा लगता है, वह पुकार कर कहता है नम्रता से प्रार्थना करता है—

आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः काव्यैः । ऋ० १०।१५।९

हे ज्ञानी । सुप्रसिद्ध सत्य उपदेशों के साथ तू हमारे सामने आ ।

ऋत का अनुसरण जीवन के लिये, प्राकृत जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है—

परिचिन्मर्त्तो द्रविणं ममन्यादृतस्य पथा नमसा विवासेत । ऋ० १०।३१।२

यदि मनुष्य धन चाहे तो नम्रता से, ऋत के मार्ग से परिचर्या करे ।

जो इस तत्व को जानता है, उसे सत्योपदेश अवश्य मीठा लगता है । जिस से सत्योपदेश प्रिय लगता है, वह विद्वानों से प्रार्थना करता है—

तन्नो देवो यच्छत सुप्रवाचनं छर्दिरादित्याः सुभरं नृपाय्यम् । ऋ० १०।३५।१०

हे देवो । निर्दोष विद्वानो । हमें वह उत्तम उपदेश दीजिए, जो दोषनाशक, उत्तमताकारक, तथा मनुष्य-हितकारी है उपदेश विद्वानों का होना चाहिये और उस का मनन भी करना चाहिये—**देवाना यन्मनुष्या अमन्महि**=हम मनुष्य देवों के, विद्वानों के उपदेश का मनन करें ।

मनन से उपदेश की सत्यता का निश्चय होता है । अत वेदों उपनिषदों, धर्मशास्त्रों, दर्शनों आदि वैदिक साहित्य के मान्य ग्रन्थों में मनन का बहुत विधान है ।

जैसे सूर्य अपनी किरणें डाल देता है । ऐसे ही विद्वान अपनी ज्ञानमयी किरणें सब के सामने डाल देता है अतः आदित्यसमान विद्वानों को सभी बुलाते और उन से लाभ उठाते हैं—

त आदित्या आगता सर्वतातये वृधे नो यज्ञमवत सजोषसः ऋ० १०।३५।११

हे आदित्यो । सब कुछ देने के लिये आओ । प्रसन्न हो कर हमारी वृद्धि के हेतुभूत यज्ञ की रक्षा कीजिए । विद्वान् ही यज्ञरक्षा के साधन बता सकते हैं । यज्ञ=विद्वत्सङ्ग । विद्वत्सङ्ग की रक्षा का उपाय विद्वान् ही बतायेगा । ऋतज्ञान, ऋताचरण करते हुए—**महो देवाय तदृतं सपर्यत** उस महान् ऋत को भगवान की पूजा में लगा दो ।

उपदेश के बिना ऋतज्ञान हो नहीं सकता । ऋतज्ञान के बिना उसे भगवान के अर्पण कैसे करेंगे ?

सत्योक्ति मेरी रक्षा करे

ओ३म् । सा मा सत्योक्तिः परिपातु: विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च ।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्य्यः ॥ ऋ. १०।३७।२

(सा) वह (सत्या) सच्ची (उक्तिः) उक्ति, बात (मा) मुझ को (परि-पातु) सब ओर से बचाये, (यत्र) जिसके आश्रय में (द्यावा च अहानि) रात और दिन, अथवा प्रकाशमय दिन (विश्वतः) सब ओर (ततनन्) विस्तृत होते हैं, और (विश्वम्) यह ससार (अन्यम्) दूसरे में (नि विशते) निविष्ट होता है [प्रलयकाल में ससार, प्रकृति का विचार जगदाधार में सनिविष्ट हो जाता है], (यत्) और जिसके उत्थान में वह (एजति) गति करता है, और उसी प्रकार (विश्वाहा) सब दिन (आपः) जल चलते हैं, और (सूर्य्यः) सूर्य्य (विश्वाहा) सब दिन (उदेति) उदय होता है ।

इस मन्त्र में सत्य कथन की महिमा कही गई है । वेद कहता है कि दिन रात, जीव जड़, जल आग, आदि समस्त जड़ चेतन जगत् सत्य के आश्रय पर है । इस वचन में लेशमात्र भी अति-उक्ति नहीं है । सत्य का अर्थ है तीनों कालों में एक समान रहने वाला । भगवान् के नियम सत्य हैं, तीनों कालों में एक से हैं । भगवान् के इन नियमों की सत्यता ही विज्ञान की आन है । वैज्ञानिक तत्त्व की खोज में लगे हुए ज्ञानी सृष्टिनियमों की इस एक रसता के बल पर ही नित्य नये नये आविष्कार करने में सफल होते हैं और मनुष्य समाज की सुखसमृद्धि में वृद्धि करते हैं ।

यदि सृष्टि के नियम एक रस न होते, आज कुछ और कल कुछ होते, तो कोई आविष्कार न किया जा सकता । अतः वेद का यह कथन कि, सारा ससार सत्य के आधार पर है, सर्वथा सत्य है। वेद बहुत स्पष्ट कहता है—

सत्येनोत्तभिता भूमिः=भूमि सत्य ने थाम रखी है ।

ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति=ऋत के सहारे आदित्य रहते हैं । अतः जीवन के लिये ऋतज्ञान अत्यन्त प्रयोजनीय् है । तभी तो वेद में जिज्ञासा है—

कद्दतं कदनृतम्=ऋत कैसा है, और अनृत कैसा है ? ससार सत्य के आधार पर है, अतः वेद कहता है—

सत्यामाशिष कृणुत (ऋ.१०।६७।११)

इच्छा भी सच्ची करो ।

मिथ्या इच्छा करने से हानि के सिवा लाभ कोई भी नहीं है ।

इस मन्त्र का एक भाव और भी है—

वह प्रसिद्ध सत्योक्ति=वेदवाणी मेरी रक्षा करे जिससे सूर्य्य, दिन रात, जड़ चेतन, जल आदि जगत् का ज्ञान होता है । वेद का प्रयोजन मनुष्य को यथार्थ ज्ञान देना है । यथार्थ ज्ञान सब से बड़ा रक्षक है यथार्थ ज्ञान देना ही रक्षा करना है । जो वेदभ्यास करेगा, इस सत्य वचन का मनन, चिन्तन करेगा, उसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त होगा ।

सुकर्म्मा नर

ओ३म् एत नरः स्वपसो अभूतन य इन्द्राय सुनुथ सोममद्रयः ।
वामंवामं वो दिव्याय धाम्ने वसुवसु वः पार्थिवाय सुन्वते ॥ ऋ० १०।७६।८

(नरः) हे नतृत्वगुणयुक्त मनुष्यो ! (एत) ये तुम (स्वपस) सुकर्मा (अभूतन) होते हो. (ये) जो तुम (अद्रयः) पर्वत की भांति निश्चलमति होकर (इन्द्राय) ऐश्वर्य के लिए (सोमम) सोम को (सुनुथ) कूटते हो । (वः) अपने (दिव्याय) दिव्य (धाम्ने) धाम=जन्म के लिए (वामवामम्) सुन्दर सुन्दर पदार्थ [अर्पण करो] क्योंकि (पार्थिवाय) पार्थिव उद्देश्य के लिये (वः) तुम में से (सुन्वते सेवन करने वाले के लिये (वसुवसु) धन ही धन है ।

वेद मे उपदेश है—

एते सोमास [illegible] इन्द्र वर्धन्ति कर्म्मभिः ॥ ऋ० ९।४६।३ =

ये सोम कर्म्मों द्वारा ऐश्वर्य को बढाते हैं ।

अर्थात् कर्म्म करने से ऐश्वर्य्य की वृद्धि होती है । कर्म्म का महत्त्व स्पष्ट है । ऐश्वर्य वृद्धि के लिये जो भी मनुष्य कर्म्म करता है, वेद की दृष्टि मे वह सुकर्मा है । तभी तो कहा है—

एते नरः स्वपसो अभूतन य इन्द्राय सुनुथ सोममद्रयः=

ये तुम सुकर्म्मा हो, जो इन्द्र के लिये सोम का सवन करते हो ।

नित्य, नैमित्तिक और काम्य भेद से कर्म्मों के तीन भेद हैं । जैसे शौच स्नानादि शारीरिक नित्य कर्म्म हैं इनके न करने से शरीर रोगी हो जाता है, ऐसे ही सन्ध्यानन्दनादि आत्मिक नित्य कर्म्म हैं, उन के न करने से आत्मा की हानि होती है । जैसे शरीर के रुग्ण होने पर औषधोपचार किया जाता है, न करने पर शरीर के अधिक रोगी होने की सम्भावना रहती है, इसी प्रकार आत्मा के संस्कार के लिए अथवा किसी आत्मिक दोष के प्रति विधान के लिए जो कर्म्म किये जाते हैं, वे नैमित्तिक कर्म्म हैं । किसी लक्ष्यविशेष की सिद्धि के लिए किए जाने वाले कर्म्मों को नैमित्तिक कहते हैं । जैसे कोई विद्वान बनना चाहता है, कोई राजा महाराजा बनना चाहता है, कोई लक्षाधिपति कोट्यधीश बनना चाहता है—इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए प्रत्येक को कर्म करने पडते हैं । विद्या ऐश्वर्य है, राज्य ऐश्वर्य है, धन ऐश्वर्य है । इस प्रकार ऐश्वर्य के नाना प्रकार हैं, उन ऐश्वर्यों की सिद्धि के लिए विविध कर्म्म करने पडते हैं । उन के लिए कुछ परिश्रम—किसी में न्यून और किसी में अधिक करना पडता है । वेद में कहा है—सोम हिनोतम हते धनाय (ऋ० ९।९७।८)—महान ऐश्वर्य के लिए सोम को प्रेरणा करो । वेद और ब्राह्मणों में सोम को औषधियों का राजा कहा है । अर्थात सोम वनस्पति पदार्थों में सर्व श्रेष्ठ है । इस सर्व श्रेष्ठ का सवन=यथार्थ यतन करना किसना श्रेष्ठ कर्म है ।

उत्तरार्ध मे कह ही दिया है—

वामं वाम वो दिव्याय धाम्ने

दिव्य जन्म के लिए सुन्दर सुन्दर पदार्थों से यज्ञ करना होगा ।

जितनी बडी कामना, उतना बडा त्याग—तब होगा पूर्ण याग ।



सूर्य्य किसी और प्रकाश से प्रकाशित होता है

ओ३म् । न ते अदेवः प्रदिवो निवासते यदेतशेभिः पतरै रथर्यति ।
प्राचीनमन्यदनु वर्त्तते रजः उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य ॥ ऋ. १०।३७।३

हे (सूर्य्य) सूर्य्य । (यत्) जब तू (पतरैः) गतिशील (एतशेभिः) किरणों द्वारा (रथर्यति) रथारूढ की भांति व्यवहार करता है, तब (ते) तेरा (प्रदिव.) प्रकाश्य कोई भी (अदेवः) प्रकाशरहित (न) नहीं (निवासते) रह पाता । (रजः) लोक (अन्यत्) अपने से भिन्न (प्राचीनम्) पुरातन [तेज] का (अनु+वर्तते) अनुवर्त्तन करता है । (अन्येन) दूसरे (ज्योतिषा) प्रकाश से तू (उद्+यासि) उदय होता है ।

जब सूर्य्य उदय होता है, सूर्य्य का सम्मुखस्थ कोई भी पदार्थ प्रकाशरहित नहीं रह पाता । पर्वत वन अारण्य सभी उद्भासित और आलोकित हो उठते हैं । सूर्य्य प्राकृत जन को पूर्व से उदय होकर पश्चिम में अस्त होता दीखता है, अतः उसे रथारूढ के समान व्यवहार करने वाला कहा गया है । 'ससार किसी दूसरे पुराने मार्ग का अनुसरण कर रहा है, तू किसी दूसरे प्रकाश से उदय होता है ।'' यह उत्तरार्ध सूचित करता है कि यह मन्त्र अन्योक्ति है । सूर्य्य के व्याज से आत्मा के सबन्ध में उपदेश किया गया है ।

आत्मा-रूप सूर्य्य पतर=पतनशील घोड़ो=इन्द्रियों के साथ रथारूढ हुआ है । वेदादि शास्त्रों में अनेक स्थानों पर शरीर को आत्मा का रथ कहा गया है । आत्मा को लक्ष्य करके कहा गया है—

प्राचीनमन्यदनुवर्तते रज उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य

ससार तो किसी दूसरे पुरातन व्यवहार का अनुवर्त्तन करता है, किन्तु हे सूर्य्य तेरा उदय किसी अन्य ज्योति से होता है ।

गतानुगतिको लोको न लोक पारमार्थिक =ससार तो गतानुगतिक है, लोक सत्य का अनुगामी नहीं है ।

विचारे विना एक के पीछे दूसरे के चलने को गतानुगतिक कहते हैं । ससार मे गड्डरिका प्रवाह=भेड़ियाधसान प्रधान है । विरले वीर यथार्थ का ज्ञान करते हैं ।

शरीर मे आत्मा के प्रवेश करते ही सभी प्रकाशित होने लगते हैं । आंख, नाक, कान आदि सभी देव बन जाते हैं । इससे आत्मा मे अभिमान का प्रवेश होने की सभावना है । इस लिये उसे सावधान करते हुए वेद कहता है—

उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य्य

सूर्य्य । तू किसी अन्य प्रकाश से उदय होता है, उन्नत होता है ।

अर्थात् आत्मन् । तुझ मे जो प्रकाश है, जो तुझे उत्तरोत्तर उन्नत कर रहा है, वह तेरा नहीं । किसी और का है । उसकी खोज कर । उस परम ज्योति का पता लगा, जिससे तू उद्भासित होता है, और जिससे बाह्य सूर्य्य आलोकित है ।



३४१

अजन्मा प्रजापति

ओ३म् । प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ य ३१।१९

(प्रजापति) प्रजापति=समस्त सृष्टि का पालक भगवान् (गर्भे+अन्तः) गर्भ में, प्रकृति में, संसार में (चरति) विद्यमान है। वह (अजायमान) जन्म न लेता हुआ, (बहुधा) अनेक प्रकार से (विजायते) प्रकट होता है, प्रकाशित होता है। (धीराः) ध्यानीजन ही (तस्य) उसके (योनिम्) ठिकानेको (परिपश्यन्ति सर्वत्र देखते हैं। और (तस्मिन्) उसमें (ह) ही (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक (तस्थुः) ठहरे हैं।

संसार को उत्पन्न करने वाला कहां रहता है, उसके स्थान का अनुसन्धान हो रहा है। कोई उसे कहीं बताता है और कोई कहीं। वेद कहता है--

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः=प्रजापति गर्भ के भीतर रहता है। अर्थात वह प्रत्येक पदार्थ के अन्तस्तल में विराजमान है। कहीं यह भ्रम न हो जाये कि जब वह गर्भ में विचरता है तो किसी दिन जन्म भी लेगा, इसका उत्तर दिया है—

अजायमान=जन्म न लेता हुआ। तब उसका ज्ञान मनुष्य को कैसे हो, इस का समाधान करने के लिये कहा—बहुधा विजायते=नानाप्रकार से वह प्रकट होता है। नित्य नूतन सृष्टि का सर्जन नित्य संहार, नित्यपालन, विचित्र उपायों से रक्षण भगवान् की सत्ता के प्रमाण हैं।

प्रकृत जन कहता है, हमें झमेले में मत डालो, हमें उसका ठिकाना बताओ, हम उससे मिलना चाहते हैं। इसके उत्तर में कहा--

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा =

ध्यानी जन उसका ठिकाना सर्वत्र देखते हैं।

अर्थात भगवान् ध्यानगम्य है। आंख, नाक, कान उसको नहीं देख पाते। ध्यान से उस के स्थान का सर्वत्र भान होता है। अर्थात् किसी स्थान-विशेष में नहीं रहता, प्रत्युत सब जगह रहता है। सन्ध्या में नित्य पढते ही हैं—**आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**=स्थावर जंगम का आत्मा, सब का प्राणदाता भगवान त्रिलोकी में भरपूर समा रहा है।

केवल इतना ही नहीं कि वह सब में समा रहा है, वरन

तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा=उसमें सब भुवन स्थित हैं।

यजु. ३२।४ में पुरुष=व्यापक भगवान् के सम्बन्ध में क्या ही सुन्दर कहा है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

वह भगवान सब दिशाओं विदिशाओं में विराजमान है वह सब से पूर्व विद्यमान था, वह गर्भादि में है वह प्रसिद्ध था, है और होगा। प्रत्येक पदार्थ में रहता हुआ वह सर्वतोमुख है।

अर्थात कोई स्थान ऐसा नहीं, जहां भगवान् नहीं। कोई काल ऐसा नहीं, जब भगवान् न हो। सब स्थानों और सब कालों में रहने वाला कैसे एक स्थान या काल के बन्धन में आवे।

३४२

प्रभु के अनेक नाम

ओ३म् । तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्र तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ य० ३२।१

(तत्+एव) वही (अग्नि.) अग्नि, (तत्) वही (आदित्यः) आदित्य (तत्) वही (वायुः) वायु, (तत्+उ) वही (चन्द्रमा) चन्द्रमा है। (तत्+एव) वही (शुक्रम्) शुक्र (तद्) वही (ब्रह्म) ब्रह्म, (ता.) वही (आप) आप, और (स) वही (प्रजापति.) प्रजापति है।

भगवान् को वेद में **पुरुणानम**=अनेक नामों वाला कहा गया है। इस मन्त्र मे कुछ एक नामों का उल्लेख किया गया है। इससे पूर्व ३१ वें अध्याय में भगवान को पुरुष=व्यापक-रूप में वर्णन किया गया है। वहीं ३१।१६ में उसे प्रजापति कहा गया है। इस मन्त्र के अन्त में 'स प्रजापतिः' कहा गया है। इसका भाव यह निकला कि प्रजापति पुरुष ही अग्नि=अग्नि नाम वाला है, उसी का नाम आदित्य है, उसी को वायु और उसी को चन्द्रमा कहते हैं। शुक्र, ब्रह्म और आप भी उसी के नाम हैं।

भगवान् के अनन्त गुण कर्म्म हैं अतएव उसके नाम भी अनन्त हैं। जैसे एक मनुष्य किसी का पुत्र होने से पुत्र, भाई होने से भाई, पिता होने से पिता, जामाता होने से जामाता आदि नामों से पुकारा जाता है। ऐसे ही सब की उन्नति करने वाला होने से वह अग्नि है, अखण्डनीय होने से वह आदित्य है। सबसे बलवान और सब का गतिदाता होने से वह वायु है। सब के आह्लाद का कारण होने से वह चन्द्रमा है। शीघ्रकारी तथा शुद्धिकर्त्ता होने से वह शुक्र है। सब से महान् होने के कारण वह ब्रह्म है। सर्वत्र व्याप्त होने के कारण वह 'आप' है। सब प्रजाओं का पालक होने से वह प्रजापति है।

इस प्रकार विचारने से प्रतीत होता है कि ये सब नाम अन्वर्थ हैं, लौकिक नामों की भाति निरर्थक नहीं हैं। सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास मे लिखा भी है—

"तथा परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थ नहीं, जैसे लोक मे दरिद्री के धनपति आदि आदि नाम होते हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और कहीं स्वाभाविक अर्थों के वाचक है।" ऋग्वेद १।१६४।४६ में परमेश्वर के अनेक नाम होने का स्पष्ट उल्लेख है—

इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यम मातरिश्वानमाहु ॥

सर्वाग्रणी भगवान को इन्द्र, मित्र और वरुण कहते हैं, वही दिव्य, सुपर्ण और गरुत्मान् है। उस अद्वितीय सत्स्वरूप को विद्वान् बहुत तरह कहते हैं। उसी को अग्नि, यम, और मातरिश्वा कहते हैं—सर्ववेदवित् मनु जी भी यही कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभ स्वप्नधीगम्यं विद्यात्त पुरुष परम् ॥ १२।१२२
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२।१२३

सब को शिक्षा देने वाला, सूक्ष्म से सूक्ष्म, प्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य परमेश्वर को परम पुरुष जानना चाहिये। कई उसे अग्नि कहते हैं, कई मनु और कई प्रजापति। कुछ लोग प्राण, कुछ इन्द्र और दूसरे उसे शाश्वत ब्रह्म कहते हैं।

भगवान् के अनेक नाम होने में कोई मतभेद नहीं। सभी मानते हैं कि भगवान् के अनेक नाम हैं।

सकल संसार के निरीक्षण का फल

ओ३म् । परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ य० ३२।११

(भूतानि) सब भूतों को (परीत्य) सब ओर से जान कर (लोकान्) लोकों को (परीत्य) पूर्णरूप से जान कर (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाओं (च) और (प्रदिशः) प्रदिशाओं को (परीत्य) सर्वत्र जान कर (ऋतस्य) ऋत के (प्रथमजाम्) प्रथमोत्पादक को (उपस्थाय) पूजकर (आत्मना) आत्मा से (आत्मानम्) परमात्मा में मैं (अभि+सं+विवेश) सब ओर से संविष्ट हुआ हूं ।

यजुर्वेद के ३१ वां तथा ३२ वां—दोनों अध्याय पुरुषमेध—यज्ञ-विषयक हैं । पुरुषमेध यज्ञ का अर्थ है पुरुष=व्यापक परमात्मा से मिलने की विधि' । भगवान् से मिलने के लिये भक्त ने भूतों को जाना । भगवान् के बिना भूत अपना कार्य्य करने में असमर्थ थे । सभी लोकों, दिग्देशों, दिशाओं विदिशाओं को जान करके परमात्मा की पूजा कर उसमें तन्मय होने लगा ।

मुण्डक ऋषि ने इस मन्त्र में एक अंश का भाव हृदय में रख कर कहा है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ॥ १।२।१२

कर्म से संगृहीत लोकों=कर्मफल देने वाले स्थानों की परीक्षा करके ब्राह्मण को=ब्रह्मज्ञानी को निर्वेद=दुःख होता है कि नश्वर पदार्थ से वह अविनश्वर नहीं मिल सकता ।

मन्त्र में परमात्मा के दर्शन का सोपान बताया गया है । भगवान् के जानने के लिये इन सब को जानना होगा । भगवान् व्यापक है ? किन में व्यापक है ? सर्वत्र उनकी जांच किये बिना भगवान् के व्यापकत्व का बोध असंभव है । अतः सम्पूर्ण लोकों की परीक्षा करनी होगी ।

मन्त्र का अन्तिम चरण 'आत्मनात्मानमभि संविवेश [आत्मा के द्वारा परमात्मा में सब ओर संविष्ट होना है ।] बतलाता है कि परमात्मा आंख, नाक आदि भौतिक करणों से नहीं जाना जा सकता । वह आत्मैकवेद्य है, केवल आत्मा के द्वारा ही इसका बोध हो सकता है । तलवकार ऋषि ने बहुत सुन्दर शब्द में परमात्मा की वाङ्मनस—अगोचरता सुनाई है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ।
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ॥

वहां न आंख की पहुंच है, न वाणी की, न मन की । बाह्य इन्द्रियों से उसे हम नहीं जानते और न अन्तःकरण से जानते हैं । उसके समझाने के लिये इतना ही कहा जावे कि वह ज्ञात पदार्थों से भिन्न है, और अज्ञात से भी अधिक है ।

चक्षु ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण है, और वाक् कर्मेन्द्रियों का । मन तो अनुव्यवसायी है । जो इन्द्रिय बताती हैं, उसे आत्मा तक पहुँचाता है । मन और इन्द्रियों की पहुँच भौतिक पदार्थों तक है । वह इन से सचमुच भिन्न है । भौतिक जगत् का बड़ा विस्तार है, हमारे इन्द्रिय इसका पार नहीं पा सकते, परमात्मा उससे भी परे है । वाङ्मनस-अगोचर परमेश्वर को जानने के लिये आत्मा रह जाता है । वह जब स्वयं, इन करणों की सहायता के बिना, समाधि द्वारा, सब इन्द्रियों की वृत्तियों को रोक कर उसे देखना चाहता है, तब उसको साक्षात् होता है, और उसे प्रतीत होता है, कि परमात्मा उसके अन्दर बाहर सब ओर है ।

दो विरूप मिल कर बच्चे का पालन करते हैं

ओ३म् । द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे ऽअन्यान्या वत्समुप धापयेते ।

हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रोऽअन्यस्या ददृशे सुवर्चाः ॥ य० ३३।५

(द्वे) दो (विरूपे) विरूप, किन्तु (स्वर्थे) उत्तम प्रयोजन वाली (चरतः) विचरती हैं । (अन्यऽन्या) परस्पर मिल कर (वत्सम्) बच्चे को (उप+धापयेते) समीप होकर दूध पिला रही हैं (अन्यस्याम्) दूसरे के निमित्त से (स्वधावान्) जीवनशक्ति पाकर (हरिः) हरि (भवति) बनाता है, (अन्यस्याम्) दूसरे के निमित्त से (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (शुक्रः) शुद्ध और शोधक (ददृशे) दीखता है ।

प्रकृति और पुरुष दोनों परस्पर विरूप हैं । पुरुष=परमेश्वर अपरिणामी, अविकारी, कूटस्थ, सर्वज्ञ है । प्रकृति परिणामिनी, विकारिणी, अचेतन है । दोनों में इतना अन्तर=विरूपता होने पर एक बात में दोनों समान हैं । जीवरूप वत्स की दोनों पालना करते हैं ।

जीव की भोगाधिष्ठान=शरीर, भोग के साधन=इन्द्रिया, तथा भोग की सामग्री=इन्द्रियों के विषय=ये सभी प्रकृति की देन हैं । निस्सन्देह भोग की लालसा आत्मा म है, किन्तु उस लालसा की पूर्त्ति प्रकृति से होती है । प्रकृति के सहयोग के विना जीव ससार का एक भी कार्य नहीं कर कसता । जीव के सामने दो लक्ष्य हैं, एक भोग दूसरा मोक्ष । भोग प्रकृति से ही मिलता है । भोग का देना दूध पिलाना है ।

जीव का भोगाधिष्ठान, जीव के भोग-साधन तथा उनकी भोग-सामग्री निस्सन्देह प्रकृति से बनती हैं, किन्तु कौन बनाता है ? यदि परमात्मा जीव के कर्म्मों का फल स्वरूप यह सब सामान न दे, तो इसे भोगप्राप्ति ही न हो । अतः लौकिक भोग जहा प्रकृति से मिलता है, वहा परमात्मा उसका प्रधान कारण है । इस वास्ते वेद ठीक कहता है—द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुप धापयेते ।

जीव का दूसरा लक्ष्य मोक्ष है । मोक्ष की प्राप्ति में भी प्रकृति तथा परमात्मा दोनों की सहायता जीव को लेनी पड़ती है । मानव देह को मुनि जन मोक्षद्वार मानते हैं । मानव देह है ही प्रकृति का बना । प्रकृति निरानन्द है, इसके ससर्ग से आनन्द की आशा बालू मे से तेल निकालने के समान है । आनन्द परमानन्द सच्चिदानन्द के साथ सख्य स्थापित करने से मिलता है । सर्वदु खत्याग पूर्वक ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का नाम मोक्ष है ।

दो का दूध जीव यद्यपि युगपत् पी रहा है, तथापि एक समय में दोनों में से किसी एक के साथ ही वह अपनी घनिष्ठता रखता है । जब प्रकृति के साथ उसकी घनिष्ठता होती है तब हरिरन्यास्या भवति स्वधावान्=यह स्वधावान्=प्रकृति वाला होने से हरि=विषयों से ह्रियमाण हो रहा है—कभी इसे आख रूप की ओर खींचती है, कभी कान शब्द के लिये इसके कान ऐंठता है, कभी नाक गन्ध के गन्द की ओर ले जाती है, कभी रसना इसे रस का रसिया बना देती है । इस प्रकार प्रकृति के वश मे होकर, केवल प्रकृति का दूध पीकर विषयों के विषम-विष से विद्ध हो जाता है ।

जब प्रकृति से विरत होकर, उसकी पोल जान कर यह परमात्मा की ओर झुकता है तब

शुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः=परमात्मा के सग से यह सुवर्चा=उत्तम तेजस्वी होकर शुक्र हो जाता है ।

भगवान् के भर्ग को धारण करने से इसके सब मल जल गये हैं । मल के हट जाने से अब सुदीप्त हो उठा है । अब यह केवल स्वय ही शुद्ध नहीं है, वरन् दूसरों को भी शुद्ध कर सकता और करता है ।

३४५

सब देव अग्नि की सेवा करते हैं

ओ३म् । त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ य. ३३।७

(त्रीणि) तीन (शता) सौ (त्री) तीन (सहस्राणि) हजार (च) और (त्रिंशत्) तीस (च) और (नव) नौ (देवा.) देव (अग्निम्) अग्नि की (असपर्यन्) परिचर्य्या करते हैं । वे (घृतै) घृतों से (औक्षन्) सींचते हैं, (अस्मै.) इसके लिये (बर्हिः) आसन (अस्तृणन्) बिछाते हैं, (आत्) इसके बाद (इत्) ही (होतारम्) होता को (नि+असादयन्त) बिठाते हैं ।

माता जिस तरह अनेक प्रकार से रिझाती और अपनी बात मनवाती है क्योंकि वह इसी में अपने बालक का कल्याण मानती है । ठीक इसी भांति जगदम्बा अपने जीव-वत्स को नानाप्रकार से समझाती और सत्पथ पर, कल्याण मार्ग पर लाती है । इस मन्त्र में देव सेना किस प्रकार जीव का मङ्गल साधती है, इस बात का वर्णन है । संसार में प्रकृति की कितनी शक्तियां कार्य्य कर रही हैं, इसे कौन गिन सकता है ? इन सब का उद्देश्य

अग्निं असपर्यन=अग्नि की सेवा करना है । अग्निहोत्र हो रहा है । आग जलाई जा चुकी है । घी उस में डाला जा रहा है । आसन बिछाया गया है, और होता को उस पर लाके बिठाया गया है ।

राजा जनक की सभा में पण्डितों का शास्त्रार्थ छिड़ गया है । एक ओर याज्ञवल्क्य हैं और दूसरी राजसभा में सब ज्ञानी । उनमें से विदग्ध शाकल नामक विद्वान् ने याज्ञवल्क्य से पूछा, कितने देव हैं ? उसने उत्तर दिया—

यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते—'त्रयश्च त्री च शता च त्रयश्च त्री च सहस्रा–'(बृहदा ३।९।१)

वैश्वदेव की निवित् में जितने कहे गये हैं—अर्थात् तीन सौ .... तीन हजार ।

यजुर्वेद के तैंतीसवें अध्याय के आरम्भ के मन्त्र याज्ञिकों के मत में 'विश्वेदेव' देवों की निवित् हैं ।

दो चार और प्रश्न करके विदग्ध महाराज फिर पूछते हैं—

कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा' इति

'वे तीन सौ .... तीन हजार देव कौन से हैं?' याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—

महिमान एवैतेषामेते, त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः=ये 'तीन हजार ....' आदि तो इनकी बड़ाई है, देव तो तैंतीस ही हैं ।

तैंतीस कहो या तीन हजार—कहो, ये सब 'अग्निं असपर्यन्' अग्नि=जीव की पूजा करते हैं ।

पूजा का प्रकार बताते हैं—१. औक्षन् घृतै.=घृतों से सींचते हैं ।

अग्नि घृत से प्रदीप्त होती है । अग्नि का अग्नित्व बना रहता है । ये देव जीव को भोगसामग्री देते हैं । जिससे इसका भोक्तृत्व अक्षुण्ण बना रहता है । २. अस्तृणन् बर्हिरस्मै =इसके लिये आसन बिछाते हैं ।

आग के लिये आसन नहीं बिछाया जाता । होता अध्वर्यु आदि ऋत्विजों के लिये आसन बिछाया जाता है । इसी एक वाक्य ने 'अग्नि' को भौतिक न रहने देकर चेतन बना दिया है । आसन बैठने के लिये होता है । जीव भी शरीर में आकर बैठा है । अर्थात् जीव के बैठने का स्थान=भोगाधिष्ठान ये ही देव बनाते हैं । और ३ आदिद्धोतारं न्यसादयन्त=इसके बाद होता=भोक्ता को इसमें बिठाते हैं ।

सार यह कि सृष्टि के सारे पदार्थ आत्मा के लिये हैं, न कि आत्मा इनके लिये हैं ।

३४६

सरस्वती को जाने वाली पांच नदियां

ओ३म्। पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।

सरस्वती तु पंचधा सो देशेऽभवत्सरित्॥ य ३४।११

(सस्रोतस) स्रोतों सहित (पञ्च) पाच (नद्यः) नदिया (सरस्वतीम्) सरस्वती को (अपि) भी (यन्ति) जाती हैं। (सा+उ) वही (सरस्तवी) सरस्वती (तु) भी (देश) देश में (पचधा) पाच प्रकार की (सरित्) नदी (अभवत्) हो गई है।

यह किसी भौतिक नदी का वर्णन नहीं हैं। भौतिक नदी का वर्णन होता, तो मन्त्र में 'सस्रोतसः' पद न होता, केवल **'पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति'** [पाच नदिया सरस्वती को जा रही हैं] इतना ही होता। यहा 'सरस्वती सरित्=सरस्वती नदी से अभिप्राय आत्मा है। पाच नदिया पाच ज्ञानेन्द्रिया हैं, उनके श्रोत उनके विषय हैं। पाच ज्ञानेन्द्रिया अपने विषय-प्रवाहों के साथ आत्मा को प्राप्त हो रही हैं। तात्पर्य यह है कि आख नाक आदि ज्ञानेन्द्रियों का अपना कोई प्रयोजन नहीं है। आत्मा को रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध का ज्ञान कराना इनका एकमात्र प्रयोजन है। दूसरे शब्दों में आत्मा के यह सहायक या करण हैं। प्रवाहों के साथ=विषयों के साथ ये आत्मा को प्राप्त होती है। अर्थात् आत्मा इन विषयों को ग्रहण करता है। दूसरे शब्दो में आत्मा इनका भोक्ता है।

आत्मा को 'सरस्वती' का विशेष प्रयोजन है। 'सरस्वती' शब्द का अर्थ है प्रवाहवाली। शरीर आदि आते जाते रहते हैं किन्तु आत्मा का प्रवाह बना रहता है। प्रवाह कभी स्वच्छ होता है कभी मलिन। कभी आत्मा में अज्ञान के कारण पापवासनाओं का प्रवाह बहने लगता है, कभी सुसस्कारों के जागने से भव्य भावों का बहाव बहने लगता है। हा, यह प्रवाह सदा बना रहता है।

श्रोत्रेन्द्रिय आत्मा में शब्द को पहुँचाती है, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श का ज्ञान कराती है, चक्षु रूप का निरूपण करती है। रसना रस चखाती है, घ्राणेन्द्रिय गध सुंघाती है। इन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के संस्कार पाच प्रकार के होते हैं। अतः कहा—**सरस्वती तु पंचधा सो देशेऽभवत्सरित्**=सरस्वती भी देश में पाच प्रकार की नदी हो गई।

अर्थात आत्मा पाच प्रकार के सस्कारों के अनुसार व्यवहार करने लगता है आत्मा संस्कार के वशीभूत होकर विचित्र विचित्र कार्य्य करता है। ज्ञानेन्द्रिया पाच हैं, तो कर्म्मेन्द्रिया भी पाच हैं। आत्मा की भावना को बाहर लाने का द्वार कर्मेन्द्रिया हैं।

शरीर आत्मा का देश है। वहा ही आत्मा सरित् पाच प्रकार से बह रही हैं। चाहो, बाहर की नदियों के स्रोत बन्द कर दो, तब प्रवाह एक हो जायेगा। इस बात को उपनिषद् में यों कहा है—

यदा पचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहु परमा गतिम्॥ कठो ६।१०

जब मन के साथ पाचों ज्ञानेन्द्रिया ठहर जाती हैं, और बुद्धि भी क्रिया नहीं करती। उसे परम गति कहते हैं।

जब तक यह पाचों नदिया चल रही हैं; शरीरस्थ आत्मा-सरित् भी पाच प्रकार की होती रहेगी।

३४७

संसार की अनित्यता

ओ३म् । अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाजऽइत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ य० ३५।४

(अश्वत्थे) अश्वत्थ पर (वः) तुम्हारा (निषदनम्) बैठना है । (पर्णे) पत्र में (वः) तुम्हारा (वसति) वास (कृता) बना हुआ है । (यत्) यदि (पुरुषम्) पुरुष को (सनवथ) पूजो तो (किल) अवश्यमेव, (गोभाजः) गोभागी (असथ) हो जाओ ।

मनुष्य संसार में आकर समझता है कि मुझे सदा यहीं रहना है। युधिष्ठिर से किसी ने पूछा था इस संसार में आश्चर्य क्या है ? युधिष्ठिर जी ने उत्तर दिया वह उस समय भी सत्य था, इस समय भी सत्य है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम् ।
शेषः स्थातरतां याति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

प्रति दिन प्राणी मौत के घाट उतर रहे हैं, किन्तु शेष स्थायी रहना चाहते हैं, इस से अधिक आश्चर्य क्या है ?

अपने हाथों लोग अपने बन्धु-बाधवों को जला आते हैं किन्तु उन्हें यह कभी विचार नहीं आता कि हमारा भी निस्तार कभी ऐसा ही होगा ।

संसार के किसी पदार्थ में स्थिरता है ही नहीं । फिर यहां स्थिरता की कामना कैसी ? तुम्हें ज्ञात है, तुम्हारी बैठक कहां है ?

अश्वत्थे वो निषदनम्=अश्वत्थ पर तुम्हारी बैठक है । 'अश्वत्थ' का अर्थ है—**यः श्वो न स्थास्यतिस**= जो कल न ठहरेगा । तुम सोच रहे हो, अमुक कार्य्य हम कल करेंगे । किन्तु तुम कल देख पाओगे, कल तक रह भी पाओगे । इस का क्या प्रमाण ? तुम्हारा निषदन तो अश्वत्थ पर है 'अश्वत्थ' का एक अर्थ पीपल वृक्ष है । पीपल को लौकिक संस्कृत में **चलदल** भी कहते हैं । चलदल का अर्थ है चञ्चल पत्तों वाला । पीपल के पत्ते प्रायः हिलते रहते हैं । मानों वे अस्थिरता की घोषणा कर रहे हैं ।

तुम्हारा वास स्थान ? **पर्णे वो वसतिष्कृता**=पत्ते पर तुम्हारा वास है ।

पत्ते का स्वयं अल्प जीवन होता है। जाने कब वायु का झोंका आये, और पत्ता नीचे गिर जाए । जाने कब कोई पत्ता सूख जाए । जो स्वयं क्षणभंगुर है, उस पर आश्रय करने का लाभ ?

कितने सरल किन्तु मार्मिक शब्दों में संसार की असारता, जीवन की क्षणभंगुरता का बोध कराया है ।

इस संसार की असारता का ज्ञान कब होता है ?

गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ।

जब पुरुष=पूर्ण पुरुष भगवान् की पूजा करोगे तो निश्चय ही गोभागी=किरण-भागी=प्रकाशाधिकारी होंगे ।

भगवान् प्रकाशकों के प्रकाशक हैं । प्रकाश की कामना है—जिस से सदसद्विवेक हो, खरे खोटे का भान हो सके—तो भगवान् को भजो ।

मेरे दोष दूर हों

ओ३म् । यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु ।
शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ य० ३६।२

(यत्) जो (मे) मेरे (चक्षुषः) नेत्र का, (हृदयस्य) हृदय का (छिद्रम्) छिद्र है, (वा) अथवा (मनसः) मन का (अतितृण्णम्) बहुत बड़ा छिद्र या घाव है—(मे) मेरे (तत्) उस छिद्र को (बृहस्पतिः) बड़ा रक्षक भगवान् (दधातु) पूरा करे, (यः) जो (भुवनस्य) संसार का (पतिः) पालक, स्वामी है, वह (नः) हमारे लिये (शम्) शान्तिदायक (भवतु) हो ।

जीव अल्पज्ञ है । अल्पज्ञता के कारण उससे अनेक त्रुटियां होती हैं । वाणी भगवान् ने बोलने को दी है किन्तु इस वाणी से मनुष्य असत्य, कठोर, अमङ्गल और असंबद्ध प्रलाप करने लगता है । यह मानव देह इस भवसागर से पार उतरने को नौका है किन्तु मनुष्य हिंसा, चोरी और व्यभिचार द्वारा इस में भी छिद्र कर देता है । मन भगवान् ने मनन, विचार के लिये दिया, किन्तु मनुष्य इससे नास्तिकता, परद्रोह, और दूसरे के धन हरण की बातें सोचा करता है । चक्षु भगवान् ने देखने को दी किन्तु मनुष्य इससे अभद्र रूपों और आकारों को देख कर मन और अन्तःकरण को दूषित और कुलाषित करता है । इसी तरह दूसरी इन्द्रियों तथा साधनों के सम्बन्ध में विचार कर लीजिये ।

इस मन्त्र में भगवान् से प्रार्थना है कि

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु=

मेरे दर्शन में, मेरे भावों में तथा मेरे मन से जो त्रुटि है, उसे बड़ा पालक पूरा कर दे ।

दूसरे स्थान में प्रार्थना है—

१ देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि (य० ८।१३)=इन्द्रियकृत अपराध का तू शोधक है ।

आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि (य० ८।१३)=आत्मा के किये अपराधों का भी तू शोधक है ।

अतः यहां भी उसी से प्रार्थना है कि यह महान् भगवान् दोषों को दूर करे ।

आंख [आंख समस्त इन्द्रियों की उपलक्षण है] में यदि छिद्र रहेगा, तो स्पष्ट नहीं दिखलाई देगा । हृदय में यदि भद्दे भाव होंगे, तो व्याकुलता एवं शङ्का रहेगी । मन में विकार रहा, तो सभी कार्यों में बिगाड़ रहेगा । यदि इच्छा है कि किसी करण-उपकरण में कोई दोष न रहे, तो यत्न करो कि

शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः=

जो लोक का, समस्त संसार का रक्षक है, वह कृपा करता रहे ।

प्रभु की कृपा बनी रहे, तो समस्त दोष नष्ट हो जायें ।

अतएव उससे पुनः पुनः प्रार्थना है—

अनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् (य० ८।१४)

जो मेरे शरीर की त्रुटियां हैं भगवान् उन्हें आत्मा की अनुकूलता से शुद्ध करे ।

प्रथम संस्कृति

ओ३म् ।अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्य्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम ।
सा प्रथमा सस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः ॥ य० ७।१४

हे (सोम) शान्तिदायक (देव) परमात्मन् ! (ते) तेरे (अच्छिन्नस्य) परम्परा मे अननच्छिन्न, अटूट (सुवीर्य्यस्य) उत्तम-शक्ति-प्रदात्री के तथा (रायः+पोषस्य) धन, वृद्धि के (ददितारः) धारण करने वाले और देने वाले (स्याम) हम हों । (सा) वह प्रथमा) सब से पहली, मुख्य और (विश्ववारा) सब से स्वीकार करने योग्य (सस्कृतिः) सस्कृति है । (सः) वह (प्रथमः) प्रथम (मित्रः) मित्र, (वरुणः) और (अग्निः) है ।

भगवान् के दान का प्रवाह कभी नहीं टूटता । भगवान् नित्य है, उस का कार्य्य सृष्टिसर्जन आदि भी नित्य है । अतः उस का दान भी नित्य है । दान प्रवाह नित्य होते हुए भी किसी भाग्यवान् को ही यह दान प्राप्त होता है । हमारी कामना है कि हम सभी इस के **ददितारः स्याम**=धारण करने वाले और प्रदान करने वाले हों । हमे मिले और हम फिर आगे दें, इस का सदा विस्तार होता रहे ।

भगवान् का दान मूल दान, मूल धन है । जैसे एक व्यापारी कुछ धन व्यापार मे लगाता है, या सूद पर लगाता है, उस से आने वाला सारा धन मूल धन की वृद्धि है, यदि वह धन-मूल धन न हो तो वृद्धि नहीं हो सकती; इसी प्रकार भगवान् का यह दान भी

प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा=सब से पहली, मूल अतएव सब की स्वीकरणीय सस्कृति है ।

ससार की सारी सस्कृतिया वेद की सस्कृतियों से निकली हैं ।

ससार के समस्त सद्व्यवहारो और विचारों का मूल उद्गम वेद है । मनुष्यों के आत्माओं का ससार—परिष्कार करने तथा समस्त व्यवहार सिखाने के लिए भगवान् ने सर्ग के आरम्भ मे मनुष्यों के लिये चार ऋषियों—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिराः—को वेद ज्ञान दिया । चूंकि उस ने कृपा कर के ज्ञान दान दिया, अतः—

स प्रथमो मित्रो वरुणो अग्निः

वह सब से पहला, मुख्य, मित्र है, और वही वरुण=चाहने योग्य है, वही अग्नि=आगे ले जाने वाला है ।

मित्र का काम है कि मित्र को हित सुझाये । ससार के रणक्षेत्र में अवतीर्ण होने के साथ ही उस ने हमें ज्ञान-कृपाण दे दी, अतः वह मित्र है, और इसी कारण वह हमारा अभीष्ट है । सभी जीवों की भगवान् उन्नति करता है, अतः वह अग्नि है । और

सः प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वान (य० ८।१५)=वही बृहस्पति सब से पहला ज्ञानी, सुझाने वाला है । अतः

तस्मा इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहा (य० ८।१५)=

उस ज्ञानैश्वर्य्यसपन्न, अज्ञानवारक भगवान् के लिए सच्चे मन मे सभी ऐश्वर्य्य दे डालो ।

३५०

देव के अनुकूल सब का प्रयाण

ओ३म् । यस्य प्रयाणमन्वन्यऽइद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा ।
यः पार्थिवानि विममे सऽएतशो रजाᳬसि देवः सविता महित्वना ॥ य० ११।६

(यस्य) जिस (देवस्य) देव के (प्रयाणम्+अनु) प्रयाण के पीछे तथा (महिमानम्+अनु) महिमा के कारण (अन्ये) दूसरे (देवाः) देव (ओजसा) हठात् (ययु+इत्) चलते ही हैं । (यः) जो (पार्थिवानि) पार्थिव तथा अन्य (रजांसि) लोकों को (वि+ममे) विशेष रूप से बनाता है, (सः) वह (सविता) सर्वोत्पादक (देवः) भगवान् (महित्वना) महत्त्व के कारण (एतशः) सब का गति दाता है ।

इस मन्त्र में आत्मानुसन्धान का विशेष विधान है ।

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा (नि०)=

देने के कारण, प्रकाशमय होने के कारण अथवा प्रकाशक होने के कारण पदार्थ देव होता है । आत्मा को वेदों मे अनेक स्थानों में ज्योति कहा है । यथा—

ध्रुव ज्योतिर्निहितं दृशये कम् (ऋ० ६।६।५)=दर्शन के लिये सुखकारी अविनाशी ज्योति [शरीर में] है ।

अतः निरुक्तनय से आत्मा देव है । मन और इन्द्रियों को यजु० ३४।१ में ज्योति कहा है—

ज्योतिषां ज्योतिरेकम्=जो [मन] ज्योतियों में प्रधान ज्योति है । अतः मन तथा इन्द्रिया भी देव हैं । इस दृष्टि से मन्त्र का भाव हुआ—"आत्मदेव के प्रयाण के पीछे सभी देव चले जाते हैं, मानों इसने सब पार्थिव लोकों को माप रखा है, और वही इनका गतिदाता है ।

जीवित तथा मृत शरीर के देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है । आत्मा के निकल जाने पर आंख, नाक, कान आदि सभी इन्द्रिय चले जाते हैं । अब आंख देखने का कार्य नहीं करती । कान सुनते नहीं, नाक सूंघती नहीं । रसना स्वाद नहीं लेती । स्पर्श अब सरदी गरमी का पता नहीं देती ।

वास्तव मे बात यह है कि यह सब हथियार हैं । आत्मा के विना ये बेकार हैं । आत्मा ही इनका प्रयोक्ता है । रानी मक्खी के चल देने पर जैसे अन्य मक्खिया उसके पीछे चल देती हैं, वैसे ही आत्मा के प्रयाण के पीछे यह सब चल देते हैं ।

ससार में कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता, किन्तु मरते सभी हैं । क्यों ? प्रतीत होता है, कोई ऐसा बली है, जो बलात् आत्मा को देह से निकाल देता है । उस महादेव के प्रयाण=प्रेरणा के अनुकूल अन्य सूर्य-चन्द्र आदि चलते हैं ।

जब भगवान् सभी लोक लोकान्तरों का निर्माता है । केवल ससार बना कर ही उसने छोड़ नहीं दिया, वरन् उसने ही इसमें गति डाली है ।

इस सब का कारण उसका महाबल है । साराश यह कि यह सारा ससार भगवान् के विधान् के अनुसार चल रहा है । वही इसका विधाता तथा गतिदाता है ।*

---

* इस मन्त्र की विशेष व्याख्या योगोपनिषत् मे देखिये ।

नेता बनन के साधन

ओ३म् । भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ य. १५।२३

तू (यज्ञस्य) यज्ञ का (च) तथा (रजसः) ससार का (नेता) नेता (भुव.) होगा, (यत्र) जब तू (शिवाभिः) कल्याणमयी (नियुद्भिः) नीतियों से (सचसे) सयुक्त होगा। (मूर्धानम्) सिर को (दिवि) द्यौ में, प्रकाश में (दधिषे) धारण करेगा और (स्वर्षाम्) उत्तमगति वाली, मधुर (जिह्वाम्) जिह्वा को (हव्यवाहम्) भाग प्राप्त कराने वाली (चकृषे) करेगा ।

(१) यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः=जब कल्याणकारी नीतियों, युक्तियों से युक्त होगा ।

नेता बनने के अभिलाषी को पहले अपना व्यवहार सवारना चाहिये । उसका व्यवहार ऐसा हो, जिससे सब का भला हो ।

(२) दिवि दधिषे मूर्धानम=सिर आसमान पर रखे । इसका यह भाव नहीं कि वह अभिमान करे । प्रत्युत यह कि अपने ज्ञानादि गुणों के कारण वह सब से ऊचा हो । यदि नेता योग्यता में कम हुआ तो उसका नेतृत्व चल नहीं सकेगा । सिर आसमान में तभी रख सकेगा । जब वह ज्ञानी उसे गुरुओं के चरणों में रखने का अभ्यस्त होगा । भाव यह कि उसे सदा अपने अनुगतों की प्रत्येक आवश्यकता तथा उसकी पूर्त्ति के साधन ज्ञात होने चाहियें ।

(३) स्वर्षां जिह्वामग्नु चकृषे हव्यवाहम्=अपनी मधुर वाणी को भोग प्राप्त कराने वाली बनाये ।

वाणी का मिठास सब से आवश्यक है, और सब के लिये आवश्यक है । नेता के लिये तो कहना ही क्या है । मनु जी ने कहा है—

अहिंसयैव भूताना कार्य्यं श्रेयोऽनुशासनम ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ २।१५६

धर्माभिलाषी को प्राणियों का अनुशासन अहिंसा पूर्वक ही करना चाहिये । और वाणी मधुर और श्लक्ष्ण-सुथरी ही प्रयोग करनी चाहिये ।

केवल मीठी और चिकनी चुपड़ी बातों से ही दूसरे को नहीं टाल देना चाहिये, प्रत्युत वह स्वर्षा=मधुर या सुखदायी वाणी 'हव्यवाट्' भी होना चाहिये । नीतिकार कह गये हैं—

निरर्थकं साम न दानवर्जितम्=

निर्बाध सान्त्वना दान के बिना व्यर्थ है । अर्थात् जहा मीठी मीठी बाते बनाओ, वहा वास्तव में भी कुछ करके दिखाओ । ऋग्वेद (१०।३८।४) 'रक्षक' के सम्बन्ध में कुछ ऐसे ही भाव हैं—

यो दभ्रेभिर्हव्यो यश्च भूरिभिर्यो अभीके वरिवोविन्नृषाह्ये ।
त विखादे सस्निमद्य श्रुत नरमर्वाञ्चमिन्द्रमवसे करामहे ॥

जिसे छोटे बुला सकें, बड़े बुला सकें, जो दूरस्थ, मनुष्य से सहन योग्य कार्य्य में विधान का ज्ञान रखता हो विपत्ति के समय ऐसे अतिशय शुद्ध विद्वान, सरल ऐश्वर्य्य सपन्न नेता को हम रक्षा के लिये नियुक्त करते हैं ।

३५२

कर्म्म करते जीवन बिता

ओ३म् । कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥ य. ४०।२ ॥

(इह) इस ससार में (शतम्+समाः) सौवर्ष=सम्पूर्ण आयु (कर्म्माणि) कर्म्मों को सत्कर्म्मों (कुर्वन्) करता हुआ ही (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे । (एवम्) इस प्रकार अर्थात् कर्म्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (कर्म्म) कर्म्म (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता, बन्धन का कारण नहीं बनता । (इतः) इससे (अन्यथा) दूसरा प्रकार (न+अस्ति) नहीं है ।

मनुष्य के शरीर को वेदों में क्षेत्र कहा गया है—**स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज**=अपने शरीर में नीरोग रह । शरीर को क्षेत्र कहने का विशेष प्रयोजन है । क्षेत्र में कृषि कर्म होता रहना चाहिये । बोना, काटना बराबर चलते रहना चाहिये । इसी से इसे कोई कोई कुरुक्षेत्र भी कहते हैं । इस दृष्टि से वेद में उपदेश है—**कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि**=कर्म्म करते हुए ही ।

कर्म्म की तीन गतिया हो सकती हैं—१ कर्म्म, २ विकर्म तथा ३. अकर्म्म । कर्म्म न करने को अकर्म्म तथा उलटे कर्म्म को विकर्म्म कहते हैं । शेष कर्म्म का अर्थ सुतरा सत्कर्म्म हुआ । कर्म्म, अकर्म्म की विवेचना बहुत गहन है । गीता में कहा है—

किं कर्म्म किमकर्म्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः ।

क्या कर्म्म है, और क्या अकर्म्म है, इस विषय में कवि=क्रान्तदर्शी भी विमुग्ध हैं ।

तथापि स्थूलरूप से कर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म की उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचना सभी को मान्य है । इससे पूर्व य ४०।१ में कहा है—**मा गृध. कस्य स्विद्धनम्**=किसी के धन का लालच मत कर ।

'पराये धन का लालच' समस्त बुरे कर्म्मों का उपलक्षण है । अर्थात् बुरे कर्म्म मत कर । इससे विकर्म्म का निषेध होगया । कर्म्म और अकर्म्म के विवाद में '**कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेत्**' से 'अकर्म्म' का 'निषेध कर दिया गया है । शेष कर्म्म=सुकर्म्म रह गये । इससे अर्थ हुआ—

"मनुष्य इस ससार मे सपूर्ण आयु सत्कर्म्म आयु सत्कर्म्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे ।

कहावत है—**लोकोऽयं कर्म्मबन्धन**=यह ससार कर्मों से बन्धा है । अर्थात् कर्म्म बन्धन के कारण हैं । वेद इसका खण्डन करता हुआ कहता है—

एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे=

ऐसा करने पर कर्म्म तुझे नही बांधेगा, और कोई उपाय नही है ।

जब कामना छोड़कर केवल कर्त्तव्य बुद्धि से, भगवान् की आज्ञा समझ कर कर्म्म किये जाते हैं, वे कर्म्म बन्धन के कारण नहीं बनते । इच्छा, वासना के कारण किये कर्म्म बन्धन के कारण बनते हैं । क्योंकि यदि इच्छा पूरी होगई तो हर्ष होता है । यदि इच्छा पूरी न हुई, उसका विघात हुआ, तो विषाद होता है । प्रमाद और विषाद बन्धन के कारण हैं । जब किसी इच्छा को सामने रखकर कार्य्य न किया जा रहा हो तो इष्टसिद्धि या वासनाविघात का अवसर न होने से बन्धन के हेतु प्रसाद या विषाद उत्पन्न ही नहीं होते ।

भोग और कर्म्म हाथों में धारण करता हूं

ओ३म् । सोमासो न ये सुतास्तृप्ताशवो हृत्सु पीतासो दुवसो नासते ।
एषामंसेषु रम्भिणीव रारभे हस्तेषु खादिश्च कृतिश्च स दधे ॥ ऋ. १।१६८।३॥

(ये) जो (तृप्ताशवः) रस से पूर्ण=अंशुओं से युक्त (सोमासः+न) सोमों की भांति (सुताः) निष्पन्न किये गये हैं, (हृत्सु+पीतासः) जी भर के जो पान कर चुके हैं और जो (दुवसः+न) परिचारकों की भांति (आसते) रहते हैं, (एषाम्) इनके (असेषु) कन्धों पर (रम्भिणी+इव) आरम्भशक्ति के समान शक्ति (रारभे) कार्य्य आरम्भ करती है। (खादिः) भोग (च) और (कृतिः) कर्म्म, पुरुषार्थ (च) भी (हस्तेषु) हाथों में ही (स+दधे) भली प्रकार धारण किया जाता है।

जी भर कर सोम पीना भोग का उपलक्षण है, किन्तु यह भोग वैसे ही नहीं मिल जाता। इसके लिये तृप्तांशु सोमों को कूटने की आवश्यकता है। अर्थात् सोमपान से पूर्व सोमसवन अनिवार्य्य है। सोमसवन स्पष्ट परिश्रमसाध्य है। सुतरां परिणाम निकला कि पुरुषार्थ=परिश्रम=कर्म्म=कृति पहले है और भोग=खादि=प्रारब्ध पीछे है।

उत्तरार्ध में एक सूक्ष्म सिद्धान्त की ओर ध्यान दिलाया गया है। जिनके हाथ में भोग और कर्म्म है—एषामंसेषु **रम्भिणीव रारभे**=आरम्भशक्ति भूयो भूयः उन्हीं के कन्धों पर की जाती है। अर्थात् भोग भी पुरुषार्थ के बिना सिद्ध नहीं होता। भोगप्राप्ति के लिये भी पुरुषार्थ की आवश्यकता है। भोजन परसा जा चुका है। यह हमारा भोग है। किन्तु हाथ और वाणी की क्रिया के बिना यह शरीर का अंग बन सकता नहीं।

वैदिक धर्म्म प्रारब्धवादी नहीं, पुरुषार्थवादी है। यजुर्वेद (४०।१५) में मरण का दृश्य दिखला कर '**कृतᳯस्मर**' अपने कर्म्मों का स्मरण कर कहा है, न कि '**भाग्यं स्मर**' [अपने भाग्य=प्रारब्ध को स्मरण कर]।

'प्रारब्ध' शब्द के अर्थ पर विचार करने से भी कर्म्म-वाद की पुष्टि होती है। प्रारब्ध=प्र+आरब्ध=भली प्रकार आरम्भ किया गया। खेती का भली प्रकार प्रारम्भ किया जायेगा, भूमि का जोतना आदि कर्म्म भली प्रकार आरम्भ किये जायेंगे तो फल भी अच्छा होगा। अर्थात् प्रारब्ध=भाग्य, किये हुए का फल है। अतः कर्म्म प्रधान है।

अब यह अपने वश में है कि हम अपना भाग्य प्रारब्ध [भली प्रकार का आरम्भ किया हुआ] बनायें, या दुरारब्ध [बुरी भांति आरम्भ किया हुआ] बनायें। अतः वेद का यह कथन कि—

हस्तेषु खादिश्च कृतिश्च संदधे।

उत्पन्न हुआ पहले पूर्वाजित कर्म्म का भोग भोगने लगता है। कर्म्मयोनिगत मनुष्य बालक पर्य्याप्त काल तक भोग्य अवस्था में रहता है अतः मन्त्र में 'खादि' को पहले स्थान दिया है।

३५४

भगवान् ने श्रेष्ठरचना की है

ओ३म्। उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभिद्धो घर्मस्तदुषु प्रवोचम्॥ ऋ० १।१६४।२६

मैं (एताम्) इस (सुदुघाम्) उत्तम दूध वाली या आसानी से दोही जाने वाली (धेनुम्) दूधार गौ को (उपह्वये) अपने समीप में चाहता हूं, (उत) और (सुहस्तः) उत्तम हाथ वाला=कुशल (गोधुग्) गौ दोहने वाला (एनाम्) इस को (दोहत्) दोह सकता है। (अभीद्धः) सब ओर प्रदीप्त, सब ओर प्रकाशमान, (घर्म्मः) तेजोमय (सविता) जगदुत्पादक भगवान (नः) हमारे लिये (श्रेष्ठम्) उत्तम (सवम्) जगत् उपदेश (साविषत्) उत्पन्न करता है।

सचमुच भगवान् ने यह महान जगत् अति उत्तम बनाया है, सूर्य्य की ओर देखो, भूमि को देखो। जल और पवन को देखो। दूर की बात जाने दो। अपने शरीर को देखो, कैसा सुन्दर है? कैसा युक्तियुक्त। आंख किस स्थान पर रखी हैं। ठीक नाक के ऊपर। यदि नाक के नीचे रहती, तो बड़ा कष्ट होता नाक से मल-स्राव होता रहता है उस पर कभी कभी मक्खी आदि प्राणी आ जाते हैं आंख नीचे है वह देख न पाती, फिर मुख और नाक के बीच में पर्य्याप्त व्यवधान हो जाता। मुख में जाते पदार्थ के गन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान न हो पाता। दुर्गन्ध पदार्थ खाने से शरीर में विकार हो जाता। साराश यह कि विचार से प्रतीत होता है कि प्रत्येक पदार्थ ठीक ठीक उत्पन्न किया गया है, और यथास्थान स्थापित किया गया है।

भगवान् ने प्रकृति से यह जगत् बनाया है। प्रकृति को इस मन्त्र में 'धेनु' कहा गया है। भोग रूप दूध देने के कारण प्रकृति सचमुच धेनु है। और है भी यह सुदुघा=आसानी में दोही जाने वाली।

जीव कहता है—उपह्वये सुदुघां धेनुमेताम्=मैं इस सुदुघा धेनु को पास चाहता हूं। पास तो आ जाएगी, किन्तु कार्य्य कर लोगे इस से? इसे तो—

सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्=कोई चतुर दोहने वाला ही इसे दोह पाता है।

गौ के स्तनों में दूध है। किन्तु उसे प्रत्येक नहीं दोह पाता। प्रकृति में भोग है किन्तु प्रत्येक इस से भोग नहीं प्राप्त कर सकता। कोई सुहस्त=उत्तम हाथों वाला, जिसे अपने हाथों का प्रयोग करना आता है, वही दोह सकता है। किसी ने ठीक ही कहा है—**सकल पदारथ हैं जगमाहीं। कर्म्महीन नर पावत नाहीं।** इस को यों पढ दो—

सकल पदारथ हैं इहि माहि हस्तहीन नर पावत नाहीं। वेद ने ठीक कहा—

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्ट (ऋ० १०।११७।६)=

दोनों हाथ बराबर हैं किन्तु समान रूप से कार्य्य नहीं कर सकते।

एक शरीर के दो हाथ जो समान भी हैं, एक तरह कार्य्य नहीं कर सकते। तो भिन्न भिन्न शरीरों के हाथ जिनकी शक्ति, योग्यता समान नहीं है, कैसे इस धेनु से दूध एक समान दोह सकते हैं। इसे तो कोई सुहस्त ही दोहेगा।

भगवान् ने इस प्रकृति-धेनु से यह श्रेष्ठ जगत दूध दोहा है।

३५५

अनेक सन्तानों वाले दुःख पाते हैं

ओ३म् । य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश ॥ ऋ० १।१६४।३२

(यः) जो (इम्) इस प्रकार (चकार) करता है, (सः) वह (अस्य) इस के [रहस्य को] (न) नहीं (वेद) जानता। (य.) जो (ईम्) इस प्रकार, इसको (ददर्श) देखता है, वह (तस्मात्) उस से (नु) सचमुच (हरुग्) पृथक् है (सः) वह (मातुः) माता के (योनौ अन्तः) गर्भ के भीतर (परिवीत.) सब ओर से लिपटा हुआ है। (बहुप्रजाः) बहुत सन्तानों वाला (निर्ऋतिम्) दुःख को (आविवेश) अनुभव करता है।

इस से पूर्व 'अपश्य गोपाम्......'मन्त्र है। उस में आत्मस्वरूप का निरूपण है। उस मे कहा गया है कि—

आ च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्त्ति भुवनेष्वन्त. ।

उलटे सीधे मार्गों से चलता हुआ वह उलटी सीधी दशा को प्राप्त होता है, संसार-चक्र में बार बार आता रहता है।

जीव की इस दशा की ओर इशारा करता हुआ वेद कहता है—

• य ईं चकार न सो अस्य वेद

जो ऐसे कर्म्म करता है, वह आत्मा के रहस्य को नहीं जान पाता।

भले कर्म्म दो प्रकार के होते हैं एक मोक्ष दिलाने वाले, और दूसरे भली योनियों में ले जाने वाले। जो आत्मज्ञानशून्य हैं, वे आत्मकल्याण के लिये प्रयतमान ही नहीं हो सकते। अतः उन के यदि कोई भद्र कर्म्म भी होंगे, तो वे मोक्ष साधक नहीं, वरन् भोगसाधक होंगे। उन्हें तो आत्मा के जन्मान्तर ग्रहण करने का ज्ञान ही नहीं है।

जिसे कर्म्मफलविज्ञान का ज्ञान होता है, वह आत्मा के स्वरूप को समझ कर कुकर्म्म से पृथक् हो जाता है। भोग सम्पादक कर्म्मों से पृथक होकर वह विचारता है—

स मातुर्योना परिवीतोऽन्तः=वह माता के गर्भ में लिपटा पड़ा है।'

अर्थात् भोगभावना से भावित मनुष्य पुनः पुनः माता के गर्भ में लपेटा जाता है। उसे—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।

[बार बार जन्मना, बार बार मरना, बार बार मा के गर्भ में पड़ना] का विचार कपा देता है।

किसी ने 'जाया' की निरुक्ति करते हुए कहा है कि यतः पति इस में पुत्र रूप से उत्पन्न होता है अतः पत्नी को जाया कहते हैं।

इस का भाव यह हुआ कि अनेक बच्चे पैदा करना मानो स्वयं बार बार पैदा होना है। वेद बार बार पैदा होना और अनेक सन्तान के उत्पादन की ओर लक्ष्य कर के कहता है—

बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश=अनेक सन्तानों वाला दुःख पाता है। अर्थात् संयम रख कर गृहस्थी चलानी चाहिये।

पंच भूतों का अनादि चक्र

ओ३म । पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते न भूरिभार. सनादेव न शीर्यते सनाभि ॥ ऋ १।१६४।१३

(तस्मिन्) उस (पञ्चारे) पाच अरों वाले (चक्रे) चक्र के (परिवर्त्तमाने) चलने पर (विश्वा) सब (भुवनानि) भुवन, लोक (आतस्थुः) सब ओर स्थित होते हैं। (तस्य) उसका (अक्षः) अक्ष (न) न तो (तप्यते) तपता है और (न) न (भूरिभार.) बहुत भार वाला होता है। (सनात्+एव) सनातन से ही वह (सनाभिः) सनभिः=बधनयुक्त, केन्द्रयुक्त होने से (न) नहीं (शीर्यते) बिखरता, फटता, नष्ट होता यह ससार चक्र चल रहा है। न्यायदर्शन १।१।२ के वात्स्यायभाष्य में ससार का लक्षण है—

इमे मिथ्याज्ञाना दयो दु खान्ता धर्म्मा, अविच्छेदेनैव प्रवर्त्तनानाः ससार. ।

मिथ्याज्ञान, दोष, प्रवृति, जन्म और दुःखों का निरन्तर प्रवृत रहना ससार है।

मिथ्याज्ञान से राग, द्वेष, मोह होते हैं, रागद्वेष मोह से प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति से जन्म होता है और जन्म साक्षाद् दु ख है। साधारण लोग इस गहरे ससार के सार तक नही पहुंच पाते उनके मत में सूर्य्यचन्द्र-नक्षत्र भूमि, आकाश पर्वत, नदी नाले झील तालाब, खेती धनधान्य, सामान, मकान, पिता, पुत्र, माता भगिनी आदि सब मिल मिला कर ससार है।

चाहे तत्त्वज्ञानियों का ससार लें, चाहे अज्ञानियों का।दोनों का कारण एक ही है। निमित्त कारण का विचार छोड़ कर उपादान कारण पर ध्यान दीजिये। सभी के मत मे पञ्चभूतात्मक प्रकृत्ति ही इस का उपादान कारण है। गिरि, नदी, भूमि, सूर्य्य, चन्द्र ग्रह, उपग्रह आदिनानाविध लोक इसी के बने और इसी मे रहते हैं। घड़ा मिट्टी से वनता और मिट्टी मे रहता है। मिट्टा से बाहर घड़ा कहा है। कपड़ा तन्तुओं से बना है, तन्तुओं से रहता है। तन्तुओं से अन्यत्र उसकी सत्ता का भान किस को होता है। इसी भाव से वेद कहता है—

पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा=

पचभूतमय, निरन्तर फिरते हुए इस ससारचक्र मे सब भुवन स्थित हैं।

अर्थात् सारा ससार पच भूतो से बना है, और इन्हीं में स्थित हैं।

रथ के पहिये का अक्ष तप जाता है, उसे विश्राम देना होता है। परिणाम से अधिक भार पड़ जाये, तो वह टूट जाता है किन्तु वह चक्र नाक्षस्तप्यते न भूरि भार. सनादेव न शीर्यते सनाभिः इस चक्र का अक्ष तपता है, न बहुत भार से टूटता है और न शीर्ण होता है क्योंकि सनातन से यह नाभि=बन्धन युक्त है।

अनादि काल से यह ससार चला आ रहा है। इसका अक्ष लक्षपर पहुचने से पूर्व तप ही नहीं सकता। बहुत भार तो तब हो, जब इससे बाहर कुछ भार हो। भार तो पहले सारा इसी मे है। भगवान् इसकी नाभि हैं, अत' इसके शीर्ण होने का प्रश्न ही नहीं है।

दिन के बादरात्रि के पश्चात् दिन के समान सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय के बाद पुन' सृष्टि इसी तरह ससार चक्र चल रहा है।

स्त्री की अनुकूलता से भला

ओ३म्। सूर्यो देवीमुषस रोचमाना मर्यो न योषामभ्येति पश्चात।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥ ऋ० १।११५।२

(न) जिस प्रकार (मर्य) मनुष्य (रोचममानाम्) प्रसन्नचित्त (योषाम्+अभि) स्त्री को लक्ष्य करके (पश्चात्) पीछे (एति) आता है, ऐसे ही (सूर्य) सूर्य (देवीम्) प्रकाशवती (उषसम्) उषा के पीछे आता है। (यत्र) इसप्रकार (देवयन्त.) सुखाभिलाषी (नरः) मनुष्य (भद्राय) भद्र के (प्रति) बदले (भद्रम्) भद्र को संयुक्त करते हुए (युगानि) जोडे (वितन्वते) बनाते हैं।

किसी कवि ने कहा है-- **अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते**=

रात्रि के किये अन्धकार का प्रभात-प्रकाश से नाश किये बिना सूर्य्य भी उदय नहीं होता।

यही बात वेद में कही है—**सूर्य्यो देवीमुषस ·· ··अभ्येति पश्चात्**=सूर्य्य प्रकाशमयी उषा के पीछे आता है। अर्थात् सूर्य्य को अपने लिये उषा की आवश्कता है। औरउषा आगे आगे आती है, सूर्य पीछे पीछे चलता है। वेद ने इस दार्ष्टान्त को दृष्टान्त बना कर और स्त्री-पुरुषों के व्यवहार -रूप दार्ष्टान्त को दृष्टान्त बनाकर विवाह के गौरव को बहुत बढ़ा दिया है। वेद कहता है उषा के पीछे आता हुआ सूर्य्य पत्नी के पीछे चलने वाले पति का अनुकरण कर रहा है। इस काव्यमयी भाषा में पति को पत्नी के अनुकूल चलने का उपदेश है। मनु महाराज ने लिखा है—

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांस न प्रमोदयेत्। अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम। तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ३।६१,६२

यदि स्त्री पुरुष को नहीं रुचती, तो पुरुष को प्रसन्न नहीं कर सकती। पुरुष के प्रसन्न न होने पर सन्तानोत्पादन की भावना ही प्रवृत्त नहीं होती। स्त्री के रुचने पर सब परिवार प्रसन्न होता है, उसके न रुचने पर सभी परिवार प्रसन्तारहित हो जाता है।

वेद ने पुरुष को '**रोचमाना योषा**' के अनुकूल चलने को कहा। मनुजी ने '**रोचमाना स्त्री**' के कारण सभी परिवार को रोचमान बताया है।

स्त्री पुरुष को रुचे, और पुरुषउसके अनुकूल चले, तभी गृहस्थी सुखदायिनी होती है। अन्यथा गृहस्थाश्रम क्लेशागार बन जाता है। गृहस्थी को सुखमयी बनाने के लिये पति-पत्नी की पारस्परिक प्रसन्नता और अनुकूलता साधन है।

युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम के द्वारा वेद ने समानगुण कर्म्म स्वभाव वालों के जोडे बनाने का आदेश किया है।

गृहस्थाश्रम चलाने के लिये स्त्री पुरुषोंके युग=जोडे तो बनेंगे ही, उसके बिना गृहस्थाश्रम ही नहीं बन सकता। किन्तु वह **प्रति भद्राय भद्रम्'** को सामने रखकर होना चाहिये।

स्त्री का मान, गृहस्थ में स्त्री की अनुकूलता, समानगुण स्वभाव का विचार करके विवाह करना केवल वैदिक धर्म्म की विशेषता है।

अश्विदेव आत्मा को पाप से छुड़ाते हैं

ओ३म् । ऋषिं नरावहंस पाञ्चजन्यमृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन ।
मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता ।।ऋ. १।११७।३।।

हे (नरौ) जीवननेताओ । (अश्विनौ) तुम दोनों (अशिवस्य) अमङ्गल (दस्योः) दस्यु, अकर्मा के (मायाः) कपटों को (मिनन्ता) नाश करते हुए, और (अनुपूर्वम्) पूर्ववत्, यथापूर्व (वृषणा) सुखवर्षक होकर (चोदयन्ता) भली प्रेरणा करते हुए (पाञ्चजन्यम्) पञ्चजन के हितकारी, पाचों इन्द्रियों के उपकारी (अत्रिम्) सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण से रहित अथवा भोक्ता (ऋषिम्) द्रष्टा आत्मा को (ऋबीसात्) कुत्सित (अंहसः) पाप से (गणेन) गण के द्वारा, परिसख्यान ज्ञान के द्वार (मुञ्चथः) छुड़ाते हो ।

इस मन्त्र का देवता 'अश्विनौ' है। ये दो हैं। वेद के अनुशीलन से यह प्रकाश अन्धकार, दिन,-रात सूर्य्यचन्द्र द्यावा-पृथिवी, दो प्रभाती तारे प्राण अपान आदि अनेक जोड़ों के नाम हैं। यहा इस मन्त्र में प्राण अपान 'अश्विनौ' हैं साधारणतयाहमारे शरीर मे प्राण और अपान अपना कार्य्य स्वतन्त्रता से मानो एक दूसरे से निरपेक्ष होकर कर रहे हैं। उस अवस्था में भी यह आत्मा को शरीर वियोग रूप दु ख से बचाये रखते हैं।

जब योगी प्राण साधना द्वारा अथवा ध्यान द्वारा प्राण और अपान को मिला देता है, तब जो कुछ होता है, उसका वर्णन मन्त्र मे बहुत सुन्दर शब्दों मे है।

आत्मा को इस मन्त्र में जिन शब्दों से स्मरण किया गया है वे बहुत महत्त्वशाली हैं—

१ ऋषि—**ऋषिर्दर्शनात्**=जो देखे दिखलाये, वह ऋषि। निरुक्त के इस वचन के अनुसार आत्मा और इन्द्रिया ऋषि हैं—यजुः ३४।५५ म तो इन्द्रियों को स्पष्ट ऋषि नाम दिया गया है—**सप्तऋषयः= प्रतिहिताः शरीरे**=सात ऋषि शरीर मे तिठाये हुए हैं।

सात इन्द्रिया अथवा आत्मा, मन और बुद्धि ये सात शरीर में रहते हैं, इनको वेद ने ऋषि कहा है। आत्मा द्रष्टा होने से ऋषि है। वह केवल द्रष्टा ही नहीं वह अत्रि=भोक्ता भी है। भोक्ता और द्रष्टा कहने से कर्तृत्व स्वत' सिद्ध हो जाता है, किन्तु वेद ने उसको यहा 'पांचजन्य' भी कहा। पाच इन्द्रियों का हितकारी। अर्थात इन्द्रियों का अधिष्ठाता भी है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता कहो, कर्त्ता कहो, एक बात है।

योगी जब आत्मा के स्वरूप तथा शक्ति को गुरुमुख द्वारा शास्त्र से जान लेता है, तब वह प्राण-अपान के साधन मे लगता है। उसके लिये पहले उसे अकर्मण्यता=दस्युपन का नाश करना होता है, अर्थात् योगाभ्यासी बहुत बड़ा कर्मठ होता है। और क्रम से प्राण-अपान की साधना से उसे उत्तरोत्तर शुभ प्रेरणायें मिलती हैं। अकर्मण्यता-त्याग के साथ आत्मा के तेजोनाशक अज्ञानादि का भी निराश करता है। साधन और ज्ञानाभ्यास इन दोनों के कारण उसकी कुत्सित वासनाओं का नाश हो जाता है, और प्राण के अभ्यास से उसके भीतर सदाचार के लिये प्रीति उत्पन्न होजाती है।

३५६

प्रातः काल धर्म्मादि चिन्तन

ओ३म । आयमद्य सुकृत प्रातरिच्छन्निष्टेः पुत्र वसुमता रथेन ।
अशोः सुतं पायय मत्सरस्य क्षयद्वीरं वर्धय सूनृताभि. ॥ ऋ० १।१२५।३

मैंने (अद्य) आज (प्रातः) प्रातः (इष्टे) यज्ञ से (सुकृतम्) सुकर्म्म को (इच्छन्) चाहते हुए (वसुमता) धनयुक्त (रथेन) रथ के साथ (पुत्रम्) पुत्र को (आयम्) प्राप्त किया है । तू इसको (मत्सरस्य) मस्त कररने वाले (अशोः) अंशु=किरण=प्रकाश=ज्ञान का (सुतम्) निचोड़=सार (पायय) पिला । और इस (क्षयद्वीरम्) वीर के केन्द्र को (सूनृताभिः) मीठी वाणियों से (वर्धय) बढ़ा, बधाई दे ।

परमात्मा की पूजा भी यज्ञ है । इष्टि यज्ञ का एक भेद है । प्रात काल यज्ञ से इष्टि की अभिलाषा का अर्थ है—मनुष्य प्रातः उठ कर भगवान् तथा धर्म्मादि का चिन्तन करे । जैसा कि संस्कार-विधि गृहाश्रम प्रकरण में लिखा है,

"चार बजे उठ के प्रथम हृदय मे परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म्म, अर्थ का विचार किया करें और धर्म्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो, तथापि धर्म्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छाडे । किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहार विहार, औषधसेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य-कर्म्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिससे परमेश्वर की कृपा और सहायता से महाकठिन कार्य्य भी सुगमता से सिद्ध हो सके ।"

मनु जी ने ऐसा आदेश किया है—
ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेवच ॥ ४।६२

ब्राह्ममुहूर्त=रात्रि के चौथे पहर अथवा चार घड़ी रात्रि रहते उठे, और धर्म्म, अर्थ, शरीर के क्लेश तथा उनके कारण और वेद के तत्त्वार्थ का विचार करे ।

ऋषि दयानन्द और मनु जी ने जो बात आदेश के रूप में कही, वेद ने उसका फलादेश करके करने की प्रेरणा की । प्रात.काल की इष्टि=ईश पूजा, धर्म्मार्थ के अनुचिन्तन का फल मिला है पुत्र, धन, रमणसाधन । सासारिक जीवन को सुखमय बनाने के लिये सन्तान, धन, और रमण-साधन ही प्रधान साधन हैं ।

धर्म्म की भावना परिवार में लगातार बनी रहे । इसके लिये पुत्र-प्राप्ति का आदेश हुआ—

अशोः सुत पायय मत्सरस्य=मस्त करने वाले ज्ञान का निचोड पिला दे ।

धन प्राप्त कर कहीं तेरा पुत्र कुमार्गगामी होकर मद्यादि का सेवन न करने लग जाये, सो इसे मादक ज्ञान का रस पिला । इसे मस्ती चाहिये । ज्ञान ध्यान की मस्ती नहीं टूटती । साथ ही इसे

क्षयद्वीरं वर्धय सूनृताभिः=इस वीरता के केन्द्र को मीठी वेदवाणियों से बढ़ा ।

३६०

मनोनुकूल मधुर वाणी

ओ३म् । आ त्वा जुवो रारहाणा अभिप्रयो वायो
वहन्त्विह पूर्वपीतये सोमस्य पूर्वपीतये ।

ऊर्ध्वा ते अनु सूनृता मनस्तिष्ठतु जानती ।
नियुत्वता रथेना याहि दावने वायो मखस्य दावने ॥ ऋ० १।१३४।१

हे (वायो) वायुसमान बलवान् ! (जुवः) वेग को (रारहाणाः) त्यागते हुए [अथवा वेगयुक्त त्यागी जन] (पूर्वपीतये) पूर्वार्जित का पान करने के लिये तथा (सोमस्य) सोम के (पूर्वपीतये) प्रथम पान करने के लिये (त्वा) तुझ को (इह) यहा ही (प्रयः) प्रिय, प्राप्तव्य पदार्थ (आ+वहन्तु) प्राप्त करायें। (ते) तेरी (जानती) ज्ञानयुक्त (ऊर्ध्वा) उन्नत (सुनृता) मधुर वाणी (मनः+अनु) मन के अनुकूल (तिष्ठतु) रहे [मन के अनुकूल अनुष्ठान करे] । हे (वायो) वायु के समान् वेगवान् । (दावने) दान देने तथा (मखस्य) यज्ञ के (दावने) धारण करने के लिये (नियुत्वता) वाहकों से युक्त शीघ्रगामी (रथेन) रथ से (आ+याहि) तू आ ।

संसार को जिन महात्माओं से सुख पहुँचता है, वे महापुरुष पूर्ण त्यागी होते हैं। कामक्रोधादि के वर्गों को जिन्होंने त्याग दिया है, ऐसे जितेन्द्रिय त्यागी मनुष्य ही मनुष्यों को अभीष्ट के समीप ले जाते हैं। उनकी इच्छा होती है कि आर्त, पीड़ित सतप्त जन सोम=शान्ति का पान करें । यह ठीक है, कि वह सोमरस=शान्ति का शर्बत मिलता मनुष्य को उसके पूर्व कर्मों के कारण है ।

वेद सब से बड़ा, पुराना और यथार्थ व्यवहार का शास्त्र है । व्यवहार की शिक्षा के लिये ही इस का निर्माण भगवान् ने किया है । सोमपान की उतावली में कहीं वाणी वश से बाहर न हो जाये, इसके लिये उपदेश है--

ऊर्ध्वा ते अनु सुनृता मनस्तिष्ठतु जानती=ज्ञानयुक्त तेरी उन्नत मधुर वाणी मन के अनुकूल रहे ।

अर्थात् मन और वाणी का विरोध न हो। 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।'= मन में और वाणी में और, तथा कर्म्म मे कुछ और, यह दुष्ट मनुष्यों का लक्षण है। तू तो दुष्ट नहीं है। प्रत्युत सोमकाम हि ते मन' (ऋग्वेद) तेरा मन तो सोम=शान्ति चाहता है।

तेरी जिह्वा भी वैसी होनी चाहिये । सोमरसाभिलाषी मन के अनुकूल चलने वाली 'ऋत की वाणी' होती है। और वह—

ऋतस्य जिह्वा पवते मधुप्रियम । ऋ० ९।७५।२=

ऋत की वाणी मधुर और प्रिय को पवित्र करती है। विद्वान् जब तेरे सोमपान के लिये त्वरा करते हैं, तुझे भोग प्राप्त करने में सहायता देते हैं, तो तेरा भी कर्त्तव्य है कि तू भी--

नियुत्वता रथेना याहि दावने मखस्य दावने

शीघ्रगामी वाहकों से युक्त रथ के द्वारा दान देने के लिये, यज्ञ देने तथा धारण करने के लिये आ ।

२६१

मृत का जीव

ओ३म् । अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः ।। ऋ० १।१६४।३०

(ध्रुवम्) ध्रुव=अविनाशी (जीवम्) जीव को (अनत्) जीवन देता हुआ, (तुरगातु) इन्द्रियों को संचालित करता हुआ, (एजत्) सब को गति देता हुआ ब्रह्म (पस्त्यानाम्) घरों के, शरीरों के (मध्ये) बीच में (आ+शये) पूर्ण रूप से रहता है। (मृतस्य) मरे का (अमर्त्यः) अमृत (जीवः) जीव (स्वधाभि) अपनी स्वाभाविक शक्तियों के द्वारा (मर्त्येन) मरणधर्मा शरीर के साथ (सयोनिः) समानस्थान होकर (आ+चरति) व्यवहार करता है।

परमात्मा जीव को जीवन=प्राण देता है। वह इसकी इन्द्रियों को गति देता है। इन सबके साथ रहता है किन्तु इनसे पृथक है। तलवकार ऋषि ने इस पूर्वार्द्ध का भावार्थ ही मानो कहा है—

श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद्वाचो ह वाच ँ स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षु...(केनो. १२)

वह जो कान का कान, मन का मन, वाणी की वाणी है, वही प्राण का प्राण और आंख की आंख है।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।।४।। यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।।५।।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।।६।। यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।।७।।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।८।।

जिसे वाणी नहीं बोल सकती किन्तु वाणी जिससे बोलती है; जो मन से मनन नहीं किया जाता किन्तु मन को जिससे मनन करने वाला कहते हैं; जो आंख से नहीं देखता किन्तु आंखें जिससे देखती हैं; जो कान से नहीं सुनता किन्तु कान जिससे सुनता है, जो प्राण से नहीं जीता, किन्तु प्राण जिससे चलता है, उसी को तू ब्रह्म जान, न कि उसको जिसकी लोग उपासना करते हैं।

यह वेद के अनत्, तुरगातु, एजत् शब्दों की बहुत हृदयग्राहिणी व्याख्या है।

उत्तरार्द्ध में जीव के सम्बन्ध मे जो बात कही है। वह भी मनन करने योग्य है।

अमृत=अविनाशी जीव ने विनाशी मरणधर्मा के साथ मैत्री की है, और उसके साथ ठिकाना आ बनाया है। अब अमर्त्य जीव और मर्त्य शरीर इकट्ठे रह रहे हैं। और इस अमर्त्य=अमृत=जीवनमय जीव ने मृतक देह को भी जीवित बना रखा है। कैसा अद्भुत चमत्कार है। और चमत्कार देखिये—अमर्त्य जीव मर्त्य देह को छोड़ जाये, तो मिट्टी हो जाये, अस्पृश्य हो जाये, किन्तु देह यदि जीव को छोड़ जाये, तो वह अपनी स्वधा से विचरने लगे—

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः=मृतस्य का जीव अपनी शक्तियों से विचरता है।

कितने हैं जो इस रहस्य को देखते हों? और फिर विचारते हों?

हमारे यज्ञ को देवों में पहुंचने योग्य बना

ओ३म् । येन वहसि सहस्र येनाग्ने सर्ववेदसम् ।
तेनेम यज्ञ नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ य १८।६२॥

(येन) जिससे (सहस्रम्) हजार को, ससार को (वहसि) धारण करता है, प्राप्त करता है, हे (अग्ने) सब को आगे ले जाने वाले भगवन् ! (येन) जिसके द्वारा (सर्ववेदसम्) सब सम्पत्ति को, सब सम्पत्ति वाले जीव को धारण करता है, प्राप्त कराता है, (तेन) उसके द्वारा (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ को (स्वः+गन्तवे) आनन्द प्राप्ति के लिये (देवेषु) देवों में (नय) ले जा, पहुँचा ।

प्रकाशकों के प्रकाशक । सकल-ज्ञान-भाण्डागार ! आप सभी को ज्ञानालोक देकर अवलोकन के योग्य बनाते हैं । भगवान् । जहा कहीं प्रकाश है, वह सब आपका है, सूर्य्य चन्द्र, ग्रह नक्षत्र, तारा, आदि सभी आपकी भासा से भासित होते हैं । प्रभो । तू अनन्त शक्तियों का आधार है, तेरी शक्तियों का पार कौन पा सकता है । इस अनन्तपार जगत् को जिसमें असख्य सौर मण्डल हैं, तू अनायास धारण कर रहा है । धन्य हो सर्वशक्तिमन् ! धन्य ! जगत् और जगत् का कारण प्रकृति दोनों जड़ हैं, चेतनविहीन हैं उसे जो कोई चाहे, प्रयोग करले, उसमें प्रतिबन्धक सामर्थ्य नही है । किन्तु प्रभो । तू तो इससे भी महान् है, महत्तर है । प्रभो । तू जीव को भी, जिसमे जीवन है, जो चेतन है, जिसमें प्रतिरोध करने की शक्ति है धारण कर रहा है । तबतो सचमुच तेरी शक्ति बहुत बड़ी है । मेरा एक छोटा सा कार्य्य है प्रभो ! वह करदे । तू सदा मेरे काम आता रहा है । सच्ची बात कहू, मेरे सभी कार्य्य तू ही करता है । तू ने ही शरीर दिया, तू ने ही इन्द्रिया दी, तू ही ने मन दिया । इन इन्द्रियों की तृप्ति के साधन भोग भी तूने ही बनाये । मेरा तो सारा जीवन तेरे आधार से है । मेरा क्या समग्र ससार का । मेरा एक काम कर दे, नाथ । वह बहुत छोटा है । सुनो प्रभो । हमने मिलजुल कर एक यज्ञ रचाया है । तेरा आदेश है—युजस्व यज्ञ करो । हम तेरे आदेश के अनुसार यज्ञ करने लगे हैं । अब वह तेरी कृपा के बिना पूरा नहीं होसकता । प्रभो । तुझसे कुछ भी नहीं छिपा । हमारे हृदय की अधेरी गुहा मे छिपे विचार-मृग भी तेरे दृग्गोचर है । अत तुझ से सच सच कहते हैं, हमने वह यज्ञ अपने लिये नहीं रचा । हमने वह यज्ञ देवों के लिये, सभी सुखाभिलाषियों के लिये रचा है । कृपा करके तू—

तेनेमं यज्ञ नो नय स्वर्देषु गन्तवे

उस अतुल बल के एक लव से हमारे इस यज्ञ को सुख प्राप्ति के निमित्त देवो मे, सुखाभिलाषियो मे पहुचा ।

ऋचेम यज्ञ नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ।

तेरी वेदवाणी द्वारा सम्पादित हमारे इस यज्ञ को सुख प्राप्ति के लिये देवों में पहुँचा ।

किसको अच्छी बुद्धि मिलती है

ओ३म् । प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति ।
य आङ्गिरसो नमसोपसद्योऽस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः ॥ऋ०१०।४७।६

(मतिः) मननशील मनुष्य (सप्तगुम्) सात को प्राप्त कराने वाले (ऋतधीतिम्) ऋत के विचारने वाले (सुमेधाम्) उत्तम धारणा शक्ति वाले (बृहस्पतिम्) महान पालक को (अच्छ) अच्छी तरह (प्र × जिगाति) उत्तम गति देता है। अथवा (मति) ज्ञान तथा कर्म उस (सप्तगुम्) पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि—[इन सात] को प्राप्त होने वाले (ऋतधीतिम्) सत्यविचारी (सुमेधाम्) उत्तम बुद्धिमान् (बृहस्पतिम्) महाज्ञानी को (अच्छ) अच्छी तरह (जिगाति) प्राप्त होते हैं (यः) जो (आङ्गिरसः) प्राण विद्या में निपुण तथा (नमसा + उपसद्यः) नमस्कार द्वारा समीप जाने योग्य है, प्रभो। (अस्मभ्यम्) हमें वह (चित्रम्) मनोहर (वृषणम्) सुखवर्षक (रयिम्) धन (दाः) दे।

बुद्धि सप्तगु=आत्मा को मिलती है, इसमें तो कोई शंका ही नहीं है। जड़ का बुद्धि से कोई प्रयोजन नहीं है, अतः उसे बुद्धि देना व्यर्थ है। बुद्धि आत्मा को ही मिलनी चाहिये, और मिलती है।

सामान्य बुद्धि या सहज मति तो सभी प्राणियों को सहज में प्राप्त है, कीट कुञ्ज, नरवानर सभी को प्राप्त है। नैमित्तिक बुद्धि के साधन मनुष्य के पास ही होते हैं। वह उसे ही मिलती है। किन्तु वह सब को नहीं मिलती। जिसको मिलती है, उसमें कम से कम निम्न लिखे गुण अवश्य होने चाहियें—

१. **ऋतधीति**=वह ऋत का विचार करने वाला हो। केवल उसका विचार ही न करता हो, प्रत्युत तदनुसार आचार और प्रचार भी करता हो। अन्यथा उसका ऋत विचार बेकार है।

२. **सुमेधा**=उत्तम मेधा वाला हो। उसकी धारणाशक्ति अर्थात् स्मृति बड़ी तीव्र हो। स्मृति दृढ़ न होने से ऋत विचार संस्कार दृढ़ नहीं रहते। विचारों को धारण करने वाली शक्ति को मेधा कहते हैं। यदि मेधा न हो तो विचार विस्तार न पा सकेंगे। अतः ऋतधीति=ऋत विचार को पक्का करने के लिये तथा ऋत के अनुसार आचार बनाने के लिये उत्तम मेधा अत्यन्त प्रयोजनीय है।

३. **बृहस्पति**=महा विद्वान् हो। केवल विचारवान् और बुद्धिमान् ही न हो, विद्यावान् भी हो। विचार, बुद्धि तथा विद्या के बिना आचार कच्चा रहता है किन्तु विद्या बुद्धि रहते भी मनुष्य आचारशून्य होता है। इन सब गुणों को आचार का उपयोगी बताने के हेतु कहा कि वह

४. **आङ्गिरस**=प्राण विद्या में निपुण, हो जीवन विद्या का आचार्य हो, सब को जीवन विज्ञान सिखा सकता हो।

यदि ऐसे गुण हों, तो सचमुच वह **नमसोपसद्यः**=नमस्कार से प्रापणीय=वन्दनीय है।

मघवन्! यह तो विचित्र धन है, अतः

अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः

हमें भी मनोहर सुखवर्षक धन दे।

ऋतंभरा प्रज्ञा

ओ३म् । पवित्रेभि. पवमानो नृचक्षा राजा देवानामुत मर्त्यानाम् ।
द्विता भुवाद्रयिपती रयीणामृतं भरत्सुभृत चार्विन्दु ॥ ऋ० ६।६७।२४

(नृचक्षाः) मनुष्यद्रष्टा (पवित्रेभिः) पवित्र कर्मों से (पवमानः) पवित्र करता हुआ (देवानाम) देवों=जीवन्मुक्तों (उत) तथा (मर्त्यानाम्) मरणधर्माओं, जन्म मरण के चक्र में पड़े हुओं का (राजा) राजा तथा (द्विता) दोनों प्रकार से (रयिपतीनाम्) धनियों का (रयिपतिः) धनी (भुवत्) हो जाये, यदि वह (इन्दु') आनन्दाभिलाषी (सुभृतम्) अच्छी तरह से धारे हुए (ऋतम्) ऋत को (भरत्) धारे, अर्थात् [ऋतभरा] बुद्धि वाला होवे ।

चित्त वृत्तियों के एकाग्र करने से सप्रज्ञात समाधि होती है । सम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्व दशा में 'ऋतंभरा प्रज्ञा' उत्पन्न होती है, जिसके विषय में पतजलि मुनि ने लिखा है—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वत्त् (यो० द० १)

वह ऋतभरा बुद्धि शब्द प्रमाण जन्य ज्ञान तथा अनुमान से विलक्षण होती है, क्योंकि उसके द्वारा पदार्थ का विशेष स्वरूप ज्ञात होता है ।

पदार्थों के दो स्वरूप होते हैं, एक सामान्य, दूसरा विशेष । विशेष ही यथार्थ में पदार्थ का स्वरूर है, क्योंकि उसी के द्वारा पदार्थ का दूसरों से भेद प्रतीत होकर उसकी वास्तविकता का ज्ञान होता है । अनुमान तथा शब्द-प्रमाण सामान्य का बोध कराते हैं । इनसे वस्तु के स्वरूप का निश्चय करना लगभग असभव है । प्रत्यक्ष से ही वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान और निर्णय हुआ करता है ।

सप्रज्ञात समाध द्वारा प्राप्त ऋतभरा प्रज्ञा परम प्रत्यक्ष है । उसमें अनृत का लेश भी नहीं होता । उसमें विशुद्ध ऋत=मर्वथा सत्य होता है ।

जिस महापुरुष को यह प्रज्ञा प्राप्त होती है. 'नृचक्षा, हो जाता है । वह लोगों की देख भाल करता है, उनको पाप के पातक ससर्ग से बचाने का यत्न करता है ।

पवित्र कर्मों से अपनी और दूसरों की शुद्धि करता है । अहिंसादि शुभाचारों के पालन से तथा दूसरों को उन कर्मों के लिये उत्साह देने से वह **पवमान** बन जाता है ।

समाधि सिद्ध होकर जो लोकोपकार के कण्टकाकीर्ण सकटशतविकट मार्ग पर आरूढ होता है, सचमुच वह जीवन्मुक्तों तथा साधारणों के राजा=राजा की भाति सर्वाधिक तेजस्वी होता है ।

भौतिक और आत्मिक दो प्रकार के धन होते हैं । जो समाधि सिद्ध महात्मा हैं वे दोनों तरह से धनी होते हैं । समाधिरूप आत्मिक धन उसके पास है ही । यम-नियम की सिद्धि के कारण ससारिक धन की न्यूनता भी उनके पास नहीं होती । योग दर्शन मे लिखा है—

अस्तेयप्रतिष्ठाया सर्वरत्नोपस्थानम (यो० २)

अस्तेय की सिद्धि होने से सब रत्नों धना की प्राप्ति होती है ।

३६५

गांठ खोल

ओ३म् । ग्रन्थिं न विष्य ग्रथितं पुनान ऋजुं च गातुं वृजिनं च सोम ।

अत्यो न क्रदो हरिरा सृजानो मर्यो देव धन्व पस्त्यावान् ॥ ऋ. ९।९७।१८

हे (सोम) शान्तिप्रद ! (ग्रन्थिम्+न) गाठ की भाति (ग्रथितम्) बंधे हुए को (वि+स्य) खोल दे । और (ऋजु) सरल और (वृजिनम्) पापयुक्त, वर्जनीय, कुटिल (गातुम्) मार्ग को भी खोल दे । (अत्यः+न) ज्ञानवान् की भाति (क्रदः) उपदेश करने वाला तथा (हरिः) हरणशील (आसृजानः) नानाविध सर्जन कार्यों का करने वाला मनुष्य, हे (देव) दिव्यगुणयुक्त देव । (पस्त्यावान्) घर वाले (मर्यः) मनुष्य की भाति (धन्व) मुझे प्राप्त हो ।

'गाठ खोल' ऐसी याचना न करके 'ग्रन्थिं न विष्य ग्रथितम्' [गाठ की भाति बंधे हुए को खोल] कहा है । बंध को खुलवाने की प्रार्थना सीधी और साफ है । मनुष्य में कई बार के बन्धन=ग्रथिया=पाश होते हैं । सभी खुलने चाहियें—

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत ।

अवाधमानि जीवसे ॥ ऋ० १।२५।२१

हे भगवन् ! हमारे उत्तम पाश को खोल, मध्यम को काट और जीने के लिये अधम पाशों को भी काट । पाश तभी कटते हैं जब भगवान् के दर्शन हो जायें—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

हृदय की गाठ खुल जाती है, सब संशय छिन्नभिन्न हो जाते हैं बन्धनहेतुकर्म्म शिथिल पड़ जाते हैं, जब उस परावर के दर्शन होते हैं ।

गाठ खुलने के साथ सुमार्गज्ञान भी चाहिये । इसी वास्ते कहा—

ऋजुं च गातुं वृजिनं च=ऋजु और वृजिन मार्ग को भी खोल ।

दोनों का भेद बता, ताकि हम वृजिन छोड़कर ऋजु मार्ग पर चल सकें । भगवान को ऋजु मार्ग ही प्यारा है, जैसा कि अथर्ववेद में कहा है—

तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोवति हन्त्यासत् ॥ ८।४।१२

उन दो में जो सत्य और जौनसा ऋजु होता है भगवान् उसकी रक्षा करता है और मिथ्या को सर्वथा मार देता है ।

भगवान् से प्रार्थना है कि जिस प्रकार घर बार वाला मनुष्य शीघ्रता करता हुआ, चिल्लाता हुआ अपनी सन्तान के बचाने के लिये दौड़ता है, प्रभो ! तू भी हमें वैसे बचा ।

घर में व्यवस्था होने से परिश्रम सफल होता है

ओ३म्। भूम्या अन्त पर्य्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासु अस्थुः।
श्रमस्य दाय वि भजन्तेभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हित. ॥ ऋ. १०।११४।१०

(एके) कुछ एक (भूम्या.) भूमि के (अन्तम्) अन्त तक (चरन्ति) विचरते हैं (रथस्य) रथ की (युक्तास) जुड़ी हुई (धूर्षु) धुरियों पर (अस्थु.) बैठते हैं। (एभ्य) इनको (श्रमस्य) परिश्रम का (दायम्) देय, हिस्सा, भाग, तब (विभजन्ति) विभक्त करके देते हैं, (यदा) जब (हर्म्ये) घर मे (हित.) हितकारी (यमः) नियन्ता, या व्यवस्थाविधान (भवति) होता है।

इस मन्त्र में एक ऐसा सकेत है जो श्रमवाद का बीज है। आज सचमुच ससार की यही अवस्था है, यम के अभाव मे जिसका चित्र मन्त्र मे खींचा गया है, लाखों मनुष्य दिन रात दौड़धूप करते रहते हैं। आज इस स्थान मे हैं, कल उस प्रदेश मे हैं। इतना घोर परिश्रम करके भी वे भूखे हैं, नंगे हैं। शायद भर्तृहरि जी ने ऐसों के लिये ही कहा था—

भ्रान्त देशमनेकदुर्गविषमम्=अनेक कठिनताओं और विषमताओं से विकट अनेक देशों में घूमा, **किन्तु लब्धो न काणवराटकोपि**—मिली न कानी कौड़ी। लाखों श्रमजीवियों पर यह बात चरितार्थ होती है। इसके विपरीत कई ऐसे हैं, जिनके लिये हर समय रथ तय्यार रहते हैं, और वे उनमें सवार रहते हैं।

सचमुच बड़ा विषम यह ससार है। एक ही घर मे ऐसी विषमता हो जाती है, जिसका जो दाव चलता है, उड़ा लेता है। इस सब का कारण व्यवस्था का न होना है। अत.

श्रमस्य दायं विभजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः।

परिश्रम का दाय=फल तब इनको बाटते हैं, जब घर में यम=नियम=नियन्त्रण रखा रहता है।

परद्रव्यहरण की प्रवृत्ति मनुष्य म कुछ स्वाभाविक है। जीवन का धन यद्यपि कर्म है, परिश्रम है तो भी अकर्मण्यता सब को रुचती सी है। ससार मे पदार्थ तो सभी हैं किन्तु परिश्रम के बिना मिलने दुर्घट हैं। अत' कई मनुष्य परिश्रम की चरम सीमा तक पहुंचते हैं किन्तु वे बेचारे देखते रह जाते हैं और कोई एक चालाक या अनेक चालाक मिलकर उनके परिश्रम को खा जाते हैं। इसका अवश्य उपाय होना चाहिये, वह यह कि ऐसी व्यवस्था बनानी चाहिये कि सब को उनके परिश्रमानुसार दाय=भाग=हिस्सा मिलना चाहिये। अधिक या न्यून नहीं। इस अवस्था का वेद ने 'यम' कहा है। उसमे विशेष प्रयोजन है। यम का एक अर्थ दण्डधर है। अर्थात् व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि उसका उल्लघन करने वाले को दण्ड मिल सके। परमेश्वर सब को उनके कर्म्मों के अनुसार फल देता है। ससार मे भी वैसा होना चाहिये। भगवान् दयानिधान दया करें, लोगों की मति फेरें ताकि लोग कह सकें

मा अन्यकृतं भुजेम=हम दूसरे की कमाई न खायें।

मनुष्य बन

ओ३म्। तन्तु तन्वन् रजसो भानुमन्विहि, ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम ॥ ऋ० १०।५३।६

(रजसः) संसार का (तन्तुम्) ताना बाना (तन्वन्) तनता बुनता हुआ [भी] (भानुम्) प्रकाश के (अनु+इहि) पीछे जा। (धिया) बुद्धि से (कृतान्) बनाए हुए, परिष्कृत किए हुए (ज्योतिष्मतः) ज्योतिर्मय, प्रकाशयुक्त (पथः रक्ष) मार्गों की रक्षा कर, (जोगुवाम्) निरन्तर ज्ञान और कर्म का अनुष्ठान करने वालों के (अनुल्बणं) उलझनरहित (अपः) कर्मों को (वयत) विस्तृत करो। [इन उपायों से] (मनुः भव) मनुष्य बन। [और] (दैव्यम्) देवों के हितकारी (जनम्) जन को, सन्तान को (जनय) उत्पन्न कर।

संसार को जिसकी आवश्यकता रही है और रहेगी, और इस समय भी जिसकी अत्यन्त आवश्यकता है, उस तत्त्व का उपदेश इस मन्त्र में किया गया है। वेद में यदि और उपदेश न होता, केवल यही मन्त्र होता, तब भी वेद का आसन संसार के सभी मतों और सम्प्रदायों से उच्च रहता।

वेद कहता है—**मनुर्भव**—मनुष्य बन।

आज का संसार ईसाई बनने पर बल देता है अर्थात् ईसा का अनुकरण करने के लिये यत्नवान् है। संसार का एक बड़ा भाग बौद्ध बनने में लगा हुआ है अर्थात् बुद्ध के चरण चिह्नों पर चलता हुआ 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का नाद गुंजा रहा है। इसी प्रकार संसार का एक भाग मुहम्मद का अनुगमन करने में तत्पर है। महापुरुषों का अनुगमन प्रशंसनीय है। किन्तु थोड़ा सा विचार करें तो एक विचित्र दृश्य सामने आता है, अद्भुत तमाशा देखने को मिलता है। ईसाई ने ईसा का नाम लेकर जो कुछ अपने भाइयों के साथ किया, उसकी स्मृति ही मनुष्य को कंपा देती है। बिल्ली के बच्चे तक की रक्षा करने वाले मुहम्मद की उम्मत का इतिहास भी भाइयों के रक्त से रञ्जित है। आ! जिसे मनुष्य कहते हैं, वह मनुष्यता का वैरी हो रहा है। इसने संकीर्णता के कारण संकुचित दल बना डाले, एक दल दूसरे दल को दलने मसलने कुचलने पर तत्पर है। आज मनुष्य मनुष्य का वैरी हो रहा है। अतः वेद कहता है—**मनुर्भव**—मनुष्य बन। ईसाई या बौद्ध या मुसलमान बनने या किसी दूसरे सम्प्रदाय में सम्मिलित होने से वह रस कहां? जो 'मनुष्य' बनने में है। ईसाई बनने में केवल ईसाइयों को ममत्व से देखूंगा। बौद्ध बनने से और सबको असद्धर्मी मानूंगा। मुसलमान होकर मोमिनों को ही प्यार का अधिकारी मानूंगा। किन्तु मनुष्य बनने पर तो विश्व संसार मेरा परिवार होगा, सब पर मेरा एक समान प्यार होगा। वसुधा को कुटुम्ब माना तो सारे कुटुम्ब पर प्यार करना चाहिये। कुटुम्ब में ममता का साम्राज्य होता है। विषमता का व्यवहार कुटुम्ब की एकतानता पर वज्रप्रहार है। ममता स्थिर रखने के लिये स्नेही का व्यवहार करना होता है। तभी तो वेद ने कहा— **मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'** ॥ य० ३६।१८॥=सब को मित्र की स्नेहसनी दृष्टि से देखें।

यहा वेद मनुष्यसीमा से भी आगे निकल गया है। प्यार का अधिकारी केवल मनुष्य नहीं रहा, वरन् सब भूत=प्राणी होगये। यह उचित भी है, क्योंकि 'मनुष्य' शब्द का अर्थ है—मत्वा कर्म्माणि सीव्यति (निरु० ३।७) जो विचार कर कर्म्म करे। कर्म्म करने से पूर्व जो भली प्रकार विचारे कि मेरे इस कर्म्म का फल क्या होगा? किस किस पर इसका क्या क्या प्रभाव होगा? यह कर्म्म भूतों के दुःख=प्राणियों की पीड़ा का कारण बनेगा, या भूतहित साधेगा?

मनुष्य यदि सचमुच मनुष्य बन जाए तो ससार सुखधाम बन जाए। देखिए, थोड़ा विचारिए थोड़ा सा मनुष्यत्व काम में लाइए। वेद के इस उपदेश के महत्व को हृदयङ्गम कीजिए। धार्मिक दृष्टि से विचारें तो मनुष्य समाज के दो बडे विभाग बन सकते हैं एक ईश्वरवादी, दूसरा अनीश्वरवादी। सभी ईश्वरवादी ईश्वर को 'पिता' मानते हैं। वेद इससे भी आगे जाता है वह ईश्वर को पिता के साथ माता भी मानता है। यथा—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥ ऋ. ८।९८।११॥

अर्थात् सबको ठिकाना देने वाले। सचमुच तू हमारा पिता है जीवों की उत्पत्ति आदि नानाविध कर्म्म करने वाले परमात्मन्। तू हमारी माता है, अत हम तेरा उत्तम हृदय **Good wishes** चाहते हैं।

माता पिता की शुभाशीः, शुभकामना सन्तान का कितना कल्याण करती है? परमपिता दिव्य माता की भव्य भावना हमारा कितना इष्ट कर सकती है इसकी पूरी कल्पना कौन कर सकता है?

प्रभु हमारे माता पिता। हम उनकी सन्तान। किन्तु कुसन्तान, जघन्य सन्तान, अयोग्य सन्तान, विद्रोही सन्तान। हम आपस मे लड़ते हैं। भाई भाई की लड़ाई! भगवान् ने कहा था—संगच्छध्वं संवदध्वं स वो मनासि जानताम्॥ ऋ. १०।१९१।२॥ तुम्हारी चाल एक हो, तुम्हारा बोल एक हो, तुम्हारा विचार एक हो। हमारी चाल आज भिन्न भिन्न ही नहीं, परस्पर विरुद्ध भी है। आज हम सवादी नहीं, विवादी होगये हैं। आज हम 'सवाचः' नहीं 'विवाचः' हो गये हैं। इसका कारण हमारा 'वैमनस्य' मनोभेद=मतभेद=विचारभेद है। एक चाल=सगति, एक बाल=सउक्ति के लिए 'सौमनस्य'=मनकी एकता=मत की अभिन्नता=विचार की समता की आवश्यकता है।

पिता का आदेश है, माता का सदेश है='संगच्छध्वं' हम उसके विपरीत चलकर पिता का अधिकार, माता का प्यार, कैसे पा सकते हैं। मानव। ठहर। सोच तू कहा चला गया? कहा भटक गया?

मैं भटक गया। बहक गया! वज्र भ्रान्ति। ईश्वर ईश्वर कह रहे हो। कहा है ईश्वर? जब ईश्वर ही नहीं, तब उसका मातापिता होना कैसे? और हम सब मनुष्य 'भाई भाई' कैसे? सति कुड्ये चित्रम्। आधार होगा, तो चित्र बनेगा?

अच्छा। ईश्वर को ही जवाब। जाने दो, तुम्हारा मन ईश्वर को नहीं मानता, ना सही। भगवान् का मानना बड़े भाग्य की बात है। किन्तु भगवान् को न मानकर भी मानव मानव का भाई है।

कैसे? सुनो! सावधान होकर सुनो। तुम दो की सतान हो ना। घबराने क्यों लगे? इसमें अचम्भे की बात ही क्या है? माता और पिता के सयोग से ही मनुष्य की उत्पत्ति होती है। अकेली स्त्री से सतान नहीं हो सकती। अकेले पुरुष से कुछ नहीं बनता। सृष्टि चलाने के लिए स्त्री पुरुष का, रयि प्राण का सयोग आवश्यक है। अर्थात् दो मिले, तो तुम एक आए। अर्थात् तुम में दो का रुधिर आया। और ये दो भी तो दो दो के सन्तान हैं। अर्थात् हम में चार का रुधिर आया। उन चार के जो और सन्तान हुए। उनमें भी उनका रुधिर आया। कहो, वे और तुम सब सपिण्ड हुए या न? तनिक और आगे चलो, वे चार आठ के सन्तान, वे आठ सोलह की, इस प्रकार ज्यों ज्यों ऊपर को जाओगे। अपने खून का सम्बन्ध बढ़ता हुआ पाओगे।

कहो? हुए न हम भाई भाई। बताओ। भाई भाई का व्यवहार कैसा होना चाहिए? क्या भाई भाई का गला काटे, यह अच्छा है अथवा भाई के पसीने के बदले अपना खून बहादे यह अच्छा है? भाई को भाई से भय नहीं होता। भाई को अपने से अभिन्न माना जाता है। डर होता है दूसरे से—द्वितीयाद्वै भयं भवति। भाई को देखते ही हृदय हर्षित हो उठता है। आ! विश्व ससार को भाई बना। भय को भगा। सर्वत्र निर्भय निष्कपट आ और जा।

कहो, वेद का '**मनुर्भव**' कहना कल्याणसाधक है वा नहीं? निस्सन्देह मनुष्य बनना ससार में शान्ति-स्थापन करने का एकमात्र साधन है। सभी मनुष्य 'मनुष्य बन जायें' तो यह मार काट, यह लूट खसूट उसी क्षण समाप्त हो जाए।

निस्सन्देह मनुष्यत्व प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। शङ्कराचार्य जी ने कहा—'**जन्तूना नरजन्म दुर्लभम्**।' सचमुच नरतन पाना दुस्साध्य है, किन्तु असाध्य नहीं। वेद इससे आगे जाता है। वेद कहता है—मनुष्य जन्म, नरतन तो तूने प्राप्त कर लिया 'मनुष्य भी बन'। केवल नरतनधारी ही न रह, नरमनधारी भी बन। इसी वास्ते वेद ने कहा—'**मनुर्भव**'।

यद्यपि '**मनुर्भव**' कहने से ही सब बात आ गई किन्तु भगवती श्रुति उसके उपाय भी बता देती है। वैसे तो सारा वेद ही नरतन धारी को मनुष्य बनाने के लिए है, किन्तु इस मन्त्र में जो कुछ कहा है, उस पर भी यदि आचरण किया जाए तो अभीष्ट सिद्ध हो जाए।

मनुष्य बनने का पहला साधन—'**तन्तु तन्वन् रजसो भानुमन्विहि**।' संसार का ताना बाना बुनता हुआ भी तू प्रकाश का अनुसरण कर अर्थात् तेरे समस्त कर्म्म ज्ञानमूलक होने चाहियें। अज्ञान, अंधकार तो मृत्यु के प्रतिनिधि हैं। अन्धकार से उल्लू को प्रीति हो सकती है, मनुष्य को नहीं। मनुष्य बनने के

लिए अन्धकार से परे हटना होगा । ऋषि ठीक ही कहते हैं—

तमसो मा ज्योतिर्गमय । शत० १४।३।१।३०=अन्धकार से हटा कर मुझे प्रकाश प्राप्त कर ।

अन्धकार में कुछ नहीं सूझता, सब क्रियायें, चेष्टायें रुक जाती हैं । अतः वेद कहता है—**भानुमन्विहि**—प्रकाश के पीछे चल ।

प्रकाश का अनुसरण करनामात्र ही पर्याप्त नहीं है । कुछ और भी आवश्यक होता है । प्रकाश के पीछे तभी चला जा सकता है जब प्रकाश स्थिर हो । यदि प्रकाश विद्युच्छटा के समान चचल हो तो उसका अनुसरण कैसे हो सकता है । इस आशय को लेकर वेद ने दूसरा उपाय बतलाया—

ज्योतिष्मत॰ पथो रक्ष धिया कृतान्=प्रकाश के मार्गों की रक्षा कर, उनमें अपनी बुद्धि से परिष्कार कर ।

ससार के सभी देशों में रौशनी बुझाने वालों के लिये दण्ड का विधान है । किन्तु ससार की गति अत्यन्त विचित्र है । ससार में ऐसे भी हुए हैं, और कदाचित् आज भी ऐसे मनुष्याकारधारी प्राणी हैं, जो प्रकाश का नाश करते रहे और कर रहे हैं । उन्हें क्या कहोगे, जिमने सिकन्दरिया का विशाल पुस्तकालय जला दिया । उन्हें क्या कहोगे, जो वर्षों भारत के ज्ञानभण्डार से हमाम=स्नानागार गरम करते रहे ? उनका क्या नाम धरोगे, जिन्होने चित्रकूट का करोड़ों रुपयों का पुस्तकालय अग्निदेव की भेंट कर डाला ? ये सभी नरतनधारी थे, किन्तु क्या ये मनुष्य नाम के भी अधिकारी थे, इसमें सन्देह है । मनुष्य बनाने का साधन नष्ट करने वाले मनुष्य कैसे ? वे कोई मनुष्यता के वैरी थे । उनको क्या कहोगे, जो आज भी ज्ञान भण्डार को जल देवता के अर्पण कर रहे हैं ? उनको क्या कहोगे, जो प्रकाश को दूसरों तक नहीं आने देते अपने तक रोक रखते हैं ? ये सब ··· । लाखों ज्ञानी ज्ञान अपने साथ ले जाते हैं । वह ज्ञान किस काम का ? वेद कहता है—**ज्योतिष्मतः पथो रक्ष**—। ज्ञान मार्गों की रक्षा कर । पूर्वजों से प्राप्त ज्ञान राशि की रक्षा कर ।

मानव ! तू वायुयान में बैठ कर आकाश की ओर उड़ जाता है, अन्तरिक्ष की सैर करता है । ज्ञात है यह कैसे सभव हो सका ? वेद के **'अन्तरिक्षे रजसो विमान॰'** की बात कहूँगा । और नाहीं—कहूँगा रामायण के पुष्पक विमान की बात । आज के विमान का वर्णन सुनाऊगा । किसी भद्र के चित्त में पक्षी को उड़ता देख उड़ने की समाई । उसने कृत्रिम पख लगाकर उड़ने की ठानी । वेचारा गिर पड़ा, उसमें अपना मस्तिष्क लगाया । अब सोच मानव ? यदि उस प्रथम त्यागी के ज्ञान को भुला दिया जाता, तो नये सिरे से यत्न करना पड़ता, फल क्या होता, वायुयान न बन पाता । अत वेद का यह कहना **'ज्योतिष्मतः पथोरक्ष'** बहुत ही सारगर्भित है ।

हा यदि उस पहिले उड़ने वाले ने जितना यत्न किया था। उतने की ही रक्षा की जाती, उसमें अपना भाग न डाला जाता, अपना दिमाग न लड़ाया जाता, तो भी वायुयान न बन पाता। अतः वेद ने ठीक ही कहा—'धियाकृतान्' प्रकाश की रक्षा अवश्य कर किन्तु उसमें अपना भाग भी डाल। अन्यथा दीपक बुझ जाएगा।

वैदिकों ने इस तत्व को समझकर प्रथम संस्कृति=वेद तथा उसके अङ्गोपाङ्गों की रक्षा करने में प्राणपण से यत्न किया है। अतः वेद के शब्दों में कहो—**नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः।**

ज्ञान का पर्य्यवसान कर्म में होता है। ज्ञान का अनुसरण करने के लिए ज्ञान के रक्षण और परिवर्धन की नितान्त आवश्यकता है। किन्तु ज्ञान का प्रयोजन ? 'ज्ञान ज्ञान के लिए' यह सिद्धान्त प्रमादियों का है। ज्ञान की सफलता कर्म्म में है। अतः वेद कहता है—

'अनुल्वणं वयत जोगुवामपः'=ज्ञानानुसार कर्म्म करने वालों के उलझन रहित कर्म्मों को करो।

लोकोक्ति है—**'लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः'** कर्म्म बन्धन का कारण हैं। वेद कहता है कर्म्म तो अनिवार्य्य है उनसे छूट नहीं सकते हो। अतः ऐसे कर्म करो जो उलझन को मिटाने वाले हों, न कि उलझन को बढ़ाने वाले। जो कर्म्म ज्ञानविरहित होंगे, ज्ञान के विपरीत होंगे, वे अवश्य उलझन पैदा करेंगे। अतः ऐसा न कर जिससे संसार का उलझनें और बढ़ें। वह तो पहले ही बहुत उलझा हुआ है। तुझे सूझता नहीं कि कौन सा अनुल्वण है और कौनसा उल्वण ? तुझे कोई अंगुलि पकड़ कर बताये। *अच्छा, जहां तू रहता है, वहां कोई ब्रह्मनिष्ठ भी है या नहीं ? उन ब्रह्मनिष्ठों का व्यवहार देखना, जो सत्यप्रिय, मधुरभाषी, निष्काम सर्वहितकारी हों, देख, वे कैसे रहते हैं ? उनका अनुसरण कर, किन्तु ज्ञान को हाथ से न जाने देना, इन साधनों के अनुष्ठान से निस्सन्देह मनुष्यता सुलभ हो जाती है। किन्तु मनुष्यत्व के साथ वेद ने एक कर्त्तव्य भी लगा दिया है—

जनया दैव्यं जनम्=दैव्य जन पैदा कर।

मनुष्य को मनुष्यता की सारी सामग्री समाज से मिलती है, अतः उसे चाहिये कि वह भी समाज को कुछ दे जाये। समाज का सारा कार्य्य भार† देवों के सहारे चलता है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि ऐसे सर्व-हितकारी देवों का कुछ न कुछ प्रत्युपकार अवश्य करे। इस भाव को लेकर वेद ने कहा—

जनया दैव्यं जनम्=दैव्य=देवहितकारी जन को कौन पैदा करेगा ? क्या राक्षस, दस्यु ? कभी नहीं। अतः देवजनहितकारी सन्तान उत्पन्न करने के लिये मनुष्य को स्वयं देव बनना पड़ेगा। अर्थात् मनुष्य बन कर जब

---

* यदि ते कर्म्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः। (तै० उ० १।११।३-४)

† देव शब्द के संबन्ध में बौधायन गृह्यसूत्र के निम्नलिखित सूत्र देखने योग्य हैं।

सन्तान उत्पन्न करने में प्रवृत्त होने लगे, तब उसके हृदय मे कुकाम की कुवासना न हो, वरन जन समाज, न नहीं, देवसमाज के हित की भावना हो।

वेद मनुष्य बना कर चुपके से देवत्व के मार्ग पर ला खड़ा करता है। यह विशेष मनन करने की बात है।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य वेदानन्दसरस्वतीसार्थकापर नामधेयेन स्वामि दयानन्दतीर्थेन दुग्धः स्वाध्याय-सन्दोहः समाप्त.।

---:०.---

ओ३म् शम्



ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यमुत्पन्न· प्रागुपनयनाज्जातः इत्यभिधीयते ॥१॥

ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ बालक उपनयन से पूर्व 'जात' कहलाता है।

उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किंचिदधीत्य ब्राह्मणः ॥२॥

ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों का आचरण करने वाला यज्ञोपवीतधारी कुछ वेद पढ़ कर 'ब्राह्मण' होता है।

एकां शाखामधीत्य श्रोत्रिय· ॥३॥

एक शाखा पढ़ने से श्रोत्रिय होता है।

अङ्गान्यधीत्यानूचान· ॥४॥

वेदाङ्ग पढ़ कर 'अनूचान' होता है।

कल्पाध्यायी ऋषिकल्प· ॥५॥

वेद की कल्प विद्या पढ़ कर 'ऋषिकल्प' होता है।

सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूण. ॥६॥

सूत्र और व्याख्या को पढ़ने वाला भ्रूण होता है।"

चतुर्वेदादृषि· ॥७॥

चारों वेदों के पढ़ने से ऋषि होता है।

अत ऊर्ध्वं देव· ॥८॥

इससे आगे देव होता है।

चारों वेदों के पढ़ने से ही आगे उनके अनुसार अनुष्ठान हो सकता है। वेदविद्या के अनुसार बिताने वाले सर्व वेदवित को देव कहना चाहिये। वेदानुसार जीवन बिताने का अर्थ है, लोकोपकार

सन्तान उत्पन्न करने में प्रवृत्त होने लगे, तब उसके हृदय में कुकाम की कुवासना न हो, वरन् जन समाज, नहीं नहीं, देवसमाज के हित की भावना हो।

वेद मनुष्य बना कर चुपके से देवत्व के मार्ग पर ला खड़ा करता है। यह विशेष मनन करने की बात है।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य वेदानन्दसरस्वतीसार्थकापर नामधेयेन स्वामि दयानन्दतीर्थेन दुग्धः स्वाध्याय-सन्दोहः समाप्तः।

—:o:—

ओ३म् शम्



ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यमुत्पन्नः प्रागुपनयनाज्जातः इत्यभिधीयते ॥१॥

ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ बालक उपनयन से पूर्व 'जात' कहलाता है।

उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किंचिदधीत्य ब्राह्मणः ॥२॥

ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों का आचरण करने वाला यज्ञोपवीतधारी कुछ वेद पढ़ कर 'ब्राह्मण' होता है।

एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः ॥३॥

एक शाखा पढ़ने से श्रोत्रिय होता है।

अङ्गान्यधीत्यानूचानः ॥४॥

वेदाङ्ग पढ़ कर 'अनूचान' होता है।

कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः ॥५॥

वेद की कल्प विद्या पढ़ कर 'ऋषिकल्प' होता है।

सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः ॥६॥

सूत्र और व्याख्या को पढ़ने वाला भ्रूण होता है।"

चतुर्वेदादृषिः ॥७॥

चारों वेदों के पढ़ने से ऋषि होता है।

अत ऊर्ध्वं देवः ॥८॥

इससे आगे देव होता है।

चारों वेदों के पढ़ने से ही आगे उनके अनुसार अनुष्ठान हो सकता है। वेदविद्या के अनुसार जीवन बिताने वाले सर्व वेदविद् को देव कहना चाहिये। वेदानुसार जीवन बिताने का अर्थ है, लोकोपकार में अपने आप को लगा लेना।